हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

भगवान सिंह

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

भगवान सिंह

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

खण्ड एक

भगवान सिंह

राधाकृष्ण

1987
©
भगवान सिंह
नयी दिल्ली

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् के आर्थिक सहयोग से साकार हुआ है। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये तथ्यों, मतों अथवा निस्सृत निष्कर्षों का उत्तरदायित्व पूर्णरूपेण लेखक पर है। भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् इसके लिए उत्तरदायित्व नहीं रखता।

पहला संस्करण
1987

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक
नागरी प्रिंटर्स
दिल्ली-110032

डॉ. महादेव साहा को

विषय-सूची

आमुख

भूमिका : डॉ. स्वराज्य प्रकाश गुप्त

अध्याय एक	:	समस्या का स्वरूप	1
अध्याय दो	:	आर्य-आक्रमण का मिथक	35
अध्याय तीन	:	वैदिक संघर्षों की प्रकृति	74
अध्याय चार	:	आर्थिक आधार	104
अध्याय पाँच	:	व्यापार और वाणिज्य	148
अध्याय छह	:	वैदिक उद्यमियों के खनिज-स्रोत	214
अध्याय सात	:	आवास और नगर	231
अध्याय आठ	:	भाषा और भारोपीय जन	259
अध्याय नौ	:	समाज	291
अध्याय दस	:	लेखन और शिक्षा	233
अध्याय ग्यारह	:	धर्म और विश्वास	370

चित्र

1. सरस्वती-घग्घर-हकड़ा पर हड़प्पाकालीन आबादी	55
2. सिन्धु घाटी की सभ्यता और इसके पश्चिमी सम्पर्क	57
3. श्लीख़र द्वारा प्रस्तुत भारतीय-यूरोपीय का वंशवृक्ष	273
4. लेमैन द्वारा प्रस्तावित आद्य भारतीय-यूरोपीय का सम्बन्ध-सूत्र	274
5. पूर्णिम वृत्त	355
6. डॉ. एस. आर. राव द्वारा प्रस्तावित हड़प्पा लिपि से ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों तक का वंशवृक्ष	361

आमुख

एक प्रसिद्ध इतिहासकार ने इतिहास और गल्प के बीच फ़र्क़ करते हुए लिखा था कि इतिहास एक ऐसा गल्प है जिसमें नामों और तिथियों को छोड़कर सब कुछ ग़लत होता है और गल्प एक ऐसा इतिहास जिसमें नामों और तिथियों को छोड़ कर सब कुछ सही। वैदिककालीन इतिहास के विषय में तो नामों और तिथियों के सही होने का दावा भी नहीं किया जाता। इसके विषय में जितनी विचित्र और परस्पर अनमेल बातें अधिकारी विद्वानों द्वारा भी की जाती रही हैं उनकी तुलना विश्व-इतिहास के किसी अन्य क्षेत्र और काल से नहीं की जा सकती। इसके बावजूद हमारे सांस्कृतिक दाय का सबसे जीवन्त और उर्वर स्रोत यही रहा है। इसका नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदर्श परवर्ती कालों पर कुछ इस तरह छाया रहा कि वेद को न मानने का अर्थ ही था नास्तिक। वेद ही ब्रह्म और वेद ही अन्तिम प्रमाण ! इससे विरोध उत्पन्न होने पर अपने प्रत्यक्ष अनुभव और ज्ञान को भी नकारा जा सकता था, पर वेद-वाक्य को नहीं। वह अकाट्य था। आख़िर वह उपलब्धि का कौन-सा शिखर-विन्दु था जिस पर इस दौर में भारतीय समाज या कम-से-कम इसका स्वामि-वर्ग पहुँचा था कि अपने पराभव के दिनों में भी वह इसी के सुखद स्वप्न देखता जीवित रहा और इसे पुनः हासिल करने के मंसूबे बांधता रहा ? यदि संक्षेप में कहें तो, यही वह जिज्ञासा थी जो लेखक को सृजनात्मक साहित्य से अलग ले जाकर इतिहास के भयावह परधर्म में विगत पन्द्रह वर्षों से निरन्तर भटकाती रही और इसका जो उत्तर मिला वही इस पुस्तक के रूप में सुधी विद्वानों के सामने है।

जब इस विषय पर काम करना आरम्भ किया था तब अकादमिक पर्यावरण आज से कुछ भिन्न था। हड़प्पा सभ्यता वस्तुतः वैदिक सभ्यता ही थी—इस बात का दावा करने की बात तो दूर, हड़प्पा सभ्यता के साथ इसकी समवर्तिता और निकट सम्बन्ध की बात भी इसके प्रस्तावक की अकादमिक निष्ठा और निष्पक्षता को सन्दिग्ध बनाने के लिए पर्याप्त थी और इसका साहस या दुस्साहस बहुत कम लोग ही कर पाते थे और वे इसका मूल्य भी चुकाने को बाध्य होते थे। आज अनेक कोनों से और अनेक कारणों से, जिनमें से एक है भारत में आर्यों के प्रवेश का एक भी प्रमाण जुटा पाने में पुरातत्व की विफलता और वैदिक सभ्यता के केन्द्र

सरस्वती-क्षेत्र से हड़प्पा और पूर्व-हड़प्पाकालीन स्थलों की प्राप्ति, यह आवाज़ आने लगी है कि हड़प्पा सभ्यता वस्तुतः वैदिक सभ्यता ही थी। पर इसके बावजूद अपेक्षाकृत अधिक सावधानी बरतने वाले अध्येता अभी कुछ और रुकने और नये साक्ष्यों के सामने आने की प्रतीक्षा के पक्ष में हैं।

वास्तविकता यह है कि हड़प्पा सभ्यता के पूरे प्रसार में भौतिक साक्ष्य भरे पड़े हैं। इनकी कमी का प्रश्न नहीं उठता। असली कठिनाई साहित्यिक साक्ष्यों को भौतिक साक्ष्यों से जोड़ने की है और इसके लिए मूल वैदिक कृतियों का पुनरावलोकन पुरातत्व से कम महत्वपूर्ण नहीं है। यदि लेखक के प्रयास की कुछ सार्थकता है तो इसी दृष्टि से।

यह शुद्ध शास्त्रीय तकाज़ों से लिखा गया शोध-प्रबन्ध नहीं है। शास्त्रीयता के प्रति विशेष आग्रहशील इतिहासकारों को यदि इसकी कुछ बातें खटकती हैं तो इसके लिए हम उनसे क्षमाप्रार्थी हैं, पर हमारा लक्ष्य इसे केवल 'मूर्धन्य' विद्वानों के समक्ष पेश करना नहीं अपितु इतिहास, संस्कृति और जातीय परम्परा में रुचि लेने वाले सामान्य पाठकों तक पहुँचने का और तथ्यान्वेषण की इस यात्रा में उन्हें अपना सहयात्री बनाने का भी रहा है और इस दृष्टि से आलेख को यथासम्भव कम बोझिल किन्तु सर्वथा प्रामाणिक और तर्कसंगत बनाने का प्रयत्न किया गया है। वैदिक कृतियों के उद्धरणों को सन्धि-विच्छेद करके दिया गया है ताकि संस्कृत का साधारण ज्ञान रखने वाले अध्येता भी इनका जायज़ा ले सकें। इतिहास का अध्ययन मात्र 'विशेषज्ञों' या पेशेवर इतिहासकारों तक सीमित तथ्यों और आँकड़ों की दहशतनाक भीड़ बनकर न रह जाये अपितु हमारी अन्तर्दृष्टि को भी प्रखर करे, यह रहा है हमारा दृष्टिकोण और इसलिए साक्ष्यों को प्रस्तुत करते समय इनके प्रति पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा अपनाये गये रुख़ के कारण और औचित्य पर विचार, अपने द्वारा किये गये अर्थ का तार्किक व भाषिक आधार, इनकी विस्तार से परीक्षा, नये तथ्यों और साक्ष्यों की ओर ध्यानाकर्षण तथा आवश्यकतानुसार सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन इसमें जगह-जगह देखने में आयेगा, जो अपने ज्ञान और ग्रहणशीलता के अनुसार किन्हीं पाठकों को सर्वथा वांछनीय, कुछ को किंचित् विषयान्तर और कुछ को उबाऊ भी लग सकता है। एक का अमृत दूसरे का जहर। दायरा बड़ा रखने पर यह संकट तो स्वाभाविक है ही।

पुस्तक को पठनीय बनाने के लिए तथा सामान्य पाठकों पर इसकी प्रतिक्रिया को जाँचने के लिए मैंने इसके पृथक्-पृथक् अंशों को अपने स्वजनों और मित्रों को पढ़ने को दिया। उनके सुझावों के अनुसार इसके आलेख को अनेक बार बदला भी। इस दृष्टि से मेरे अनुज जनार्दन सिंह, मित्र श्री श्रीकान्त व्यास, श्री कान्तिमोहन शर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डॉ. महादेव साहा व डॉ. डी. एन. झा ने भी मेरे अनुरोध पर पुस्तक के एक-एक अध्याय पढ़े और अपने सुझाव दिये।

अनेक मित्र, जिनमें श्री मुद्राराक्षस का नाम विशेष उल्लेखनीय है, अपनी सहज जिज्ञासा से मुझे समय-समय पर प्रेरित करते रहे। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् ने इसके लिए प्रकाशन-अनुदान की स्वीकृति दी। इन सबके प्रति मैं गहरी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। डॉ. स्वराज्य प्रकाश गुप्त, जिन्होंने इस पुस्तक को लिखने को प्रेरित ही नहीं किया अपितु पुरातत्व के पहलू पर वे निरन्तर अपने बहुमूल्य सुझाव देते रहे और पुस्तकें उपलब्ध कराते रहे, अपनी समस्त व्यस्तताओं के बावजूद उन्होंने इस पुस्तक के तीन आलेखों को आद्यान्त देखा, अपने बहुमूल्य सुझाव दिये और इसके लिए भूमिका लिखना भी स्वीकार किया, आभार और कृतज्ञता के किसी भी ज्ञापन से भारी पड़ते हैं। उनका ऋण बना रहे यही, उचित है।

मुद्रण के दौर में सामग्री को यथासम्भव अद्यतन बनाने के लिए कुछ फेर-बदल अनिवार्य हो गये थे। नागरी प्रिंटर्स ने प्रत्यक्ष असुविधाओं के बावजूद इसमें पूरा सहयोग दिया, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। इस क्रम में होने वाले परिवर्तनों का मुद्रण पर भी कुछ प्रभाव पड़ा है और पुस्तक में प्रूफ़ की अनेक भूलें हुई हैं जो आँखों में खटकती हैं, जिनमें से कुछ, यथा पृ./पंक्ति 72/14 मिताक्षरा के स्थान पर मिताक्षण, 100/22 एस. पी. गुप्त के स्थान पर ए. पी. गुप्त, 194/8 व: के स्थान पर वह:, ऋ. 2.29.4 के स्थान पर 2.39.4; ऋ. 2.29.6 के स्थान पर ऋ., 200/3-4 देवभक्ता और भगभक्ता के स्थान पर देवभक्त और भगवत 381/24 13.9—10 के स्थान पर 13.9.10 तथा 381/28 13.10 के स्थान पर 13.10.45, 237/31 वेदी नहीं बना सकते थे के स्थान पर वेदी बना सकते थे, 279/9 लिथु के स्थान पर लिप्त, 307/1 वर्जित था के स्थान पर वर्जित नहीं था, 340/18 स्मिथ के स्थान पर रिमथ, 342/15 ब्राह्मी के स्थान पर ब्राह्मणी, तो भ्रामक भी हो सकती हैं। हम इनके लिए सुधी पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं और आशा करते हैं कि अन्य सामान्य त्रुटियों को भी वे सुधार लेंगे।

अन्ततः राधाकृष्ण प्रकाशन, जिन्होंने इतने विवादास्पद विषय पर इस पुस्तक को प्रकाशित करने का संकल्प लिया, भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

—भगवान सिंह

अप्रैल, 1987
सी-136 महाराणा प्रताप इन्क्लेव
दिल्ली-110034

भूमिका

1931 में जब सर जॉन मार्शल ने मोहनजोदड़ो के उत्खनन पर दो भागों वाले ग्रन्थ को सम्पादित किया और यह विचार व्यक्त किया कि हड़प्पा सभ्यता वैदिक अथवा आर्य संस्कृति से भिन्न भी थी और अधिक प्राचीन भी, तभी उनके सामने एक अत्यन्त समस्यामूलक प्रश्न खड़ा हो गया था : यदि यह सच है तो हड़प्पा सभ्यता में वैदिक देवों एवं धार्मिक भाव-चिन्हों —जैसे पशुपति(अथवा रुद्र), पीपल, वृक्ष, जल, नाग, वृषभ—की स्थिति को कैसे समझा जाये ? तर्क तो यह दिया गया कि यह असम्भव नहीं था, क्योंकि धार्मिक विश्वास मौखिक रूप में सभ्यता के ह्रास के बाद भी जीवित रह सकते हैं और बाद में आने वाली संस्कृतियों में घुस सकते हैं, किन्तु यह तर्क केवल सम्भाव्य होकर रह गया, कभी प्रमाणित नहीं हो पाया, क्योंकि पुरातत्व इसका कोई भी साक्ष्य नहीं दे पाया। वास्तव में हड़प्पा सभ्यता की अवनति के बाद (प्रायः 1500 ई. पू.) और मौर्य संस्कृति (प्रायः 300 ई. पू.) के उदय से पहले हड़प्पा संस्कृति के देवी-देवता कहीं दिखते ही नहीं हैं।

मार्शल की दुविधा— हड़प्पा सभ्यता में वैदिक देवगण तो थे किन्तु वह स्वयं अवैदिक थी—की पृष्ठभूमि में तीन बातें थीं : पहली यह कि हड़प्पा सभ्यता में पालतू घोड़ों के उपयोग का प्रमाण नहीं मिलता जब कि ऋग्वैदिक आर्यों की कथा ही घोड़ों द्वारा चालित रथों से आरम्भ होती है; दूसरी यह कि हड़प्पा सभ्यता में लोहे का प्रयोग कभी नहीं हुआ जब कि वैदिक आर्यों द्वारा इसका प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता था; और तीसरी यह कि जहाँ एक ओर हड़प्पा सभ्यता एक अत्यन्त विकसित नगरीय सभ्यता थी, वहीं दूसरी ओर वैदिक संस्कृति एक नितान्त ग्रामीण संस्कृति थी।

शायद जन-साधारण को यह कम ही ज्ञात हो कि 1931 से 1986 के बीच पुरातत्ववेत्ताओं ने भारत और पाकिस्तान में इतना अधिक उत्खनन-कार्य कर लिया है और नये तथ्य इकट्ठा कर लिये हैं कि अब मार्शल की विवेचना का पुनर्मूल्यांकन करना आवश्यक हो गया है। जैसे, पालतू घोड़ों के ही प्रश्न को लें। वैज्ञानिक इस प्रजाति के घोड़ों को Equus caballus linn कहते हैं। इस जानवर की हड्डियाँ प्रचुर मात्रा में हड़प्पीय नगर सूरकोटडा (कच्छ, गुजरात) में नीचे से

लेकर ऊपर तक के सभी स्तरों में (अर्थात् प्रायः 2300 ई. पू. से 1700 ई. पू. तक के नगर के जीवन-काल में) मिली हैं। रोपड़ (पंजाब), लोथल, मोहनजोदड़ो, कालीबंगां (उत्तरी राजस्थान) में भी इसी नस्ल के घोड़ों की हड्डियाँ पायी गयी हैं। लोथल (गुजरात) और मोहनजोदड़ो (सिन्ध) में घोड़ों की मृण्मूर्तियों का पाया जाना तो सर्वविदित ही है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि कभी-कभी विद्वान इन मूर्तियों को Equus haminus khur अथवा जंगली गधों की छवि मानते हैं—वैसे तो ऐसा है नहीं, लेकिन यदि इसे मान भी लें तो सूरकोटडा आदि के प्रमाण तो अकाट्य हैं, क्योंकि वे विज्ञान से प्रमाणित हैं। 'पुरातत्व' (1975) शोध-पत्रिका के क्रमांक 7 में डॉ. अरुणकुमार शर्मा का शोध-पत्र इस विषय में द्रष्टव्य है।

अब हम लोहे के प्रयोग के प्रश्न को लें। यद्यपि यह सही है कि हड़प्पा काल में इस धातु का प्रयोग भारत में कहीं भी नहीं हुआ, किन्तु यही बात ऋग्वैदिक आर्यों पर भी लागू होती है। वे 'अयस्' का प्रयोग करते थे, किन्तु इस शब्द का अर्थ तो केवल 'धातु' से है, लोहे से हो भी सकता था और नहीं भी। सच बात तो यह है कि भारत में लोहे का प्रयोग 1000 ई. पू. के आस-पास ही हुआ। पुरातत्व-साक्ष्यों का यह निष्कर्ष बड़ा ही दूरगामी है। इसका एक कारण है। पुरातत्व के साक्ष्य यह बताते हैं कि उत्तर भारत में लोहे का ज्ञान भले ही 1000-1100 ई. पू. में हो गया हो—पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अतरंजीखेड़ा में इसका प्रमाण मिला है—किन्तु जिसे लौह-युग कहते हैं, अर्थात् जब लोहे का प्रयोग अनेक उपकरणों के रूप में अनेक स्थानों पर होना आरम्भ हुआ, वह तो 800 ई. पू. के बाद ही आया। रथों में लोहे का प्रयोग 'लौह-युग' की ही बात हो सकती है, 'लौह-ज्ञान' की नहीं। लेकिन इस तथ्य का अर्थ क्या हुआ? इसका सीधा-सा अर्थ यह हुआ कि इस हिसाब से ऋग्वेद की तिथि 800 ई. पू. के आस-पास ही पड़ेगी। कम-से-कम 1000 ई. पू. के पहले तो नहीं ही पड़ेगी। क्या ऋग्वेद केवल 1000-800 ई. पू. का ही ग्रन्थ है? इससे कहीं ज्यादा तो विंटरनिट्ज़, लियोनार्ड वूली, पिगट, आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी माना है, जब कि उनमें से अधिकांश भारतीय इतिहास की प्राचीनता को कम करने का ही प्रयास करते रहे हैं। स्पष्टतया, हड़प्पा और वैदिक संस्कृतियों को अलग-अलग मानने से अनेक पुरातात्विक, सांस्कृतिक और भाषाई समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं, जिनका निर्धारण सरल नहीं है।

इस सन्दर्भ में एक बात और। पुरातत्व की दृष्टि से हड़प्पा सभ्यता के बाद और लौह-काल के पहले, अर्थात् 1500 ई. पू. के बाद और 800 ई. पू. के पहले, उत्तरी भारत में कई संस्कृतियों के प्रमाण मिलते हैं, जैसे—परवर्ती हड़प्पा संस्कृति, गैरिक भाण्ड संस्कृति, कृष्ण विसर्पण भाण्ड संस्कृति, आरम्भिक रंजित धूसर भाण्ड संस्कृति, कृष्ण व लोहित भाण्ड संस्कृति। इन सभी संस्कृतियों में लोहे के प्रयोग का प्रमाण नहीं मिलता। तो क्या हम यह मान लें कि ये सभी संस्कृतियाँ

ऋग्वैदिक आर्यों से पहले की थीं ? सच बात तो यह है कि रथों के बनाने में धातु का प्रयोग सारे मध्य-एशिया में 3000 ई. पू. से पहले से ही होता रहा था, मगर यह धातु था काँसा जिसमें ताँबे के साथ सीसे अथवा आर्सेनिक आदि का मिश्रण करके ताँबे को लोहे जैसा कठोर बना दिया जाता था। याद रखने वाली बात है कि संसार में काँसे की जगह लोहे ने इसलिए नहीं ले ली कि वह काँसे से अधिक मज़बूत होता था, बल्कि इसलिए ले ली कि जहाँ प्रकृति में ताँबा, सीसा, आर्सेनिक कम मात्रा में मिलता है वहाँ लोहा बहुत अधिक मात्रा में और बहुत अधिक स्थानों पर मिला है। इस विषय में डॉ. दिलीप चक्रबर्ती द्वारा 'पुरातत्व' एवं 'मैन ऐंड एन्वार्नमेंट' के पिछले कई अंकों में प्रकाशित लेखों को पढ़ा जा सकता है, विशेष रूप से 'पुरातत्व' के अंक 13-14 में। तीसरी और अन्तिम बात है नगरीय (हड़प्पा) एवं ग्रामीण (वैदिक) संस्कृतियों के विरोधाभास की। इस सन्दर्भ में मैं कुछ विस्तार से कहना चाहूँगा।

हड़प्पा सभ्यता का सम्बन्ध अपनी समकालीन अनेक सभ्यताओं से रहा है, जिसका प्रमुख प्रमाण उन सभ्यताओं के अवशेषों में प्राप्त हड़प्पा सभ्यता की उन मुद्राओं से मिला है जिन पर हड़प्पा लिपि के अक्षर खुदे हुए मिले हैं, अथवा हड़प्पा सभ्यता में प्रचलित चित्र खुदे हुए मिले हैं। मेसोपोटामिया (ईराक़), फैलका और बहरीन जैसे फ़ारस की खाड़ी के द्वीप-समूह, ओमान के समुद्री तट तक तो जल-पोतों से पहुँच जाते थे, किन्तु सोवियत मध्य-एशिया के दक्षिणी तुर्कमीनिया में स्थित अल्तीन देपे और उत्तरी अफ़ग़ानिस्तान में आक्सस (आमू दरिया या वक्षु नदी) के किनारे बसे शोर्तुगाई जैसे स्थानों पर पहुँचने के लिए हड़प्पा के व्यापारियों को स्थल-मार्ग (खैबर दर्रा, बोलन दर्रा, आदि) ही अपनाने होते थे।

इस सन्दर्भ में सबसे प्रमुख बात यह है कि हड़प्पा सभ्यता की अवनति के साथ पुरातत्व के प्रमाण की दृष्टि से धीरे-धीरे भारत का सम्पर्क इन पश्चिमी देशों से 1000 वर्ष तक के लिए टूट गया। अल्तीन देपे और शोर्तुगाई जैसे नगरों में ही नये लोगों के बसने के प्रचुर प्रमाण मिल चुके हैं। ये नये लोग कभी लाल किन्तु अधिकांशतः धूसर अथवा सलेटी रंग के अनेक सपाट अथवा चित्रित मृद्भाण्डों का प्रयोग करते थे और अपने मुर्दों को तरह-तरह से पत्थर से बनी पेटिकाओं में अथवा मिट्टी के बड़े पात्रों में, अथवा गड्ढों में गाड़ते थे। इस विषय में यह भी द्रष्टव्य है कि ये तमाम संस्कृतियाँ, जैसे दहिस्तान संस्कृति, याज संस्कृति, गान्धार समाधि संस्कृति, कैस्पियन सागर के पूर्वी तट से लेकर खोरासान और कोपेदाग की पहाड़ियों के साथ-साथ मिलने वाली नदियों और उनके ओसिस अथवा नखलिस्तान, तथा हिन्दूकुश की पहाड़ियों से लेकर सिन्धु नदी तक ईसा की दूसरी सहस्राब्दी में फैली पड़ी थीं और उनमें आपस में क्षेत्रीय दृष्टि से सम्बन्ध भी था, किन्तु इनमें से एक भी पुरातत्वीय संस्कृति सिन्धु नदी से पूर्व की ओर फैली ही

नहीं, मानो सिन्धु नदी इन सभी संस्कृतियों के लिए लक्ष्मण-रेखा थी, सीमा थी, अन्तिम पड़ाव थी।

अब हम एक बार फिर भारत की ओर देखें। वैदिक साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्षु नदी से लेकर सरस्वती नदी तक आरम्भिक आर्यों की कार्य-शाला थी। उसी भौगोलिक स्थिति का वर्णन बार-बार साहित्य में आता है। इस भौगोलिक स्थिति का पुरातात्विक साक्ष्य तो हड़प्पा संस्कृति के भौगोलिक फैलाव से ही मिलता है। किसी धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति से कदापि नहीं मिलता, क्योंकि ऐसी कोई भी संस्कृति सरस्वती नदी (राजस्थान) तक पहुँची ही नहीं। इसका विशद् वर्णन मैंने अपनी पुस्तक Archaeology of Soviet Central Asia and Indian Borderlands के दूसरे भाग में किया है। प्रश्न है इस साक्ष्य के परिणाम का। वह इस प्रकार है :

वैदिक संस्कृति 1500 ई. पू. से बहुत पहले की थी; उस समय की थी जब ऋग्वैदिक लोग वक्षु, काबुल, सिन्धु और सरस्वती नदियों को जानते थे। क्योंकि अगर यह संस्कृति 1500 ई. पू. के बाद की होती तो ऋग्वैदिक लोग सिन्धु से पूर्व की किसी नदी को कभी नहीं जानते। अतः ऋग्वेद 1500 ई. पू. का ग्रन्थ नहीं हो सकता, कम-से-कम पुरातत्व के साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में। इसका वर्णन मैंने Mahabharat : Myth & Reality में किया है। यदि यह निर्वचन ठीक है तो ऋग्वैदिक काल वही काल बनता है जो हड़प्पा संस्कृति का काल था।

अब एक बार फिर हम पश्चिम की ओर चलें। वहाँ अल्तीन देपे था 2200 ई. पू. में हड़प्पा के समकक्ष के रूप में। यह एक बड़ा नगर था जहाँ जिगुरात जैसा एक मन्दिर भी था। किन्तु, और यह प्रमुख बात है, उस काल में प्रायः 15 से 20 गाँव थे इसी क्षेत्र में, दक्षिणी तुर्कमीनिया में। नामाज़गा देपे एक अन्य नगर था। उसके आस-पास भी कई गाँव थे, दक्षिणी तुर्कमीनिया में ही। और यह स्थिति आज भी वैसी ही है — वहाँ भी और भारत में भी। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शहर गाँवों के बिना 'शहर' रह ही नहीं सकता, क्योंकि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति गाँव ही करते हैं। अतः ऋग्वैदिक गाँव ही हड़प्पा, मोहन-जोदड़ो, कालीबंगां जैसे नगरों की प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति यदि करते रहे हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

श्री भगवान सिंह का यह ग्रन्थ इन्हीं जैसे अनेक प्रश्नों को लेकर लिखा गया है। मेरे साथ वर्षों तक मेरे विद्वान मित्र ने इन विषयों पर चर्चा की है। मैंने उन्हें समय-समय पर उन सभी शोधों की जानकारी दी है जो देश-विदेश में होते रहे हैं। ऐसा नहीं कि वे हमेशा मेरी विवेचना से सहमत होते थे या मैं ही उनसे सहमत होता था। लेकिन एक विचार-विन्दु पर हम ज़रूर सहमत होते थे। हड़प्पा और वैदिक संस्कृति में कोई विरोध नहीं था। यह सम्भव है कि हड़प्पा संस्कृति, वैदिक

संस्कृति का वह पक्ष था जिसे हम 'नगरीय' कहते हैं। यह कोई नयी बात नहीं है। भारतीय इतिहास की यही नियति रही है। भारतीय जन-जीवन सदा से ही 'उन्नत' सभ्यता और 'निम्न' सभ्यता में साथ-साथ जिया है। हज़ारों-हज़ारों गाँव वाले देश में आज कुल मिलाकर 300 नगर भी नहीं हैं—इस विषय पर श्री अमलानन्द घोष की पुस्तक The City in Early Historical India देखें। पहाड़ों और उपत्यकाओं के गाँवों में आज भी दिल्ली, बम्बई, मद्रास या कलकत्ता की संस्कृति की छाया तक नहीं है। अक्षर-ज्ञान तक नहीं है। फिर भी झोंपड़ी में जीवित हैं वेद, पुराण, महाकाव्य, स्थानीय गौरव-गाथाएँ और देवी-देवता, विश्वासों के अनेक प्रतीक तथा पूजा, अर्चना और अनुष्ठान। कभी-कभी इसका कुछ अंश नगरीय सभ्यता में चला जाता है जब गाँव वाला नगर में जाकर बस जाता है और वहाँ स्वयं भी शीघ्र ही अपनी मेहनत और सूझ-बूझ से नगरीय हो जाता है। मगर तब भी वह अपनी जड़ों को भूल नहीं पाता, वरन् उसे सुरक्षित रखता है जैसे मॉरिशस या फ़िजी में बसे कल के निर्धन और आज के धनवान भारतीय। अथवा दिल्ली में प्रतिदिन आते, बसते अनेक ग्राम या कस्बावासी। श्री भगवान सिंह ने अपने इस ग्रन्थ में भारतीय इतिहास के एक मूलभूत प्रश्न को उठाया है और उसकी बखूबी छानबीन की है, मैंने तो ध्यान से पढ़ा ही है और इससे बहुत सारी जानकारियाँ प्राप्त की हैं। आशा ही नहीं विश्वास है, हर पाठक इसमें कुछ-न-कुछ नया पायेगा।

हिन्दी में तो यह एक अनूठा ग्रन्थ है ही, अंग्रेज़ी में भी इस दृष्टि से अभी तक एक भी ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

4 अप्रैल, 1987 —डॉ. स्वराज्य प्रकाश गुप्त

राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

शब्द-संकेत

अं	अंग्रेज़ी
अथ / अथर्व	अथर्ववेद
अल्बा	अल्बानियन
अवे	अवेस्ता
इंकंवथाक	इंडियाज़ कंट्रीब्यूशन टु दि वर्ल्ड थॉट ऐंड कल्चर
इली	इलीरियन
इवीइं	इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ़ इंडिया
ई	ईरानी
ऋ	ऋग्वेद
ऐब्रा	ऐतरेय ब्राह्मण
ओआ	ओल्ड आयरिश
कहेइं	कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ इंडिया
कासं	काठक संहिता
कुप्पूस्वामी कमे वा	कुप्पूस्वामीशास्त्री कमेमोरेशन वाल्यूम
गोउब्रा	गोपथ उपनिषद् ब्राह्मण
ज	जर्मन
जराएसो	जर्नल ऑफ़ रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन
जबांएसो	जर्नल ऑफ़ बाम्बे ब्रांच ऑफ़ एशियाटिक सोसायटी, बम्बई
जबयू	जर्नल ऑफ़ बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी
जबांयू	जर्नल ऑफ़ बाम्बे यूनिवर्सिटी
जैउब्रा	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
तांब्रा	ताण्ड्य ब्राह्मण
तू	तूखारी
तैब्रा	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैसं	तैत्तिरीय संहिता
दवैको	दयानन्द वैदिक कोश
धापा	धातुपाठ

निघ	निघण्टु
निरु	निरुक्त
नि	निघण्टु/निरुक्त
पाटि	पाद टिप्पणी
प्राउज	प्राचीन उच्च जर्मन
फ्रंइंसि	फ्रंटियर्स ऑफ़ दि इंडस सिविलाइज़ेशन
बृद्दे	बृहद्देवता
भासं	भारतीय संस्करण
मनि	मज्झिम निकाय
मनु	मनुस्मृति
महा	महाभारत
मैसं	मैत्रायणी संहिता
मोवि	मोनियर विलियम्स : संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी
यजु	यजुर्वेद
याज्ञ	याज्ञवल्क्य स्मृति
रामा	रामायण
लिथु	लिथुआनियन
लुवि	लुवियन
वासं	वाजसनेयि संहिता
वै	वैदिक
सं	संपादक/संवत/संस्करण/संस्कृत
साउआ	साउथ एशियन आर्कियालॉजी
सैबुई	सैक्रेड बुक्स ऑफ़ ईस्ट सीरीज़
स्ला	स्लाव
हसि	हड़प्पा सिविलाइज़ेशन
हि	हित्ती

जहाँ ऋग्वेद के उद्धरण या सन्दर्भ हैं वहाँ आरम्भ में कुछ स्थलों पर ऋ. छपने से रह गया है, परन्तु अन्य सभी कृतियों के उल्लेख सन्दर्भित स्थलों के प्रसंग में हैं, अतः इन्हें स्पष्टतः पहचाना जा सकता है।

अध्याय एक

समस्या का स्वरूप

> एक छात्र के रूप में जब हम इतिहास की पाठ्यपुस्तकें पढ़ते हैं तब हमारे सामने ऐसी उक्तियों की एक लड़ी पेश कर दी जाती है जिन्हें हम, कमोबेश उदासीनता के साथ, सत्य मान लेते हैं। हम दर्जनों भिन्न-भिन्न स्रोतों से आँकड़े लेकर, उन्हें जोड़-मिलाकर, तैयार की गयी उस कुशल पैबन्दबाज़ी को नहीं देख पाते जिससे घटनाओं का यह सुथरा चित्र तैयार किया गया है। और हमारे भीतर उस मानसिक प्रक्रिया की पड़ताल करने की ललक भी नहीं होती, जिसके द्वारा इन पैबन्दों को एक-दूसरे में गूंथा और जोड़ा जाता है।[1]

यद्यपि प्रत्येक जन-समाज में अपने अतीत को समझने-जानने की एक स्वाभाविक ललक होती है, और अपनी समझ से महत्त्वपूर्ण तथ्यों और घटनाओं को वह आकलित भी करता है, पर अतीत का प्रत्येक आकलन इतिहास नहीं होता। भारत की जातीय स्मृति में अतीत का एक विराट चित्र रहा है, जिसका आख़िरी छोर उस धुर दिगन्त तक पहुँचता है जहाँ धरती और आकाश एक में मिले दिखायी देते हैं; मनुष्यकृत और दैवकृत में फ़र्क़ मिट जाता है और इसके बावजूद यह भ्रम बना रहता है कि शायद इसकी शृंखला इससे भी पीछे को जाती है। पर जिसे हम सही अर्थ में इतिहास कहते हैं, सामाजिक तथ्यों का देशकाल सापेक्ष और क्रमबद्ध विवरण कहते हैं, वह पाश्चात्य सम्पर्क की देन है। इस दृष्टि से भारत का इतिहास लिखने का पहला प्रयत्न भी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ही किया गया। भारत पर अधिकार करने के साथ ही विजित क्षेत्र के प्रशासन का प्रश्न आरम्भ हुआ और सफल प्रशासन के लिए भारतीय मानस को—इसकी भाषाओं, धर्मों, विश्वासों, रीतियों, सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं को—समझने की अपरिहार्यता पैदा हुई और इसी क्रम में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन विभिन्न क्षेत्रों में योजनाबद्ध रूप में अध्ययन आरम्भ हुए, पर विभिन्न दृष्टियों से किये गये ये अध्ययन अंग्रेज़ प्रशासकों से पहले विभिन्न मिशनरियों द्वारा धर्म-प्रचार के उद्देश्य से

आरम्भ किये जा चुके थे।[2] इन खंडित अध्ययनों को भारतीय जन-मानस और जातीय अतीत की टोह का प्रयत्न तो कहा जा सकता है, पर इतिहास नहीं। भारत का इतिहास लिखने का पहला काम एक ऐसे व्यक्ति ने किया जो न तो भारत की किसी भाषा से परिचित था, न ही जिसने भारत को अपनी आँखों देखा था। यह थे ब्रिटेन के उपयोगितावादी विचारक जेम्स मिल, जिनकी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया'[3] भारत पर उनके दस वर्षों के अध्ययन का परिणाम तो थी, पर कुछ निश्चित पूर्वाग्रहों के साथ और केवल गौण साक्ष्यों के आधार पर लिखी गयी थी।

भारत पर लिखित इतिहासों पर दृष्टिपात करने पर एक बात जो सबसे अधिक उभर कर सामने आती है वह यह है कि अब तक लिखे गये इतिहास राजनीतिक तक़ाज़ों से लिखे गये हैं, जिन्हें वस्तुपरक इतिहास नहीं कहा जा सकता। भारतीय इतिहास-लेखन के इतिहास को हम मोटे तौर पर चार कालों अथवा अध्यायों में बाँट सकते हैं और इन चार कालों में इतिहास-लेखन के प्रेरक आग्रहों को सामने रखते हुए ही उन जटिलताओं को समझ सकते हैं जो भारतीय अतीत को दो विपरीत रूपों में चित्रित करने के लिए उत्तरदायी मानी जा सकती हैं :

(1) **सन् 1817 तक का काल**—इसे सही अर्थ में पाश्चात्य धर्म-प्रचारकों और ब्रितानी प्रशासकों के लिए भारतीय भाषाओं और विशेषतः संस्कृत से परिचय का काल कह सकते हैं, जिसकी मुखर अभिव्यक्ति सर विलियम जोन्स द्वारा 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल' के तीसरे अधिवेशन के अवसर पर दिये गये भाषण में हुई थी जिसमें उन्होंने यूरोप की भाषाओं से संस्कृत के सम्बन्धित होने की घोषणा की थी, और जिसके साथ सही अर्थ में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ था। इस काल के महत्वपूर्ण राजनीतिक तथ्यों में से एक तथ्य यह था कि ब्रितानी उपनिवेशवादियों के बढ़ते हुए प्रसार के बावजूद फ्रांसीसी भारत में एक ख़तरनाक प्रतिस्पर्धी के रूप में बने हुए थे। भारत का एक बड़ा हिस्सा अभी तक ब्रितानी आधिपत्य में नहीं आया था। इस दौर में प्रशासन से अधिक महत्वपूर्ण थीं कम्पनी की व्यापारिक गतिविधियाँ, जिनमें जनसम्पर्क की अधिक सम्भावना बनी रहती है और सम्बन्धित पक्षों को अधिक निकट आने का और एक-दूसरे को समझने का अधिक अवसर रहता है। इसके अतिरिक्त यह भी एक सचाई है कि अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद और श्रेण्यवाद (क्लासिसिज़्म) ने एक विश्ववादिता को जन्म दिया था, जिससे इस काल के अंग्रेज़ अधिक प्रभावित थे और दूसरी संस्कृतियों को समझने की दृष्टि से विक्टोरिया-कालीन ब्रिटेन की तुलना में अधिक अच्छी स्थिति में थे।[4] अतः हेस्टिंग्स की दृष्टि में "भारतीय प्रशासन को एक सुदृढ़ आधार पर रखने के लिए भारतीय संस्कृति को समझना"[5] जरूरी था। "भारत पर प्रभावशाली ढंग से शासन करने के लिए भारत को प्यार करना जरूरी था; भारत

को प्यार करने के लिए लोगों के साथ संचार क़ायम करना ज़रूरी था और संचार के लिए उनकी भाषा को सीखना ज़रूरी था।"[6]

भारतीय भाषाओं और विशेषतः संस्कृत से परिचय, संस्कृत में रचित साहित्य से परिचय, अध्येताओं की भारत-विषयक धारणा को बदलने में सहायक तो हुआ ही, इस क्रम में एक ऐसी प्राचीन संस्कृति का पता चला जिसका प्रभाव भारत से लेकर यूरोप के अन्तिम छोर तक था। वेदान्त और इसके दृष्टान्त में लिखी गयी कृतियों को पढ़ते समय यह विश्वास न करने का कोई चारा नहीं दिखायी दे रहा था कि "पाइथा-गोरस और प्लेटो ने अपने उत्कृष्ट सिद्धान्त उसी स्रोत से लिये होंगे जिससे भारतीय ऋषियों ने लिये थे।"[7] भारतीय अतीत का एक ऐसा अध्याय सामने आ रहा था जो चिर काल से पिछड़े भारत के विषय में शासकों की धारणा को बदल रहा था, "हिन्दू आज जितने भी पतित और अधम क्यों न दिखायी देते हों, प्राचीन काल में कभी वे कलाओं में और शौर्य में विलक्षण, प्रशासन में सुयोग्य, विधि-निर्माण में बुद्धिमान, और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवीण थे।"[8] इस बात के प्रमाण मिल रहे थे कि पश्चिम "कलाओं और विज्ञानों में एशिया की सभ्यताओं के योगदान के लिए उनका आभारी है"[9] और "सभ्यता का जन्म एशिया में हुआ था।"[10] इन अध्येताओं को भारतीय समाज अपने प्राचीन वैदिक आदर्शों से भटका हुआ लग रहा था, कारण वैदिक काल में न तो मूर्तिपूजा थी, न ही बहुदेववाद।[11] पुराणों पर आधारित रीतियों ने और, इनसे भी बुरे, तंत्र के स्रोतों से लिये गये, अनुष्ठानों ने वेदों का स्थान ले लिया था।[12] वैदिक काल में विधवाओं की भी स्थिति इतनी बुरी नहीं थी और सती प्रथा तो थी ही नहीं।[13]

इस तरह भारतीय समाज की तत्कालीन विकृतियों को एक बौद्धिक चर्चा के द्वारा सुधारने और स्वस्थ और रक्षणीय पहलुओं को पुनरुज्जीवित करने का भी एक प्रयत्न इन प्राच्यविदों द्वारा आरम्भ किया गया था। सच कहें तो भारतीय पुन-र्जागरण, जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति 'ब्रह्म समाज' और 'आर्य समाज' आदि की स्थापना में हुई थी, इन प्राच्यविदों द्वारा आरम्भ किया गया था। यदि इस दौर के प्रशासकों के इतने ही जघन्य लोभ को छोड़ दिया जाये जिसके कारण, अन्य बातों के अलावा, बंगाल का महादुर्भिक्ष पड़ा था और जिसमें कथित रूप में तीस लाख लोगों की जान गयी थी[14], तो इनका सब-कुछ उज्ज्वल ही उज्ज्वल दिखायी देगा।

पर कम्पनी के साम्राज्य के समानान्तर ही ईसाई चर्च भी अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए लालायित था। इसके सामने सबसे बड़ी बाधा कम्पनी प्रशासन स्वयं था जो इन प्रचारकों की गतिविधियों को भारत में अशुभ मानता था[15], अतः इसने धर्म-प्रचारकों पर अंकुश लगा रखा था। इन प्रचारकों की दृष्टि में भारत का उद्धार हिन्दू धर्म को निर्मूल करके ही सम्भव था। कारण, भारतीय

सभ्यता बर्बर थी और इसका धर्म गर्हित था, अतः "ऐसी संस्कृति को सहन करना भी ईसाई भावना का ख़तरनाक उल्लंघन था।"[16] इस तरह भारत में काम कर रहे और भारत से परिचित होने का दावा करने वाले इन दो पक्षों में एव तनाव पैदा हो गया था, जिनमें से एक के अनुसार 'इन मूढ़ और जड़ धर्मान्ध अंग्रेज़ मिशनरियों—इग्नोरेंट ऐंड बाइगाटेड सेक्टेरियन इंग्लिश मिशनरीज़— को वापस बुला लेना ही एक मात्र उपाय था'[17] और दूसरे की दृष्टि में प्रशासन में बैठे ये अंग्रेज़ प्राच्यविद अंग्रेज़ युवकों का भारतीयकरण करने पर उतर आये थे, जब कि अंग्रेज़ी हितों की रक्षा तभी सम्भव थी जब प्रशासक ईसाई विश्वासों में सराबोर हों।[18]

संक्षेप में कहें तो भारत के साथ सांस्कृतिक सामंजस्य का जो दौर प्राच्यविदों द्वारा आरम्भ किया गया था वह विवाद का एक बिन्दु बन गया था और धार्मिक भावना को उत्तेजित करके जनमत को किस तरह प्रभावित किया जा सकता है, यह हम जानते हैं। अतः वेलेज़ली की वापसी, या कहें बेंटिंग के आगमन के साथ प्रशासन का अंग्रेज़ीकरण आरम्भ होना अकारण नहीं था। स्वयं जेम्स मिल ने अपने दस वर्षों के अध्ययन में जो जानकारी भारत के विषय में जुटायी थी उसका बहुत बड़ा अंश इन मिशनरियों द्वारा भेजी गयी रिपोर्टों और वेलूर हत्याकांड (जिसके लिए मिशनरियों को दोषी और उस समय मद्रास में नियुक्त बेंटिंग को अपने कर्तव्य में असावधान माना गया था और इसके बाद मिशनरियों के भारत में बने रहने के प्रश्न पर लम्बी बहस छिड़ी और पार्लमेंट के बाहर-भीतर तूफ़ान मच गया था) के सिलसिले में प्रकाशित या प्रचारित तथ्यों पर आधारित था। लगभग इस बहस के साथ ही मिल का भारत का इतिहास लिखने की तैयारी में लग जाना और उनके इतिहास में भारत के विषय में उन्हीं विचारों की पुष्टि, जिन्हें ईसाई प्रचारकों का विचार कहा जा सकता है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहने देता।

(2) **प्रतिक्रिया का दौर**—मिल ने न केवल भारतीय प्राच्यविदों पर प्रहार किया था, अपितु वाल्तेयर में भी, जो चीनी सभ्यता के प्रशंसक थे, 'प्राच्य निरंकुशतावाद के प्रति मूर्खतापूर्ण भावुक आसक्ति' पायी थी।[19] मिल की नज़र में भारतीय और चीनी दोनों अनेक मामलों में समान थे; "दोनों राष्ट्रों में एक जैसी कुटिलता पायी जाती है, दोनों इतने पाखंडी, धोखेबाज़ और मिथ्यावादी हैं जितना कोई असभ्य-से-असभ्य समाज नहीं होगा। दोनों में अपने से संबंधित हर बात को अतिशय बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने की आदत है। दोनों कायर और भावशून्य हैं। दोनों बेहद घमंडी हैं, और दूसरों के प्रति दम्भपूर्ण घृणा से ओतप्रोत हैं, पर अपने व्यक्तिगत जीवन में और घरों के मामले में दोनों नितान्त जुगुप्सु हैं।"[20] प्रश्न यह नहीं है कि मिल के ये विचार सही थे या ग़लत, रोचक बात यह है कि उन्होंने भारत या चीन किसी को देखा नहीं था। यह धारणा मिशनरियों की रिपोर्टों के आधार पर बनायी

गयी थी। और इसी पर आधारित था भारतीय इतिहास का मूल्यांकन जो अपने प्राचीनतम काल से 'जड़ और परिवर्तनहीन' बना हुआ है और इसके पीछे उद्दंड राजाओं और ब्राह्मणों का दुहरा स्वेच्छाचार था।[21] मिल ने अपने इतिहास का काल-विभाजन भी धर्मों के आधार पर किया था। इसके बाद भारत के विषय में पाश्चात्य विचारकों और दार्शनिकों के मन में भारत की जो छवि तैयार हुई वह मुख्यतः इसी पुस्तक पर आधारित थी। मिल का सबसे कठोर प्रतिवाद स्वयं अंग्रेज़ प्राच्यविदों ने किया था, जिनमें विल्सन, स्टीवर्ट और मैकनाटन आदि के नाम प्रमुख हैं।[22] पर अब सांस्कृतिक सामंजस्य की दिशा में प्रयत्नशील प्राच्यविदों का ज़माना लद चुका था।

आगे के पाश्चात्य इतिहासकारों के लिए मिल का इतिहास एक मॉडल का काम करता रहा है। अब वही अतीत बर्बर या अर्धबर्बर से भिन्न कुछ नहीं रह गया था और अनेक मामलों में वैदिक साहित्य के अधिकारी विद्वान भी इसके अपवाद नहीं थे। इसकी एक अच्छी मिसाल मैक्समूलर हैं, जिनके संस्कृत साहित्य के इतिहास का शीर्षक ही था, 'ए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर सो फ़ॉर इट इलस्ट्रेट्स दि प्रिमिटिव रिलिजन ऑफ़ दि ब्राह्मणाज़'। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि वैदिक अध्ययन में इसके बाद पाश्चात्य विद्वानों का आज तक यही रुख़ रहा है।

(3) **पुनरुत्थानवादी मूल्यांकन**—मिल के विवेचन ने जिस बात को रेखांकित किया था उनमें से एक तथ्य यह था कि भारतीय जातिगत रूप से एक लम्बे अरसे से जड़ता की स्थिति में रहने के कारण सभी प्रकार की योग्यताओं से शून्य हो चुके हैं, और इनमें अपना शासन करने तक की योग्यता का अभाव है, जो क्रमिक शिक्षा और पश्चिमीकरण के द्वारा ही आ सकती है। अतः स्वतंत्रता की माँग तेज़ होने के साथ भारतीय इतिहासकारों की कुछ पीढ़ियों ने इस दौर में पुनः प्राचीन भारत का नया मूल्यांकन करने का और मिल की मान्यताओं का, जो पाश्चात्य मान्यता का रूप ले चुकी थीं, खंडन करने का प्रयत्न किया। इन्होंने प्राचीन भारतीय संस्थाओं, समृद्धियों, उपलब्धियों को सामने रखते हुए उस काम को आगे बढ़ाया, जिसे पहली पीढ़ी के अंग्रेज़ प्राच्यविदों ने आरम्भ किया था। इनमें भंडारकर, रायचौधरी, जायसवाल, मजूमदार, ओझा, कुमारस्वामी, काणे आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनके अनुसार प्राचीन भारत में उन सभी संस्थाओं का अस्तित्व था जिन पर किसी सभ्यता को गर्व हो सकता है, और जिन पर स्वयं पश्चिमी जगत को गर्व है। भारतीय अतीत के इस 'गौरवशाली चित्र' की स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान एक महत्वपूर्ण भूमिका रही और इसने भारतीय मनोबल को ऊपर उठाने में भी बहुत काम किया।

(4) **पुनर्मूल्यांकन** --स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अतीत के मूल्यांकन का काम सँभाला, जिसका आरम्भ कोसम्बी से होता है। गौरवशाली अतीत का चित्र उभारने वाले इतिहासों से एक तरह का ख़तरा भी था। इनसे हमारा विवेक कुंठित होता है और अतीतोन्मुखता आती है। यदि अतीत गौरवशाली है तो उसकी वापसी करते हुए हम अपना भाग्य परिवर्तन क्यों न करें? दूसरे, अतीत का मिल जैसे इतिहासकारों द्वारा दिया गया जड़ और गर्हित चित्र हो या अचल गौरवमयता का स्थिर चित्र, इससे ऐतिहासिक विकासक्रम को नहीं समझा जा सकता था। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा 'हिन्दू काल' पर बल भारत के बहुजातीय और संस्कृति-बहुल समाज में प्रतिक्रियावाद को बढ़ावा दे सकता था, अंग्रेज़ी काल से चली आ रही 'फूट-डालो-लड़ाओ-और-राज-करो' की प्रवृत्ति को बढ़ा सकता था, जो और भी ख़तरनाक था। इन विविध तथ्यों को ध्यान में रख कर ही सम्भवतः कोसम्बी ने एक नये प्रकार के इतिहास-लेखन का प्रस्ताव रखा था जिसमें, अन्य बातों के साथ ही, ऐतिहासिक कालों को उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों के अनुसार विभाजित करने की आवश्यकता पर बल दिया था।[23] अतीतोन्मुख इतिहासकारों से उनकी शिकायत थी कि "वे एक बिलकुल नये क़िस्म का इतिहास शुरू करने की कोशिश करते हैं, पर मात्र विदेशी पूँजीपतियों के स्थान पर देशी पूँजीपतियों को रखने में ही सफल हो पाते हैं।"[24] कोसम्बी एक प्रतिबद्ध इतिहासकार थे, और उनके अनुसार, "इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास को बदलने का काम इतिहास लिखने के काम से ठीक उसी तरह अधिक महत्वपूर्ण है जैसे मौसम के बारे में निरी बातें करने की अपेक्षा इसके बारे में कुछ करना।"[25] मोटे तौर पर कहें,तो, कोसम्बी ने पहली बार एक ऐसी नयी ऐतिहासिक व्याख्या की नींव रखी, जिसे मार्क्सवादी इतिहास-लेखन कहा जा सकता है और इसने आगे के मार्क्सवादी इतिहासकारों को बहुत अधिक प्रभावित किया। इन लेखकों की सारी शक्तियाँ और सीमाएँ मोटे तौर पर कोसम्बी में देखी जा सकती हैं।

इन इतिहासकारों का लेखन भी अतीतवादी इतिहासकारों की तरह एक ऐतिहासिक आवश्यकता की देन था—इतिहास की इस प्रकार की व्याख्या, जिससे सामाजिक रूपांतरण में सहायता मिल सके। यह पाश्चात्य इतिहासकारों के उस ऐतिहासिक विवेचन की प्रतिक्रिया तो थी ही जो भारत को एक परिवर्तनहीन, गतिहीन, प्रस्तरीभूत देश के रूप में देखते आये थे और इसकी अधोगति का अतिरंजित विवरण देते आये थे, इसके साथ ही यह उन भारतीय इतिहासकारों के प्रति भी एक प्रतिक्रिया थी जो गौरवमय अतीत का स्फीत और इकहरा चित्र पेश कर रहे थे।

पर इसकी अपनी कुछ सीमाएँ थीं। यह लेखन भी इतिहास का इकहरा चित्र पेश कर रहा था। जब हम वर्तमान के तक़ाज़े से इतिहास को एक विशेष रूप में

चित्रित करना चाहते हैं तो, चाहे उसे गौरवशाली दिखा कर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करें या गतिशील दिखाकर, हम इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन को छोड़ कर एक मिथकवादी इतिहास की सृष्टि ही कर सकते हैं। मिथकवादी इतिहास हमारी चेतना के विकास में सहायक नहीं हो सकता और, इससे यदि कुछ तात्कालिक लाभ होते भी हैं तो, इसका दूरगामी प्रभाव अनिष्टकर ही होता है। मार्क्सवाद का लक्ष्य है इतिहास से विवेक अर्जित करना और वर्तमान को बदलना, न कि वर्तमान की ज़रूरत से इतिहास को बदलना। इस तरह सामाजिक रूपान्तरण की चिन्ता में जिस तरह का इतिहास लिखने की शुरुआत हुई वह स्वयं भी मार्क्सवादी इतिहास न होकर, भाववादी इतिहास ही था और इसमें भाववाद की वे सारी सीमाएँ मौजूद थीं जिनसे किसी मार्क्सवादी इतिहासकार को शिकायत होनी चाहिए। मिसाल के लिए, इसमें एकल शब्दों की मनचाही व्याख्या करके आत्मगत निष्कर्षों को इतिहास पर आरोपित करने के प्रयत्न मुखर थे। कोसम्बी को पुनरुत्थानवादी भारतीय इतिहासकारों से शिकायत थी कि वे काल-क्रम का ध्यान न रख कर, और आंचलिक परम्पराओं की समवर्तिता की परवाह न करके, एक घोटाला-सा पैदा कर रहे थे,[26] पर परवर्ती काल में विकसित वर्ण-जाति व्यवस्था को पीछे ले जाकर इसे भारत पर आर्यों के कल्पित आक्रमण से जोड़कर, एक क्षत्रिय-प्रधान आर्य जाति के आक्रमण की तसवीर उभारते हुए कोसम्बी स्वयं भी यही कर रहे थे। उनको और अन्य मार्क्सवादी इतिहासकारों को इस बात के लिए भी दोष दिया जा सकता है कि वे अपने अनजाने ही उस साम्राज्यवादी ऐतिहासिक व्याख्या के भी शिकार हो रहे थे, जिसमें प्रत्येक संघर्ष में एक विदेशी आक्रमणकारी होता है, और दूसरा स्थानीय। उनकी क्षत्रिय-ब्राह्मण संघर्ष की व्याख्या भी नयी नहीं थी और इतिहास का उपयोग फूट डालने के लिए करने के शासकीय षड्यंत्र का ज़हर लिये हुई थी।[27] वे स्वयं भी इतिहास की किंचित जड़ व्याख्या ही कर रहे थे, जब वे हड़प्पा सभ्यता को आर्येतर सिद्ध करने के लिए मामूली ब्यौरों को तूल देकर इकहरे चित्र पेश कर रहे थे, मानो एक ही समाज में अनेक मान्यताएँ और विचार एक साथ काम नहीं करते होते, और इनका ऐतिहासिक विकास नहीं होता। सबसे बड़ी बात यह कि आर्य सभ्यता को आक्रामक जनों की, और इस तरह सिन्धु सभ्यता से भिन्न मानकर, आदिम समाज से लेकर विकसित सभ्यता के इतिहास को उन्हीं आर्य जनों की कृतियों के आधार पर प्रस्तुत करते हुए वे भारत का इतिहास न लिखकर आक्रामक आर्यों का इतिहास लिख रहे थे, और एक ख़ास अर्थ में आर्यसमाजियों से भी अधिक आर्यसमाजी सिद्ध हो रहे थे। यदि आर्य आक्रामक के रूप में, या किसी भी अन्य रूप में, बाहर से आये थे और उनके आने से पहले भारत में एक विकसित सभ्यता थी, तो भारतीय इतिहास के लेखक के रूप में उनसे इस बात की अपेक्षा की जा सकती थी कि वे उस विकसित सभ्यता की पृष्ठ-

भूमि की छानबीन करते हुए इसके सामाजिक और आर्थिक तंत्र के विकास को स्पष्ट करते और इसके लिए जो भी समय उनकी समझ में अपेक्षित हो सकता था उसकी छूट देते हुए इसका विवेचन करते। ऐसी स्थिति में विकास के एक निश्चित चरण पर आर्य जनों का आगमन और उसमें पटपरिवर्तनकारी के रूप में उनकी भूमिका का चित्रण कुछ सार्थकता रखता। पर ऐसा न करके, आर्य आव्रजन या आक्रमण के मिथक को स्वीकार करके, ऋग्वैदिक समाज को ही बर्बर बनाकर, बर्बरता से सभ्यता के विकास की तलाश करते हुए और इससे पीछे के इतिहास को बट्टे खाते में डालते हुए, बौद्ध काल तक के विविध विकासों को समेटकर इतिहास को कोड़ा मारकर भगाने का और इस गन्तव्य तक पहुँचाने का जो काम किया गया, उसमें जगह-जगह उससे भी कहीं अधिक झोल रह गये हैं जो पुनरुत्थानवादी इतिहासकारों की व्याख्याओं में पाये जाते हैं। इसका एक उदाहरण यह है कि जहाँ कुछ आर्यसमाजी विद्वान एकल शब्दों की व्युत्पत्ति का सहारा लेकर वैदिककाल में बिजली, कल-कारख़ानों और विमानों तक को प्रमाणित करने पर उतारू रहे हैं, वहाँ व्युत्पत्ति का ही सहारा लेकर वैदिक जनों को मुख्यतः पशुचारी, पशुओं के लिए ही लड़ाई-झगड़ा करने वाला, समुद्र से अपरिचित, व्यापार-वाणिज्य से अनभिज्ञ सिद्ध करने की प्रवृति मार्क्सवादी इतिहासकारों में पायी जाती है।

2

वैज्ञानिक इतिहासदृष्टि

जैसा कि ऊपर के विवेचन से पता चलेगा, प्रश्न तथ्यों की अपर्याप्तता के कारण उत्पन्न हुई उलझन का नहीं, अपितु दृष्टिदोष से उत्पन्न हुई उलझन का है। वैदिक काल इस बात की एक अच्छी मिसाल है कि मामूली-से दृष्टिभेद से आधार-सामग्री वही होते हुए भी इससे कितने भिन्न-भिन्न आशय निकाले जा सकते हैं। इतिहास का अध्ययन यदि किसी सीमित उद्देश्य से प्रेरित होकर किया जायेगा और उस उद्देश्य के अनुसार तथ्यों को ही विकृत किया जायेगा तो इससे हमारा उद्देश्य सिद्ध हो या नहीं, इतिहास की समझ अवश्य विकृत होगी। इतिहास को विकृत और विषाक्त बनाकर हम उन गुज़रे हुए कालों का न तो कुछ भला कर सकते हैं, न बुरा। वे जो कुछ थे, थे, और अब वे हमारी पहुँच से बाहर हैं। पर ऐसा करके हम अपने वर्तमान को अवश्य विकृत और विषाक्त बना सकते हैं। किसी भी राष्ट्र का अहित चाहने वालों ने, या उसे अपने उपकरण के रूप में काम में लाने के लिए उत्सुक वर्गों ने, हर बार यही किया है। किसी भी अन्य इतिहासकार की तुलना में एक मार्क्सवादी इतिहासकार का सबसे बड़ा दायित्व है कि वह मिथ्या

आग्रहों से इतिहास को विकृत न होने दे। यह तभी सम्भव है जब हम इतिहास के नियमों को समझें और उनकी कसौटी पर तथ्यों को कसते हुए आगे बढ़ें।

बुद्ध ने किसी भी वैज्ञानिक विवेचन के लिए एक मानदंड प्रतिपादित किया था जो इतिहास पर भी लागू होता है, "इमस्मिं सति इदं होति; इमस्स उप्पादा इदं उपज्जति। इमस्मिं असति इदं न होति; इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति।"[28] दूसरे शब्दों में कहें तो, कार्य-कारण की एक अनिवार्य परम्परा है और कोई भी चीज़ किन्हीं विशेष कारणों और कारकों की अनिवार्य देन होती है। 'यदि ऐसा है तभी ऐसा होगा, यदि यह पैदा हुआ तो यह अवश्य पैदा होगा। यदि ऐसा नहीं है तो ऐसा नहीं हो सकता। यदि इसे रोक दिया जाये तो यह भी रुक जायेगा।'

भूल वहाँ की जाती है जहाँ यह मान लिया जाता है कि यदि समय बीतता है तो परिवर्तन अवश्य होता है और यह विकास के रूप में ही होता है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक परिवर्तन विकास ही नहीं होता और प्रत्येक विकास अपनी जड़ों में ही नहीं होता। सामाजिक विकास की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है और इसे सरलीकृत रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसके तीन घटक माने जा सकते हैं: भौतिक दबाव या आवश्यकता, आर्थिक आधार, और तकनीकी ज्ञान। इनमें से किसी के अभाव में सभ्यता का विकास नहीं हो सकता, इनमें से किसी के लुप्त होने पर उन्नत सभ्यता में भी गिरावट या बिखराव आ सकता है।

विगत कालों में हम जिन सभ्यताओं को उन्नत देखते हैं उनके मूल में उनकी आर्थिक समृद्धि रही है। यह समृद्धि पूरे समाज की न होकर उसके एक ख़ास वर्ग की होती है, और यह शेष जनों के उत्पादों को उस वर्ग द्वारा हथियाने के किसी तंत्र और प्रपंच के विकास पर निर्भर करती है। सामाजिक उत्पाद के इस अपहरण से संचित सम्पदा ही उत्कृष्टतर उपभोक्ता वस्तुओं, अधिक शानदार आवासों, अधिक सुख और ऐश्वर्य की आकांक्षाओं, अधिक परिष्कृत कलावस्तुओं की माँग का रूप ले लेती है। इसके स्तर को बनाये रखने या ऊपर उठाने के लिए, उत्पादों के आहरण को बदस्तूर रखने के लिए, अपने धन-जन की सुरक्षा के लिए एक पूरा प्रशासनिक तंत्र विकसित होता है, नगर बनते हैं, कलाकारों और चिन्तकों को प्रोत्साहन मिलता है, समाज के विभिन्न वर्गों, एक ही वर्ग के विभिन्न वय, ज्येष्ठता और कनिष्ठता तथा लिंग के आपसी आचारों के लिए सामाजिक मानदंड बनते हैं, आचार-संहिताएँ बनती हैं, प्रोत्साहन, अपेक्षा और दबाव के द्वारा इनको क्रियान्वित किया जाता है और इस तरह उस विशेष चीज़ का जन्म होता है जिसे 'नियम और शिष्टाचार' कहा जाता है। उस चीज़ का जन्म होता है जिसे 'नैतिक चेतना और विवेक' कहते हैं। अपनी सुरक्षा और उन्नत जीवन-स्तर के लिए बसाये गये इन शहरों में विभिन्न कलाकारों और प्रविधिज्ञों को, विचारकों और

कवियों को अपने अनुभव, ज्ञान, कौशल और मौलिकता को प्रकट करने और इनका आदान-प्रदान करने का अधिक अवसर मिलता है और इससे इन सभी क्षेत्रों में विकास की गति में तेज़ी आती है और इस तेज़ी के अनुरूप सभ्यता का स्तर क्रमशः उठता चला जाता है और इसके उपक्रमों में नये पहलू जुड़ते चले जाते हैं।[29]

इस तंत्र का विस्तार होने के साथ व्यापार आदि की गतिविधियाँ और तेज़ होती हैं, और प्रशासन-तंत्र के रख-रखाव के लिए अपेक्षित वसूली आदि का और व्यापार में लाभ-हानि आदि का हिसाब रखने के लिए रेखांकनों आदि का सहारा लिया जाता है जो क्रमशः परिमार्जित होते हुए लिपि का रूप लेते हैं और लेखन के विकास के साथ सम्पर्क और विचार-विनिमय का दायरा और फैलता है।

फिर एक निश्चित स्तर तक इस सभ्यता के पहुँच जाने के बाद इसके भीतर और बाहर दोनों ओर अधिक अधिकार, अधिक छूट या अधिक लाभ चाहने वाले वर्ग और इसको लूटकर मालामाल होने के लिए आतुर तत्व सामने आते हैं और हम इसे संकटग्रस्त और अवरुद्ध और कुंठित होते हुए पाते हैं और यहाँ से इसका विनाश आरम्भ हो जाता है। सभ्यता के पतन या विनाश के अनेक कारण हो सकते हैं। उस समाज के अपने विषम विकास के कारण पतन के बीज उसके भीतर ही पैदा हो सकते हैं। अधिकतम लाभ की चिन्ता में उसके आंतरिक कलह, दूसरों को उनके हक़ से वंचित करने के लिए उसके बौद्धिकों द्वारा गढ़ा गया कपट-तंत्र, स्वयं उसमें भी अन्धविश्वासों को जन्म दे सकता है और उसकी वस्तुवादी दृष्टि को प्रभावित कर सकता है। श्रमिकों द्वारा और विशेषतः शिल्पियों द्वारा उचित लाभ या प्रोत्साहन की माँग को लोभवश ठुकराया जा सकता है और इससे खिन्न होकर वे उदासीन हो सकते या विद्रोह कर सकते हैं या नये संरक्षकों की खोज में अन्यत्र जा सकते हैं। प्राकृतिक उपद्रव इसके आर्थिक आधार को नष्ट कर सकते हैं। आक्रमणकारी इसको लूटकर बरबाद कर सकते हैं।

सभ्यता के पतन के बाद इसके शिल्पी या तो आकर्षण के अन्य केन्द्रों की ओर पलायन कर सकते हैं या अपने ही भूभाग में अन्य ग्राहकों की सेवा में लग सकते हैं। इस तरह सभ्यता-विशेष तो नष्ट हो सकती है पर इसकी उपलब्धियाँ नष्ट नहीं होतीं, अपितु एक अधिक बड़े क्षेत्र में इनका प्रसार हो जाता है जहाँ ये प्रेरक-शक्ति का काम करने लगती हैं। कुछ सीमित व्यक्तियों की समृद्धि नष्ट होने पर भी समग्र मानव-समाज को ध्यान में रखें तो, न तो समृद्धि का ह्रास होता है, न ही ज्ञान और कौशल का। इनका मात्र प्रसार होता है। इसी ज्ञान और कौशल की अभिव्यक्ति अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर अधिक ओजस्वी रूप में दूसरे क्षेत्रों में होती है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए कुछ इतिहासकारों को सभ्यता के पतन के स्थान पर 'पुनर्समायोजन' शब्द अधिक सही लगता है।[30]

दूसरे शब्दों में कहें तो, जिन्हें हम सभ्यता का उत्थान काल कहते हैं वे सामा-

जिक श्रम और उत्पादन के संचित भंडार की अभिव्यक्तियाँ हैं और जिन्हें हम ह्रास का काल कहते हैं वे इस दौर की उपलब्धियों के बिखराव और प्रसार के काल हैं। इस सभ्यता को जब हम स्थान और वर्गबद्ध रूप में देखते हैं तभी विकास-क्रम में उत्थान और पतन की बात करते हैं। समग्र मानव-समाज की चेतना, ज्ञान, शिल्प और समृद्धि को सामने रखें तो इसका कुल योग अपने पहले चरणों की तुलना में हर समय आगे रहता है; विकास में एक निरन्तरता और अग्रवर्तिता प्रत्येक काल में दिखायी देती है। इसके बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि जिन कालों में ज्ञान और अनुभव के आदान-प्रदान के अवसर अधिक रहते हैं उनमें विकास की दर अपेक्षाकृत अधिक प्रखर रहती है और विपरीत स्थितियों में मन्दता, जड़ता और विगलन भी उत्पन्न होता है।

अतः हमारी दृष्टि में वैदिक काल को समझने में सबसे बड़ी बाधा तथ्यों के अभाव की नहीं, अपितु तथ्यों के प्रति सही दृष्टिकोण के अभाव की रही है और इसको दूर किये बिना हम जिस भी प्रकार का इतिहास लिखेंगे वह इतिहास न हो कर एक मिथक ही होगा। भारतीय परम्परा हो या भारतीय इतिहास, इसमें मिथकों की कमी नहीं है। मोहासक्ति से या भय से इतिहास के पुनर्लेखन के नाम पर इन मिथकों को बल देने या नये मिथक गढ़ने का कोई औचित्य नहीं है। इतिहासकार का दायित्व परम्परागत रूप में चले आ रहे मिथकों को तोड़ना तो है ही, आधुनिक इतिहासकारों द्वारा गढ़े गये मिथकों को तोड़ना भी है।

एक मिथक की सबसे बड़ी सीमा यह होती है कि इसमें इतने छिद्र और अन्तर्विरोध होते हैं कि यह हर मोड़ पर अविश्वसनीय लगता है। इसे समझना नहीं, मानना पड़ता है। इसकी सबसे बड़ी शक्ति यह है कि इसको गढ़ने वाले अपने समय के अधिकारी विद्वान हुआ करते हैं, अतः लाख ख़ामियों के बावजूद, उनके बौद्धिक आतंक में आकर, हम इनको स्वीकार कर लेते हैं। क्रमशः प्रसारित और प्रचारित होते हुए ये आप्त वाक्य की तरह हमारी चेतना में इस तरह उतर जाते हैं कि प्रत्यक्ष असंगतियों के बावजूद इनका निषेध करने का हमारा साहस नहीं हो पाता। हमारे विश्वास का अंग बन जाने के बाद ये प्रत्यक्ष प्रमाणों को भी अप्रामाणिक और अपनी अप्रामाणिकता को भी एक कसौटी बना देते हैं। प्रमाण हमारी आँखों के सामने होते हैं और हम उन्हें देखने से इनकार कर देते हैं और शिकायत करते हैं कि इसका कोई निर्णायक प्रमाण ही उपलब्ध नहीं है।

3
पुरातत्व और वैदिक काल

इतिहास के अध्ययन की सबसे विश्वसनीय शाखा पुरातत्व है। पर वैदिक काल के मामले में हम पुरातत्व को भी एक उलझन में फँसा पाते हैं। या तो वैदिक

काल के विषय में प्रमाण हैं ही नहीं, जो एक असंभव-सी बात है या यदि हैं तो हम इनको इस सभ्यता से जोड़ने में आज तक सफल नहीं हुए हैं।[31] चित्रित धूसर भाँडों की प्राप्ति ने एक बार अध्येताओं में ख़ासे उत्साह का संचार कर दिया था और आज भी आर्यों का नाम आने पर इनकी चर्चा आये बिना नहीं रहती। पर इनकी व्याप्ति सरस्वती घाटी से लेकर गंगा-यमुना के दोआब तथा उत्तरी उत्तर प्रदेश तक ही सीमित है।[32] कुछ स्थलों पर हड़प्पा के अवशेषों से इसका स्तरगत सम्बन्ध इस भ्रम को तोड़ता है कि इन भाँडों का उपयोग करने वाले हड़प्पा सभ्यता से विलोम सम्बन्ध रखते थे।[33] भारत से बाहर ही नहीं, अपितु सरस्वती क्षेत्र से आगे भी इसका कोई सूत्र हाथ नहीं आता।[34] वैदिक सभ्यता के सन्दर्भ में यदि इसका सम्बन्ध किसी काल से जुड़ता भी है तो उत्तर-वैदिक काल से ही।[35] जहाँ तक हड़प्पा समाधि-भूमि एच, गान्धार-समाधि-संस्कृति तथा झूकर का सम्बन्ध है, इनके बीच एकरूपता का अभाव है। बस्ती के ढंग, कलावस्तुओं, हथियारों और समाधि की रीतियों में भी अन्तर दिखायी देता है।[36] इन्हें अलग-अलग रखा जाये तो इनका क्षेत्र इतना सीमित हो जाता है कि इनको आर्यों से सम्बद्ध करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

चित्रित धूसर भाँडों को जैसे भारत में आर्यों से सम्बद्ध किया गया है उसी तरह कुरगन संस्कृति या त्रिपोली संस्कृति को आदिम भारोपीय जनों से सम्बद्ध करने के प्रयत्न किये जाते रहे हैं। पर इसके साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इनका प्रसार पश्चिमोत्तर की ओर, या कहें यूरोप की ओर तो होता दिखायी देता है,[37] पर ईरान या भारत की ओर इनके बढ़ने का कोई चिह्न नहीं दिखायी देता। प्रकारान्तर से कहें तो भारोपीय जनों का साहित्यिक या पुरातात्विक प्रमाण ले-दे कर ऋग्वेद और पश्चिमी एशिया के अभिलेखों तक सीमित रह जाता है, जिनमें से किसी से भी अविकसित और बर्बर सांस्कृतिक स्तर की पुष्टि नहीं होती और दोनों में साम्य भी अनन्य दिखायी देता है। इस तरह हम बर्बर आर्यों, और सभ्यताद्रोही आर्यों, और भारत पर आक्रमण करने वाले या भारत में प्रवेश करने वाले आर्यों के विषय में कोई पुरातात्विक साक्ष्य नहीं पाते। पर इस छवि को भुला दें तो प्रमाणों के विषय में निराशा का प्रश्न नहीं रहता।

प्रश्न यह है कि एक ऐसा जन-समाज जिसने दुनिया के विशालतम भूखंड पर इतना गहरा प्रभाव छोड़ा, विश्व की अनेक उन्नत सभ्यताओं का विकास किया, उसके विषय में पुरातात्विक प्रमाणों का इतना दुर्भिक्ष क्यों है? इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि भारोपीय जन, और उनमें भी ख़ास तौर से आर्य शाखा के लोग, घुमक्कड़ थे। न तो उन्होंने कहीं कोई स्थायी बस्ती बसायी, न ही अपनी गतिविधि का कोई निशान छोड़ा।[38] इस तरह का उत्तर उन लोगों का हो सकता है जो आदिम भारोपीय संस्कृति को त्रिपोली या कुरगन संस्कृति से या इनके ही किसी

समरूप से जोड़ना उचित समझते हैं। पर जैसा कि हम कह आये हैं, स्वयं कुरगन और त्रिपोली जनों ने अपनी संस्कृति की स्पष्ट छाप छोड़ी है, और ये संस्कृतियाँ भारत की ओर किसी अभियान की सूचना नहीं देतीं। इसके विपरीत, कुछ रूसी विद्वानों का मत है कि त्रिपोली संस्कृति के सर्जक पूर्व की ऐसी सभ्यताओं से वहाँ पहुँचे थे जिनके पास कृषि का विकसित आधार था।[39] जहाँ तक कुरगन संस्कृति के सर्जकों के उक्त क्षेत्र में पहुँचने का प्रश्न है, जिंबुतास का मत भी इससे अधिक भिन्न नहीं है।[40] सीथियन, जो बर्बरता में अपनी मिसाल नहीं रखते, जो इतने घुमक्कड़ थे कि उनकी स्त्रियाँ भी घुड़सवारी करती थीं, अपने अस्तित्व और गतिविधियों की अमिट छाप छोड़ गये हैं। आख़िर भारतीय-ईरानी 'आर्य-शाखा' के साथ ऐसी क्या समस्या आ गयी थी? प्रमाण न सही, प्रमाणों के अभाव का कोई संगत समाधान तो हो!—

इसका दूसरा जवाब यह हो सकता है कि हमने आर्यों की जो तसवीर गढ़ रखी है वह ग़लत है। पुरातात्विक प्रमाण हैं, पर हम इस आधारहीन तसवीर के कारण उन्हें वैदिक जनों से जोड़ नहीं पा रहे हैं। भारत में आर्यों के आक्रमण के लिए कल्पित काल के ठीक आस-पास पश्चिमी एशिया के जिन भी स्थलों से उनके अस्तित्व के ठोस भाषिक व पुरातात्विक प्रमाण मिले हैं, वहाँ हम उन्हें उन्नत अवस्था में पाते हैं। भारत में या भारत से बाहर वे अपने लिए आर्य शब्द का प्रयोग इतने गर्व और श्रेष्ठताबोध के साथ करते हैं कि इसको किसी पिछड़ी संस्कृति से जोड़ने का कोई औचित्य नहीं दिखायी देता। अतः दोष पुरातत्व का नहीं, अपितु उस मिथक का दिखायी देता है जिसे तोड़ने का साहस पुरातत्ववेत्ता भी नहीं जुटा पाये हैं।

यदि स्थिति ऐसी है तो हमें अपनी आधार-सामग्री की नये सिरे से जाँच करनी होगी। इन भ्रमों की बुनियाद साहित्य, भाषा और देवशास्त्र आदि पर टिकी हुई है; अतः परीक्षा भी इन्हीं की करनी होगी। आरम्भिक अवस्था में पुरातत्व हमारी कोई मदद नहीं कर सकता, पर एक बार इस भ्रम के निर्मूल हो जाने के बाद हमारे पास पुरातात्विक साक्ष्यों का भी अभाव नहीं रहेगा।

4

मूल भारोपीय जन

जिन मूल भारोपीय जनों की हम बात करते हैं उनके बारे में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं। हमें केवल इतना ही पता है कि भारत से लेकर यूरोप तक बोली जाने वाली भाषाओं की शब्दावली में और इस समूचे क्षेत्र में बसे जनों की पुराण-कथाओं और गल्प-कथाओं में कुछ ऐसे प्रभावशाली सर्वनिष्ठ तत्व हैं जो निरे आकस्मिक नहीं हो सकते। मूलतः इनके प्रसार का कोई एक ही केन्द्र रहा हो सकता है। प्रसार

कब और कैसे हुआ, यह एक विवाद का विषय है। इस विवाद को सुलझाने के लिए तरह-तरह की कल्पनाएँ की जाती रही हैं। कल्पना किसी समस्या के समाधान के लिए एक उपयोगी उपकरण है, पर जब तक इसकी अकाट्य पुष्टि ठोस प्रमाणों से न हो जाये, इस कल्पना को ही एक ऐतिहासिक तथ्य बना देना और इसकी सीमा में ही तथ्यों की छानबीन करना, इस समस्या के समाधान में सबसे बड़ी बाधा है। अतः सबसे पहली ज़रूरत इस बात की है कि हम इन कल्पनाओं को थोड़ी देर के लिए विराम दे दें और फिर तथ्यों की जाँच-पड़ताल करें।

एक दूसरी बात जिसका हमें सुनिश्चित पता है, वह यह है कि इन समान तत्वों का प्राचीनतम लिखित स्रोत जो इन विविध पहलुओं पर प्रकाश डाल सके, ऋग्वेद है। संस्कृत वह अकेली भाषा है जो उन मामलों में भी विभिन्न यूरोपीय भाषाओं से तथा अवेस्ता की भाषा से अपना जुड़ाव प्रकट करती है जहाँ ये अपनी पड़ोसी भाषा से भी अनमेल प्रतीत होती हैं।[41] इसके देवशास्त्र में हम भारोपीय देवशास्त्र को आकार लेते देखते हैं और अन्य क्षेत्रों में इसका ह्रासोन्मुख रूप ही दिखायी देता है।[42] भारोपीय गल्पों का स्रोत भारत दिखायी देता है।[43]

जहाँ तक भाषा की प्राचीनता का प्रश्न है, दुनिया की अविकसित-से-अविकसित भाषा का भी इतिहास उतना ही लम्बा है जितना किसी विकसित भाषा का। अतः मुख्य प्रश्न इस बात का है कि भाषा-विशेष का किसी काल में क्या स्तर पाया जाता है? वैदिक भाषा को हम ऋग्वैदिक काल में भी उतनी ही समर्थ और ओजस्वी पाते हैं जितनी परवर्ती कालों की संस्कृत को, और संस्कृत के विषय में जो बात विलियम जोन्स ने कही थी उसे उच्छल भावोद्गार नहीं माना जा सकता, "संस्कृत भाषा की प्राचीनता चाहे जो भी क्यों न हो, इसका गठन अद्भुत है। यह ग्रीक से अधिक निर्दोष, लातिन से अधिक सक्षम और इनमें से किसी की भी तुलना में अत्यधिक परिमार्जित है।"[44]

भाषा का विकास शून्य में नहीं होता। यह मानव-समाज के सांस्कृतिक संघर्ष के दौरान अर्जित ज्ञान, अनुभव, कौशल, चिन्तन और प्रत्ययन का; उसकी अनुभूति, अभिरुचि और सौन्दर्यदृष्टि का; उसके भौतिक योग-क्षेम, नैतिक मूल्य-चेतना और सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं और व्यवस्थाओं का यथातथ्य प्रतिबिम्ब है। विलियम जोन्स की उक्त घोषणा के कुछ ही बाद, 1796 में, जेनिख ने भाषा और समाज के सांस्कृतिक स्तर के बीच इस बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए अविकसित और बर्बर जनों की भाषाओं तथा उन्नत समाजों और उनके भी उन्नत चरणों की भाषा के बीच अन्तर को स्पष्ट किया था।[45] उन्नत भाषा न केवल उन्नत सभ्यता को प्रकट करती है, अपितु उसकी उन्नति की महत्वपूर्ण दिशाओं को भी प्रतिबिम्बित करती है। यह एक सार्वभौम और निरपवाद नियम है और भाषा के विषय में अन्य किसी नियम की ओर ध्यान देने से पहले इस नियम पर ध्यान दिया जाना

चाहिए। वैदिक भाषा की यह समृद्धि इस बात का एक अकाट्य प्रमाण है कि वैदिक जन ऋग्वैदिक काल में एक उन्नत सभ्यता के निर्माता थे, और उन्हें अविकसित और यायावर मानकर चलना ग़लत था। दुख की बात यह है कि इस ग़लती को आज तक सुधारा नहीं जा सका है।[46]

5
वैदिक साहित्य

वैदिक साहित्य, जो कम-से-कम भारत में तथाकथित आर्यों या वैदिक जनों की सांस्कृतिक उपलब्धियों का सबसे प्रामाणिक दस्तावेज़ है, अपने तईं भी कम मुश्किलें पेश नहीं करता। इसकी भाषा की प्राचीनता ई० पू० की शताब्दियों में ही, कहें वैदिक काल के उत्तरार्ध में ही, पंडितों के सामने अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ पेश करने लगी थी। एक ही शब्द या अभिव्यक्ति के कितने भिन्न-भिन्न अर्थ दिये जा सकते हैं, इसका कुछ आभास ब्राह्मणों आदि में दी गयी व्याख्याओं से मिल सकता है। शब्दों के रूप, ध्वनि, अर्थ सभी में जहाँ-तहाँ बहुत अन्तर आया है, और स्वयं ऋग्वेद में भी एक ही शब्द के अनेक ध्वनिगत विकार दिखायी देते हैं। अर्थ के विषय में भ्रांति संभवतः ऋग्वैदिक काल में ही, कम-से-कम नये मंडलों के रचना-काल तक, पैदा होने लगी थी। जब ऋग्वैदिक कवि एक-एक उक्ति को सत्तू की तरह छानने की बातें करते हैं[47], या एक ही कृति में इन्द्र के युद्धों की बात करते हैं और फिर यह कहते हैं कि ये युद्ध के वर्णन तो माया के वर्णन हैं, इन्द्र का न तो कोई शत्रु कभी था, न ही आज है;[48] तो वे ऋचाओं की विभिन्न प्रकार की व्याख्याओं के प्रचलन की ही सूचना देते हैं। अतः आज के व्याख्याकारों को यदि अर्थ-भ्रम का शिकार होना पड़ता है तो आश्चर्य की बात नहीं। अधिकांश उक्तियाँ तो कवियों द्वारा स्वतः जानबूझ कर गूढ़ बनायी गयी हैं, और वे इस विषय में हमें किसी भ्रम में भी नहीं रखते।[49]

इन अनेक पत्तों की दुरूहताओं के कारण ऋग्वेद के किसी भी अनुवादक या भाष्यकार पर आँख मूद कर भरोसा नहीं किया जा सकता। प्रसंग और औचित्य को ध्यान में रखकर ही कोई अर्थ निर्धारित किया जा सकता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस दृष्टि से काफ़ी सराहनीय काम किया है। पर जो बात सायण आदि परम्परागत भाष्यकारों पर लागू होती है उससे हम इन आधुनिक व्याख्याताओं को भी मुक्त नहीं मान सकते। अनर्थ उनके द्वारा भी कम नहीं हुआ है। इस जटिल स्थिति ने एक अराजक-सी पैदा कर दी है। विद्वान अध्येता अपनी रुचि और पूर्वाग्रह के अनुसार शब्दों और पदों का व्युत्पत्ति के आधार पर मनमाना अर्थ करके वैदिक जनों को 'गौरवशाली' या 'बर्बर' सिद्ध कर सकते हैं। उदाहरण के

लिए वे अर्थविकास की चिंता किये बिना यह मान सकते हैं कि यदि ऋग्वैदिक साहित्य में खाद्यान्न के रूप में केवल 'यव' का उल्लेख आया है तो ये लोग अनाजों में केवल यव ही पैदा करते थे, न कोई अन्य धान्य, न दालें, न तिलहन। कीथ ने यह सुझाया था कि 'यव' शब्द आज जिस अर्थ में प्रयोग में आता है उससे व्यापक अर्थ में यह वैदिक काल में प्रयोग में आता रहा लगता है[50], पर इसकी ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता।[51] दूसरी ओर, ऐसे शब्द जो एक उच्च सांस्कृतिक स्तर की सूचना देते हैं, उनको खींच-तानकर उनका अधिक आदिम अर्थ लिया जाता है। बलि और कोश और दान को लूट का माल, सरदार के पास इनको जमा करने और उसके द्वारा सभी को समान रूप से वितरण का सूचक मान लिया जाता है।[52] ऐसा करते समय इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया जाता कि वैदिक जनों की अपनी कुछ नैतिक मान्यताएँ भी हैं जिनमें चोरी, लूट, हिंसा, पराये धन पर पलने आदि को निन्दनीय माना जाता है। यह भी नहीं सोचा जाता कि दान को जिस पैमाने पर दिखाया गया है उस पैमाने पर पूरे कबीले को दान करने वाले के पास कितनी सम्पत्ति संग्रहीत हो जायेगी और इस प्रकार का संग्रह उसके आचार-व्यवहार और तंत्र को स्वतः कितना बदल देगा—कारण, परिमाणगत अन्तर गुणात्मक अन्तर भी लाता है। इसके साथ ही यह भी कि लूट तो पूरा कबीला करेगा और दान पाने वाले लोग इसके पुरोधाओं की जमात के होंगे। दूसरी ओर, गौरवशाली चित्र पेश करने वालों को यह नहीं दिखायी देता कि गौरव शून्य में हासिल नहीं होता। उसका एक आर्थिक आधार होता है और उन्नत आर्थिक आधार सदा न्यायपरक नहीं होता। उसके साथ कुछ अनिवार्य बुराइयाँ भी लगी रहती हैं। अतः एक सन्तुलित चित्र के लिए ज़रूरी है कि सांस्कृतिक उपलब्धियों को तदनुरूप आर्थिक आधार से तो जोड़ा ही जाये, साथ ही इसके विकृत पक्षों का भी उद्घाटन अवश्य किया जाये।

वैदिक भाषा निश्चय ही बहुत पुरानी और किंचित अश्मीभूत भाषा है और इसका ठीक-ठीक अर्थ निर्धारित करने में किसी भी अध्येता को जब-तब असाध्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पर इसकी क्लिष्टता को कुछ अतिरंजित भी किया गया है। स्थिति उतनी निराशाजनक नहीं है जितनी सामान्यतया मान ली जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भाषिक और सांस्कृतिक दूरियों के बावजूद वैदिक साहित्य के क्षेत्र में जो असाधारण काम किया वह हमारे लिए प्रेरणाप्रद हो सकता है। दुर्भाग्य की बात यह रही कि जिन दिनों वे काम कर रहे थे उन्हीं दिनों संस्कृत भाषा पर उनसे कहीं अधिक अच्छा अधिकार रखने वाले भारतीय पंडितों के पास उन जैसी ऐतिहासिक दृष्टि नहीं थी और इसलिए वे अपने आधिकारिक ज्ञान के बावजूद इस क्षेत्र में विशेष योगदान नहीं दे सके। पाश्चात्य विद्वानों की अपनी सीमाएँ ही उनकी शक्ति भी बन गयीं। इस पुरातन

और सांस्कृतिक दृष्टि से दूरस्थ भाषा के व्याकरण आदि का सामान्य ज्ञान अर्जित कर लेने के बाद वे इनके एक-एक शब्द और वाक्य का अर्थ-निर्धारण करने के लिए सादृश्य रखने वाले स्थलों और प्रसंगों की गहरी छान-बीन करते रहे और इस तरह इसकी दुरूहता से जूझते हुए ही उन्होंने अपने लिए वह असाधारण स्थान बनाया जिसको छू पाना उनके समकालीन भारतीय संस्कृतज्ञों के लिए कठिन था। उनकी सफलता का एक अन्य कारण उनको विभिन्न सरकारी और मिशनरी संस्थानों से मिलने वाली सहायता भी थी और इन सबसे बड़ी चीज़ थी एक मिशनरी भावना—वे निश्चय ही एक दुर्धर्ष संग्राम में जुटे हुए थे और यह था भारत पर सांस्कृतिक विजय का संग्राम[53] और इसलिए उनके बीच एक ऐसा गहरा तालमेल पाया जाता है जो किसी संग्राम में जुटे हुए सेनापतियों के बीच ही संभव है। भारत के स्वतंत्र होते ही वैदिक अध्ययन में उनकी रुचि का एकाएक क्षीण पड़ जाना अकारण ही नहीं माना जा सकता।

पर जिस तरह वैदिक भाषा से आतंकित होने की आवश्यकता नहीं, उसी तरह इन विद्वानों के संस्कृत ज्ञान से और उनकी व्याख्याओं से आतंकित होने की आवश्यकता नहीं। कुछ उनकी असावधानियों के कारण और कुछ इस वजह से कि उनकी दृष्टि में भी वैदिक अध्ययन अभी अपनी शैशवावस्था में ही था, उनकी व्याख्याओं में अनेक कमियों को आसानी से पहचाना जा सकता है। वैदिक अध्ययन कितना अधूरा है और इसकी ओर ध्यान देना कितना आवश्यक है इसका हममें से अधिकांश को, और ख़ास तौर से उनको जो पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के अनुवादों आदि के भरोसे ही अपनी सभी मुश्किलों को आसान कर लेना चाहते हैं, बोध ही नहीं है। इसके उदाहरण के लिए हम यहाँ केवल दो शब्दों पर विचार करना पर्याप्त समझते हैं और इनकी आवर्तिता और महत्व को ध्यान में रखकर हम यह समझ सकते हैं कि जहाँ इतने केन्द्रीय महत्व के शब्दों का आशय समझने में भयंकर प्रमाद बरता गया है वहाँ शेष साहित्य और इसके दुरूह माने जाने वाले अंशों की क्या दशा हो सकती है और क्या इसके बावजूद हम इस बात से आश्वस्त अनुभव कर सकते हैं कि इस क्षेत्र में जो कुछ करने लायक था वह इन पश्चिमी अध्येताओं द्वारा सम्पन्न किया जा चुका है ? ये शब्द हैं -- देवता और ऋषि।

ऋग्वेद में आये ऋषि-नामों में हम इन्द्र, गरुण, वैश्वानर, सरमा नाम की कुतिया, वृषाकपि, इन्द्राणी, माष या उड़द, जुए के अक्ष, पणिगण, आत्मा, उर्वशी, जार, नदियों, मछलियों, यम, यमी, सप्तर्षियों, सर्प, सार्पराज्ञी, सोम आदि को भी परिगणित पाते हैं। क्या ये किसी भी सूक्त या ऋचा के रचनाकार हो सकते थे ? ऐसी स्थिति में यह मानना कि ऋग्वेद में 'ऋषि' शब्द का प्रयोग मंत्रों और सूक्तों के रचनाकारों के लिए हुआ है, निरापद नहीं है। जिन स्थलों पर इनको ऋषि बताया गया है उन स्थलों पर ध्यानदें तो पायेंगे कि जो बात किसी के मुँह

से कहलायी गयी है वही उसका ऋषि है। प्रकारान्तर से कहें तो ऋषि का प्रयोग रचनाकार के अर्थ में न होकर, पात्र के अर्थ में हुआ है। पशुओं-पक्षियों से लेकर प्राचीन ख्यात पुरुषों और चिन्तकों तक को पात्र बनाकर उनके माध्यम से किसी बात को अधिक प्रभावशाली रूप में कहलाने की शैली समूचे प्राचीन भारतीय साहित्य में पायी जाती है, जिसकी अच्छी मिसाल महाभारत है।

इसके विपरीत जिन सूक्तों या ऋचाओं में जिन विषयों या वस्तुओं का वर्णन किया गया है वे ही उनके देवता हैं। इस तरह हम इषु, ज्या, वर्म, ग्रावन, उलूखल, मुसल, कृषि, दुन्दुभी, धनु, अश्व, निर्ऋति या आपदा, पणिगण, मेढक, रथ, यहाँ तक कि दानस्तुति को भी देवता के रूप में परिगणित पाते हैं। इस बात की ओर ध्यान न देने के कारण ही वैदिक देववाद को समझने में विद्वानों से भयंकर भूलें हुई हैं जिनके विस्तार में जा पाना यहाँ सम्भव नहीं है। पर मैकडनेल जिन्होंने बृहद्देवता का संपादन और अनुवाद किया था स्वयं अपने ग्रंथ वैदिक माइथॉलॉजी में इस बात को भूल गये, यह कुछ विस्मय की बात अवश्य है[54], कारण, शौनक ने अपनी इस कृति में बहुत स्पष्ट रूप में लिखा है कि संवाद में जो वाक्य जिसके द्वारा कहलाया गया है उसमें वही ऋषि है और उसके द्वारा जो कुछ कहा गया है वही उस स्थान पर देवता है :

संवादेष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन् भवेत् ऋषिः।
यः तेनोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत ।। बृह. 2.88[55]

विद्वानों द्वारा हुई किन्हीं चूकों के पीछे सदा आशय ही ढूँढ़ा जाये, यह अच्छी बात नहीं और इसलिए हम मान सकते हैं कि वैदिक माइथॉलॉजी लिखते समय मैकडनेल का ध्यान बृहद्देवता के इस कथन की ओर नहीं गया होगा, या यह कि वैदिक माइथॉलॉजी लिखने के समय तक उन्होंने बृहद्देवता का अनुवाद नहीं किया रहा होगा और इससे परिचित भी नहीं रहे होंगे, पर हर हालत में हमें यह तो स्वीकार करना ही होगा कि केवल उपजीवी कृतियों के सहारे और मूल के विषय में असावधानी बरतकर हम वैदिक साहित्य को समझ नहीं सकते और इस क्षेत्र में अभी मूल कृतियों की छान-बीन नये सिरे से करने की और इनके आधार पर नयी व्याख्याएँ देने की बहुत अधिक आवश्यकता है।

'देवता' शब्द के उक्त अर्थ के साथ ही इस बात पर भी ध्यान देना जरूरी है कि जहाँ देवताओं का देवत्व असन्दिग्ध है वहाँ भी देवता की परिकल्पना में निरन्तर विकास होता रहा है। हम जानते हैं कि जिन शब्दों का आगे चलकर देवपरक अर्थ में प्रयोग होता है उनमें से लगभग सभी का प्रयोग मानव सम्बन्धों के लिए होता रहा है। स्वामी या साँई, माता, पिता, भाई, गुरु, मालिक, प्रभु, ईश्वर—सभी का सम्बन्ध मानवीय रिश्तों से है। इस दृष्टि से बहुत पहले 'देवता' शब्द का प्रयोग भी समृद्ध या धनी के अर्थ में होता रहा लगता है। जब हमारा सामना ऐसे विवरणों से होता

है जिनमें देवताओं को पहले धरती का निवासी, अदिति या भूमि का पुत्र, ऋषियों का पुत्र आदि कहा गया है तो ऐसा सोचना और भी स्वाभाविक हो जाता है। धरती के समस्त सुखों और समृद्धियों से युक्त और अभावों तथा दुखों-बाधाओं से शून्य स्वर्ग लोक की कल्पना का विकास बाद में होता है और देवताओं का इस द्युलोक से और फिर स्वर्ग से सम्बन्ध बाद में जुड़ता है। वस्तुतः प्रकृति की स्थूल और किंचित हीन सत्ताओं के साथ देवत्व की यह अवधारणा आरम्भ होती है। आगे चलकर प्रकृति की महाशक्तियों—वायु, बादल, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा—को देवत्वमंडित करती हुई यह अदृश्य और स्वर्गीय देवताओं तक कैसे पहुँचती है, यह एक पृथक अध्ययन का विषय है। यहाँ इतना ही संकेत किया जा सकता है कि इसमें हज़ारों वर्ष का समय लगा होगा। यह यात्रा ऋग्वैदिक काल तक लगभग पूरी हो चुकी है, यद्यपि पिछली छायाएँ अभी तक इन देवताओं के साथ बनी रह जाती हैं। इस विकास को समझे बिना, यदि इन विभिन्न चरणों को एक में मिला दें तो निश्चय ही स्थिति बहुत अराजक दिखायी देगी।

सामान्यतः यह कहा जाता है कि वैदिक देवता—विशेषतः इन्द्र और पर्जन्य—कृषि के देवता हैं। साथ यह भी कहा जाता है कि वैदिक जन कृषि से अच्छी तरह परिचित नहीं थे। उनका मुख्य व्यवसाय पशुपालन था। यहाँ इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि पशुपालन की अवस्था से यदि किन्हीं देवताओं का दूरस्थ सम्बन्ध बैठ सकता है तो पशुपति(रुद्र)और पूषन् का, पर उनका भी पुराना रूप प्रभावशून्य हो चला है। वास्तविक़ता यह है कि ऋग्वैदिक काल तक पहुँचकर सभी देवता व्यापारिक गतिविधियों से जोड़ दिये जाते हैं और पूषा भी अब राहगीरों और व्यापारियों के देवता बन जाते हैं। यही बात यज्ञ पर भी घटित होती है—पूर्ववैदिक काल में आर्थिक उपक्रमों से प्रत्यक्षतः जुड़ा यह आयोजन एक ओर तो व्यापारिक सत्रों की छाया ग्रहण कर लेता है और दूसरी ओर शुद्ध कर्मकांड में बदल जाता है।

अधिकांश अध्ययनों में यह देखा जा सकता है कि शोधकर्ता असुविधाजनक प्रतीत होने वाले अंशों और विवरणों को इसलिए छोड़ जाते हैं कि इनसे कहीं उनकी मान्यता ही खंडित न हो जाये। जहाँ ऐसे असुविधाजनक तथ्य सामने आते हैं वहाँ रुककर इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि हम जिस धारणा को लेकर चल रहे हैं वह सचमुच सही है भी या नहीं। कारण, अन्य किसी विषय में जितना भी मतभेद क्यों न हो, यह तो मानना ही होगा कि वैदिक साहित्य की रचना में बहुत लम्बा समय लगा है। यदि हम एक बहुत लम्बे दौर के इतिहास से अपनी सुविधा के अनुसार चुनाव करें तो जो चाहें साबित कर सकते हैं।

यहाँ स्वतः वैदिक साहित्य के कालक्रम का और इस कालक्रम का यथोचित निर्वाह करने का सुझाव रखा जा सकता है। पर कालक्रम-निर्धारण भी हमारा

पूरा साथ नहीं दे पाता। ऋग्वेद से लेकर ब्राह्मणों, उपनिषदों, यहाँ तक कि पुराणों तक के एक बहुत बड़े अंश की रचना श्रुत परम्परा पर आधारित है और परवर्ती रचनाओं में लिपिबद्ध घटनाएँ सदा पूर्ववर्ती कृतियों से बाद के काल की नहीं होतीं। ऋग्वेद में वर्णित अधिकांश घटनाएँ अतीत से, यदाकदा तो उस धूमिल अतीत से, सम्बन्ध रखती हैं जिसे विवशता में सृष्टि का आरम्भ कह दिया जाता रहा है। पर यही बात ब्राह्मणों और पुराणों तक में आये अनेक विवरणों के विषय में भी कही जा सकती है।[56] अतः कृतियों के कालक्रम से घटनाओं की अपनी प्रकृति और क्रम का महत्व किसी तरह कम नहीं है, और इन दोनों के बीच सन्तुलन बैठाते हुए ही उनके उल्लेखों का इतिहास के लिए उपयोग किया जा सकता है। यह बहुत टेढ़ा काम है और इसके लिए बहुत सन्तुलन और संयम अपेक्षित है। किसी तरह का पूर्वाग्रह अध्येता को भटका सकता है।

एक अन्य सीमा वैदिक साहित्य के साथ यह आती है कि इसका परिरक्षित अंश अपने काल का समस्त साहित्य नहीं है। पुरोहितों द्वारा अपने उपयोग के लिए सँभाल और बचाकर रखा हुआ साहित्य ही हमें आज उपलब्ध है। इसकी प्रकृति याजिकीय है। समूचे ऋग्वेद में लगभग 40 सूक्त ऐसे हैं जिनको प्रत्यक्षतः याजिकीय प्रयोजनों से नहीं जोड़ा जा सकता।[57] इसके कारण अपने विपुल आकार के बावजूद ऋग्वेद में ऐसे सूक्त बहुत कम हैं जिनसे तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर सीधा प्रकाश पड़ सके। यदि ऐसी स्थिति में ऋणात्मक प्रमाणों पर बल दिया जाये, अर्थात यह मान लिया जाये कि जिन चीज़ों का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं आया है उनका अस्तित्व भी नहीं था; या यह कि जिन चीज़ों का उल्लेख जिस अनुपात में आया है उनका अस्तित्व उसी अनुपात में रहा होगा; या यह कि जिन चीज़ों को पुजारी और पुरोहित वर्ग महत्वपूर्ण मानता था उन्हें ही पूरा समाज महत्वपूर्ण मानता रहा हो सकता है, तो यह युक्तिसंगत नहीं होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो, प्रमाणों के अभाव को अभाव का प्रमाण बनाना तो ग़लत है ही, प्रमाणों का यांत्रिक उपयोग भी निरापद नहीं है।

6

हड़प्पा सभ्यता का उद्घाटन और वैदिक समस्या

हड़प्पा सभ्यता की खोज के बाद एक बार नये सिरे से इस समस्या पर विचार करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई कि क्या इसका सम्बन्ध किसी भी रूप में वैदिक सभ्यता से हो सकता है? मार्शल ने इस पर विचार करते हुए जो कुछ लिखा उस पर एक दृष्टि डालना बहुत उपयोगी है। यहाँ हम मार्शल के वक्तव्य को यथा-तथ्य रखना और इस पर ग़ौर करना चाहेंगे।

मार्शल लिखते हैं, "यह आज भी विवादास्पद है कि वे (आर्य) गौरवर्ण नॉर्डिक थे, या श्यामवर्ण भूमध्यसागरीय, या दीर्घशीर्ष अल्पाइन (यद्यपि इसकी बिलकुल संभावना नहीं लगती), या इन तीनों के ही मिश्रण। यद्यपि इस मामले में मोहनजोदड़ो के मानव अवशेष हमारी कोई सहायता नहीं करते, पर सिन्धु और वैदिक संस्कृतियों की तुलना से यह निर्विवाद रूप में प्रकट होता है कि इनके बीच कोई सम्बन्ध नहीं था। इस तरह, ऋग्वेद में भारोपीय समाज का जो चित्र है वह एक पशुचारी समाज का चित्र है जो आंशिक रूप में खेतिहर था, जो ग्राम्य स्तर से ऊपर नहीं उठा था, जिसे नगरों का या ऐसे जटिल आर्थिक संगठन का कोई ज्ञान नहीं है जो इस तरह के जीवन में होना ही चाहिए, और जिसके मकान मुख्यत: बाँसों के बने हुए, ऊलजलूल किस्म के, हैं। दूसरी ओर, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में हम ईंटों के मज़बूत और बृहदाकार मकानों से बने सघन आबादी वाले नगर पाते हैं जिनमें यथेष्ट स्वच्छता है और जो स्नानागारों, कुँओं और अन्य सुविधाओं से सुसज्जित हैं। ऋग्वेद के काल में भारतीय आर्य जिन धातुओं का उपयोग करते थे, वे थे, सोना और ताँबा और काँसा, पर कुछ ही समय बाद यजुर्वेद और अथर्ववेद के समय में इन धातुओं के साथ लोहा और चाँदी भी जुड़ जाते हैं। सिन्धु सभ्यता के जनों में चाँदी सोने के मुक़ाबले अधिक प्रचलित है और बर्तन-भाँड़े ताँबे और काँसे के अलावा पत्थर के बने हैं जो नव-पाषाण युग के अवशेष हैं। लोहे का तो नाम-निशान भी नहीं मिलता। वैदिक आर्यों के सामरिक अस्त्रों में धनुष और बाण, भाले, खड्ग और परशु हैं और बचाव के आवरणों में शिरस्त्राण और वर्म हैं। सिन्धु जनों के पास भी धनुष और वाण, भाले और खड्ग और परशु हैं, पर मेसो-पोटामियनों और मिस्रियों की तरह उनके पास गदा भी है जो कभी तो पत्थर की होती थी और कभी धातु की। दूसरी ओर, रक्षा-कवच उन्हें पूरी तरह अज्ञात है। यह एक ऐसी बात है जिसका कवचधारी और शिरस्त्राणधारी शत्रुओं के साथ हुई किसी लड़ाई में उनको ख़मियाज़ा भुगतना पड़ा होगा। वैदिक समाज एक मांसभक्षी समाज है जिसे मछली से अरुचि रही लगती है, क्योंकि ऋग्वेद में मछली पकड़ने का कहीं सीधा उल्लेख नहीं है, जब कि सिन्धु के लोगों के आहार में मछली एक आम-सी चीज़ है और यही हाल केंकड़े और कछुए आदि जलचर जीवों का है। वैदिक आर्यों के जीवन में घोड़ा वैसे ही एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था जैसे कि यह उत्तरी स्तेपी (घास के मैदानों) के दूसरे अनेक राष्ट्रों के जीवन में करता था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के लोगों के लिए घोड़ा अपरिचित प्रतीत होता है, कम-से-कम इन स्थानों पर जिन अनेक जानवरों के अंकन मिले हैं उनमें इसका स्थान नहीं है, और यद्यपि मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तर से घोड़े की कुछ हड्डियाँ मिली हैं पर इस बात की अधिक सम्भावना है कि ये बहुत बाद के काल की हों। वैदिक आर्यों के लिए गाय का स्थान सबसे ऊपर है और इसको विशेष श्रद्धा का

स्थान प्राप्त है। सिन्धु जनों के बीच गाय का कोई ख़ास महत्व नहीं है। उनके बीच इसका स्थान वृषभ को मिला हुआ है जिसकी लोकप्रियता की पुष्टि इस पशु की अनेक प्रतिकृतियों और अन्य प्रस्तुतियों से होती है। ऋग्वेद में शेर का कोई ज़िक्र नहीं है और हाथी की चर्चा नाममात्र को है, पर ये दोनों पशु सिन्धु-जनों के लिए सुपरिचित हैं। वैदिक धर्म सामान्यतः मूर्तिपूजा से रहित है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में मूर्तिपूजा सर्वत्र मौजूद है। वैदिक देवसमाज में नारी तत्व पुरुष के पूर्णतः अधीन है और मातृदेवी और शिव (जिसके साथ बाद में चलकर रुद्र का अभेद कर दिया गया) का इसके सदस्यों के बीच कोई स्थान नहीं है। सिधु के मत में मातृदेवी और शिव को प्राधान्य मिला है और नारी तत्व यदि पुरुष तत्व पर हावी नहीं है तो, लगता है, यह उसके समकक्ष तो है ही। अग्नि वैदिक देवताओं में सर्वोपरि है और गार्हस्पत्य अग्नि या अग्निकुंड प्रत्येक घर की विशिष्टता है। मोहनजोदड़ो के घरों में अग्निकुंड बिलकुल ग़ायब है। आर्यों की दृष्टि में लिंगपूजा जुगुप्सु थी। सिन्धु जनों के बीच इसके अस्तित्व के बहुत अधिक प्रमाण मिलते हैं।"[58]

इन कसौटियों को सामने रखते हुए मार्शल यह नतीजा निकालते हैं कि इन दोनों सभ्यताओं में कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी देता। इसके बाद वह एक दूसरी सम्भावना पर विचार करते हैं कि क्या वैदिक सभ्यता सिन्धु सभ्यता से पूर्ववर्ती हो सकती है? इसको वह एक प्रश्न से ख़ारिज कर देते हैं, "यदि वैदिक संस्कृति सिन्धु संस्कृति से पुरानी थी तो इस बात का क्या कारण है कि लोहा और रक्षाकवच और घोड़ा जो वैदिक संस्कृति की विशिष्टताएँ हैं, सिन्धु संस्कृति के लिए अपरिचित हैं?" वह आगे कुछ और प्रश्नचिह्न लगाते हैं, "या इस बात का क्या कारण है कि सिन्धु काल में गाय के स्थान पर वृषभ पूज्य बन जाता है और बाद के कालों में इसका स्थान फिर गाय ले लेती है? और फिर यदि नव-पाषाण युग और सिंधु संस्कृति के बीच में भारतीय आर्यों की ताम्र या कांस्य और लौह संस्कृति आ चुकी थी तो इस बात का क्या कारण है कि सिन्धु संस्कृति में नव-पाषाण युग के अनेक अवशेष—पत्थर के उपकरणों और पात्रों की शक्ल में—बने रह जाते हैं?"[59]

मार्शल एक तीसरी संभावना को भी ख़ारिज करते हैं, "क्या भारतीय आर्य सिन्धु और वैदिक दोनों सभ्यताओं के निर्माता रहे हो सकते हैं? यहाँ भी हमें पहले ही जैसी विडम्बना का सामना करना पड़ता है। कारण, यद्यपि इस मान्य अवधारणा के आधार पर हम लोहे, घोड़े, कवच आदि के आरम्भ का कारण यह बता सकते हैं कि ये सभी इस संस्कृति के ही एक बाद के चरण में प्रकट हुए हो सकते हैं, पर हम इस बात का क़तई कोई समाधान नहीं पाते कि भारतीय आर्य नगर-जीवन से ग्राम्य अवस्था में कैसे लौट गये, या एक बार ईंट के उत्कृष्ट मकानों का विकास करने के बाद वे बाद में बाँस के घटिया मकानों से कैसे सन्तुष्ट रहने लगे, या एक बार मातृ-देवी और लिंग की पूजा करने के बाद वे ऋग्वैदिक काल से इसे

बंद कैसे कर बैठे और बाद में इनकी पूजा की ओर फिर कैसे लौट पड़े, या एक बार उन्होंने जिस सिन्ध पर अधिकार कर रखा था उसकी और सिन्ध के निम्न भागों की उन्हें कोई याद तक कैसे नहीं रह जाती ?"[60]

मार्शल द्वारा उठाये गये प्रश्नों को ही किसी-न-किसी रूप में, हड़प्पा और वैदिक को दो अलग और परस्पर असम्बद्ध सभ्यताएँ सिद्ध करने के लिए, विभिन्न विद्वानों द्वारा समय-समय पर दुहराया जाता रहा है। ये बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न हैं और किसी ऐसे अध्येता को जिसे ऐसा लगता हो कि हड़प्पा सभ्यता और वैदिक सभ्यता के बीच अभेद है, इन प्रश्नों का कोई तर्कसंगत समाधान देना ही होगा। इतना ही नहीं, मार्शल ने सुझाया था कि इन दोनों सभ्यताओं के बीच फ़र्क़ दिखाने वाले कुछ और मुद्दे आगे चलकर सामने आयेंगे। इस तरह के कुछ मुद्दे कुछ विद्वानों द्वारा उठाये भी जा चुके हैं, जैसे यह कि दोनों जनों के खान-पान की रीतियों में एक अन्तर यह भी है कि हड़प्पावासी चावल से भी परिचित थे और गेहूँ की खेती करते थे, जब कि आर्यों को यव के अतिरिक्त किसी अन्य अनाज का ज्ञान नहीं है, वैदिक जन केवल ऊनी वस्त्रों से परिचित थे, जब कि हड़प्पावासी ऊनी और सूती वस्त्रों का निर्माण और उपयोग करते थे, आदि। दोनों के बीच अभिन्नता का निश्चय इन प्रश्नों का भी सन्तोषजनक समाधान माँगता है।

मार्शल द्वारा उठाये गये इन प्रश्नों ने विद्वानों को काफ़ी उलझाया है। इसकी तीन तरह की प्रतिक्रियाएँ देखने में आती हैं। पहली यह कि इन दोनों सभ्यताओं के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहा है, जो कि सबसे लोकप्रिय मान्यता रही है। दूसरी यह कि वैदिक सभ्यता हड़प्पा के पड़ोस में उसके समानान्तर विद्यमान थी और इन दोनों के बीच पड़ोसियों जैसे तनाव और सौहार्द के दुहरे सम्बन्ध थे। इसका प्रस्ताव मार्शल के दल के ही लैंगडन ने रखा था जिसकी आलोचना स्वयं मार्शल ने की थी।[61] इसके बाद डॉ० बासुदेवशरण अग्रवाल भी कुछ ऐसा ही मत प्रकट करते हैं।[62] हाल में लोथल और कालीबंगाँ से यज्ञ के प्रचलन के प्रमाण देखने के बाद भी केवल यही दावा किया जाता रहा है कि हड़प्पावासियों में एक शाखा वैदिकों की भी रही हो सकती है, या यह कि हड़प्पावासी उस पहले आव्रजन से सम्बन्ध रखते रहे हो सकते हैं जिनका ज़िक्र दो या अधिक आव्रजनों की हिमायत करने वाले इससे पहले करते रहे हैं।[63]

दूसरे शब्दों में कहें तो, मार्शल द्वारा उठाये गये प्रश्न इतने प्रभावशाली प्रतीत होते रहे हैं कि इनके कारण जो अध्येता अन्यथा इन सभ्यताओं को सम्बन्धित मानते रहे हैं, उनका भी साहस यह कहने का नहीं हुआ कि ये दोनों अभिन्न हैं और वे इनकी पृथकता को मानते हुए ही किसी-न-किसी तरह का जोड़ तोड़ बैठाते रहे हैं।

मार्शल द्वारा उठाए गए अधिकांश सवाल सतही और शेष वैदिक साहित्य से

उनके प्रत्यक्ष परिचय के अभाव की देन हैं और उनसे सहमति रखने वालों की भी विवशता का एक कारण यह है कि वे अपने समय में वैदिक सभ्यता के विषय में मान्य बना दिये गये अनुमानों को आत्मसात कर चुके रहे हैं। वास्तविकता यह है कि जब हड़प्पा सभ्यता का नाम भी किसी को पता नहीं था उस समय समूचे ऋग्वेद का पहली बार अनुवाद करने वाले विलसन ने ऋग्वैदिक साक्ष्यों के आधार पर ही यह कहा था कि ऋग्वैदिक सभ्यता का स्तर उससे मिलता-जुलता है जिसका दर्शन भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय यूनानियों को हुआ था। क्या विलसन का यह कथन निराधार था? यदि नहीं तो इसे ख़ारिज क्यों कर दिया गया? ख़ारिज इसलिए कर दिया गया कि मौर्य काल से लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व (जो कि विलसन आदि के द्वारा ऋग्वेद के लिए अनुमानित समय था और जिसकी पुष्टि विंटरनित्ज़, ब्लूमफ़ील्ड आदि भी करते हैं) इतने उच्च स्तर की सभ्यता के अस्तित्व की बात अन्य विद्वानों को अकल्पनीय लगती थी। नहीं, इतने पहले सभ्यता का स्तर इतना ऊँचा नहीं रहा हो सकता है, अतः उन्हीं साक्ष्यों की तोड़-मरोड़ करके इनका हीनार्थ लिया जाने लगा और इस हीनार्थग्राही व्याख्या को आप्तता दे दी गयी और जब लगभग उसी काल के आस-पास सचमुच उतनी ही उच्च और प्रत्येक मामले में विलसन द्वारा परिकल्पित सभ्यता से मेल खाने वाली सभ्यता की भौतिक साक्ष्यों से भी पुष्टि हो गयी तो भी इस बात पर पुनर्विचार करने की कोशिश नहीं की गयी कि वैदिक सभ्यता चरवाहों और कृषि से अल्प-परिचित समाज की नहीं अपितु विकसित नगर-सभ्यता और वाणिज्यिक प्रचालनों की सभ्यता रही हो सकती है और यह हड़प्पा सभ्यता ही है। अतः सभ्यता के स्तर के संबंध में मार्शल के तर्क कोई अर्थ नहीं रखते। जहाँ तक अन्य तर्कों का प्रश्न है, वे भी वैदिक साहित्य के अज्ञान पर आधारित हैं और इन सभी पर हम यथा-प्रसंग विचार करेंगे। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि आर्यों को लोहे का ज्ञान बाद में हुआ था। शैफर ने अपने हाल के एक अध्ययन में इस भ्रम को भी तोड़ दिया है कि हड़प्पावासी लोहे से अपरिचित थे। उन्होंने इस बात का निर्णा-यक प्रमाण पेश किया है कि लोहे से भारत पूर्व-हड़प्पाकाल में परिचित हो चुका था। घोड़े से वे वैदिक काल में परिचित हो चुके थे, पर यह परिचय ऋग्वैदिक रचना-काल से पहले ही उन्हें गन्धार प्रदेश के निवासियों से प्राप्त हुआ था और हड़प्पावासी स्वयं भी इस सभ्यता के आरम्भ से ही घोड़े से परिचित थे। नव-पाषाण काल के अवशेष यदि पत्थर के पात्रों और उपकरणों का ताँबे और काँसे के उप-करणों और पात्रों के समानान्तर प्रचलित रहना मान लिया जाये तो भारत में, जैसा कि कोसम्बी ने कहा था,[65] आज भी नव-पाषाण काल के अवशेष—पत्थर के सिल, बट्टे, खरल, प्याले, तश्तरियाँ, चाक, चक्कियाँ आदि—पाये जा सकते हैं। मछली के शिकार का और इसके लिए जाल के प्रयोग का उल्लेख ऋग्वेद में भी

पाया जाता है। वैदिक काल में गाय की पूजा नहीं होती थी, न ही हड़प्पा में बैलों की पूजा का चलन था। ऋग्वेद के आठवें मंडल तक गोमांस खाना वर्जित नहीं था, यद्यपि आर्थिक कारणों से इसके विरुद्ध एक ज़ोरदार अभियान आरम्भ हो चुका था।

7

विभिन्न शाखाओं के बीच संतुलन

भारोपीय समस्या ने विद्वानों को बार-बार हताश और निराश किया है। लगभग दो सौ वर्षों के अनवरत प्रयत्न के बाद भी ऐसा एक भी प्रमाण नहीं ढूँढ़ा जा सका जो इसकी किसी भी ग्रन्थि को खोल सके। इसके लिए तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, गल्प, देवशास्त्र, श्रुत-परम्परा, धर्मशास्त्र, नृतत्व-विज्ञान, आनुवंशिकी, पुरावानस्पतिकी, पुरातत्व, भूगर्भविज्ञान, आदि विभिन्न शाखाओं में हुए नवीनतम विकासों की सहायता ली गयी, पर किसी से एक भी सूत्र ऐसा हाथ नहीं लगा जो इसकी अराजकता का दायरा तक कम कर सके। इसका कारण इन शाखाओं की अपनी व्यर्थता नहीं, अपितु विद्वानों की अपनी आसक्ति है। इनमें से किसी भी शाखा का निष्पक्ष रूप में प्रयोग नहीं किया गया। इनका उपयोग पहले से बनी-बनायी धारणाओं के लिए कोई ठोस प्रमाण जुटाने के सीमित प्रयोजन के लिए किया जाता रहा, न कि इनके आधार पर अपनी मान्यताओं के दोषों को दूर करने के लिए। इनकी विफलता उन मान्यताओं की विफलता है जिनको आज तक इस क्षेत्र में प्रचलित पाया जाता है। अतः हम अपने प्रस्तुत अध्ययन में जिन मार्गदर्शक सिद्धान्तों को अपनाकर चलना चाहेंगे वे निम्न प्रकार हैं :

1. जहाँ विविध अनुशासनों से किसी समस्या के समाधान में सहायता मिलती है वहाँ किसी की भी उपेक्षा समाधान में बाधक हो सकती है। पर जहाँ इनके बीच कुछ विरोध दिखायी दे वहाँ सभी को सममूल्य पर रखते हुए विचार करना किसी एक की उपेक्षा से भी अधिक हानिकारक हो सकता है। इनके बीच स्पष्ट फ़र्क़ करना ज़रूरी है। एक ओर हम पुरातत्व, पुरावानस्पतिकी, पारिस्थितिकी, भूविज्ञान जैसी शाखाओं को ले सकते हैं, जिनकी वस्तुपरकता के कारण इनकी आप्तता असन्दिग्ध है; दूसरी ओर साहित्य, अनुश्रुति, पुराणकथा, भाषा और नृतत्व जैसी शाखाओं को, जिनकी अतिजीविता के कारण अन्तर्वर्ती कालों में आये संकरण को मापने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। इनमें से पहली श्रेणी में आने वाली शाखाओं से जहाँ सहायता मिलती है, वहाँ इनको अग्रता न देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

2. पर हमें यह याद रखना होगा कि दूसरी श्रेणी में आने वाली शाखाएँ

केवल वहीं और उस सीमा तक ही दोषपूर्ण हैं जहाँ, और जिस सीमा तक, इनमें मिलावट हुई है। साथ ही यह भी कि लेखन से पहले जातीय अनुभवों के हस्तान्तरण का एकमात्र सुलभ माध्यम परम्परा या अनुश्रुति ही रही है। अतः ऐतिहासिक कालों में परस्पर असम्बद्ध परम्पराएँ जहाँ किसी एक ही दिशा की ओर संकेत करती हैं, और इनके पीछे कोई अवान्तर आशय काम करता नहीं दिखायी देता, वहाँ इनकी आप्तता उतनी ही असन्दिग्ध है जितनी किसी अन्य वैज्ञानिक और वस्तुपरक शाखा की। जहाँ इन निष्कर्षों की पुरातत्व आदि से प्राप्त सूचनाओं से असंगति दिखायी दे, वहाँ इन्हें सीधे ख़ारिज करने के स्थान पर इनकी बारीकी से जाँच की जानी चाहिए, जिससे दोनों के बीच आभासिक विरोध का तर्कसंगत समाधान हो सके।

3. इस बात को याद रखना ज़रूरी है कि पुरातत्व और दूसरी परीक्षणोन्मुख शाखाएँ एक सीमा तक ही अपनी सार्थकता रखती हैं। इनका गूँगापन इनकी सबसे बड़ी सीमा है और इसलिए जहाँ भी साहित्य आदि के माध्यम से इनसे मेल खाने वाली कोई सूचना मिलती है, उसे सम्मान देते हुए चित्र को अधिक स्पष्ट बनाया जाना चाहिए। यह ध्यान में रखना होगा कि पुरातात्विक प्रमाणों की अपव्याख्या की भी कम सम्भावना नहीं रहती है। भारोपीय क्षेत्र इसकी अच्छी मिसाल है। अतः जिन विवरणों के आधार पर पुरातात्विक सामग्री को संस्कृति विशेष से जोड़ा जा रहा है उनके विषय में हमें पूरी तरह आश्वस्त होना चाहिए।

4. जहाँ परवर्ती काल की कोई कृति किसी ऐसी पूर्वावस्था का चित्रण करती है जिसके पीछे ऐतिहासिक तथ्यपरकता दिखायी देती है, वहाँ इसे अति प्राचीन काल से चली आ रही लिखित या मौखिक परम्परा का आकलन माना जाना चाहिए। केवल इस आधार पर कि इससे पूर्ववर्ती कृतियों में सन्दर्भित घटना का उल्लेख नहीं आया है और इसीलिए यह बाद की अवस्था की चीज़ हो सकती है, या निरी कल्पित हो सकती है, इसकी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए।

5. जहाँ एक ही स्रोत के आधार पर दो भिन्न सांस्कृतिक स्तरों की पुष्टि होती हो, वहाँ सभ्यता के स्तर की जाँच उसके उन्नत पक्ष को प्रकट करने वाली सूचनाओं के आधार पर की जानी चाहिए। कारण, प्रत्येक विकसित सभ्यता में अभावग्रस्त और पिछड़े लोगों का अस्तित्व सम्पन्न और प्रबुद्ध तबके के साथ बना रहा है।

6. एक ही साक्ष्य का प्रयोग अपनी सुविधा के अनुसार दुहरे और विरोधी प्रयोजनों से नहीं किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के कुछ मंडलों को नया मानकर इनकी प्राचीनता को सन्दिग्ध बनाते हुए एक ओर तो इनसे व्यक्त होने वाले स्तर का निषेध और दूसरी ओर इसी अंश में नदी सूक्त के आधार पर भारत में आर्यों के प्राचीनतम निवास के रूप में पश्चिमोत्तर अंचल की हिमायत

ग़लत है। यदि यह अंश परवर्ती है, तो इससे व्यक्त होने वाला अंचल भी बाद में ही उनके अधिकार में आना चाहिए।

7. सभ्यता के विभिन्न पक्षों का विकास आवयविक होता है। यदि कोई ऐसा सूत्र हमें उपलब्ध है जैसे भाषा का समग्र भंडार—जिससे इसका समग्र चित्र प्रतिबिम्बित होता है, तो एकल और एकाधिक अर्थ वाले आँकड़ों, जैसे फुटकल शब्दों की व्युत्पत्ति आदि के द्वारा इनके इच्छित अर्थ-ग्रहण को इसके विरुद्ध प्रमाण नहीं बनाया जाना चाहिए।

8. अपवादों के अस्तिव से इनकार नहीं किया जा सकता। पर इनका अपवाद होना ही इस बात का प्रमाण है कि ऐसा बहुत ही कम हुआ करता है।[66] अतः हमें कोई चित्र या सिद्धांत अपवादों और अजूबों के आधार पर नहीं तैयार करना चाहिए। अपवाद के लिए भी बहुत सशक्त और अकाट्य प्रमाण होने चाहिए। अन्यथा, सामान्यतः जो होता है और होना चाहिए उसी को हमें स्वीकार करते हुए अपनी व्याख्याएँ देनी चाहिए। भारोपीय क्षेत्र में सामान्य और सम्भव की तुलना में असम्भव और आश्चर्यजनक का दर्शन अधिक होता है, जो इस बात का प्रमाण है कि इसकी व्याख्याएँ ग़लतियों से भरी हुई हैं। अतः हमें अपनी व्याख्या में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह सामान्य बोध के अनुरूप है या नहीं। जहाँ विशेषज्ञता की अपेक्षा ही न हो, वहाँ अतिरिक्त खींचतान—जिसे प्रायः विशेषज्ञता का पर्याय मान लिया जाता है—धूर्तता या अतिप्रगल्भता का पर्याय बन जाती है।

यदि इस अध्याय में दिये गये विवरण से ऐसा ध्वनित होता हो कि आर्यों के भारत में बाहर से आकर बसने की मान्यता एक तरह का षड्यंत्र थी, जिसका कोई वस्तुगत आधार नहीं था, तो इसका स्पष्टीकरण कर लेना ज़रूरी है। हमारा आशय यह कदापि नहीं है। जिन तथ्यों को सामने रखकर यह प्रस्ताव रखा गया था वे बिलकुल निराधार और कल्पनाप्रसूत नहीं थे। भारत से यूरोप तक एक जैसी भाषा के किसी प्राचीन काल में प्रचलित रहने की पुष्टि होने के साथ, यह तो निर्विवाद था ही कि मूल जन, जिनके कारण इस भाषा का अन्यत्र प्रचार हुआ, इस पूरे क्षेत्र में से ही कहीं के रहे हो सकते हैं। अब समस्या उस क्षेत्र या देश का निश्चय करने की थी। मनुष्य की एक सामान्य प्रवृत्ति ऐसी स्थितियों में किसी मध्यस्थ क्षेत्र को चुनने की होती है और चूँकि भारत इसके एक छोर पर था, अतः यह मध्यस्थ या केन्द्रीय क्षेत्र नहीं हो सकता था। मनुष्य की एक दूसरी प्रवृत्ति ज्ञात तथ्यों के सादृश्यों को अज्ञात पर लादकर समाधान ढूँढ़ने की होती है, और ज्ञात ऐतिहासिक कालों में भारत पर प्रायः आक्रमण होते ही रहे हैं और अनेक

विदेशी शक्तियाँ अनेक बार विजय प्राप्त करके यहाँ आकर बसी भी हैं, अतः इस सादृश्य को ध्यान में रखते हुए आर्यों द्वारा भी भारत पर आक्रमण की कल्पना करना बहुत स्वाभाविक था। इसके साथ ही, भारत के भी पश्चिमोत्तर भाग में ही तथाकथित आर्यों का प्रथम निवास इस कल्पना को बल देता था, यद्यपि ऋग्वेद में सारस्वत प्रदेश न कि सिन्धु क्षेत्र प्रमुखता रखता है। सबसे बड़ी बात यह कि ऋग्वेद में, और बाद के वैदिक साहित्य में भी, लगातार चलते रहने वाले युद्धों या संघर्षों की कहानियाँ भरी पड़ी हैं, आक्रमण की मान्यता को बल देने के लिए अब और कौन-सा नया तत्व चाहिए था ? इन प्रधान तथ्यों के साथ देवताओं या आर्यों का अपने विरोधियों को कृष्ण आदि कहना इस चित्र की सर्वांग पूर्ति कर देता था कि निश्चय ही गोरे आर्यों ने भारत के काले निवासियों पर हमला किया था और उनको जीतकर अपनी सभ्यता और भाषा की धाक जमायी थी।

इसी तरह आर्यों की बर्बरता का चित्र भी बिलकुल निराधार नहीं था। प्राचीन भारत में हड़प्पा सभ्यता का पता चलने से पहले तक, मौर्य काल से पहले किसी प्रबल राजसत्ता या नगर-जीवन का कोई प्रमाण मौजूद नहीं था। जब इसका पता चला भी तो इसे बिना अधिक छान-बीन के बिलकुल अलग मान लिया गया। प्रमुख कारण कालक्रम के अन्तर का दिखायी दे रहा था। बाद में कालगत अन्तराल समाप्त हो जाने पर पहले हड़प्पा सभ्यता के तत्वों को वैदिक परम्परा में आत्मसात करने का जो स्पष्टीकरण दिया गया था, वह स्वतः एक प्रबल तर्क बनाया जाने लगा। इसके विपरीत भारत से बाहर प्रस्तावित काल में पूरे भारोपीय क्षेत्र में किसी उच्च संस्कृति का कोई प्रमाण नहीं मिल रहा था, अतः मान लिया गया कि आने वाले लोग बर्बर तो रहे ही होंगे ! फिर भारत में, स्वयं वैदिक साहित्य में गायों आदि की बहुलता के संकेत और यात्राओं की सरगर्मी इन्हें पशुपालन और चारणजीवी बनाने के लिए काफ़ी थी।

इसके बावजूद, जब हम इस बात की शिकायत करते हैं कि इसके पीछे निहित आशय भी काम कर रहे थे, तो इसका भी कुछ कारण है। जिस समय पहली बार विदेशों से आर्यों के आगमन की कल्पना की गयी वेदों का अध्ययन आरम्भ भी नहीं हुआ था। अतः वैदिक क्षेत्र और वैदिक संघर्षों का तर्क वहाँ काम नहीं कर रहा था। दूसरे, भाषा का तथ्य और प्राचीन काल में भी ज्ञान-विज्ञान का भारतीय स्तर तथा पौराणिक विवरण इस बात की पुष्टि कर रहे थे कि भारत कभी श्रेष्ठता के दौर से गुज़रा था और अपने सारे अवरोधों के बावजूद अनेक विद्वान इस बात को स्वीकार कर भी रहे थे। ज्ञात भाषाओं में संस्कृत भाषा और साहित्य ही प्राचीनतम सिद्ध हो रहे थे। इनको ध्यान में रखते हुए ही आक्रमण की सम्भावना को बिलकुल छोड़कर भारत को उत्स देश मानने का तो पर्याप्त कारण नहीं था, पर इस तथ्य से आक्रमण की मान्यता का सुथरापन मिट अवश्य जाता

था। कहें, उस सरल दीखने वाली मान्यता में एक गाँठ-सी पड़ जा रही थी।

यहीं पर पूर्वाग्रह का हाथ आता है। जब कोई मान्यता आपको अधिक सुविधाजनक प्रतीत होती है, आपकी रुचि और हितों के अनुरूप होती है, तो थोड़े से वस्तुगत प्रमाण भी, चाहे वे सम्भावनापरक ही क्यों न हों, निर्णायक जैसे मान लिये जाते हैं और आप उन्हें निर्णायक प्रमाणों जैसा महत्व दे देते हैं। यदि यह मान्यता असुविधाजनक हुई तो क्षीण-से-क्षीण विकल्प मिलने पर भी आप उसकी पूरी तरह छानबीन करना चाहते हैं। यहाँ तक कि जहाँ ये क्षीण प्रमाण भी नहीं होते वहाँ भी संभावनाओं को आप तब तक मानने से इनकार करना चाहते हैं जब तक इनका निर्णायक प्रमाण न मिल जाये। यदि आक्रमण का यह ख़याल तत्कालीन प्रशासकों या बाद के पाश्चात्य विद्वानों को, जिन्होंने इस पूरे दौर में सबसे अधिक और बहुत सराहनीय स्तर का काम संस्कृत साहित्य को लेकर किया, किसी भी प्रकार असुविधाजनक प्रतीत होता तो पहले इस पर गहराई से छानबीन की गयी होती और इसकी स्वीकृति को तब तक टालने का, या इसका कोई भिन्न समाधान या औचित्य ढूँढ़ने का, प्रयत्न किया जाता जब तक निर्णायक प्रमाण नहीं जुट जाते।

यदि इतिहासकार की भूमिका एक कूटविशारद की होती हो तो उक्त निर्णय और प्रचार सर्वथा उचित थे और इनके लिए जितना प्रमाण चाहिए उतना विद्वानों को मिल चुका था। पर यदि इतिहासकार की भूमिका एक न्यायाधीश की होती है तो मानना होगा कि इस अपरिपक्व अवस्था में मामले की गहराई में उतरे बिना और कोई भी निर्णायक प्रमाण पाये बिना यह फ़ैसला उचित नहीं था। यह एक फ़ौज़ी अदालत का-सा फ़ैसला था जिसके पास आवश्यक प्रमाणों के आने तक इन्तज़ार करने का सब्र नहीं होता, ख़ास तौर से तब जब इससे उसके हितों का टकराव हो। कारण, इससे उस काल के प्रशासकों के लिए ऐसी अनेक प्रशासनिक उलझनें आ सकती थी जिनकी आज हम कल्पना नहीं कर सकते। कम-से-कम इसका अन्देशा प्रशासकों को हो ही सकता था। अतः जब हम इसे मिथ्यक कहते हैं तो हमारा आशय कदापि यह नहीं कि यह शून्य में गढ़ा गया एक विचार था। हमारा आशय केवल इतना ही है कि इस मान्यता के लिए पर्याप्त आधार नहीं था और इसे एक सम्भावना – अनेक सम्भावनाओं में से एक संभावना—से अधिक मानने का और इसको अग्रता देकर दूसरे सवालों का समाधान ढूँढ़ने का कोई औचित्य नहीं था। इस 'समरी ट्रायल' को सुविचारित निर्णय नहीं माना जाना चाहिए था। जैसा कि हमने संकेत किया है, मिथक का भी भौतिक आधार होता है। उसके भी कुछ प्रेरक तर्क होते हैं। मिथक वह इसी अर्थ में होता है कि वे प्रमाण, कारण या तर्क अपर्याप्त होते हैं और इन्हीं के आधार पर एक पूरी कहानी हमारे मन पर आप्त कथा के रूप में लाद दी जाती है। विद्वान आज तक इस

मिथक में लिपटे रह गये हैं, यह समस्या की गुरुता को भी प्रमाणित करता है और मिथकों की शक्ति को भी। हम अपनी पड़ताल में इन मिथकों को हर क़दम पर टूटते पाते हैं।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. बारबरा मर्त्ज़, टेम्पल्स, टॉम्ब्स, ऐंड हाएरोग्लिफ्स, 1965, 12-13
2. देखें, भगवान सिंह, आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता 1973, 42-60
3. रोमिला थापर, ऐंशेंट इंडियन सोशल हिस्ट्री, 1978, 4 के अनुसार, 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' सन् 1817 में प्रकाशित हुई थी। डेविड कोफ़; ब्रिटिश औरिएँटलिस्ट्स ऐंड बंगाल रिनेसाँ, 1969, 236 के अनुसार इसका प्रकाशन-वर्ष 1818 है।
4. डेविड कोफ़, वही, 5
5. स्पीयर, डेविड कोफ़ द्वारा उद्धृत, 13
6. डेविड कोफ़, वही, 21
7. विलियम जोन्स, 'थर्ड ऐनुअल डिस्कोर्स', एशियाटिक रिसर्चेज, I, 1788, 425
8. वही
9. कोलब्रुक, 'डिस्कोर्स ऐट दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड'; मिसिलेन्यस एसेज़, I, 1837, 3, 1, देखें, कोफ़, पूर्व, 39
10. वही।
11. कोलब्रुक, 'ऑन दि रिलिजस सेरिमनीज़ ऑफ़ दि हिन्दूज'; मिसिलेन्यस, ऐसेज़, 196; डेविड कोफ़, 196
12. कोलब्रुक, 'ऑन दि वेदाज़ ऑर दि सेक्रेड राइटिंग्स ऑफ़ दि हिन्दूज़', ए. रि. 1805, मि. ए. 196
13. कोलब्रुक, 'आन दि ड्यूटीज़ आफ़ ए फ़ेथफ़ुल हिन्दू विडो,' ए. रि. 4, 1795 209-10; कोफ़, वही, 40
14. डेविड कोफ़, वही, 14-16; केम्ब्रिज़ हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, 1929, 5, 187 में कथित रूप में उद्धृत वालपोल का भाषण।
15. टी. ट्वाइनिंग, 'लेटर टु दि चेयरमैन ऑन दि डेंजर ऑफ़ इन्टरफेरिंग इन दि

रिलिजस ओपिनियन ऑफ़ दि नेटिव्स इन इण्डिया; कोफ द्वारा उद्धृत, 137

16. चार्ल्स ग्रांट के विचार, डेविड कोफ़ वही. 134-35
17. स्कॉट वारिंग, 'ऑब्ज़र्वेशन', फुलर, कम्प्लीट वर्क्स के आधार पर कोफ़ द्वारा उद्धृत, 139. देखें डेविड कोफ़, वही, 134-35
18. चार्ल्स ग्रांट, 'मिनिट्स ऐंड रिपोर्टस् ऑफ़ दि कमिटी ऑफ़ हैलिबरी कालिज, अक्तू. 26, 1804' से एम्ब्री के आधार पर कोफ़ द्वारा उद्धृत। उल्लेखनीय है कि पादरी जिस भी सभ्यता के सम्पर्क में आते थे उसे असभ्य और बर्बर सिद्ध करना उनको अपने धर्म-प्रचार के लिए ज़रूरी लगता था। कारण, यदि उनको सभ्य मान लिया जाता तो फिर ये सभ्य किसे बनाते।
19. डेविड कोफ़ द्वारा उद्धृत, पूर्व., 240
20. वही, 237
21. वही, 240
22. इन प्राच्यविदों के अनुसार मिल ने 'एक इतिहासकार के दायित्व की अवज्ञा' की थी, और धर्मान्धों का पक्ष लिया था। मानवता के प्रति भारत के अवदान के प्रमाणों को, जो कि सर्वविदित हैं, इतने सतही ढंग से खारिज़ नहीं किया जा सकता। ज़रूरत इस बात की नहीं थी कि मिल भारत का पक्ष लेते, पर उन्हें समस्त साक्ष्यों को सामने रखते हुए और इनका निष्पक्ष विवेचन करते हुए, तत्कालीन जगत को सामने रखते हुए अपने विचार प्रकट करना चाहिए था। वही, 240 और आगे।
23. कोसम्बी, 'ऑन ए मार्क्सिस्ट ऐप्रोच टु इंडियन हिस्ट्री, 1951, 258-266.
24. कोसम्बी, 'ह्वाट कंस्टीट्यूट्स इंडियन हिस्ट्री 1955, 197
25. कोसम्बी, दि कल्चर ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ ऐंशेंट इंडिया इन हिस्टॉरिकल आउट लाइन, 1965, आमुख। कोसंबी इस विषय में किसी को भ्रम में नहीं रखना चाहते हैं कि वह जिस इतिहास की बात कर रहे हैं वह यथार्थ इतिहास ही होगा, क्योंकि ऐसी आधार सामग्री में से साक्ष्य चुनना जिसमें पहले ही लेखकों के अपने चुनाव के अनुसार महत्वपूर्ण तथ्य ही अंकित हैं, और इसके आधार पर वास्तविक घटनाओं का इतिहास लिखना, उनके अनुसार, असम्भवथा। देखें, ऊपर, 1955, 199
26. कोसम्बी, ऊपर 1951, 259
27. कोसम्बी, 'अर्ली स्टेजेज़ ऑफ़ कास्ट सिस्टम इन नार्दर्न इंडिया,' 1946, 35
28. म० नि० 1.262; 2.32; 3.63; पटिच्च समुप्पाद या प्रतीत्य समुत्पाद के इस सिद्धांत को बौद्ध विश्वदृष्टि का मेरुदंड कहा जा सकता है।
29. देखें, ए० घोष, दि हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली हिस्ट्रॉरिकल इंडिया, 1973, 19 व आगे; वी० गोर्डन चाइल्ड, मैन मेक्स हिमसेल्फ़, 1965, 109;

30. देखें, एस. पी. गुप्त, 'दि लेट हड़प्पन : ए स्टडी इन कल्चरल डाइनैमिक्स' 1982, 51-59
31. देखें, बी. के. थापर, 'दि आर्यन्स : ए रिऐप्रेज़ल ऑफ़ दि प्रॉब्लेम', इं.क.व.-था.क., 1970 पृ. 147-164
32. बी. बी. लाल, 'एक्सकैवेशन्स ऐट हस्तिनापुर,' 1954-55, 10-11, 5 व आगे।
33. रफ़ीक़ मुग़ल, 'रिसेंट आर्कियॉलॉजिकल रिसर्च इन छोलिस्तान डेज़र्ट' 1982, 85-95
34 जे. पी. जोशी, 'इंटर लॉकिंग ऑफ़ लेट हड़फन कल्चर ऐंड पेंटेड ग्रे वेयर कल्चर इन दि लाइट ऑफ़ रिसेंट एक्सकैवेशन्स' 1978
35. आर. एस. शर्मा, 'दि लेटर वेदिक एज़ ऐंड दि पेंटेड ग्रे वेयर' 1974; टी. एन. राय, 'स्ट्रैटिग्रैफिकल पोजीशन ऑफ़ दि पेंटेड ग्रे वेयर इन दि गैंगेटिक वैली', 1964-65
36. रोमिला थापर, ऐंशेंट इंडियन सोशल हिस्ट्री, 1978, 257; दिलीप चक्रवर्ती, 'दि आर्यन हाइपॉथैसिस इन इंडियन आर्कियालॉजी,' 1968
37. मारिजा जिंबुतास, प्रोटो इंडोयूरोपियन कल्चर···' 1970; सुनीतिकमार चाटुर्ज्या, बाल्ट्स ऐंड आर्यन्स इन देयर इंडोयूरोपियन बैकग्राउंड, 1968; अलेक्सांदर मॉनगेट, आर्कियॉलॉजी इन यू. एस. एस. आर. 1959, 112 और आगे; एस. पी. गुप्त, आर्कियॉलॉजी ऑफ़ सोवियत सेंट्रल एशिया···' 1979, II, परिशिष्ट; तथा अन्य।
38. आर. एस. शर्मा, मेटीरियल कल्चर ऐंड सोशल फ़ॉर्मेशन्स, 1983, 22; कोसम्बी, पूर्व., 1965, 84
39. अलेक्सान्दर मानगेट, ऊपर, 1959, 112
40. मारिजा जिंबुनास, ऊपर, 1970, 174-75
41. मेक्समूलर, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप, 1867, 64-65
42. देखें, मैकडनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, 1981, 2; मैक्समूलर, ऊपर, 1867, 381:, विंटरनित्ज़, 1962, खंड-I, 65
43. मैक्समूलर, ऊपर, 1867, 501; जार्ज डब्ल्यू कॉक्स, दि माइथॉलॉजी ऑफ़ दि आर्यन्स 1934, 32 और आगे।
44. विलियन जोन्स, 1786 में रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल के मंच से दिया गया भाषण। इसी भाषण में जोन्स ने संस्कृत, ग्रीक और लातिन आदि के सम्बन्धित होने की ओर और इनके किसी एक ही भाषा से उत्पन्न होने की सम्भावना की ओर संकेत किया था। देखे येस्पर्सन, लैंग्वेज : इट्स

नेचर, डेवलपमेंट ऐंड ओरिजिन, 1954, 83-84

45. येस्पर्सन, वही, 30

46. अविकसित, पशुचारी, कृषि से नाममात्र को जुड़े और स्वभाव से बर्बर आर्यों की यह छवि इतनी मान्य-सी हो चली है कि इसके लिए किसी विशेष इतिहासकार का नामोल्लेख आवश्यक नहीं है। पर इस पर अधिक बल भारतीय इतिहासकारों में कोसम्बी, राहुल, डांगे, आर. एस. शर्मा, रोमिला थापर, डी. पी. चट्टोपाध्याय की रचनाओं में पाया जा सकता है।

47. ऋ., 10. 71. 2

48. ऋ., 10. 27. 3; 54. 2

49. ऋ., 10. 82. 7

50. कीथ, 'कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया,' 1921, 1962 सं., 89

51. रोमिला थापर, पूर्व., 1978, 217

52. आर. एस. शर्मा, पूर्व., 1982, 32 और आगे।

53. देखें, भगवान सिंह, पूर्व., 1973, 42-60

54. मैकडनेल लिखते हैं, "वैदिक देवशास्त्र का मूल प्राचीन काल से वैदिक युग तक अविच्छिन्न चलते आये उस विश्वास में है जो मानव के समक्षवर्ती पदार्थों एवं प्राकृतिक दृश्यों को चेतन एवं दैवी मानता रहा है।...फलतः आकाश, पृथिवी, पर्वत, नदी और पौधों तक की उपासना दिव्य शक्तियों के रूप में चल पड़ी थी और घोड़ा, गौ, शकुन पक्षी एवं अन्य पशुओं का आह्वान किया जाने लगा था। यहाँ तक कि मानव के अपने हाथों बनाये पदार्थ, शस्त्र, युद्ध-रथ, ढोल, हल, एवं कर्मकांड के उपकरण—सवन-पाषाण एवं यज्ञ-स्तंभ आदि सभी की उपासना सामान्य बन गयी थी।" वैदिक देवशास्त्र, अनु. डॉ. सूर्यकान्त, 2-3

55. शौनक के उक्त कथन में ऋषियों और देवताओं का यह विशेष अर्थ केवल संवादपरक सूक्तों पर लागू होता है, पर ऐसा सोचने का कारण यह लगता है कि इन स्थलों पर स्थिति अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। पर कुछ अपवादों को स्वीकार करते हुए भी अन्यत्र भी यही बात मानी जानी चाहिए, विशेषतः इस बात को देखते हुए कि देवता शब्द स्त्रीलिंग है और ऋषिकाओं के द्वारा अपने विषय में जो कुछ कहलाया गया है वह किसी स्त्री का कथन नहीं लगता।

56. कभी-कभी तो इन परवर्ती कृतियों के विवरण ऋग्वेद से अधिक तर्क-संगत भी सिद्ध होते है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार वर्णों की सृष्टि ईश्वर द्वारा की गयी थी, पर परवर्ती साहित्य में स्पष्ट है कि यह कार्य-विभाजन या श्रम-विभाजन की देन है।

57. देखें, कीथ, पूर्व., 1921, 70
58. मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन, 1931, 1, 110-11
59. वही, 112
60. वही, 112
61. मार्शल, वही, 112; जिसमें इसी ग्रन्थ के दूसरे खंड, अध्याय 23वें में लैंगडन के मत पर विचार करते हुए मार्शल ने कालगत सीमा को इसमें बाधक माना था जबकि लैंगडन का विचार था कि "इस बात की बहुत अधिक संभावना दिखायी देती है कि भारतीय आर्य इंडो-जर्मनिक जाति के सबसे प्राचीन प्रतिनिधि हों।" मार्शल का उत्तर लचर है।
62. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, 1966, 50-51
63. एस. आर. राव, दि डिसाइफ़रमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, 235
64. जिम जी. शैफ़र, 'ब्रांज़ एज़ आइरन फ्रॉम अफ़गानिस्तान : इट्स इंप्लिकेशंस फ़ॉर साउथ एशियन प्रोटोहिस्ट्री', 1984, 41-62
65. कोसम्बी, 1965, भूमिका।
66. वास्तव में अपवाद जैसी कोई चीज़ नहीं होती। जिन्हें हम अपवाद कहते हैं वे ऐसे तथ्य या घटनाएँ हैं जिनके कार्य-कारण सम्बन्ध को हम समझ नहीं पाये हैं। दोष घटनाओं का नहीं, हमारे अज्ञान या अल्पज्ञान का है। जैसा कि हम ऋग्वेद के टीकाकारों द्वारा 'ऋषि' और 'देवता' जैसे केन्द्रीय महत्व के शब्दों के विषय में देख चुके हैं, ऋग्वैदिक अनुवादों और टीकाओं पर आँख मूंद कर विश्वास करना निरापद नहीं है। अतः न केवल शब्दों का व्युत्पत्ति-परक अर्थ ग्रहण करते समय सावधानी बरती जानी चाहिए, अपितु प्रत्येक ऋचा या सूक्त की अन्तर्वस्तु का, शब्दों के अर्थ का या किन्हीं संदर्भों का निश्चय करते समय गतानुगतिकता से काम नहीं लिया जाना चाहिए।

अध्याय दो

आर्य-आक्रमण का मिथक

भारतीय इतिहास का वैदिक काल एक आक्रमण से आरम्भ होता है। ऐसा कोई आक्रमण भारत पर हुआ भी था या नहीं, यह किसी को ज्ञात नहीं। जो कुछ हमें निश्चित रूप से ज्ञात है वह मात्र यह कि भारत से लेकर यूरोप तक फैली अनेकानेक भाषाओं में कुछ ऐसी आधारभूत समानताएँ पायी जाती हैं जो आकस्मिक नहीं हो सकतीं। यह समानता किस रूप में स्थापित हुई और इसका प्रेरक केन्द्र इस विशाल भूभाग में कहाँ रहा हो सकता है, यह एक रहस्य है और इस रहस्य को सुलझाने के लिए ही तरह-तरह की कल्पनाएँ की जाती रही हैं। केन्द्र कहाँ था, प्रसार का रूप क्या था, इसका समय क्या हो सकता है—इन विभिन्न प्रश्नों से निबटने का प्रयत्न इन कल्पनाओं में किया जाता रहा है। पर कल्पना की स्वच्छन्द उड़ानों के कारण जितनी धुन्ध पैदा की गयी है वह इस समस्या के समाधान में सहायक न होकर बाधक बन गयी है और किसी भी अध्येता की सबसे पहली समस्या इस धुन्ध को साफ़ करने की बन जाती है।

अनिर्णीत रूप में जिन बातों को बार-बार दुहराया जाता रहा है उनका सार यह है कि मूल केन्द्र भारत से लेकर यूरोप के मध्य तक के क्षेत्र में कहीं भी रहा हो सकता है; कि मूल क्षेत्र को छोड़ने का कारण किसी प्राकृतिक आपदा से लेकर जनसंख्या की वृद्धि और नये क्षेत्रों की तलाश तक कुछ भी रहा हो सकता है; कि प्रस्थान आक्रमण से लेकर शान्तिपूर्ण प्रव्रजन तक कुछ भी रहा हो सकता है; कि आक्रमण या प्रव्रजन एक बार भी हुआ हो सकता है और एक-पर-एक अनेक लहरों में भी; कि इसका रास्ता सुविधा के अनुसार कोई भी रहा हो सकता है; कि आक्रमण करने वालों का रूप-रंग, उनकी सभ्यता का स्तर आदि कुछ भी रहा हो सकता है; कि आक्रमणकारी या प्रव्रजित जन एक वंश के भी रहे हो सकते हैं और कई वंशों के भी; कि वे एक बोली बोलते रहे हो सकते हैं और कई बोलियाँ भी

बोलते रहे हो सकते हैं; कि इन बोलियों में अलगाव मूल भूमि से प्रस्थान करने से पहले भी घटित हो चुका हो सकता है और बाद में भी आया हो सकता है।

इतने सारे चर घटकों के रहते हुए सम्भाव्यताओं की संख्या कहाँ तक पहुँचती है, इसका सही उत्तर तो कोई गणितज्ञ ही दे सकता है। दो सौ वर्षों के अनवरत अध्ययन और विविध क्षेत्रों की विशेषज्ञता के बाद यदि इन सम्भाव्यताओं के दायरे को कुछ सँकरा भी किया जा सका होता तो इसे एक आंशिक उपलब्धि माना जा सकता था। परन्तु अराजकता की सीमा यह है कि इनमें से सभी विकल्प आज भी खुले हुए हैं। मूल केन्द्र और वहाँ से भाषा और संस्कृति के प्रसार के कारणों तथा रूपों पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। इस अध्याय में हम केवल इस बात पर विचार करेंगे कि क्या भारत पर आर्यों का आक्रमण, या भारत में उनका किसी अन्य रूप में प्रवेश, हुआ हो सकता है ? यदि नहीं, तो भारत में वैदिक जनों की स्थिति क्या है, और हड़प्पा सभ्यता से वैदिक सभ्यता का रिश्ता क्या है ?

1

कोरी पट्टी

प्रो० गाइल्स लिखते हैं कि इतिहास इस विषय में हमें कुछ नहीं बताता कि भारत में इंडोजर्मनिक बोलने वाली जातियों का प्रवेश कैसे हुआ।[1] कीथ का कहना है कि यह लगभग सुनिश्चित-सा है कि वैदिक भारतीय भारत में कैसे घुसे, इसका निश्चय करने में ऋग्वेद हमारी कोई सहायता नहीं करता।[2] वह आगे लिखते हैं, "यदि, जैसा कि हुआ हो सकता है, आर्य आक्रमणकारियों ने भारत में हिन्दूकुश के पश्चिमी दर्रों से प्रवेश किया हो और उससे होकर पूर्व की ओर पंजाब से होते हुए बढ़े हों, तो भी इस यात्रा की कोई झलक ऋग्वेद में नहीं मिलती जिसका, कम-से-कम, अधिकांश भाग आधुनिक अम्बाला से दक्षिण सरस्वती नदी के आस-पास के क्षेत्र में रचा गया प्रतीत होता है।"[3] इमेनो स्वीकार करते हैं, "साफ़ बात तो यह है कि हमें (भारत में आर्यों के) आव्रजन के इतिहास के बारे में क़तई कुछ पता नहीं है।"[4] डॉ० थापर इस समस्या पर विचार करते हुए लिखते हैं कि जिन संस्कृतियों को किसी भी तरह आर्यों से सम्बन्धित बताया जाता रहा है उनके नृतात्विक और पुरातात्विक साक्ष्यों का भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्यों से मेल नहीं बैठता और "यहाँ तक कि अनातोलिया, उत्तरी ईराक़, उत्तरी ईरान, सोवियत मध्येशिया, स्वात घाटी, और गान्धारक्षेत्र या पाकिस्तान और भारत के गंगा-जमुना दोआबा, दक्षिणी राजस्थान और मालवा के पठार और उत्तरी दकन के क्षेत्रों में पाये जाने वाले नृतात्विक और पुरातात्विक साक्ष्य भी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलते पाये जाते

हैं ।"[5] डॉ० थापर आगे लिखते हैं, "भारत में आर्यों के प्रवेश के सम्बन्ध में उपलब्ध वस्तुगत साक्ष्य अभी तक अनिर्णायक बने हुए हैं ।"[6] डॉ० स्वराज्य प्रकाश गुप्त भारत के सीमावर्ती क्षेत्रों के पुरातात्विक साक्ष्यों की छानबीन करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सन्दर्भित काल में भारत से बाहर की किसी संस्कृति को सिन्धु से पार भारत की ओर बढ़ते नहीं पाया जाता ।[7]

यदि ऋणात्मक साक्ष्यों का कोई अर्थ हो सकता है तो ऐसे ही मामलों में। कारण, किसी-न-किसी स्रोत से इस बात का क्षीण-से-क्षीण निर्णायक प्रमाण आना ही चाहिए था कि जिस भी रूप में सही, भारत में आर्यों का प्रवेश प्रस्तावित काल के आस-पास हुआ था। पर इस प्रकार के प्रमाण का सर्वथा अभाव इस बात का प्रमाण है कि इस तरह का कोई आक्रमण या आव्रजन भारत की ओर हुआ ही नहीं था। कम-से-कम किसी प्रकार के प्रमाण के अभाव में इस तरह का दावा करना बौद्धिक सन्तुलन और अकादमिक संयम के अभाव का ही सूचक हो सकता है।

2

आर्य जन

आर्यों का आक्रमण या आव्रजन तो अलग बात है, प्रश्न यह है कि क्या आर्य नाम का कोई गण या कबीला कभी अस्तित्व में था भी ? 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति और इसके प्रसार आदि के प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे और यथास्थान यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के साथ इस शब्द का आशय किस तरह बदलता गया है।

यहाँ हम उस विडम्बना को सामने रख कर विचार करेंगे जिसकी ओर डॉ० थापर ने संकेत किया है। वह नृतात्विक आदि पहलुओं से स्थिति का जायज़ा लेने के बाद लिखते हैं, "अतः यह स्पष्ट है कि कोई एक संस्कृति आर्यों से सम्बन्धित नहीं थी ।"[8] और फिर वह प्रश्न करते हैं, "क्या हम यह मान लें कि आर्य ऐसे यायावर थे जिनमें एक भाषा से गहन लगाव के अतिरिक्त कोई सुनिश्चित संस्कृति नहीं थी ?"[9] हम डॉ० थापर के प्रश्न को इसकी तार्किक परिणति तक ले जाते हुए यह प्रश्न करना चाहेंगे कि क्या कोई ऐसा जन-समाज था जिसके प्रत्येक सदस्य को, जातीय या भाषाई उत्तराधिकार के आधार पर आर्य कहा जाता रहा हो ? यदि नहीं तो इसका किसी प्रकार के जन-संचलन से किसी प्रकार का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

आर्य जाति की परिकल्पना के पीछे यह तथ्य रहा है कि ऋग्वेद में आर्यों और दासों का उल्लेख अनेक बार आता है और इन उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि

इनके बीच सम्बन्ध तनावपूर्ण थे। इसी के आधार पर 'आर्य आक्रमण' को प्रमाणित करने के लिए उतावले विद्वानों ने आर्यों को आक्रमणकारी कबीला और दासों को स्थानीय मूल निवासियों के रूप में पेश करना आरम्भ कर दिया था। परन्तु मैक्समूलर ने बहुत पहले ही इस बात की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था कि 'आर्य' शब्द को जाति के अर्थ में लेना सर्वथा दोषपूर्ण है।[10] उनके इस मत का बाद के विद्वानों ने बार-बार समर्थन किया है[11] और इसके बावजूद भारतीय क्षेत्र में आते ही वे इस चेतावनी को भूल जाते रहे हैं। मैक्समूलर का कहना था कि 'आर्य' शब्द केवल भाषा के सन्दर्भ में ही सार्थकता रखता है, पर इसका भी कारण यह नहीं कि प्राचीन काल में आर्य-भाषा जैसी किसी चीज़ का अस्तित्व था। वास्तव में इस नाम का चुनाव भी मैक्समूलर ने सुविधा के ख़याल से किया था, क्योंकि यह इंडोजर्मनिक, इंडोयूरोपियन आदि नामों की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त, अधिक सार्थक और अधिक व्यापक था।[12] प्रकारान्तर से कहें तो जैसे किसी भी काल में इंडोयूरोपियन नाम की किसी भाषा का अस्तित्व नहीं था और यह नाम हमारी आज की ज़रूरत को देखते हुए गढ़ लिया गया, उसी तरह आर्य-भाषा नाम की कोई चीज़ कभी अस्तित्व में नहीं थी और यह नाम हमारी आज की ज़रूरत को ध्यान में रखते हुए मैक्समूलर द्वारा सुझाया गया था।

'आर्य' शब्द का जिस अर्थ में ज्ञात ऐतिहासिक कालों में प्रयोग होता रहा है और जिसकी पुष्टि ऋग्वेद से भी होती है, वह है—श्रीमान, मालिक, मान्यवर महोदय, आदि। पाणिनि के अनुसार इसका प्रयोग 'स्वामी और वैश्य' के लिए होता है।[13] यदि कार्यविभाजन या वर्णव्यवस्था में निरूपित कर्त्तव्यों के अनुसार कृषि-सम्पदा, पशुपालन और वाणिज्य तीनों पर वैश्यों का ही अधिकार था तो हम कह सकते हैं कि पाणिनि की उक्त व्याख्या में भी यही भाव निहित है कि यह शब्द वैश्यों के लिए ही विशेष रूप में प्रयोग में आता था, जैसे इसी आशय को प्रकट करने वाले 'श्रेष्ठि', 'महाजन' आदि शब्द बाद में प्रयोग में आते थे।

परन्तु वैदिक काल के प्रारम्भ में जब परवर्ती कालों जैसा वर्ण-विभाजन नहीं हुआ था, यह उस वर्ग के लिए व्यवहार में आता था जिसका सम्पदा पर अधिकार था और इस वर्ग से ही क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ण भी आगे चल कर पैदा हुए[14], यद्यपि इनके उपयुक्त कार्यविभाजन सम्पदा पर इस वर्ग के अधिकार के साथ ही पैदा हो गया था, अतः 'आर्य' शब्द का प्रयोग इस स्वामी वर्ग के लिए और 'दास' शब्द का प्रयोग सेवक या श्रमिक वर्ग के लिए होता था। जैसे —एलीट और जेंट्री, लार्ड और कामनर, अमीर और ग़रीब, मालिक और नौकर शब्दों से यह ध्वनित नहीं होता कि ये दो जातियों के लोग हैं, न ही यह कि इनमें से एक आक्रामक है और दूसरा आक्रान्त, उसी तरह आर्य और दास शब्दों से कहीं इस तरह का विभेद नहीं प्रकट होता। इसके बावजूद आर्थिक विषमता और वर्ग-हितों के टकराव के कारण इनके बीच

टकराव और तनाव बना रहना अधिक स्वाभाविक था, विशेषतः उन कालों में जब धर्म, विश्वास, नीति, नियम, आदि के कठोर और मनोवैज्ञानिक बन्धनों में जकड़ते हुए दास वर्ग की चेतना को उतना अधिक कुंठित नहीं किया जा सका रहा होगा जितना बाद के कालों में। इस तनाव को सही सन्दर्भ न दे पाने के कारण 'आर्य' शब्द के साथ एक भिन्न जाति का भ्रम पाल लिया गया और जो विद्वान जाति के अर्थ में इसके प्रयोग को दोषपूर्ण मानते रहे हैं उनसे भी इसका प्रयोग इस तरह होता रहा है मानो यह जाति का भी द्योतक हो। उदाहरण के लिए, मैक्समूलर की ठीक उसी कृति का शीर्षक जिसमें वह इस विषय में सावधान रहने की हिमायत करते हैं इस दृष्टि से कम भ्रामक नहीं है; यही भूल 'आर्य' शब्द के विवेचन के समय भी उनसे होती लगती है। अन्य लोगों की तो बात ही अलग है जो 'आर्यों' के मूल निवास की खोज के लिए बहुत चिन्तित रहे हैं।

ऐसी स्थिति में विचारणीय यह हो जाता है कि वे कौन-सी स्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें न केवल एक भाषा का, अपितु 'आर्य' शब्द का भी बहुत बड़े क्षेत्र में प्रसार हुआ? इसका उत्तर भी 'आर्य' शब्द में ही मिल जायेगा। यदि 'आर्य' शब्द का प्रयोग वैश्यों के लिए होता था तो इस भाषा और संस्कृति तथा 'आर्य' शब्द के प्रसार में वाणिज्यिक गतिविधियों का हाथ रहा हो सकता है और यही एकमात्र वह स्थिति है जिसमें भारत से लेकर बाहर तक की विभिन्न स्वविशिष्ट संस्कृतियों के बीच बड़े पैमाने पर किसी जन-संचलन के बिना भी इस तरह का प्रसार सम्भव हो। दूसरे शब्दों में कहें तो, भारत के बाहर जिन स्थानों पर इन व्यापारियों ने अपनी बस्तियाँ बसायीं उनको व्यापारियों की बस्ती या आर्य-स्थान का नाम दिया। आरम्भ में यह केवल उनकी बस्ती तक के लिए व्यवहार में आता रहा और क्रमशः इसका प्रयोग उस समस्त अंचल के लिए होने लगा जो उनकी भाषा और संस्कृति से, उनके व्यापारिक तंत्र से, प्रभावित होता गया।

यहाँ पहुँच कर न केवल यह मान्यता डगमगा जाती है कि भारत पर आर्यों का आक्रमण हुआ था, अपितु इससे भिन्न मान्यता कि भारत से बाहर के देशों पर भारतीय आर्यों द्वारा आक्रमण किया गया हो सकता है, भी अमान्य हो जाती है। इसके विपरीत अपने आरम्भिक चरण में वह एक शान्तिपूर्ण आर्थिक गतिविधि के रूप में सामने आती है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह कि आर्यों के सांस्कृतिक स्तर के विषय में जो आम मान्यता प्रचलित रही है उसका भी खंडन हो जाता है। अपने इस नये रूप में वे यायावर, पशुपालक, खेती से नाम-मात्र को परिचित जन न रह कर उन्नत आर्थिक तंत्र से जुड़े हुए व्यक्ति सिद्ध होते हैं। कहें, उनका समाज एक ऐसा समाज सिद्ध होता है जिसमें वैश्यों का वर्चस्व था और इनका प्रधान कार्य व्यापार था। हमारी इस मान्यता की पुष्टि ऋग्वेद से भी होती है। इसमें व्यापारिक गतिविधियों की कितनी धूम मची दिखायी देती है, इस पर तो हम आगे विचार

करेंगे, यहाँ केवल इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि वैश्य वर्ण की उत्पत्ति ऋग्वेद से मानी गयी है।[15] दूसरे शब्दों में कहें तो, ऋग्वैदिक रचनाओं के और ऋग्वैदिक रचनाकारों के प्रधान संरक्षक वैश्य थे। हड़प्पा के नगरों से अलग आप इन व्यापारियों को कहाँ पा सकते हैं?

3

जनसंख्या का प्रश्न

ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों में ही हम वैदिक जनों को भारत के एक विशाल क्षेत्र में बहुत प्रभावशाली रूप में आबाद पाते हैं। क्या कोई आक्रमण इतना विशाल हो सकता था जिसमें विदेशी इतनी बड़ी संख्या में पहुँच सकें कि इस पूरे क्षेत्र को प्रभावशाली ढंग से आबाद कर सकें? भारत पर ज्ञात ऐतिहासिक कालों में बार-बार आक्रमण होते रहे हैं। कुछ समय तक शासन करने के बाद ये भारतीय जन-समुद्र में विलीन होकर उसमें अदृश्य हो जाते रहे हैं। इसका प्रधान कारण उनकी नगण्य तुलनात्मक संख्या रही है। उनकी भाषा के गिने-चुने शब्दों के अव-शेष भले भारतीय भाषाओं में बने रह गये हों, पर वे समूची भाषा और संस्कृति को किसी प्रभावशाली रूप में बदलने में असमर्थ रहे हैं। एक अर्धबर्बर समाज द्वारा यदि कोई आक्रमण होता भी तो वह अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर ही हो सकता था। पर यदि इसे इतिहास के विशालतम आक्रामक जत्थे के रूप में भी स्वीकार किया जाये तो भी वे इतनी बड़ी संख्या में कदापि नहीं हो सकते थे कि इस समूचे क्षेत्र को आबाद कर सकें।

इस सीमा को ध्यान में रखते हुए 'इंपीरियल गज़ेटियर' के लेखक ने इसे एक विराट आव्रजन के रूप में कल्पित किया था। परन्तु समस्या की गुरुता इसके बाव-जूद बनी रहती है। वह लिखता है :

"अब यदि भारत के सीमान्त देशों की भौतिक और सामाजिक स्थितियाँ उस सुदूर काल में भी वही रही हों जैसी कि इन्हें हम आज पाते हैं तो यह समझ में नहीं आता कि इस परिवार या कबीले का मन्द प्रव्रजन इतने बड़े पैमाने पर कैसे हुआ होगा कि यह पंजाब को प्रभावशाली ढंग से आबाद कर सके। सीमान्त की पट्टी खुद सूनी पहाड़ियों और सँकरी घाटियों का जाल मात्र है जो कि किसी की आवभगत करने की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त है, जब कि एक चारणजीवी समाज उससे भी पश्चिम के अपेक्षाकृत अधिक अननुकूल प्रदेश से अपने कुल-कुटुम्ब के साथ बढ़ते हुए अपने रास्ते को ऐसी बाधाओं से अवरुद्ध पायेगा जिन्हें उनमें से केवल सबसे शक्तिशाली लोग ही पार कर सकते थे। औरतों और बच्चों को पीछे ही

छोड़ दिया गया होगा, या वे रास्ते में ही मर-खप गये होंगे। इसके अलावा भारत के पड़ोसी देशों की वर्तमान वर्षा और जलवायु को देखते हुए आज सीमान्त से कुछ क़ायदे की दूरी के भीतर वह अनुकूल क्षेत्र कहाँ मिलेगा जिसमें से लोगों की इतनी बड़ी जमात निकल सके जो पंजाब को आबाद कर सके ? दक्षिण-पूर्वी फ़ारस में तो कदापि नहीं, जिसके बालू के ढूह-बदलते-हुए रेगिस्तान रहने के योग्य ही नहीं; न ही निर्जन दक्षिण-एशियाई स्तेपी में, जहाँ मुट्ठी-भर ख़ानाबदोशों को भी मुश्किल से ही आहार मिल पाता है।"[16]

लेखक इस मुश्किल को आसान करने के लिए कल्पना करता है कि सम्भव है, बीच के चार-पाँच हज़ार वर्षों के दौरान इन क्षेत्रों की जलवायु बदल गयी हो और पहले वहाँ वर्षा का औसत अधिक रहा हो। इसकी पुष्टि में उसने एक भूविज्ञानी डब्ल्यू० टी० ब्लैनफ़र्ड का हवाला भी दिया है। जलवायु-परिवर्तन का यह मसला विवादास्पद है। प्रो० ज्याइनर, लन्दन विश्वविद्यालय और राबर्ट राइक्स, हाइड्रॉलोजिस्ट पाकिस्तान सरकार, आदि ने गहरी छान-बीन के आधार पर कहा है[17] कि पिछले नव हज़ार सालों में इस क्षेत्र की जलवायु में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

इस तरह, आक्रमण हो या आव्रजन, जनसंख्या के आधार पर भी हम वैदिक जनों के भारत में प्रवेश की कल्पना को असम्भव पाते हैं।

4

घुड़सवारी और लोहे का ज्ञान

भारत पर सुनियोजित रूप में और बहुत बड़े पैमानों पर जो आक्रमण हुए हैं उनको भी सामने रखें तो इस विषय में किसी तरह का सन्देह नहीं रह जाता कि आर्यों का कोई भी आक्रमण या आव्रजन इतने बड़े पैमाने पर नहीं हुआ हो सकता है कि यह गंगा से पश्चिम के समूचे भूभाग को प्रभावशाली ढंग से आबाद कर सके। यह एक असम्भव-सी बात है। अतः डॉ० रोमिला थापर का विचार है कि आर्यों का आगमन तो थोड़ी संख्या में ही हुआ होगा, पर उन्होंने अपनी भाषा और संस्कृति की धाक तकनीकी दृष्टि से हड़प्पावासियों से आगे बढ़े होने के कारण जमा ली होगी।[18] तकनीकी दृष्टि से उनके आगे बढ़े होने की कल्पना का आधार यह है कि आरम्भ से ही आर्यों को अश्वारोही जमात माना जाता रहा है और उनकी संस्कृति अश्व-संस्कृति मानी जाती रही है[19] और आर्य हमलावरों द्वारा स्थानीय जनों की पराजय की कल्पना करने वाले भी विशेष रूप से बल इस बात पर ही देते रहे हैं कि अपने फुर्तीले और ओजस्वी वाहन के कारण उन्हें जो गति-

शीलता प्राप्त थी उसके बल पर संख्या में कम होने के बावजूद उन्होंने विजय प्राप्त कर ली।[20] तकनीकी कौशल में श्रेष्ठता का दूसरा आधार यह माना जाता रहा है कि वे लोहे से परिचित थे। इसकी पुष्टि में यह सुझाया जाता रहा है कि भारोपीय भाषाओं में अधिकांश में लोहे के लिए प्रचलित शब्द 'अयस' से निकले हैं जो इस कारण ही हो सकता है कि वे भारत में आने से पहले या कहें अपने संयुक्त भारोपीय काल में ही लोहे से परिचित हो चुके थे।

घोड़ा हड़प्पावासियों के लिए अपरिचित पशु नहीं था, इसे राना घुंडाई के पुरातात्विक अवशेष के आधार पर ह्वीलर भी स्वीकार करने को बाध्य थे[21] और जोशी तथा राव[22] आदि ने हड़प्पा सभ्यता के अन्य स्थलों से प्राप्त घोड़े की अस्थियों के आधार पर इसके अपेक्षाकृत व्यापक प्रचलन की पुष्टि की है। पर रोचक बात यह है कि आर्य या हड़प्पा के जन क्रमिक पशुपालन के दौरान ही घोड़े का उपयोग करना सीख पाये थे। वैदिक विवरणों से पता चलता है कि घोड़े को पालतू बनाने से पहल वैदिक जनों ने गधे को पालतू बनाया था और इसे ही अश्व कहा जाता था। इसी कारण अश्विनीकुमारों का वाहन गधा है।[23] गधे का उपयोग गाड़ी और रथ खींचने के लिए प्राचीन काल में किया जाता था[24] और घोड़े को पालतू बनाने से पहले यह तेज़ वाहन माना जाता था।[25] जब घोड़ा अश्व था उस समय खच्चर को अश्वतर या श्रेष्ठ अश्व कहा जाता था, जो खच्चर के लिए आगे भी प्रयोग में आता रहा। बेबीलोन में भारतीय व्यापारियों की बस्तियों में पहले अश्वमेध यज्ञ वस्तुत: गर्दभमेध था अर्थात भारतीय अश्वमेध से इसकी हर मामले में समानता मिलती है, सिवाय इस बात के कि वहाँ पहले गधे का और फिर घोड़े का ठीक उसी रूप में उपयोग होता रहा जैसे भारत में घोड़े का।[26] अंग्रेज़ी का 'ऐस' शब्द उस वैदिक प्रयोग का स्मरण दिलाता है जब अश्व का अर्थ गधा भी था, यद्यपि 'हार्स', जेंद—अस्प, लातिन—एकुअस, ग्रीक—इप्पोस आदि इस बात की भी सूचना देते हैं कि गधे के समानान्तर इसका प्रयोग घोड़े के लिए भी होने लगा था।

गधे को पालतू बनाने के बाद वैदिकों को इससे अधिक तेज़ चलने वाले एक पशु का पता चला और अब अश्व या 'तेज़ चलने वाला' शब्द इसके लिए प्रयोग में आने लगा। सम्भव है, यह पशु स्थानीय स्तर पर वन्य रूप में पाया जाता रहा हो, पर ऐसी दशा में यह भारतीय टट्टुओं की नस्ल का था जिसका प्रयोग माल ढोने के लिए किया जाता है।[27] इस नस्ल का घोड़ा सम्भवत: कच्छ के क्षेत्र में वन्य रूप में पाया जाता था।[28] पर अपने व्यापारिक उपक्रम में अफ़ग़ानिस्तान से सम्पर्क होने के बाद वैदिक जनों के पूर्वजों को उस तेज़ रफ़्तार वाले घोड़े का पहली बार परिचय मिला जो भारतीय टट्टुओं की तुलना में अधिक ओजस्वी, गतिशील और शक्तिशाली था। इस तथ्य को मिथकीय रूप में पेश करते हुए कहा

गया है कि गन्धर्वों ने घोड़े में वेग भर दिया।[29] गन्धर्वों ने घोड़े की रास पकड़ी, घोड़े पर सबसे पहले सवारी गन्धर्वों ने की।[30] ऋग्वेद के प्राचीन मंडलों में भी इस प्रखर वेग वाले घोड़े का ज़िक्र है जिसे दधिक्राव्ण कहा गया है और जिससे मुग्ध होकर इसकी प्रशंसा में अनेक सूक्त रचे गये हैं।[31] दधिक्राव्ण का शाब्दिक अर्थ है 'सवार को पीठ पर लिये-लिये छलाँग लगा जाने वाला'।[32] अतः यह मानने का पर्याप्त कारण है कि वैदिक सभ्यता के उस प्राचीन दौर में जो ऋग्वेद के रचनाकाल से भी पीछे जाता है, वैदिक जनों ने सुदूर स्थलों की व्यापारिक यात्राएँ आरम्भ कर दी थीं और न केवल भारतीय टट्टुओं को पालतू बना चुके थे, अपितु अच्छी नस्ल के घोड़ों को भी हासिल करके पालतू बना चुके थे। इसके बावजूद यह मानना होगा कि उत्कृष्ट नस्ल के ये घोड़े कुछ विशेष और असाधारण रूप में सम्पन्न लोगों के पास ही रहे होंगे जो अन्य पशुओं से भिन्न इसके दैवीकरण से और इन्द्र के पास वाजश्रवा[33] नामक एक विशिष्ट घोड़े की पौराणिक कथा से तो प्रकट होता ही है, विश्वामित्र द्वारा श्यामकर्ण घोड़े की दुर्लभ दक्षिणा माँगने की कथा में भी प्रतिबिम्बित है[34], जिसमें घोड़े के कान का रंग लाक्षणिक रूप में आया है और महत्व घोड़े की नस्ल का ही है। घोड़े का मूल्य 1000 गो होना भी इसकी इसी दुर्लभता की कहानी कहता है।[35]

यदि आर्य आरम्भ से ही घोड़े से परिचित होते तो वे यह नहीं कहते कि उनका अश्व कभी घोड़ा न होकर गधा था। गधे के लिए अश्व शब्द बाद तक लाक्षणिक रूप से प्रयोग में आता रहा। वदिकों की यह स्वीकारोक्ति कि उनसे पहले घोड़े से गन्धर्व या अफ़ग़ानिस्तान (कंदहार) क्षेत्र के लोग परिचित थे, दो बातों की सूचक है—एक यह कि वे भारत में ही अपने विकास के एक विशेष चरण पर पहुँच कर उन्नत क़िस्म के, या कहें स्तेपी के, घोड़ों से परिचित हुए थे; और दूसरा, गन्धर्वों से उनका सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध उनकी सम्पन्नता और उनके साथ व्यापारिक सम्पर्क के कारण तो था, पर वे स्वयं गन्धर्व नहीं थे, कभी गन्धार क्षेत्र से आये नहीं थे। अतः अश्वारोही भारोपीय संस्कृति और अश्वारोहण के कारण आर्यों की हड़प्पा पर विजय—ये दोनों ही एक मिथ्या प्रवाद से अधिक कोई महत्व नहीं रखते।

वैदिक जन घोड़ों से परिचित थे, पर उसी रूप में और उसी सीमा तक जिस रूप में और जिस सीमा तक हड़प्पावासी घोड़े से परिचित थे, और इस दृष्टि से दोनों में कोई भिन्नता नहीं पायी जाती।

जहाँ तक लोहे का प्रश्न है, शैफ़र ने इस बात का निर्णायक प्रमाण पेश किया है कि हड़प्पावासी लोहे से परिचित थे, यद्यपि इसका उपयोग बहुत सीमित, कहें विरल, रूप में ही हो रहा था।[36] लोहे का प्रचलन शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल तक बहुत सीमित रहा लगता है, क्योंकि शतपथ में ताँबे के छुरे से

मुंडन करने का ज़िक्र आता है।[37] ऋग्वेद में अयस के फलक वाले वाणों का उल्लेख है, पर इसको आलवंत या लाल रंग का बताया गया है[38] जिसका अर्थ यह है कि 'अयस्' शब्द का प्रयोग लोहे के लिए न होकर ताँबे आदि के लिए होता था। फिर, इस दशा में अन्य भारोपीय भाषाओं में लोहे के लिए अयस् से साम्य रखने वाले शब्दों के प्रचलन का क्या कारण है? स्पष्ट है कि भारत उन क्षेत्रों या केन्द्रों से किसी सूत्र से उस काल तक सम्पर्क में बना रहा था जब अयस् का प्रयोग केवल लोहे के लिए होने लगा और यह सूत्र आक्रमण नहीं, अपितु व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्पर्क का ही हो सकता है।

इस तरह हम पाते हैं कि अल्पसंख्यक आर्यों के घोड़े और उन्नत औद्योगिकी लेकर आने की कल्पना भी निस्सार है और इससे भी वैदिक सभ्यता के भारत में विकास और बाद में भारत से बाहर जाने की पुष्टि होती है।

5

दो आक्रमणों की कथा

हार्नले ने भारतीय आर्य-बोलियों के विश्लेषण के बाद यह पाया कि मध्य देश की भाषाएँ अपने चारों ओर की भाषाओं से कुछ भिन्नता रखती हैं—परिमंडल की आर्य-भाषाओं में कुछ ऐसी समानताएँ पायी जाती हैं जो मध्यदेश की भाषाओं में उपलब्ध नहीं हैं। इसके आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि आर्यों के दो आक्रमण हुए थे। पहला जत्था आकर गंगा के पश्चिमी दोआबे में बस गया। इसके बाद आर्यों का एक दूसरा जत्था आया और इसने पहले बसे लोगों को हरा दिया और हारे हुए लोग इस मध्यदेश के चारों ओर—दक्षिण, पूर्व, उत्तर और पश्चिम में—बिखर गये।[39] दुहरे आर्य-आक्रमण का समर्थन ग्रियर्सन और रिज़ली ने भी किया।[40] ग्रियर्सन ने भारतीय आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए परिमंडल में आने वाली भाषाओं को 'आउटर बैंड' का नाम दिया। इस-समूह में पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, पहाड़ी अंचल की बोलियाँ, बिहारी हिन्दी, असमिया, बँगला और ओडिया आती हैं। मध्यदेश की भाषा पश्चिमी हिन्दी या खड़ी बोली है।

इसमें सन्देह नहीं कि परिमंडल की इन बोलियों में अनेक ऐसी समानताएँ हैं जो इनके बीच पाये जाने वाले अन्तराल के बावजूद बनी हुई हैं और सम्भवतः बहुत पहले भी स्थिति इससे भिन्न नहीं थी। इसका कोई समाधान तो अपेक्षित था ही और आर्य-आक्रमण की बलवती कल्पना के बाद इसका समाधान भी इस तरह करना था ताकि इस कल्पना में कोई व्यवधान न पड़े। यह काम हार्नले और ग्रियर्सन आदि ने कर दिखाया।

पर यह कैसा आक्रमण था कि इन बोलियों के बोलने वाले इतने करीने से मध्यदेश के चारों ओर बिखर गये जैसे ठीक ऊपर से किसी भारी पिंड के गिरने पर पानी चारों ओर फैल जाये और पिंड के लिए जगह बना दे? यह दूसरा आक्रमण निश्चय ही विश्व के आक्रमणों के इतिहास में एक चमत्कार ही कहा जायेगा। सुनीति कुमार चाटुर्ज्या इसे आक्रमण न मानकर आव्रजन मानते हैं[41], पर उस दशा में भी पहले से बसे लोगों का बाद में आने वाले लोगों के लिए अपना घर ख़ाली करके चल देना और उनको चारों ओर से घेरकर अपेक्षाकृत असुविधाजनक क्षेत्रों में जाकर बस जाना चमत्कार में कुछ इज़ाफ़ा ही करता है। यह आक्रमण किस रूप में हुआ कि मध्यदेश में पहसे से बसे हुए लोग उस दिशा में भी बढ़ गये जिस दिशा से आक्रमणकारियों का आगमन हुआ था? हार्नले की समझ से दूसरा आक्रमण या प्रवेश सीधे कील की तरह मध्यदेश में उतर गया। यह आक्रमण मध्यदेश में कील की तरह सीधे उतर गया होगा या नहीं, इस पर विवाद की गुंजाइश है, पर आक्रमण की मान्यता इस तरह के विद्वानों के ज़ेहन में कील की तरह उतर गयी थी, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

हार्नले और ग्रियर्सन की इस मान्यता का समर्थन रामप्रसाद चन्द ने नृतात्विक आधार पर किया था। उनके अनुसार बाहरी परिमंडल के आर्य लघुकपाल थे, और बाद में आये आर्यों से भिन्न रक्त के थे। मध्य क्षेत्र के आर्य लम्बशीर्ष थे। रक्त का यह अन्तर ज्यों-का-त्यों भाषा में भी बना रह गया। पहली जमात के आर्यों में जाति, वर्ण और धर्म की वे बातें नहीं थीं जिनको आर्यों से जोड़ा जाता है। यह सब उन्होंने अपने नवागत बन्धुओं से लिया।[42] ग़रज़ कि भारोपीय भाषा किसी ऐसे क्षेत्र में नहीं बोली जाती थी जिसमें लघुकपाल और लम्बशीर्ष दोनों प्रकार के लोग बसते थे, अपितु दो स्पष्टतः अलग नृजातियों में बोली जाती थी जिनमें सिर्फ़ भाषागत साम्य था, वह भी आभासिक, और इनमें से पहला आक्रमण लघुकपाल जनों के द्वारा हुआ और फिर लम्बशीर्षों की बारी आयी या सम्भव है, इन दोनों आक्रमणों के बीच मूल देश में लघुकपाल ही लम्बशीर्ष हो गये हों, पर भारत में पहुँचने के बाद लघुकपालों ने अपने सिर की आकृति में परिवर्तन करने से इनकार कर दिया हो।

डॉ० चाटुर्ज्या ने इस मान्यता की कमियों की ओर संकेत किया है। वह लिखते हैं कि जहाँ तक गुजरातियों, बिहारियों और बंगालियों का सवाल है, ये द्रविड़, आर्य और कोल रक्त के मिश्रण हैं। वह लहँदी-भाषियों की शरीर-रचना की ओर संकेत करते हैं कि इस दृष्टि से ये कान्यकुब्ज ब्राह्मणों जैसे हैं जबकि न केवल बाहरी वर्ग में आते हैं अपितु इनके प्रति भी मध्यदेशीय आर्यों का वही भर्त्सनापूर्ण रुख़ रहा है जो मागधों आदि के प्रति। और "इसके अलावा केवल कपाल की माप पर आधारित जाति-विभाजन को आज निर्णायक नहीं माना जाता।"[43]

इसके अलावा जिन्हें हार्नले आदि ने बाहरी मंडल में रखा है, मुमकिन है, वे आर्य रहे ही न हों।[44] चाटुर्ज्या इस भाषिक विभेद का एक दूसरा समाधान वैदिक काल में अनेक आर्य-बोलियों के प्रचलन के रूप में देते हैं और मानते हैं कि "इनमें से कुछ दूसरी बोलियों से या वंश-गत कारण से या स्वतंत्र विकास के कारण या फिर एक-दूसरे पर प्रभाव के कारण परस्पर अधिक समानता रखती हैं।"[45]

डॉ० चाटुर्ज्या की आलोचना हार्नले और ग्रियर्सन आदि की मान्यता की दुर्बलताओं को तो सामने लाती है और इसमें चन्द द्वारा दिये गये नृतात्विक समाधान की सीमाओं का भी उद्‌घाटन किया गया है, पर वह मूल समस्या का कोई तर्कसंगत समाधान नहीं दे पाते। उन्हें इस बात का स्पष्ट समाधान करना था कि अन्तर्वर्ती दूरियों के बावजूद इन सभी बाहरी बोलियों में कतिपय समान लक्षण कैसे पैदा हो गये? वैदिक काल में अनेक बोलियों के प्रचलन से इस बात का समाधान कैसे हो जाता है कि इन बोलियों में परस्पर अधिक निकटता रखने वाली बोलियाँ ही मध्यदेश में जमी रह गयीं और शेष इनको घेरकर फैल गयीं और इसके बावजूद इन अपेक्षाकृत अधिक भिन्नता रखने वाली बोलियों तक ही वे समान लक्षण सीमित रह गये? हार्नले, ग्रियर्सन और चाटुर्ज्या द्वारा परिकल्पित चित्र में आर्य सीधे मध्यदेश में दाख़िल हुए और चाटुर्ज्या के अनुसार तो हड़प्पावासियों के डर से आर्यों ने उधर को रुख़ ही नहीं किया, पर जैसा कि कीथ का विचार है, वैदिक साहित्य से इसकी पुष्टि नहीं होती—वह सरस्वती के क्षेत्र में रचा गया था।[46]

इस भाषिक चित्र से उभरने वाले प्रश्न का एक ही समाधान हो सकता है, जिसकी ओर आर्य-आक्रमण की कल्पना के कारण ध्यान ही नहीं दिया गया। वह यह कि वैदिक भाषा का विकास किसी एक जाति की बोली से नहीं हुआ। सभ्यता के विकास के क्रम में आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के कारण उस केन्द्रीय क्षेत्र में जहाँ यह विकास आरम्भ हुआ, एक सम्पर्क भाषा का उदय विभिन्न स्थानीय बोलियों के विलय के कारण सम्भव हुआ। यह केन्द्र सारस्वत क्षेत्र था। यहीं वैदिक संस्थाओं, मूल्यों, विश्वासों, सामाजिक व्यवस्थाओं आदि का विकास हुआ और इसका विस्तार अपने चतुर्दिक होता गया और लगभग मिलती-जुलती बोलियों वाले इस भूभाग में जिसमें अनेक मामलों में समान तत्व पहले से मौजूद थे, इस भाषा के स्वीकार किये जाने के साथ वर्तमान आर्य-भाषा क्षेत्र की बोलियों में व्यापक एकरूपता क़ायम हुई। केन्द्र में अतिसंस्कृतीकरण के कारण अनेक ऐसे तत्व जो पहले यहाँ की बोलियों में विद्यमान थे, दब कर समाप्त हो गये, जब कि परिमंडल की बोलियों में ये लक्षण आज तक बने रह गये हैं। स्वयं वैदिक काल में भी अनेक वैदिक बोलियों का प्रचलन मूल स्थानीय बोलियों की अपनी विशिष्टताओं के कारण ही था और यह विशेषता समूचे ऐतिहासिक काल में बनी रही है।

इस तरह भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी हम किसी आक्रमण या आव्रजन की मान्यता को खंडित होते पाते हैं। भारतीय भाषाओं में पायी जाने वाली भिन्नताओं और सादृश्यों को भी तभी सही रूप में समझा जा सकता है जब हम वैदिक सभ्यता के विकास की परिस्थितियों को सामने रखें, न कि इसे बनी-बनायी लाकर आरोपित करने की कोशिश करें।

6
आक्रमण और जन-युद्ध

आर्यों के जिस आक्रमण की बात बार-बार दुहरायी जाती है उसका सार यह है कि आर्य-आक्रमण और विजय का रूप चाहे जो भी रहा हो, पर अपनी विजय के बाद न तो उन्होंने कोई नगर बसाया, न ही किसी एक केन्द्र में अपनी शक्ति का केन्द्रीकरण किया। इसके विपरीत वे सीधे ग्रामीण क्षेत्रों में फैल कर अपने ढोर चराने और मामूली क़िस्म की खेती वगैरह करने लगे। यह कुछ सैद्धान्तिक समस्याएँ पैदा करता है जिन पर ध्यान देना ज़रूरी है।

वैदिक जनों को हड़प्पा के नगरों को छोड़कर ग्रामीण अंचल में पहुँच जाने का औचित्य यह कह कर सिद्ध किया जाता रहा है कि वे नगर-जीवन के अभ्यस्त नहीं थे। नगर-जीवन के अनभ्यस्त और अपनी ख़ानाबदोशी में ही प्रसन्न रहने वाले कबीलों की कमी कभी नहीं रही है, पर इस ख़ानाबदोशी के कारण वे बहुत बड़े पैमाने पर एकजुट भी नहीं हो सकते जो कि किसी सुनियोजित आक्रमण की पहली शर्त है। यदि कभी किसी पैमाने पर उनके गिरोह बने हैं और उन्होंने किसी क्षेत्र पर आक्रमण किये हैं तो विजय के बाद वे भी नगरों में ही बसे हैं। इसकी मिसाल अफ़ग़ान, शक और हूण हैं। यह किसी भी विदेशी विजेता की एक लाचारी है, कारण - किसी एक केन्द्र में अपना प्रभावशाली जमाव करके ही वह अपनी रक्षा कर सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में बिखरने के बाद उन लोगों का भी जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता जिनकी बिरादरी के लोग किन्हीं केन्द्रों में प्रभावशाली रूप में जमे हुए हों और संकट की घड़ी में उनकी सहायता कर सकते हों। बिना इस तरह के जमाव के बिखरे हुए हमलावरों का जीवन तो सुरक्षित माना ही नहीं जा सकता।

दूसरे, वैदिक काल के लिए नियत समय के आस-पास या इससे पहले पश्चिमी एशिया के जिन भी स्थलों से 'आर्यों' की उपस्थिति की पुष्टि होती है वहाँ वे नगरों में बसे दिखायी देते हैं और स्थानीय शासन की बागडोर सँभाले मिलते हैं। केवल भारत में प्रवेश करने वालों में नगरों के प्रति इतनी गहरी अरुचि क्यों पैदा होने लगी?

फिर कल्पना करें कि ये लोग अपने रेवड़ों के साथ आ रहे हैं। क्या आक्रमणकारियों के रूप में आने वाले ये लोग अपने रेवड़ों की सुरक्षा के लिए चिन्तित होने की बजाय आक्रमणकारियों की शक्ल ले लेंगे ? इन रेवड़ों को लेकर आने वालों की मार्ग की कठिनाइयों की कल्पना करना भी ज़रूरी है और साथ ही इस बात पर ध्यान देना भी ज़रूरी है कि क्या ख़ानाबदोशों ने भी कभी अपने ढोर-डंगरों को साथ लेकर किसी क्षेत्र पर हमला किया है ?

इसका एक विकल्प यह हो सकता है कि वे गाय और भेड़-बकरी लेकर न आये हों और केवल घोड़ों पर सवार होकर आये हों और अपनी विजय के बाद स्थानीय जनता के पशुधन को लूट कर चरवाहों में बदल गये हों। पर एक तो प्रस्तावित योजना में यह सुझाया जाता है—यद्यपि यह ठीक नहीं है—कि वे घोड़ों की पीठ पर सवारी करते ही नहीं थे, उन्हें मात्र रथों में जोतते थे और रथों को लेकर पश्चिमोत्तर की पहाड़ी बाधाओं को पार करने की बात निर्बन्ध कल्पना की ही उपज हो सकती है; दूसरे, इस स्थिति में भारत में आकर बिखरने के बाद उनको स्थानीय किसानों और चरवाहों की ज़मीन और पशुधन को लूटना-छीनना होगा और इससे स्थानीय जनता के आक्रोश का सामना करना पड़ेगा। जनता के उग्र रूप धारण करने पर ये बिखरे हुए लोग, विशेषतः किसी एक केन्द्र में भारी जमाव के अभाव में, साफ़ कर दिये जायेंगे।

दूसरे शब्दों में कहें तो, यदि हड़प्पा सभ्यता के अपने नगर न होते या वे नष्ट हो चुके रहे होते तो भी कम-से-कम इन 'आक्रमणकारियों' द्वारा अपनी सुरक्षा के तक़ाज़े से ही नगर बसाये जाने चाहिए थे, जहाँ केन्द्रित रह कर वे स्थानीय विद्रोह का दमन कर सकते। दूसरे, इन केन्द्रों पर क़ब्ज़ा कर लेने के बाद भी वे कर आदि की उगाही से अपना प्रभुत्व तो क़ायम रख सकते थे, पर सीधे देहातों में जाकर खेती और पशुपालन नहीं कर सकते थे।

अतः यदि ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों से ही स्थानीय भूसम्पदा और पशुधन पर वैदिक किसानों और चरवाहों का ही आधिपत्य दिखायी देता है तो इसका अर्थ है, वैदिक किसान और चरवाहे स्वयं हड़प्पा सभ्यता के किसान और चरवाहे थे और इनको आक्रमणकारी मानना ग़लत है। जिन असम्भव बातों का दूसरा कोई उदाहरण कहीं नहीं पाया जाता उनको लादते हुए भारत पर आक्रमण की मान्यता पर अडिग रहने वाले पंडितों के आत्मविश्वास की जितनी भी सराहना को जाये, उनके विवेक पर भरोसा नहीं किया जा सकता। अपने रेवड़ साथ लिये आने वाले आक्रमणकारी, रथ पर सवार होकर पर्वत पार करने वाले आक्रमणकारी, नगरों के प्रति अरुचि रखने के कारण सीधे देहातों में जाकर बस जाने वाले आक्रमणकारी, आर्य नाम से अपने को अभिहित करने वाले आक्रमणकारी उस मनोविलास की देन हैं जो तर्क के बन्धन को नहीं मानता।

8

हड़प्पा सभ्यता पर हमला

हड़प्पा सभ्यता की खोज से पहले तक भारत पर जिस आक्रमण की कल्पना की जाती थी उसके अनुसार वैदिक आक्रामकों का भारत में जिन शत्रुओं से मुक़ाबला हुआ वे यहाँ के चपटनास मूल निवासी थे। इसका आधार यह था कि ऋग्वेद में जिन संघर्षों के उल्लेख बार-बार आते हैं उनमें वैदिक अपने शत्रुओं को तम[47], तमोवृध[48], राक्षस[49], पिशाच[50], क्रव्याद[51]—कच्चा मांस खाने वाले, स्तेन[52], तस्कर[53], दस्यु[54], धूर्त[55], दुःशंस[56]—दुर्भावनाग्रस्त, अत्रि[57]—भक्षक, मन्यमान[58], अभिमाती[59], अधम[60], अधशंस[61], दुःशेव[62], जिघांसु[63], व्यथी[64], उब्ज[65], ध्वरस[66]—ध्वंसकारी, मूर[67]—मूर्ख, अभृण[68]—कर्कश चीत्कार करने वाले, रिष[69]—हिंसक, दुच्छु[70], दुखदायी, अभिद्रुह[71]—द्रोह करने वाले, पृतन्यु[72]—लड़ाकू, अचित[73], शर्ध[74], भंगुरावत[75], निरामिण[76]—घुमक्कड़, मायावी[77], किमीदिन[78], अनप्नस[79]—कंगाल; अभिह्रुत[80]—कुटिल, मृध्रवाच[81]—अशुद्ध उच्चारण करने वाले, देवनिद[82] या निद[83]—निन्दक, अयज्यू[84]—यज्ञविरत, अव्रत[85]—निकम्मे, अकर्म[86]—निकम्मे, दुष्कर्मी, अन्यव्रत[87]—भिन्न मत वाले, तायु[88]—आततायी, विद्वेषी[89], द्वेषधत्त[90], द्विष[91], अमित्र[92], वृक[93], द्वयाविन[94]—दिन-रात लूटने वाले, अनिन्द्र[95]—अनीश्वर, यातुधान[96], वनर्गू[97]—जंगली, हुरश्चित[89]—चोर, मुषीवान[99]—चोर, मलिम्लुच[100]—चोर, आदि कह कर पुकारते हैं। इनमें से कुछ शब्द निश्चय ही मात्र शत्रुता के द्योतक हैं और इनसे वैदिक जनों के शत्रुओं के सांस्कृतिक स्तर की कोई झलक नहीं मिलती, पर शेष से उनके असभ्य, जंगली और नितान्त पिछड़े होने की सूचना मिलती थी। इन आदिवासियों को काले रंग, ठिगने आकार और चपटी नाक वाला कल्पित किया गया था[101] और इनके विपरीत, आर्यों को गोरे रंग, लम्बे क़द और ऊँची नाक वाला माना गया था। यदि 'आर्य आक्रमणकारी' किसी भी रूप में तत्कालीन शासकों से सम्बन्ध रखते थे तो उनकी नाक तो ऊँची रहनी ही चाहिए थी।

परन्तु हड़प्पा सभ्यता की खोज के बाद यह तिलस्म टूट गया। अब यदि आर्यों का स्तर उसके कुछ आस-पास ही था जिसकी इससे पहले कल्पना की गयी थी, तो भारत में एक ऐसी सभ्यता का पता चल गया था जिसके सामने आर्य स्वयं असभ्य माने जा सकते थे। हड़प्पा सभ्यता के साथ वैदिक जनों का तालमेल एक कठिन समस्या पैदा कर रहा था। यदि इस समस्या पर तटस्थतापूर्वक विचार किया गया होता तो यह तय करने का प्रयत्न किया गया होता कि वैदिक कवि जिन शत्रुओं को वनर्गू, क्रव्याद, पिशाच, मूर, अभृण, व्यथी, शर्ध, भंगुरावत, ध्वरस, निरामिण, अनप्नस, अकर्म, यातुधान, हुरश्चित, मलिम्लुच, मुषीवान

आदि कह रहे थे, क्या वे हड़प्पा के लोग हो सकते थे ? क्या वे हड़प्पा सभ्यता के नष्ट होने के बाद उसके उजड़े हुए किसान और कारीगर आदि हो सकते थे ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर केवल 'नहीं' में दिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में एक तीसरा सवाल उठता था कि चूँकि वैदिक कवि ठीक उसी क्षेत्र में आबाद हैं और वहीं से अपने अभियोग-आरोप लगा रहे हैं जिसको असन्दिग्ध रूप से हड़प्पा सभ्यता का क्षेत्र कहा जाता है, ऐसी स्थिति में, क्या वे स्वयं हड़प्पा सभ्यता के नागरिक हैं, और क्या उनकी शिकायतें उन जंगली और पिछड़े हुए कबीलों और अपने समाज के चोर-लुटेरों तथा उनके व्यापारिक मार्ग में संकट पैदा करने वाले देशी-विदेशी तत्वों से हो सकती है ? अन्तिम प्रश्न एक मात्र ऐसा प्रश्न था जिसका उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता था। यह उत्तर इसलिए भी सबसे अधिक तर्कसंगत था कि मार्शल, जिनको इस समस्या पर अपना मत प्रकट करने की लाचारी का सामना करना पड़ रहा था, स्वयं भी यह लक्ष्य कर रहे थे कि हड़प्पा सभ्यता के सांस्कृतिक तत्व वैदिक परम्परा में सुरक्षित पाये जाते हैं।[102]

आगे के अनुसन्धानों से यह सिद्ध हुआ कि हड़प्पा सभ्यता की अतिजीविता दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य तक बनी हुई थी[103]. सन् 1946 और 1950 के बीच हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में हुई खुदाइयों से सामने आये नये कालांकनों के आधार पर आर्यों के आव्रजन से सम्बन्धित साहित्यिक परम्परा पर पुर्नविचार करना अपेक्षित हुआ[104] और इसका सार यह निकल कर आया कि हड़प्पा सभ्यता के विनाश के अन्य जो भी कारण रहे हों, इनमें से एक कारण हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो पर आर्यों का आक्रमण अवश्य था। अब ऋग्वेद में प्राप्त विवरणों का एक नया पक्ष सामने आया, "ऋग्वेद में ये आक्रमण निरन्तर आदिवासियों के प्राकार-वेष्ठित नगरों पर प्रहार का रूप लेते जाते हैं। इन नगरों को पुर कहा गया है, जिसका अर्थ है 'प्राचीर', 'दुर्ग', 'गढ़'। एक को विशाल 'पृथिवी' और विस्तृत 'उर्वी' कहा गया है। कभी-कभी गढ़ को रूपकीय शैली में धातु-निर्मित 'आयसी' कहा गया है। शारदी दुर्गों का भी उल्लेख है, 'इनका सम्बन्ध आर्य-आक्रमण में इस मौसम में जीते हुए दुर्गों से हो सकता है या उमड़ती नदियों से बचाव के लिए बने बाँधों से हो सकता है।' 'शतभुजी' या सौ दीवारों वाले दुर्गों का भी उल्लेख है। कोट पत्थर का 'अश्ममयी' हो सकता था; साथ ही 'आमा' — कच्चा, अपक्व— की उपमा से प्रकट होता है कि कच्ची ईंटों का भी प्रयोग होता था। आर्यों के युद्ध का देवता इन्द्र 'पुरन्दर' (दुर्ग-भंजक) है। उसने अपने आर्य उपासक दिवोदास के लिए नब्बे क़िलों को ध्वस्त किया था। अन्य सूक्तों में जहाँ बार-बार आदिवासी नेता शम्बर की निन्यानबे और सौ पुरियों को ध्वस्त करने के उल्लेख हैं, वहाँ भी तात्पर्य इन दुर्गों से ही है। संक्षेप में कहें तो, वह दुर्गों को उसी तरह विदीर्ण कर देता है जैसे जीर्णता वस्त्र को।"[105]

ह्वीलर आगे लिखते हैं, "अभी हाल तक यह माना जाता था कि ये कोट मिथकीय हैं, या ये 'हमले से बचाव के लिए बने शरणस्थल हैं जो पक्की ईंट के बाँध और खाई थे।' हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में क़िलेबन्द कोटों की खोज से—मकरान में सुत्कागेनदोर, सिन्ध में अली मुराद और सन्दिग्ध कालों के दूसरे ऐसे स्थलों से जिन्हें हड़प्पा सभ्यता का माना जाता है—इन बचावों की तसवीर बदल गयी है। यहाँ हमें मूलतः अनार्य किस्म की अति विकसित सभ्यता मिलती है, जिसके विषय में आज हम जानते हैं कि इसमें विशाल क़िलेबन्दी का उपयोग होता था और जो आर्यों के आक्रमण के सम्भावित काल से कुछ ही पहले पश्चिमोत्तर भारत की नदियों की उपत्यकाओं में छायी हुई थी। इस मज़बूती से जमी हुई सभ्यता का विनाश कैसे हुआ? मुमकिन है इसे मौसम, अर्थव्यवस्था व राजनीतिक गिरावट ने कमज़ोर कर दिया हो; निश्चय ही मोहनजोदड़ो के उत्तरवर्ती चरणों में नागरिक स्तर में भारी गिरावट आयी थी, जहाँ से इसके प्रचुर प्रमाण पाये जाते हैं।... फिर भी इस बात की सम्भावना मानी जा सकती है कि इस प्रकार के किसी समाज का अन्तिम विलय बाहरी कारणों से हुआ होगा। और ऐसा ही हुआ।"[106]

इसके बाद ह्वीलर मार्शल[107] और मैकाय[108] का हवाला देते हुए मोहनजोदड़ो और हड़प्पा पर हुए आक्रमण और नरसंहार की एक जीती-जागती तसवीर गढ़ते हैं और अन्त में निष्कर्ष निकालते हैं कि "परिस्थितियाँ इस बात की गवाह हैं कि इस हत्या का दोष इन्द्र पर आता है। कारण—यदि इसे अमान्य कर दिया जाये तो हम हड़प्पा को छोड़ कर वे क़िले वग़ैरह कहाँ से लायेंगे जिन्हें इन्द्र ने ध्वस्त किया था?"[109]

यह सारा हत्या का मामला था या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है। इस हत्याकांड की बारीकी से छानबीन करने पर अधिकारी विद्वान इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि यह कोरा मिथक है।[110] उन्होंने हड़प्पा के पतन के इतर कारण सुझाये हैं। स्वयं ह्वीलर ने भी आगे चलकर अपनी ग़लती को कुछ हद तक स्वीकार करते हुए माना कि यह बिना गहराई से विचार किये हुए, झटके में की गयी एक अटकलबाज़ी मात्र थी।[111] इसके बावजूद कुछ विद्वान इस हत्याकांड को एक सम्भावना मानते हैं।[112]

यहाँ हमारा सम्बन्ध इस बात से नहीं है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो पर हमला हुआ था और उसके दौरान हत्याएँ हुई थीं या नहीं। प्रश्न यह है कि यदि ऐसा हुआ भी तो इन दुर्घटनाओं के भोक्ता कौन थे? इसके साथ ही यह विचारणीय हो सकता है कि आतंककारी जमात का सम्बन्ध किससे रहा हो सकता है?

ह्वीलर ने जो सबसे दिलचस्प काम किया वह यह कि उन्होंने हड़प्पा सभ्यता के अतिजीवी अंशों के लिए सुझाये गये समय को हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के पतन

से जोड़ दिया। बाद के जिन कालनिर्धारणों में स्वयं ह्वीलर के अनुसार भी हड़प्पा काल को काफ़ी आगे खींच लाया गया है और इसमें सुधार करते हुए इसे काफ़ी पीछे ले जाने की ज़रूरत है, उनके अनुसार भी परिपक्व हड़प्पा का काल अठारहवीं शताब्दी ई० पू० से नीचे नहीं आता[113] और ह्वीलर के मत से इसे 2500-2000 ई०पू० के बीच रखना अधिक तर्कसंगत है।[114] अतः आर्य-आक्रमण की पूर्व-कल्पित तिथि में बहुत भारी फेर-बदल किये बिना हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर-वासियों से 'आर्य आक्रमणकारियों' का सम्पर्क नहीं कराया जा सकता था। यदि आक्रमण की तिथि को लगभग पाँच या आठ सौ वर्षों तक पीछे खींचा जा सकता है तो फिर यह आक्रमण, जिसका कोई प्रमाण कहीं नहीं है, एक प्रेतछाया की तरह हर निर्णायक बिन्दु पर बाधक क्यों बनता रहा ? फिर हड़प्पावासियों और वैदिक जनों की अभिन्नता पर एक बार गम्भीरता से विचार क्यों न किया गया ? कारण, जैसा कि हम देख आये हैं, आर्यों का टकराव जिन कबीलों से था वे सभ्य थे ही नहीं। वे आचार, विचार, उत्पादन, नैतिक मानदंड—सभी दृष्टियों से वैदिक जनों से पिछड़े दिखाये गये हैं और ऐसे लोग हड़प्पा सभ्यता के नागरिक तो हो ही नहीं सकते थे। निश्चय ही वे 'सिविलाइज़्ड डेमन' नहीं हैं जैसा कि मालती शिंडे ने मान लिया है[115], बल्कि अपने पूरे क्रिया-कलाप, गुण आदि की दृष्टि से असभ्य हैं। ये उनके वंशधर भी नहीं हो सकते थे। वैदिक जनों के शत्रु सभ्यता में उनसे आगे बढ़े हुए थे, यह भ्रम पुर शब्द की ग़लत व्याख्या पर, और इसके साथ ही इस भ्रान्ति पर टिका हुआ है कि स्वयं वैदिक आर्य पुरों से अपरिचित थे या यदि पुरों से उनका कोई सम्बन्ध था तो इनके ध्वंसक के रूप में ही। इस पहलू पर हम आगे चल कर विचार करेंगे; कारण, इनका सम्बन्ध व्यापारिक यात्राओं के क्रम में वैदिक बेड़ों और सार्थों पर हमला करने वाले तस्करों और जलदस्युओं के पोतों और जत्थों से है। परन्तु यहाँ इस बात की ओर संकेत कर देना उचित है कि यदि ह्वीलर ने पुरन्दर इन्द्र को दिवोदास के लिए शम्बर की पुरियों या दुर्गों का ध्वंसक मान भी लिया था तो उन्हें इस बात का ध्यान तो रखना ही चाहिए था कि स्वयं दिवोदास की स्थिति हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सापेक्षता में क्या है ? वह सरस्वती तट का निवासी है और इससे पहले से उसके पूर्वज सरस्वती तट पर विराजमान हैं।[116] इस दृष्टि से यदि इसे नगरों या दुर्गों पर हमला माना भी गया तो कम-से-कम यह हमला भारत में ही बसे दो प्रतिस्पर्धियों में से एक के द्वारा दूसरे पर माना जाना चाहिए था, जिसकी दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर थी, न कि पश्चिम से पूर्व की ओर। दूसरे शब्दों में कहें तो, साहित्यिक साक्ष्यों का पुरातात्विक साक्ष्यों की रोशनी में नया अर्थ करने से पहले ह्वीलर ने इस साक्ष्य के अन्य पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया। हम कह सकते हैं कि ह्वीलर पुरातत्व के आदमी थे और वेद और संस्कृत का उन्हें ज्ञान नहीं था और उनके अज्ञान के लिए उन्हें क्षमा कर सकते हैं। पर

भारत पर बाहर से आर्य-आक्रमण की यह मान्यता तो पूरी तरह खंडित होनी ही है।

9

वैदिक सभ्यता का प्रसार-क्षेत्र

पश्चिमी भारत में वैदिक जनों के निवास के विषय में सबसे स्पष्ट विवरण ऋग्वेद के दसवें मंडल के नदी सूक्त में मिलता है जहाँ गंगा से लेकर सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदियों तक का उल्लेख आया है।[117] पूर्व से पश्चिम तक हड़प्पा का प्रसार-क्षेत्र ठीक यही है। उत्तर से दक्षिण की ओर को वैदिक क्षेत्र का प्रसार क्या था, इसके बारे में कुछ सूत्रों की ओर ध्यान देना ज़रूरी है। सरस्वती और सिंधु के प्रसंग में न केवल गिरि अर्थात हिमालय से इनके निकलने का उल्लेख पाया जाता है[118], अपितु इन पर्वतीय क्षेत्रों की वैदिक कवियों को अच्छी जानकारी थी। कारण, सरस्वती के विषय में वे दावा करते हैं कि यह पर्वत शिखरों को तोड़ती हुई उतरती है[119], जो आगे चलकर सरस्वती के ग्रहण क्षेत्रों में घटित होने वाले भूस्खलनों और इसके कारण सरस्वती की जलराशि के यमुना की ओर निकास पाने और सरस्वती के लोप से प्रमाणित होता है और सिन्धु के विषय में उनका दावा है कि यह मैदान की तुलना में पर्वतीय प्रदेश में अधिक लम्बी दूरी तक बहती है[120], जो भी कोरी अटकलबाज़ी नहीं है।

दक्षिण की ओर सरस्वती के समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित होने[121] और सिन्धु के अन्य नदियों के साथ (समुद्र की ओर) जाने के उल्लेख बहुत सार्थकता रखते हैं। इसके अतिरिक्त समुद्र में धन की लालसा से व्यापारियों के अपनी नौकाओं के साथ दौड़-भाग करने के विवरण पाये जाते हैं।[122] हम परवर्ती काल में गुजरात को आर्यवर्ज्य क्षेत्रों में परिगणित पाते हैं[123], जिससे यह भ्रम होता है कि यह क्षेत्र वैदिक-अधिकार-क्षेत्र से सदा से बाहर था। पर यहाँ इसका नाम 'सुराष्ट्र' एक समस्या खड़ी करता है। अपने लिए वर्जित क्षेत्र के लिए यह नाम उन्होंने उस समय तो निश्चय ही नहीं दिया होगा जब यह उनके लिए निषिद्ध हो चुका था। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिन्धु प्रदेश की तरह यह भी कभी उनकी गतिविधियों का केन्द्र था और उसी की तरह बाद में यह उनके लिए वर्जित हो गया था और इस वर्जना का कारण भी दोनों मामलों में एक ही था। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि काठियावाड को परवर्ती परम्परा यदुओं (वृष्णियों) की गतिविधियों काप्रमुख केन्द्र मानती रही है और यदुजन वैदिक काल के उन ख़ास जनों में आते हैं जिनके समुद्री यात्राओं पर जाने के उल्लेख बार-बार आते हैं। एस० आर० राव के निर्देशन में द्वारका क्षेत्र में समुद्र-तल में चल रहे सर्वेक्षणों और खुदाइयों ने न केवल हड़प्पा

और भारतीय पौराणिक विवरणों की संगति पर मुहर लगा दी है, अपितु हड़प्पा लिपि और ब्राह्मी की अन्तर्वर्ती कड़ियों को भी उजागर किया है। कुरुक्षेत्र को प्राय: जानु प्रदेश कहा जाता रहा है, जो भी इस बात का सूचक है कि वैदिक प्रसार क्षेत्र इससे दक्षिण की ओर काफ़ी आगे समुद्र-पर्यन्त फैला हुआ था। सबसे बड़ी बात यह कि जिन स्थलों से यज्ञ के प्रमाण मिले हैं उनमें लोथल एक है।

अब यदि इस पूरे भौगोलिक क्षेत्र का मिलान हम हड़प्पा सभ्यता के प्रसार-क्षेत्र (चित्र 2.1) से करें तो दोनों में अद्भुत साम्य पाते हैं। यह ठीक वहाँ तक पहुँचता है, और ठीक वहीं समाप्त होता दिखायी देता है, जहाँ हड़प्पा क्षेत्र। केवल आक्रमण केमामले में ही नहीं, भारत में ही स्थित दो भिन्न सभ्यताओं के रूप में भी इन की कल्पना करें तो क्षेत्रगत अभिन्नता हमारे लिए सबसे बड़ी चुनौती सिद्ध होगी। यह इस बात का प्रमाण है कि ये दोनों सभ्यताएँ अलग नहीं हैं, बल्कि सभ्यता एक ही है और इसके भौतिक अवशेषों को सामने रखने पर हम इसे हड़प्पा सभ्यता का नाम देते हैं और साहित्यिक साक्ष्यों को सामने रखने पर वैदिक सभ्यता कह कर पुकारते हैं। हड़प्पा सभ्यता को अलग मानकर चलते हैं तो यह तो स्वीकार करते हैं कि इसका भी एक विशाल साहित्य रहा होगा[124], पर साहित्य अवशेषों में ही नहीं, भारतीय पौराणिक परम्पराओं में भी ग़ायब दिखायी देता है और वैदिक आर्यों के साहित्य और भाषा को पकड़ कर चलते हैं तो हड़प्पा के पुरातात्विक साक्ष्यों का निषेध करते ही इसका कोई निश्चयात्मक अवशेष ही नहीं मिलता।

10

सम्पर्क-क्षेत्र

ऊपर प्रसार-क्षेत्र की अभिन्नता से जो चित्र तैयार होता है उसकी अनन्य पुष्टि हड़प्पा सभ्यता के सम्पर्क में आने वाले बाहरी देशों और वहाँ आर्य-भाषा और संस्कृति के अवशेषों से भी होती है। हड़प्पा सभ्यता का सम्पर्क व्यापारिक कारणों से बलूचिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, सोवियत मध्येशिया, सुमेरिया, मेसोपोटामिया, बेबीलोनिया और अक्काद आदि से था। यदि इससे आगे के क्षेत्रों में आर्य-भाषा के प्रसार के लिए यह माना जाये कि यह प्रसार हड़प्पा सभ्यता के विदेशी उपकेन्द्रों से हुआ हो सकता है तो हड़प्पा का सम्पर्क-क्षेत्र ठीक वही पड़ता है और सम्पर्क की गहनता का अनुपात भी ठीक वही रहता है जो भारत से बाहर आर्य-भाषा के प्रसार में प्रतिबिम्बित होता है। (चित्र 2.2)

इस पहलू पर ध्यान न देने के कारण विद्वान लोग आर्यों को जानें किन-किन क्षेत्रों से और जानें किन-किन रास्तों से भारत में पहुँचाने का प्रयत्न करते रहे हैं।

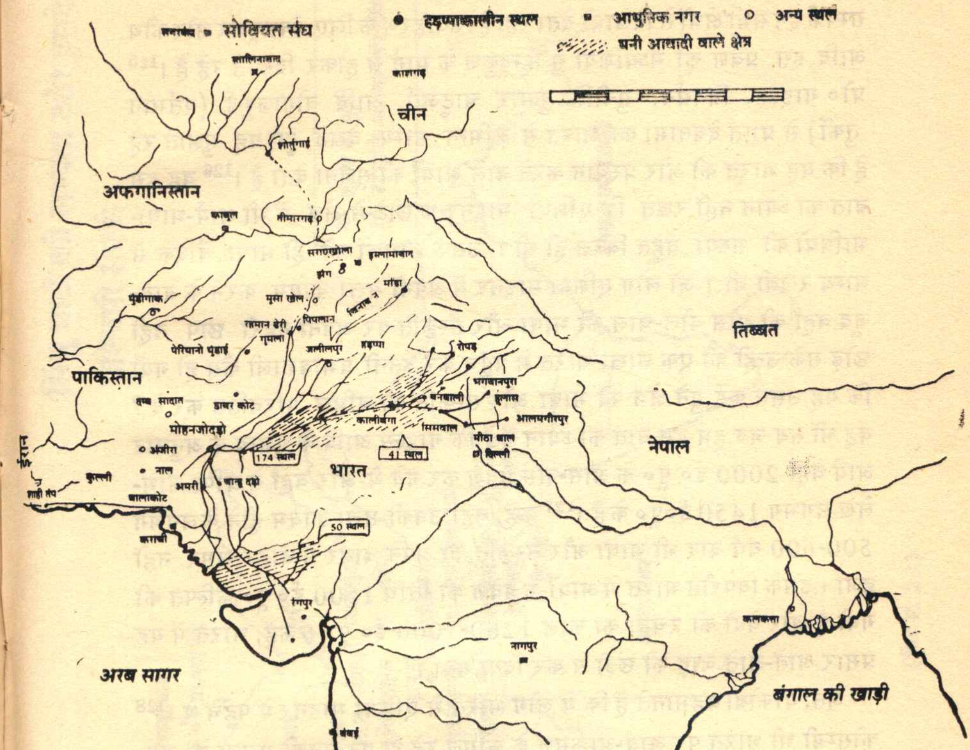

(चित्र सं. 2.1)

सरस्वती—घग्घर—हाकड़ा पर हड़प्पाकालीन आबादी

इसका कारण यह रहा है कि रास्ता तो कोई एक ही हो सकता था, जबकि प्रत्यक्ष सम्पर्क इन सभी क्षेत्रों से दिखायी देता रहा है। उदाहरण के लिए मैक्समूलर और कीथ आदि इस प्रवेश को मध्येशिया से हिन्दूकुश के मार्ग से होकर दिखाते रहे हैं।[125] प्रो० गाइल्स, ग्रियर्सन, सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, आदि बोग़ाज़कुई (वर्तमान तुर्की) से प्राप्त देवनामों का भारत से अभिन्न साम्य देखते हुए यह सुझाते रहे हैं कि यह भारत की ओर प्रस्थान करने वाले आर्यों की सूचना देता है।[126] वह इस बात का ध्यान नहीं रखते कि एशिया माइनर के छोटे-से-क्षेत्र में भी आर्य-भाषा-भाषियों की संख्या बहुत विरल ही थी। उसके शासकों की ही भाषा वैदिक से साम्य रखती थी। जो लोग एशिया माइनर में अपनी सत्ता क़ायम करने के बावजूद वहाँ की आम बोल-चाल की भाषा और संस्कृति पर अपनी गहरी छाप नहीं छोड़ सके उन्हीं की एक शाखा भारत में पहुँच कर इतनी प्रभावशाली कैसे हो गयी कि यह उससे कई गुने क्षेत्र की भाषा और संस्कृति को आमूल परिवर्तित कर दे? वह भी तब जब हम इस बात का ध्यान रखें कि गाइल्स आदि के सुझाव के अनुसार आर्य वहाँ 2000 ई० पू० के आस-पास प्रवेश कर गये थे और वहाँ से प्राप्त अभिलेख लगभग 1450 ई०पू० के हैं।[127] कहें, वहाँ उनकी सत्ता क़ायम होने के लगभग 500-600 वर्ष बाद भी भाषा और संस्कृति का अपने दायरे से बाहर असर नहीं हुआ। इसके विपरीत भारत में आर्यों के प्रवेश की तिथि 1500 ई० पू० कल्पित की गयी है और वेदों की रचना का काल 1200-1000 ई० पू०। कहें, भारत में यह प्रसार आते-आते जादू की छड़ी से कर दिया गया।

अत: याकोबी यह मानते हैं कि ये लोग भारत से एशिया माइनर में पहुँचे थे।[128] कोसम्बी भी भारत पर आर्य-आक्रमण के कायल रहे हैं, पर उनकी सूचना के अनुसार कुछ हित्ती मुहरों पर हड़प्पा सभ्यता के ककुद्मान वृषभ की आकृति अंकित है। इसके आधार पर वह मानते हैं कि आर्य-आक्रमणकारियों में से कुछ या तो भारत में पराजित होने के बाद एशिया माइनर की ओर लौटे थे, या इसलिए कि भारत उन्हें पसन्द नहीं आया।[129] जिस ककुद्मान वृषभ की आकृति से वह यह मानने को उत्सुक हुए थे कि यह आर्यों के भारत से लौटने का सूचक है, उसके आधार पर उन्हें मानना चाहिए था कि एशिया माइनर में पहुँचे लोग हड़प्पा सभ्यता से सम्बन्धित थे और तब उन्हें एशिया माइनर में हड़प्पा की भाषा की भी कुछ झलक मिल जाती और आर्य-आक्रमण की मान्यता पर भी पुनर्विचार का अवसर मिलता। कम-से-कम उन्हें यह तो मानना ही चाहिए था कि चूँकि एशिया माइनर में आर्यों का प्रवेश लगभग 2000 ई० पू० के हो चुका था, अत: भारत से वे इससे पहले लौटे होंगे और फिर कालक्रम की दृष्टि से ही उन्हें आक्रमण की बुनियाद खोखली और हड़प्पावासियों तथा वैदिक जनों के बीच का फ़र्क़ नक़ली मालूम होना चाहिए था।

सिंधु घाटी की सभ्यता और इसके पश्चिमी संपर्क

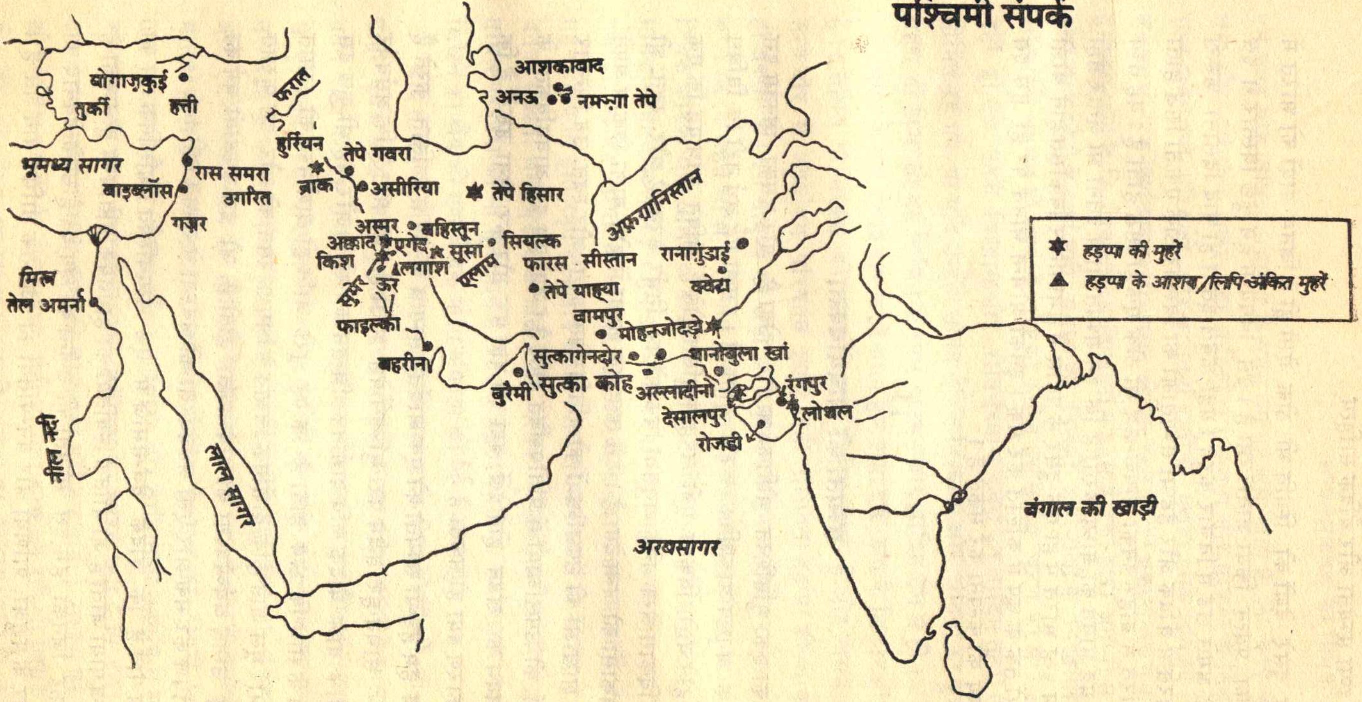

(चित्र सं. 2.2)

उन दूसरे देशों की स्थिति भी ठीक ऐसी ही है जिनसे आर्यों को भारत में पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता रहा है। इस विषय में हम कुछ विस्तार से इस पुस्तक के अगले खंड में विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना ही याद दिलाना ज़रूरी है कि भारत में वैदिक और हड़प्पा सभ्यताओं का विस्तार ठीक एक तो सिद्ध होता ही है, भारत से बाहर इनका सम्पर्क-क्षेत्र भी ठीक एक ही सिद्ध होता है। यह तथ्य पुनः हमें यह मानने को बाध्य करता है कि इन सभ्यताओं में इतना भी अन्तर नहीं है कि हम इन्हें भारत में ही एक-दूसरे के पड़ोस में समानान्तर विकसित होने वाली सभ्यताओं तक के रूप में कल्पित कर सकें। इनको अभिन्न मानने पर ही हम इस सर्वसादृश्य की कल्पना कर सकते हैं।

11

सभ्यता की आवयविकता

सभ्यता का एक सुनिश्चित भौतिक आधार होता है और उसका विकास इस आधार के अनुरूप आवयविक रूप में होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि विविध क्षेत्रों में होने वाले विकास पूरी तरह सन्तुलित होते हैं, अपितु मात्र यह कि एक क्षेत्र का विकास अन्य अनेक अनुसंगी विकासों पर निर्भर करता है और स्वतः भी अनेक विकासों को जन्म देता है। इस तरह एक शाखा में होने वाला विकास अपने से भिन्न शाखाओं की उपलब्धियों को प्रतिबिम्बित करता और स्वतः उन भिन्नतर शाखाओं की उपलब्धियों में प्रतिबिम्बित होता है। जहाँ हम इस आवयविकता के ध्रुव नियम का खंडन होते देखें, वहाँ इस बात पर ग़ौर कर लेना ज़रूरी है कि इसका कारण क्या हो सकता है?

जब हम हड़प्पा सभ्यता को एक आर्येतर सभ्यता के रूप में कल्पित करते हैं तो हमारे सामने हर क़दम पर मुश्किलें पेश आती हैं। हम पाते हैं कि अर्धबर्बर समझे जाने वाले वैदिक कवि दार्शनिक चिन्तन कर रहे हैं और वह भी कुछ इस तन्मयता के साथ कि भ्रम होता है कि यह पूरी जाति ही दार्शनिकों की जमात थी[130] और भूल जाते हैं कि दार्शनिक चिन्तन के लिए फ़ुरसत की और इस फुरसत के लिए उन्नत अर्थव्यवस्था की आवश्यकता होती है, जो इस उपजीवी वर्ग का भरण-पोषण कर सके और ऐसा अर्धबर्बरता की अवस्था में सम्भव नहीं।

हम पाते हैं कि वैदिक देव-समाज में एक सुव्यवस्थित प्रशासनिक तंत्र का प्रतिबिम्ब पाया जाता है जो भौतिक स्थितियों का ही तिर्यक प्रतिबिम्ब हो सकता है और फिर जिनको हम इस सभ्यता की सर्जना का श्रेय देते है उनके देववाद को हीन स्तर के पशुओं, प्राणियों और वनस्पतियों की पूजा तक सीमित मान लेते हैं।

इस स्पष्ट और यांत्रिक विभाजन के समय हम यह भूल जाते हैं कि कोई समाज धर्म और दर्शन को लेकर पैदा नहीं होता। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ इनमें भी परिवर्तन और क्रान्तियाँ होती हैं, यद्यपि इनके बावजूद पिछली अवस्थाओं के अनेक विश्वास और चलन जीवित रहते हैं।[131] प्रकारान्तर से कहें तो, हम भूल जाते हैं कि जिन आदिम विश्वासों को हम वैदिकों द्वारा अनार्यों से लिया हुआ मान रहे हैं वे स्वयं उसी समाज की पिछली अवस्थाओं के विश्वासों और रीतियों के अवशेष हो सकते हैं और जो कबीले इस उन्नत चरण की ओर अग्रसर नहीं हो सके उनके विश्वास और रीति-रिवाज केवल इन आदिम तत्वों तक ही सीमित रह गये, या यदि उन्होंने उन्नत वैदिक विश्वासों और रीतियों का कुछ अंश ग्रहण भी किया तो वह किंचित अनमेल, अनगढ़ और आदिम रूप में ही।

भाषा के पक्ष पर विचार करते समय हम प्रायः इस भ्रम के शिकार हो जाते हैं कि तमिल जो संस्कृत की तरह ही एक प्राचीन भाषा है और जिसमें काफ़ी लम्बे दौर में बहुत कम परिवर्तन हुए हैं, वही सम्भवतः हड़प्पा की भाषा रही हो सकती है। इस सादृश्य को खड़ा करते समय हम उन कारणों पर विचार नहीं करते जिनके तहत भाषा में विकास होते हैं, न ही उन बाध्यताओं पर ध्यान देते हैं जिनके कारण एक सीमित दायरे में प्रयोग के लिए एक कृत्रिम और आरोपित मानक भाषा जन्म लेती है। हम इस बात पर भी ग़ौर नहीं करते कि इस आरोपण और कठोर आग्रह के बावजूद नये दबावों के कारण इस भाषा में भी बहुत गहरे परिवर्तन होते रहते हैं, यद्यपि कठोर व्याकरणिक नियमों के कारण ये परिवर्तन मुख्यतः शब्द-भंडार के क्षेत्र में ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। हम उस तमिल परम्परा को भी भूल जाते हैं जिसके अनुसार तमिल का पहला व्याकरण लिखने का श्रेय भी एक वैदिक ऋषि अगस्त्य को दिया जाता है।

यदि तमिल में परिवर्तन कम हुए हैं तो यह उसके लिए गौरव की बात नहीं, न ही इसके पीछे किसी पुरातन उच्च संस्कृति का हाथ है। भाषा में स्वल्प परिवर्तन बाह्य परिवेश से तदनुरूप कटे रहने का और इस तरह कबीलाई आत्मतुष्टि से जुड़े रहने का ही परिणाम है; कारण, तमिल का आम बोल-चाल का रूप कभी उस तरह कृत्रिम रूप में अपने मानक रूप से विच्छिन्न नहीं हुआ था जैसा संस्कृत और इसके प्रसार-क्षेत्र की बोलियों के बीच दिखायी देता है। इसके बावजूद यह मानना होगा कि संधम् काल, जो अधिक-से-अधिक ई० पू० की तीसरी शताब्दी तक जा सकता है, के दौरान तमिल दरबारी और साहित्यिक उपयोग में आने के कारण मानक भाषा बनी और इसकी प्राचीनता का कारण यही है कि इसके बाद इस क्षेत्र की सभ्यता संधम् काल को अतिक्रान्त नहीं कर पायी। संस्कृत को मानक और कृत्रिम रूप देने के पीछे लगभग वही बाध्यता काम कर रही थी जिसके तहत बी० बी० सी० के मानक उच्चारण वाली अंग्रेज़ी का विकास हाल में हुआ है।

अर्थात एक व्यापक क्षेत्र में सम्पर्क-भाषा के रूप में प्रयोग में आने के बावजूद एक क्षेत्र के व्यक्ति के लिए उसी भाषा में दूसरे क्षेत्र के व्यक्ति द्वारा कही बात को समझने में असमर्थ होना। पर एक लम्बे काल और व्यापक क्षेत्र के लिए समान उच्चारण और समान नियमों वाली भाषा के विधान के बावजूद यह शिक्षित वर्ग और दरबारी तबकों की, और वहाँ भी केवल औपचारिक बातचीत की ही भाषा रही, जबकि इसके प्रसार के क्षेत्र में विभिन्न बोलियाँ निरन्तर विकास करती रहीं।

भाषा के पक्ष पर तुलनात्मक परिवर्तनहीनता को नहीं, अपितु दो भाषाओं में परस्पर शब्दावली के आदान-प्रदान के पहलू को लेकर विचार किया जाना चाहिए और जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस दृष्टि से हड़प्पा की भाषा वैदिक और इसकी बोलियों को छोड़कर अन्य कोई हो ही नहीं सकती थी।

ठीक यही बात श्रम-विभाजन के मामले में भी पायी जाती है। कोसम्बी हड़प्पा सभ्यता के विषय में लिखते हैं, "कुछ लोगों को अतिरिक्त खाद्य पैदा करना पड़ता था जो उन लोगों द्वारा खसोट लिया जाता था जो उत्पादन नहीं करते थे, पर जो उत्पादम के प्रचालनों की योजना बनाते, इन्हें निदेशित और नियंत्रित करते रहे हो सकते हैं। इसका तात्पर्य केवल यह है कि प्राचीन काल में कोई नगर वर्ग-विभाजन और श्रम-विभाजन के बिना, जो बहुजन के ऊपर अल्प जनों के शासन पर आधारित था, अस्तित्व में आ ही नहीं सकता था।"[132] और वर्ण या जाति के विषय में वह लिखते हैं कि यह उत्पादन के आदिम स्तर का वर्ग था।[133] रोमिला थापर यह मानती हैं कि चूँकि भारत से बाहर कहीं वर्ण-व्यवस्था नहीं पायी जाती, अतः आर्यों ने यह व्यवस्था हड़प्पा के आर्येतर जनों से ली होगी।[134] कोसम्बी, आर० एस० शर्मा आदि का मत भी इससे भिन्न नहीं है; कारण, वे अधिकांश वैदिक पुरोहितों को हड़प्पा से लिया गया मानते हैं और आर्य-आक्रमण को क्षत्रिय-आक्रमण के रूप में कल्पित करते हैं।[135]

इस तरह के सरलीकरणों का कारण यह है कि किसी भी पहलू पर टुकड़ों में विचार किया जाता रहा है और हर मामले में यह मान कर चला जाता रहा है कि आर्य, जैसे भी सही, भारत में आये बाहर से ही थे। समस्या तब उलझ जाती है जब हम पाते हैं कि भारत में वर्ण और जाति-व्यवस्था केवल उस समाज में ही और उसी तक पायी जाती है जिसे वैदिक भाषा और संस्कृति से प्रभावित माना जाता है और इसका प्राचीनतम विधान भी वैदिक परम्परा में ही पाया जाता है। दक्षिण भारत के द्रविड़ समाज में केवल दो ही जातियाँ पायी जाती हैं—ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर—और इनमें से ब्राह्मण उत्तर भारत से और वैदिक परम्परा से ही दक्षिण के राजाओं के आमंत्रण पर गये थे। प्राचीन द्रविड़ समाज में भी इन ब्राह्मणों के

प्रति कितना गहन सम्मान-भाव था, इसे इस बात से समझा जा सकता है कि वहाँ के राजाओं और सामन्तों के ऊपर ही अपनी जीविका से ले कर सुरक्षा तक के लिए निर्भर करने वाले इन ब्राह्मणों को समाज में उनके द्वारा भी सर्वोपरि स्थान दिया गया था। अन्य भारतीय जन-जातियों के भीतर भी वर्ण-व्यवस्था या जाति-व्यवस्था का अस्तित्व नहीं पाया जाता। जब यह सुझाया जाता है कि हड़प्पा के ब्राह्मण ही वैदिक ब्राह्मण बन गये तो यह नहीं सोचा जाता कि इन ब्राह्मणों का यदि आर्यों के समाज में अस्तित्व ही नहीं था तो फिर इनकी आवश्यकता भारत में आने के बाद हुई क्यों ? और यदि उन मंत्रों आदि के लिए हुई जिनके बल पर वे अपनी श्रेष्ठता क़ायम किये हुए थे तो फिर अपने नये स्वामियों को भी वे अपने पुराने मंत्रों से तुष्ट कर सकते थे और इस दशा में इन पुरोहितों की भाषा और वेदों की भाषा एक हो जाती है। सच तो यह है कि वैदिक सभ्यता और साहित्य के रूप में हमें जो कुछ उपलब्ध है वह इन पुरोहितों का ही रचा हुआ है और जहाँ हम इनका अनिवार्य सम्बन्ध हड़प्पा से जोड़ते हैं वहाँ तत्वतः यह स्वीकार करते हैं कि हड़प्पा का साहित्य वैदिक साहित्य है और अज्ञान या भ्रम के कारण इन दोनों के बीच एक सर्वथा कृत्रिम और असम्भव खाई तैयार करते हैं।

आरम्भ में आर्यों के विशिष्ट रूपाकार के विषय में बड़े आत्मविश्वास से दावे किये जाते थे, पर हड़प्पा के अवशेषों से प्राप्त कंकालों का अध्ययन करने वाले विद्वानों का मत है कि हड़प्पा काल में भी उस पूरे क्षेत्र में बसे लोगों के नाक-नक़्श उन क्षेत्रों के वर्तमान निवासियों के समान ही थे।[136] यह नृतात्विक दृष्टि से भी आर्य या कहें वैदिक जनों और हड़प्पा के निवासियों की अभिन्नता को ही प्रकट करता है।

12

सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

किसी सभ्यता के पतन का प्रभाव उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियों पर भी पड़ता है, पर यह प्रभाव मुख्यतः एक गतिरोध के रूप में ही दिखायी देता है। सभ्यता के पतन के साथ इसके आहरण और दमन-तंत्र की जकड़ भी ढीली पड़ती है और इसलिए कुछ क्षेत्रों में पतन का प्रभाव धनात्मक भी हुआ करता है—इससे इसके उत्पादक वर्गों को एक सीमित राहत भी मिलती है। अन्य मामलों में जिन चीज़ों का उत्पादन पहले सम्पन्न और विलासी उपभोक्ताओं और संरक्षकों की हैसियत, रुचि आदि के अनुरूप अधिक भड़कीले रूप में होता रहता है, उनके लिए अब सामान्य जन की पहुँच के भीतर के उपादान काम में लाये जाने लगते हैं।

एक केन्द्र से टूटने के बाद जब शिल्पी आदि बिखरते हैं तो उन सांस्कृतिक उपलब्धियों का अधिक बड़े क्षेत्र में प्रसार भी होता है। पर अपने सम्पन्न आश्रयदाताओं के अभाव में, जो अधिक श्रम और तल्लीनता से बनायी गयी वस्तुओं का उचित मूल्य दे सकते थे, अब शिल्प और परिष्कृति में कमी आती है। दक्षता का स्तर इससे प्रभावित होता है।

यदि हड़प्पा सभ्यता का पतन हो गया तो इसके दस्तकार जो हाथी के दाँत के कंघे बनाते थे—सींग, बाँस, लकड़ी आदि के कंघे बना सकते थे। चमकदार और पालिशदार नक्काशी का स्थान खुरदरी नक्काशी ले सकती थी। बहुत बारीक या ज़रीदार कपड़ों का स्थान खुरदरे और साधारण कपड़े ले सकते थे, आदि। और यही हुआ भी। पर समाज का वह तबक़ा जो अपने जीवन-निर्वाह के लिए इन संरक्षकों पर निर्भर नहीं था, अपितु जिसके लिए ये प्रभुगण एक उत्पीड़क की ही हैसियत रखते थे, उसे इनसे आपेक्षिक[137] मुक्ति मिल सकती थी और उसे अपने ठिकानों को छोड़ कर कहीं भागने या जाने की ज़रूरत नहीं थी। उदाहरण के लिए, हड़प्पा के किसानों के लिए अपना क्षेत्र छोड़ कर भागने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था, जब कि व्यापार और उद्योग के ध्वस्त हो जाने के बाद इसके शिल्पियों के लिए अपने पुराने ठिकानों पर जमा रह पाना कठिन था।

अतः, पहली बात तो यह कि हड़प्पा सभ्यता के पतन का इसके किसानों पर असर पड़ना ही नहीं था—किसी भी आक्रमण के समय यदि इन पर कोई असर पड़ा भी है तो अल्पकालिक आपदा के रूप में ही। अतः यदि हम इसी हड़प्पा सभ्यता के क्षेत्र के किसानों और चरवाहों को वैदिक साहित्य में वैदिक किसानों और चरवाहों के रूप में चित्रित पाते हैं तो मानना होगा कि इन दोनों में कोई भेद नहीं था।

तर्क के लिए हम यह मान लें कि हड़प्पा सभ्यता के पतन में भयंकर और लम्बे समय तक चलती रहने वाली प्राकृतिक आपदाओं का भी हाथ था, जो रहा भी लगता है, तो भी हम यह नहीं मान सकते कि ये आपदाएँ हड़प्पा के किसानों के लिए तो आपदाएँ थीं, पर आक्रामकों के लिए नहीं। शताब्दियों से अपनी जड़ें जमाये हुए लोग जहाँ टिक नहीं सकते थे, वहाँ बाहर से कोई आ ही नहीं सकता था, और आने पर कोई दल किसी सूरत में टिक नहीं सकता था। हालत में सुधार होने पर वहाँ लौट कर पुराने लोग ही बस सकते थे। इस दशा में भी हड़प्पा के समाज से भिन्न होने की दशा में वैदिक किसानों और चरवाहों की इस क्षेत्र में कल्पना नहीं की जा सकती।

इससे भी आगे बढ़ कर हम पुनः यह भी मान लें कि उपद्रवकारियों से परेशान हो कर हड़प्पा प्रसार-क्षेत्र के सारे किसानों को अपना क्षेत्र भी छोड़ना ही पड़ा, तो भी जिस तरह उन्होंने जंगलों में आग लगा कर हड़प्पा क्षेत्र की सफ़ाई करके

इसमें खेती की थी, नये जंगली क्षेत्रों में वे पुनः उसी पद्धति को अपना कर खेती-बारी आरम्भ कर सकते थे। कारण—उन्नत उत्पादन-पद्धति से परिचित हो जाने के बाद वे पुन-आदिम आहार संग्रह और बहुत छोटे स्तर के पशुपालन से सन्तुष्ट नहीं रह सकते थे और कृषि-कर्म ऐसा नहीं था जिसके लिए उन्हें किसी संरक्षक की आवश्यकता होती। वस्तुतः, पूर्व और दक्षिण की ओर पलायन करने बाले हड़प्पावासियों ने यही किया भी। विडम्बना यह है कि तथाकथित आर्य-प्रसार-क्षेत्र के चारों ओर जिन भी 'अनार्य' माने जाने वाले जनों को हम पाते हैं वे सभी उत्पादन की दृष्टि से बहुत पिछड़े दिखायी देते हैं और इनमें से किसी से यह पता नहीं चलता कि ये हड़प्पा सभ्यता के किसानों आदि के वंशधर हो सकते है। इस का अपवाद द्रविड़ भाषा-भाषी भी नहीं हैं और ब्राहुई जन, जिनकी भाषा को लेकर तरह-तरह की अटकल लगायें जाती रही हैं, हड़प्पा सभ्यता के ठीक सीमान्त पर बसे होने के बावजूद आज तक अर्धयायावर ही रहे हैं। इसके विपरीत जिन आर्यों को यायावर और कृषि से नाममात्र को परिचित माना जाता है उनको वैदिक काल से ले कर आज तक भूधन और पशुधन से घनिष्ठ रूप से जुड़ा पाया जाता है। यह कमाल कैसे हो गया कि जो लोग अर्धबर्बर और स्थायी बस्ती के प्रति उदासीन थे उन्होंने झटपट स्थायी जीवन और खेती-बारी को अपना लिया और जो स्थायी बस्तियाँ बना कर बसे हुए थे उन्होंने यायावरी अपना ली और आदिम आहार-संग्रह और आखेट की ओर लौट गये? यह एक अद्‌भुत विनिमय है जिसकी न तो कल्पना की जा सकती है, न ही जिसकी कोई अन्य मिसाल विश्व के इतिहास में पायी जा सकती है।

13

हड़प्पा का उदय और अस्त

हड़प्पा सभ्यता का उदय किस प्रकार और कहाँ हुआ और इसके पतन के बाद इसके निर्माताओं की नियति क्या हुई, इस विषय में भी यदि कुछ ठोस जानकारी मिल सकती है तो वैदिक साहित्य से ही, जिसे यदि पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुपूरक प्रमाणों के रूप में उपयोग में लाया जाये तो इस सभ्यता का धँधलापन मिट जायेगा।

अभी तक हड़प्पा सभ्यता के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं वे मुख्यतः परिपक्व अवस्था के हैं। इसके प्राथमिक विकास की स्थिति क्या थी, इन विषय में हमें बहुत स्पष्ट जानकारी नहीं है। यदि कोई दावा इस सभ्यता के प्रसार-क्षेत्र आदि को ध्यान में रखते हुए किया जाता है तो केवल यह कि इसका विकास भारत में ही

हुआ और अपने विकास-क्रम में इसने अन्य सभ्यताओं से कुछ लेन-देन अवश्य किया हो सकता है, पर कहीं अन्यत्र से भारत में लायी नहीं गयी थी। भारत में भी यह सिन्धु घाटी में विकसित हुई नही लगती।

इस सभ्यता के पतन के बाद हम हड़प्पा सभ्यता के दस्तकारों आदि को पूर्व और दक्षिण की ओर पलायन करते पाते हैं। इसके बाद इनकी नियति का कुछ पता नहीं।

जब हम वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो ठीक यही कहानी दुहरायी जाती प्रतीत होती है। जैसा कि हम आगे चलकर विस्तार से देखेंगे, इस सभ्यता का विकास सरस्वती घाटी में होता है। पुनः सरस्वती नदी कुछ समस्याएँ पैदा करने लगती है। कुछ इस कारण से और कुछ अपने विस्तार के कारण इस सभ्यता का केन्द्रीकरण सिन्धु के तटीय नगरों में होता दिखायी देता है। पुराने मंडलों की महिमामयी सरस्वती का स्थान नये मंडलों में सिंधु को मिल जाता है। ऋग्वेद और कहें अन्य वेद भी हमें इससे अलग कोई जानकारी नहीं देते। परन्तु धर्मशास्त्रों आदि में पुरानी गाथाओं के आधार पर यह दुहराया जाता है कि सिन्धु से परे का क्षेत्र और सौराष्ट्र आदि का क्षेत्र, जो निश्चित रूप से पहले वैदिक जनों के अधिकार में रह चुका था, अब आर्य-वर्ज्य या अपवित्र हो गया है। इसका कारण यह बताया जाता है कि इस पर म्लेक्षों ने अधिकार कर लिया है और यदि कोई धर्मपरायण राजा इस क्षेत्र को जीत कर इसमें पुनः वर्ण-व्यवस्था स्थापित करे तो यह क्षेत्र भी यज्ञ के उपयुक्त हो सकता है; कारण, धरती स्वतः दूषित नहीं होती, संसर्ग से ही वह दूषित होती है। इसके साथ ही आर्यावर्त की परिभाषा भी बदल जाती है और पहले के अपने अधिकृत क्षेत्र से वैदिक जनों के पूर्व और दक्षिण की ओर अर्थात ठीक उसी रास्ते पर जिस पर हड़प्पा के निवासियों के वापस लौटने के प्रमाण मिलते हैं, लौटने के कुछ प्रसंग भी ब्राह्मणों आदि में मिलते है।

इस तरह उत्थान, पतन और पलायन की इस कहानी में भी ठीक वही बिम्ब-प्रतिबिम्ब दिखायी देता है जो अन्य मामलों में। क्रम और औचित्य का ध्यान न रखने के कारण वैदिक साहित्य में उपलब्ध सूचना को जोड़-मिला कर आर्यों की इस नियति को इनके आक्रमण का प्रमाण बताया जाता रहा है। दसवें मंडल में, जो निर्विवाद रूप से सबसे बाद का है, पहली बार गंगा से लेकर गोमल और काबुल नदियों तक का उल्लेख आता है जो, जैसा कि हम कह चुके हैं, पूर्व से पश्चिम की ओर हड़प्पा सभ्यता के पूरे क्षेत्र को प्रकट करता है। पर इसमें शेष समूचे क्षेत्र को छोड़ कर केवल पश्चिमी नदियों के उल्लेख के आधार पर यह बताया जाता रहा है कि भारत में हमें आर्यों की प्रारम्भिक उपस्थिति पश्चिमोत्तर सीमान्त पर मिलती है और बाद में वे पूर्व की ओर फैले दिखायी देते हैं, अतः वे इससे भी पश्चिम और उत्तर की ओर से आये रहे हो सकते हैं। इस बात पर क़तई ध्यान ही नहीं दिया

जाता है कि प्राचीन अंशों में पश्चिमोत्तर क्षेत्र के विषय में ही नहीं, सिन्धु तक के विषय में कोई आत्मीय जानकारी नहीं मिलती और बाद के अंशों में पश्चिमी सीमान्त से लेकर गंगा-पर्यन्त के क्षेत्र का एकत्र उल्लेख पाया जाता है न कि केवल पश्चिमोत्तर का और इस विवरण को तोड़-मरोड़ कर पेश करना अविवेकपूर्ण है।

आक्रमण और अग्रधर्षण के इस चित्रण की एक अन्य विडम्बना यह है कि जब हम इन आर्यों को पूर्व की ओर अग्रसर होते देखते हैं और इस पर एकांगी बल देते हैं तो इसके साथ इस बात पर ध्यान नहीं देते कि इनको इसी के साथ पश्चिम के इतने ही बड़े भाग को छोड़ना पड़ रहा है, और वह भी किसी दबाव में। दूसरे शब्दों में कहें तो, वैदिक साहित्य में यदि भारत के भीतर कहीं किसी जन-संचलन की कोई सूचना मिलती भी है तो वह आक्रमण के रूप में नहीं, अपितु पलायन के रूप में मिलती है। युद्धों का एक दौर इस काल के अन्त में आता अवश्य है जिसमें यमुना के पश्चिम की ओर से भरतवंशी इससे पूर्व के राजाओं पर आक्रमण करके अपना क्षेत्र विस्तार करते हैं, पर वे जिन पर आक्रमण करते हैं वे भी वैदिक मतानुयायी और आर्य भाषा-भाषी राजा ही हैं।

उपसंहार

इस तरह हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य पर विचार करने के जितने भी सम्भव पहलू हो सकते हैं उनकी पड़ताल में जाने पर हम हर दृष्टि से यही पाते हैं कि इन दोनों सभ्यताओं में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। अतः इन पहलुओं की कुछ विस्तार से जाँच-पड़ताल के साथ उन भिन्नताओं की छान-बीन नये सिरे से करने की बाध्यता उत्पन्न होती है जिन्हें इनकी पृथकता दिखाने के लिए बार-बार दुहराया जाता रहा है। आगे के अध्यायों में हम देखेंगे कि इस महत्त्वपूर्ण समस्या को कितने सतही और बेबुनियाद तर्कों से रफ़ा-दफ़ा करने का और बार-बार इन्हीं को दुहरा कर एक बौद्धिक जड़ता और निष्क्रियता पैदा करने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. गाइल्स, "दि आर्यन्स,' कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1,1922, भा. सं. 1962, 641
2. कीथ, 'दि एज ऑफ़ ऋग्वेद,' वही, 70-71
3. वही।

4. इमेनो, 'दि डायलेक्ट्स ऑफ़ दि ओल्ड इंडोआर्यन,' ऐंशेंट इंडोयूरोपियन डायलेक्ट्स,' 'सं. हेनरिक बर्नबाम 1966, 132
5. बी. के. थापर, 'दि आर्यन्स : ए रिएप्रेज़ल ऑफ़ दि प्राब्लम,' इंकवथाक, 1970, 160
6. वही, 161
7. एस. पी. गुप्त आर्कियॉलॉजी ऑफ़ सोवियत सेंट्रल एशिया ऐंड दि इंडियन बार्डरलैंड्स, 1979, 2, 318
8. वही, 160
9. वही।
10. मैक्समूलर, बायॉग्राफ़ीज़ ऑफ़ वर्ड्स ऐंड दि होम ऑफ़ दि आर्यन्स, 1888, 120
11. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया, 1967, 1, 1, 94
12. मैक्समूलर, सिलेक्टेड एसेज़ ऑन लैंग्वेज, माइथॉलॉजी ऐंड रिलिजन, 1881, 204-205
13. 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः', पा. 26.2
14. देखें, वी. एस. पाठक, प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन के कतिपय पक्ष, 1984, भूमिका, 27; तुलना करें हर्त्सफ़ील्ड, 1947, 110
15. 'ऋग्भ्यः जातः वैश्यं वर्णं आहुः' । तैसं 3.12.9.2
16. दि इंपीरियल गज़ेटियर ऑफ़ इंडिया, 1907, 1, 301
17. राइक्स व डायसन, 'दि प्रीहिस्टॉरिक क्लाइमेट ऑफ़ बलूचिस्तान ऐंड इंडस वैली,' अमे. ऐंथ्रो, 1961; राइक्स (मोहनजोदड़ो, इन्क्वायनमेंट, फ़इंसि, 1984, 455) का विचार है कि 6000-4000 ई. पू. में उत्तर सागर का निर्माण हो रहा था, पर इसे छोड़कर अन्यत्र जलवायु में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ। एच. ई. राइट ('क्लाइमेट चेंज इन माइसीनियन ग्रीस,' ऐंटीक्विटी, 42, 167, 1968, 123-27) जलवायु परिवर्तन की ऐसी ही मान्यता पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि यह निराधार है। ठीक ऐसे ही विचार रायस कार्पेंटर के भी हैं। ऐसा लगता है कि अपनी पूर्वग्रहीत मान्यताओं को आरोपित करने के लिए, अन्य कोई उपाय न देख कर, कुछ विद्वान जलवायविक परिवर्तन की आड़ लेना अधिक आसान पाते रहे हैं।
18. "आर्यों के विषय में हमारी बनी-बनायी धारणाएँ जो भी क्यों न हों, पुरातात्विक साक्ष्यों से बड़े पैमाने पर किसी आक्रमण या आव्रजन का संकेत नहीं मिलता।...गंगा की उपत्यका के पुरातात्विक साक्ष्यों से यह प्रकट नहीं

होता कि यहाँ के पुराने निवासियों को भागना या परिव्रजित होना पड़ा था।" रोमिला थापर, पूर्व 1978, 215. और इसके अतिरिक्त "प्रमाणों से यह भी पता नहीं चलता कि कोई भी एक ऐसी प्रबल संस्कृति थी जो धीरे-धीरे समूचे उत्तरी भारत में फैल गयी और इस तरह जिसने विभिन्न संस्कृतियों को अपने भीतर समेट लिया"। वही, 214, अतः "इससे यह संकेत मिलता है कि आप्रवासी अपने साथ औद्योगिकी के कुछ पहलू और सम्भवतः भाषा लेकर आये थे"। वही, 214.

19. चाटुर्ज्या, बाल्ट्स एंड आर्यन्स इन देयर इंडोयूरोपियन बैकग्राउंड, 1968, 100; मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड इंडस सिविलाइजेशन, 1931, 1, 110-11, आदि।
20. रोमिला थापर, पूर्व. 1978, 232 पर टिप्पणी; घुर्ने, दि हित्ताइत्स, 1952, 104 और आगे; पिगट, प्रीहिस्टॉरिक इंडिया, 1950, 273, आदि।
21. ह्वीलर, पूर्व. 1953, 60.
22. राव, दि डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, 308; जगतपति जोशी, ट्रांसफार्मेशन ऑफ़ हड़प्पन कल्चर इन कच्छ : इक्ज़ामिनेशन ऑफ़ इविडेंस फ्रॉम सूरकोटडा, 1972; ए. के. शर्मा, 'इविडेंस ऑफ़ हार्स फ्रॉम दि हड़प्पन सेटलमेंट ऐट सूर कोटडा,' पुरातत्व, 7, 1974.
23. युंजाथां रासभं रथे वीडु अंगे वृषण्वसू।...त्रिबन्धुरेण त्रिवृता रथेन आ यातं अश्विना। ऋ. 8.85.7; कदा योग: वाजिनः रासभस्य येन यज्ञं नासत्या उपयाथः। ऋ. 1.34.9; उपस्थात वाजी धुरि रासभस्य; ऋ. 1.162.21; आदि।
24. देखें, ऊपर। रामायण में रावण को गर्दभ-रथ पर आरूढ़ दिखाया गया है, "मया सह रथो युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ।।" रामा. 3.42.7. देखें महाभारत, आदि पर्व, 132.7 भी।
25. गर्दभ का शाब्दिक अर्थ है रेंकने वाला, पर रासभ, खर, अश्व सभी का अर्थ है वेगवान। महाभारत, आदिपर्व, 132.7 तक में रासभयुक्त रथ को आशुगामी बताया गया है, "स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना।।"
26. कीथ, 'बेबीलोन ऐंड इंडिया,' कुमेवा, 67-70. गधे का स्थान वहाँ भी घोड़े ने ले लिया था। कीथ के अनुसार इसका प्रचलन वहाँ 2100-1800 ई. पू. के बीच आरम्भ हुआ होगा।
27. एस. आर. राव, पूर्व. 1982, 308.
28. कच्छ के क्षेत्र में घोड़े की इस नस्ल के पाये जाने के कारण ही वैदिक

परम्परा में यह विश्वास स्थान पा गया था कि घोड़े की उत्पत्ति जल से हुई, "अप्सु योनिः वा अश्वः ।" तैब्रा 3. 8. 4. 3; "अद्भ्यः ह वा अग्रे अश्वः सम्बभूव···"शतब्रा. 5.1.4.5. "समुद्र एव अस्यबन्धुः समुद्रः योनिः ।" 10.6.4.1

29. गन्धर्वा ह वा अग्रे अश्वं युयुजन···ते अस्मिन् जवं अदधुः ।शतब्रा. 5.1.4.8. इतना ही नहीं अश्व और भेड़ को स्पष्टतः उत्तर दिशा से प्राप्त बताया गया है, "अश्वं च अविं च उत्तरतः···एतस्यां दिशि एतौ भूयिष्ठौ ।" शतब्रा. 7.5.2.15

30. अश्वः वाजीः भूत्वाः गन्धर्वान् अवहत् । शतब्रा 10.6.4.1; यमेन दत्तं त्रित एनं अयुनक इन्द्रः एनं प्रथमः अधि-अतिष्ठत् । गन्धर्वः अस्य रशनां अगृभ्णात् सूरात् अश्वं वसवः निःअतष्ट ।। ऋ. 1. 163. 2.

31. ऋ. 4.38.2-10; 4-39; 4.40.1-4; 7.44.2-4.

32. दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा। नि. 2.28.

33. वाजश्रवा का मो. वि. ने 'धन के लिए प्रसिद्ध' अर्थ किया है, जिसे एक व्यापारी के रूप में इन्द्र की भूमिका को सामने रख कर ही समझा जा सकता है।

34. महा., उद्योगपर्व, 104.26; 110.16-14, आदि।

35. शतब्रा. 1.3.4.2.1 तस्मात् लोह क्षुरो भवति ।

36. जिम. जी. शैफ़र, 1984, 41-62.

37. 'लोहिता इव हि अग्निः तस्मात् लोह क्षुरो भवति । शतब्रा-2.6.4.5

38. ऋ. 6.75.15.

39. ए. आर. हार्नली व एच. ए. स्टार्क, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1904, 12-13.

40. ग्रियर्सन, इंपीरियल गज़ेटियर, इं.इं., 1, 1907, 358.

41. चाटुर्ज्या, ओरिजिन ऐंड डवलपमेंट ऑफ दि बंगाली लैंग्वेज 1926, 30.

42. इंडो-आर्यन रेसेज़, 1, 1916. पर डी. के. सेन, ऐंशेट सेरेज़ ऑफ़ इण्डिया ऐंड पाकिस्तान ए स्टडी ऑफ़ मेथड्स ऐंशेट इंडिया, 1964-65, 178-205 के अनुसार हड़प्पाकालीन गुजरात; सिन्ध और पंजाब में लघु कपाल और लम्ब शीर्ष लोगों का जमाव ठीक आज ही जैसा था।

43. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, पूर्व. 1926, 32-33.

44. वही।

45. वही, 34.

46. कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1, 1921, भा. सं. 1962, 71.

47. ऋ. 2.23.3; 40-2.
48. ऋ. 7.104.1
49. ऋ. 6.16.29; 48; 63.10, आदि।
50. ऋ. 1.133.5.
51. ऋ. 10.87.2; 19.
52. ऋ. 2.18.10; 42.3; 6.28.7, आदि।
53. ऋ. 6.28.3; 7.55.3; 8.29.6.
54. ऋ. 1.33.4; 7; 9; 2.15.9 आदि।
55. ऋ. 8.45.9; 1.36.15; 7.11.3.
56. ऋ. 1.23.9; 2.23.10; 7.94.7.
57. ऋ. 1.139.9; 2.8.5; 5.15.5.
58. ऋ. 1.190.5; 2.23.12; 3.32.4.
59. ऋ. 1.85.3; 3.24.1; 5.23.4.
60. ऋ. 1.24.15; 4.28.4; 5.32.7.
61. ऋ. 1.129.6; 2.42.3; 4.4.3.
62. ऋ. 1.42.2.
63. ऋ. 1.36.15; 2.23.12; 6.16.32.
64. ऋ. 4.4.3; 5.59.2; 6.28.3.
65. ऋ. 1.21.5; 4.19.5; 7.104.4.
66. ऋ. 2.23.5; 4.23.7.
67. ऋ. 3.43.6; 4.26.7; 8.45.23.
68. ऋ. 1.133.5.
69. ऋ. 2.11.2; 7.9.5; 10.22.15.
70. ऋ. 1.116.21; 2.32.2.
71. ऋ. 2.27.16.
72. ऋ. 4.20.1; 7.6.4.
73. ऋ. 10. 22.8
74. ऋ. 1.37.1; 2.1.5.
75. ऋ. 7.104.7; 10.76.4.
76. ऋ. 2.23.16.
77. ऋ. 1.11.7; 53.7; 2.11.5.
78. ऋ. 7.104.2; 23; 10.87.24.
79. ऋ. 2.23.9.
80. ऋ. 1.166.8; 10.63.11.

81. ऋ. 1.174.2; 5.29.10; 7.18.13.
82. ऋ. 1.152.2; 2.23.8; 6.61.3.
83. ऋ. 1.24.4; 2.34.15; 4.4.15.
84. ऋ. 1.121.13; 131.4; 7.6.3.
85. ऋ. 1.33.5; 6.14.3; 9.41.2.
86. ऋ. 10.22.8.
87. ऋ. 5.20.2; 8.70.11; 10.22.8.
88. ऋ. 1.65.1; 4.38.5; 6.12.2.
89. ऋ. 8.1.2; 8.22.2.
90. ऋ. 7.104.2.
91. ऋ. 1.41.3; 2.7.3; 5.29.9.
92. ऋ. 1.133.1; 2.12.8; 3.18.2.
93. ऋ. 1.42.2; 2.23.7; 6.51.14.
94. ऋ. 1.42.4; 2.23.5; 9.85.1.
95. ऋ. 1.133.1; 5.2.3; 10.27.6.
96. ऋ. 7.104.24; 10.87.9; 24.
97. ऋ. 1.145.5; 10.4.6.
98. ऋ. 1.42.3.
99. ऋ. 1.42.3;
100. यजु. 11.78.
101. चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, 1954, 35-39, आदि। इसकी व्याख्या हम आगे चल कर करेंगे।
102. मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन, 1931, 1, 48.
103. ह्वीलर, पूर्व., 1953,89.
104. वही, 90
105. वही, 91.
106. वही, 90-91.
107. मार्शल, पूर्व. 2,624.
108. मैकाय, 1948,1, 94 व 117.
109. पूर्व. 92.
110. एम. आर. साहनी, मैन इन इवोल्यूशन, कलकत्ता, 1952, 153-54 में हड़प्पा सभ्यता के पतन का कारण बाढ़ को मानते हैं। बी. बी. लाल, प्रोटोहिस्टॉरिक इन्वेस्टगेशंस', ऐंशेंट इंडिया, 9 1953 में साहनी और ह्वीलर दोनों के मतों को मात्र परिस्थिति जन्य मानते हैं; जार्ज एफ.

डेल्स, सिविलाइजेशन ऐंड फ्लड्स इन दि इंडस वैली', एक्सपेडीशन, 7, 4, 1965, 10-19 में मोहनजोदड़ों के ऊपरी स्तर पर पुनः मिले कंकालों के आधार पर यह नतीजा निकालते हैं कि इन कंकालों का हत्या से सम्बन्ध नहीं है और जिन पुरातात्विक सन्दर्भों में ये पाये गये हैं उनसे सिद्ध होता है कि ये प्राप्ति-स्थल पर बाद में पहुँचे हैं। डेल्स इस नतीजे पर पहुँचे थे कि मोहनजोदड़ो ही नहीं, हड़प्पा के अन्य नगरों का पतन भी बाढ़ के कारण हुआ था। इसके अतिरिक्त 'दि मिथिकल मैसेकर ऐट मोहनजोदड़ो, एक्सपेडीशन, 4, 3, 1964 और 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि हडप्पन्स', साइंटिफ़िक अमेरिकन, 2, 14, 5, 1966 में भी नरहत्या की मान्यता को उन्होंने निस्सार सिद्ध किया था। राबर्ट राइक्स, जिनकी देखरेख में मोहनजोदड़ो की टोहपरक ड्रिलिंग की गयी थी, अनेक बार इस नगर के बाढ़ग्रस्त होने की पुष्टि करते हैं और 'कालीबंगां : डेथ फ्रॉम नेचुरल काज़ेज़', ऐंटीक्विटी, 42. 167-68, 1968, 286-91 में हड़प्पा के अन्य स्थलों के उजड़ने का भी कारण प्राकृतिक आपदा को ही मानते हैं। इस तरह कहीं से भी नरसंहार की पुष्टि नहीं होती। डेल्स का मत है कि नरसंहार ही नहीं, मोहनजोदड़ो पर किसी आक्रमण का भी कोई लक्षण नहीं प्रकट होता, यद्यपि बिलकुल ऊपरी स्तर से आर्थिक स्थिति में भारी गिरावट के प्रमाण अवश्य मिलते हैं।

111. ह्वीलर, अर्ली इंडिया ऐंड पाकिस्तान, 1968, 113-14.

112. रोमिला थापर, पूर्व. 1978, 18, पाद टिप्पणी 228. ए. एल. बैशम, 1967, 29-30.

113. आल्चिन व आल्चिन, दि बर्थ ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन, 1968, 139-44.

114. एंटीक्विटी, 43, 169, मार्च 1969, 72-73 में आल्चिन व आल्चिन की पुस्तक, दि बर्थ ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन पुस्तक की समीक्षा। देखें एफ. जी. डेल्स, 'आर्किथॉलॉजी ऐंड रेडियो कार्बन क्रोनॉलॉजीज़ फ़ॉर प्रोटोहिस्टॉरिक साउथ एशिया', 1973, 157-69 भी।

115. मालती शेंडगे, दी सिविलाइज्ड डेमन्स, 1981 में कुछ यह ख्याल लेकर चली हैं कि अपेक्षाकृत अपने से सभ्य हड़प्पावासियों को ही आर्यों ने असुर या डेमन कह दिया है, मानो वह मात्र एक शब्द के प्रयोग का प्रश्न हो, सभ्यता के समूचे स्तर से इसका कोई सम्बन्ध ही न हो और दूसरे विशेषण भी मनचाहे ढंग से गढ़ लिये गये हों। कुछ इसी तरह का विचार रोमिला

थापर का भी लगता है जो 'दि इमेज़ ऑफ़ बार्बैरियन्स' ऐंशेंट इंडियन सोशल हिस्ट्री, 1978 में देखा जा सकता है। ये मान्यतायें सतही हैं।

116. देखें, ऋ. 3.23.1=4, 6. 61. 1. देखें, वैदिक, इंडेक्स, 1962, 1, 406-7 भी और तुलना करें हिल्लेब्रांट, बैदिक माइथालॉजी, 1980, 1, 343.
117. ऋ. 10.75.
118. ऋ. 6.61.2; 7.95.2; 10.75.2
119. ऋ. 6. 61.2; इयं शुष्मेभि: बिसखा इव आरुजत् सान गिरीणा तविषेभि: ऊर्मिभि:।
120. भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यत् एषां अग्रं जगतां इरज्यसि। ऋ 10.75.2
121. गिरिभ्य: आ समुद्रारा। ऋ. 7.95.2
122. ऋ. 1.56.2, 116.3.5, 167.2, 14.55.6, आदि
123. मिताक्षण 3-292.
124. देखें बैशम, पूर्व; 20. मैकाय, अर्ली इंडस सिविलाइज़ेशन, 1948, 11
125. मैक्समूलर, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1.1867, 64-65; कीथ, 'दि एज ऑफ़ ऋग्वेद, 'दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1, 1922, भा. सं. 1962, 70-71.
126. 'दि आर्यन्स,' कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, 1, 1921, भा. सं. 1962 64-65.'ग्रियर्सन पूर्व', 1, 100; चाटुर्ज्या, पूर्व, 1969, 5,6
127. हित्ती अभिलेखों का काल उन्नीसवीं शताब्दी ई. पू. से लेकर बारहवीं शताब्दी ई- पू- तक फैला है, पर अधिकांश लेख बाद के दौर के हैं।
128. ज.रा.ए.सो., लन्दन, 1909,721 और आगे।
129. कल्चर ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ ऐंशेंट इंडिया,1965, 77.
130. मैक्समूलर लिखते हैं, "दि ऐंशेंट हिन्दूज़ वेयर ए नेशन ऑफ़ फिलासफर्स, सच ऐज कुड नो ह्वेयर हैव इक्जिस्टेड एक्सेप्ट इन इंडिया, एंड देयर टू इन अर्ली टाइम्स एलोन।" चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1, 1867, 66.
131. देखें, गोर्डन चाइल्ड, 'प्रीहिस्ट्री ऐंड मार्क्सिज़्म', ऐंटीक्विटी 53, 1979, 93-95.
132. डी. डी. कोसंबी, पूर्व., 1965, 54.
133. वही, 50.
134. रोमिला थापर, पूर्व.,1978, 219.20.

135. डी. डी. कोसंबी, 'अर्ली स्टेजेज़ ऑफ़ कास्ट सिस्टम इननार्दर्न इंडिया' 1946, 35; आर. एस. शर्मा, मैटीरियल कल्चर ऐंड सोशल फ़ार्मेशन्स, 1983, 19.

136. डी. के. सेन, पूर्व. 1964-65, 178-205; चाकलदार, दि आर्यन आकुपेशन ऑफ़ ईस्टर्न इंडिया, 1962, 109 और आगे; केनेथ ए. आर. केनेडी, 'स्कल्स, आर्यन्स, फ्लोइंगड्रेन्स : दि इन्फरेंस ऑफ आर्कियॉलॉजी ऐंड स्केलेटल बायॉलॉजी इन दि स्टडी ऑफ़ हड़प्पन सिविलाइज़ेशन', हसि. 1982, 291; 'ट्राउमा ऐंड डिज़ीज इन दि ऐशेंट हड़प्पन', फइंसि, 1984, 425-36 आदि वस्तुतः जे. सी. नेस्फील्ड, ब्रीफ़ व्यू ऑफ दि कास्ट सिस्टम इन दि नार्थवेस्ट प्राविन्सेज ऐंड अवध, 1885 में बहुत पहले ही इस चुनौती के साथ आये थे कि रूप-रंग के आधार पर आर्यों और मूल निवासियों को बाँटने का सिद्धान्त ग़लत है, और बताया था कि ऊँची जातियों और नीची जातियों के लोगों में नाक-नक्श के मामले में कोई फ़र्क नहीं पाया जाता। इंपीरियल गज़ैटियर ऑफ़ इंडिया, दि ब्रिटिश इंपायर, 1,1907, 286.

अध्याय तीन

वैदिक संघर्षों की प्रकृति

वैदिक जन आक्रमणकारी के रूप में भारत में न ही आये थे न भारतीय सभ्यता की प्रथम अभिव्यक्ति—हड़प्पा सभ्यता—के पतन में उनके आक्रमण का हाथ था।[1] फिर भी ऋग्वेद से लेकर महाकाव्य काल तक के साहित्य का केन्द्रीय विषय युद्ध और संघर्ष ही है। अतः इन संघर्षों की प्रकृति और गुरुता का अध्ययन वैदिक सभ्यता के साथ-ही-साथ परवर्ती भारतीय सभ्यता को समझने के लिए भी ज़रूरी है। पर इन संघर्षों को समझने के लिए पहले इस बात पर ध्यान देना ज़रूरी है कि वैदिक कवि अपनी अभिव्यक्तियों को सायास जटिल बनाने का प्रयत्न करते थे। सम्भवतः दुरूहता उस काल की रचनाओं का एक प्रधान गुण मानी जाती थी। इन आयास-सिद्ध दुरूहताओं को समझने के लिए भी व्यक्ति का बहुश्रुत होना ज़रूरी होता था। पहले एक ही उक्ति की विविध व्याख्याओं और टीकाओं को सुनिए, वादगोष्ठियों को सुनिए, फिर कहीं इन कविताओं का अर्थ खुलेगा। कारण, साधारण और सरल दीखने वाली रचनाओं में भी रूपात्मकता का ऐसा पुट हो सकता है जो निरे वाच्यार्थ से समझ में न आये।

वैदिक जनों के संघर्ष के तीन स्तर हैं : 1. अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अभाव और दारिद्र्य के विरुद्ध संघर्ष; 2. अपने भौतिक जीवन के लिए अनिष्टकारी तत्वों—जंगली पशुओं, सरीसृपों, वन्य-असभ्य कबीलों, लुटेरों, चोरों, तस्करों आदि के विरुद्ध संघर्ष; और 3. व्याधियों, बुराइयों और मानसिक दुर्वृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष। इनमें से पहला संघर्ष मानवजाति का वह संघर्ष है जिसके कारण आज तक सभ्यता का विकास हुआ है। इस पर विजय के लिए वैज्ञानिक प्रगति अपेक्षित है और अपने युग को देखते हुए वैदिक जन पिछड़े नहीं दिखाई देते। पर वैज्ञानिक प्रगति उन प्राथमिक कालों में जितने प्राथमिक स्तरों की हो सकती थी, और वस्तुतः थी, उसके बल पर इन पर विजय असम्भव थी। बहुत कुछ अपनी शक्ति से परे, प्राकृतिक शक्तियों की कृपा और अकृपा पर निर्भर करता था। अतः वे इन

शक्तियों को तुष्ट करने के लिए इनकी स्तुतियाँ करते हैं। प्राकृतिक अभावों के साथ-साथ वे उनसे मुक्ति दिलाने वाले तत्वों का भी मानवीकरण करते हैं। यह मानवीकरण सांग रूप ले लेता है। न केवल इन्हें मानव या अतिमानव के रूप में चित्रित किया जाता है, अपितु इनके रथ, वाहन, निवास, ललकार और अट्टहास आदि के विवरण इस तरह दिये जाते हैं मानो हम एक वास्तविक मानवीय संघर्ष देख रहे हों। सहायक प्राकृतिक शक्तियों की विजय से अधिक हर्षोल्लास की बात और क्या हो सकती है ? वे भावविभोर होकर इनकी विजय की कामना करते और विजय पर हर्ष मनाते हैं। पर विजय न तो हर बार मिलती है न ही सदा उल्लास का वातावरण रह सकता है।

दूसरे स्तर का संघर्ष सभ्यता की रक्षा के लिए, इसके विकास के लिए, उचित वातावरण तैयार करने के लिए जरूरी है। यह एक उपयुक्त रक्षातंत्र की माँग करता है। इन संघर्षों के विवरण वास्तविक हैं। पर यह संघर्ष एक लम्बे समय तक चलता रहा है। वैदिक सभ्यता के लम्बे इतिहास में इन शत्रुओं का रूप बदलता जाता है, पर इनके लिए लगभग एक जैसी शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। इनमें से विविध शत्रुओं के लिए भेदक शब्दावलीं का प्रयोग तो किया ही नहीं जाता, प्रायः इनका अभेद प्राकृतिक अभावों से कर दिया जाता है। इस तरह एक ऐसी कुहरिलता आ जाती है कि मानव शत्रु हिंस्र पशु में बदल जाता है या प्राकृतिक अभाव के रूपकों से अभिन्न हो जाता है। धरती से आकाश और मध्य-आकाश या अन्तरिक्ष की यह यात्रा अध्येता के लिए उलझन पैदा करती है।

तीसरे वर्ग के शत्रु के साथ संघर्ष एक सभ्य समाज के भौतिक और नैतिक उत्थान को प्रतिबिम्बित करता है। इसके आधार पर ही यह तय किया जाना चाहिए कि किसी सभ्यता का स्तर क्या था। भौतिक सम्पत्ति-संग्रह और वैभव के जिस प्रदर्शन से सभ्यताओं की नाप की जाती है, वह किंचित इकहरा और दोषपूर्ण है। जो भी हो इन शत्रुओं की चेतना और इन पर विजय प्राप्त करने की वैदिकों की कामना उन्हें सभ्यता के एक ऐसे स्तर का अधिकारी सिद्ध करती है जिसकी मिसाल तत्कालीन जगत में अन्यत्र नहीं मिलती। इसे मोटे तौर पर सांस्कृतिक आत्म-संघर्ष और नागरिक दायित्वों की चेतना का विकास कह सकते हैं। जो भी हो, अज्ञान, मानसिक दूषण—झूठ, लोभ, पाप, ईर्ष्या—आदि को भी वे रूपकीय ढंग से ही प्रस्तुत करते हैं और इनसे भ्रामकता का एक और स्तर पिछले दो स्तरों पर जम जाता है।

वैदिक साहित्य में चित्रित मानव संघर्षों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है: बाहरी शत्रु या उपद्रवकारी तत्वों के विरुद्ध संघर्ष। ये बाहरी शत्रु आर्य और अनार्य दोनों हो सकते हैं। मोटे तौर पर इनमें जंगली कबीले, व्यापारिक सार्थों पर या वैदिक नगरों और बस्तियों पर हमला करने वाले डाकू और तस्कर तथा

प्रतिस्पर्धी व्यापारी और राजा रखे जा सकते हैं। दूसरे वर्ग में अपनी ही व्यवस्था से उत्पन्न समाजविरोधी तत्व—चोर और बटमार—तथा असन्तुष्ट किसान, मज़दूर और कारीगर आते हैं। इन असंतुष्ट जनों को शस्त्रबल से काबू में रखने की आवश्यकता पड़ सकती है और हड़प्पा सभ्यता के अन्तिम दिनों में जब इसकी अर्थव्यवस्था की जड़ें कमज़ोर होने लगी थीं, और किसी भी पतनोन्मुख अर्थव्यवस्था की तरह यह अपने ही समाज के उत्पादक हिस्सों को उचित पारिश्रमिक, पुरस्कार और प्रोत्साहन देने में अक्षम होकर परम्परागत रूप में उन्हें प्राप्त सुविधाओं को भी कम करने लगी तब तो इसकी ख़ास तौर पर ज़रूरत पड़ने लगी होगी। वैदिक साहित्य में हम इसकी झलक अनेक रूपों में पाते हैं। जब हम वैदिक साहित्य में वर्णित युद्धों और संघर्षों पर विचार कर रहे हों तो इन विभिन्न स्तरों के संघर्षों में फ़र्क करना ज़रूरी है, अन्यथा सरलीकरण के कारण अनर्थ की सम्भावना रहेगी।

2
असुर

वैदिक साहित्य में असुरों के साथ इन्द्र आदि देवताओं के युद्धों का वर्णन बार-बार आता है। जैसा कि हम उल्लेख कर आये हैं, एक ओर तो शत्रुओं पर इन्द्र के आक्रमण का और उनकी विजयों का बड़े आह्लाद के साथ वर्णन किया जाता है और दूसरी ओर कहा जाता है कि 'इन्द्र का कोई शत्रु न तो कभी था न आज है। युद्धों का यह विवरण माया का वर्णन है। जो इस तथ्य को नहीं जानता वह असलियत को नहीं जानता।' ये दुहरे दावे कम-से-कम इस बात के प्रमाण तो हैं ही कि ये युद्ध कुछ भिन्न प्रकृति के हैं। यह मानने का तो कोई कारण नहीं कि वैदिक कवि बीसवीं शताब्दी के किन्हीं इतिहासकारों के सम्भावित आरोपों का पूर्वानुमान करके अपनी सफ़ाई पेश कर रहे थे।

इन्द्र जिन असुरों को पराजित करते हैं उनके नाम वृत्र[2], शम्बर[3], चुमुरि,[4] धुनि[5], विप्रु[6], रुधिक्रा[7], शुष्ण[8], अराव्ण[9] आदि दिये गये हैं। इनसे सामान्यतः यह भ्रम होता है कि ये व्यक्तिवाचक नाम हैं और इन्हें उन राजाओं अथवा सेनापतियों से जोड़ लिया जा सकता है जिन पर इन्द्र ने 'हमला' किया था। इनमें बार-बार आने वाले नामों, वृत्र और शम्बर, के बहुवचन रूप वृत्राणि[10] और शम्बराणि[11] का भी प्रयोग हुआ है। यह इस बात का द्योतक है कि ये व्यक्तिनाम न होकर विशेषण-परक शब्द हैं। परम्परागत रूप से इन्हें जल के रोधक, जल को अपने भीतर छिपाये हुए बादलों, अन्धकार, अभाव और अकाल से सम्बद्ध किया जाता रहा है। इन शब्दों का अर्थ भी यही सिद्ध करता है वृत्र का अर्थ है घेरने वाला,[12] रोकने वाला,[13] पर इसका अर्थविस्तार करके इसे घिरे हुए, लिपटे हुए[14], चतुर्दिक व्याप्त कबीलों[15]

रास्ता रोकने वाले दस्युओं[16], अन्धकार, कृष्ण (मेघवर्ण,[17] अकाल[18]) आदि के आशय से भी प्रयोग में लाया जा सकता है। ठीक यही भाव 'शंबर' शं-वर का भी है।[19] शेष शब्दों में अर्थ की उतनी व्याप्ति नहीं है पर आशय मिलता-जुलता ही है, चुमुरि—भक्षक[20], धुनि—हड़कम्प मचाने वाला, गर्जना करने वाला[21], पिप्रु—जल को पी जाने वाला[22], जल से भरपूर[23], शुष्ण—शोषणकर्त्ता[24], बलवान; रुधिक्रा—अवरोधों का उलंघन करने वाला[25], अर्बुद[26], जल देने वाला; कुयव—दुर्भक्षी[27], उरण—आच्छादक[28], नमुचि—न छोड़ने वाला, जल का त्याग न करने वाला[29] आदि। ये सभी विशेषण बहुत सटीक रूप से बादलों पर और अकाल तथा सूखे पर लागू होते हैं। पर इनका प्रयोग अदाता, धन जोड़ कर रखने वाले और पुरोहितों को दान न देने वाले, वैदिक मत को न मानने वाले, व्यक्तियों के लिए भी किया जा सकता है। जब तब इनमें से अनेक का नाम एक साथ आया है।[30] ऐसी स्थितियों में इनको विशेषण मानने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रहता, यद्यपि सायण ने ऐसे स्थलों पर भी 'इस नाम के असुर' आशय लिया है। कम से कम इन सन्दर्भों में इन्हें राजा या सेनापति तो नहीं ही माना जा सकता।

यदि इन असुरों के नामों पर ध्यान दिया जाए तो इनसे असुरों के भयंकर और अदम्य चरित्र का ही उद्घाटन होगा। परम्परागत रूप से असुरों का जो चित्र जनमानस पर अंकित रहा है, वह भी उन्हें असभ्य और दुर्दान्त, निरंकुश और नृशंस ही सिद्ध करता है। इन सभी तथ्यों की अवहेलना करके, स्वयं वैदिक साक्ष्यों की भी अवहेलना करके ही हम हड़प्पावासियों को सभ्य और इनके विपरीत वैदिकजनों को असभ्य आक्रामक मान सकते हैं। इस प्रवृत्ति को इतिहासकारों की निरंकुशता का नाम दिया जा सकता है।

इन्द्र ने ऐसे ही शम्बर की तथाकथित निन्यानवे पुरियों को ध्वस्त करके उसे पराजित किया था। कभी तो इन पुरियों की संख्या नब्बे[31], कभी निन्यानबे[32] और कभी सौ[33] बताथी जाती है। प्राय: ऐसा लगता है कि यह मात्र इतने लोगों के मारे जाने का मामला है।[34] असुरों को पराजित करने में सामान्यत: इन्द्र का ही उल्लेख आता है, पर कभी-कभी इनके साथ अग्नि,[35] मरुद्गण[36] या सोम[37] का भी उल्लेख आता है। सोमपान से ही इन्द्र को वृत्र-वध की शक्ति मिली है।

पाँच, दस, सात, सौ और हज़ार की संख्याएँ ऋग्वेद में बहुत और समस्त के अर्थ में प्रयुक्त होती हैं। यही स्थिति नव, नवति, नवतिनव, त्रयस्त्रिंश, पंचपंचाशत, सप्तसप्तति आदि की भी है। अत: इन्हें निश्चित संख्याओं का सूचक नहीं माना जा सकता। सप्त, नवति और नवतिनव की इन्हीं संख्याओं का उल्लेख जलधाराओं के सन्दर्भ में भी आता है।[38] इन्द्र द्वारा वृत्र आदि की पुरियों का भेदन करने का रूपक कुछ स्थलों पर तो इतना अभेदात्मक है कि इनसे वास्तविक युद्ध का

चित्र उभर आता है,[39] पर सामान्यतः इन विवरणों में जल का मुक्त होकर गिरना या जलधाराओं का समुद्र की ओर मुक्त रूप में प्रवाहित होना ही दिखाया गया है।[40] वृत्र का निवास जल के भीतर,[41] पर्वत पर[42] या अन्तरिक्ष[43] में दिखाया जाता है।

इन विभिन्न विवरणों में अभूतपूर्व संगति है और इनका यह आशय लिया जा सकता है कि यह बादलों के उमड़ कर छाने, बिजली के कड़कने और चमकने के साथ झूम और गरज के साथ होने वाली वर्षा का वर्णन है।[44] बादलों के उमड़कर आने को एक विचित्र सर्प के सरकते भागते हुए आसमान में आने के रूप में कल्पित किया गया है। काली घटाओं को आयसी या धातु-निर्मित या पाषाण-निर्मित कह दिया गया है। इन्हें पर्वत के रूप में भी चित्रित किया गया है। इनके काले रंग का चित्रण कभी-कभी बादलों की इस काली सेना के रूप में किया गया है।[45] बिजली की चमक के साथ उसकी गर्जना को इन्द्र और अग्नि का एक साथ प्रहार दिखाया गया है, एक ही साथ एक ही कर्म द्वारा वे अहि का बध करते हैं।[46] वायु के साथ वर्षा की झड़ी लगने के कारण इसे मरुतों के साथ इन्द्र द्वारा प्रहार माना गया है।[47] ऐसे स्थलों पर इस प्रकृति-लीला को वास्तविक युद्धों का सूचक मानना इस काव्यात्मक चित्रण को न समझ पाने का ही परिणाम है।[48]

जिन इतिहासकारों ने इसे युद्ध के रूप में कल्पित किया उन्हें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए था कि इन्द्र का उल्लेख अवेस्ता में और बोग़ाज़कुई के अभिलेखों में भी है। अतः यदि वे इन युद्धों को भारत में हुए वास्तविक युद्धों के रूप में कल्पित कर रहे थे तो उन्हें यह भी स्वीकार करना चाहिए था कि ईरान और एशिया माइनर में इन जनों का प्रवेश भारत से हुआ है। पर वे एक ही तथ्य का दुहरा प्रयोग करते दिखाई देते हैं। यही बात दासों के साथ इन्द्र के युद्धों के मामले में भी देखी जा सकती है। दासों के साथ युद्ध का उल्लेख भी अवेस्ता में पाया जाता है। यदि वह युद्ध भारत में हुआ था तो अवेस्ता में इसका उल्लेख भारत से प्रव्रजित जनों द्वारा अतीत घटनाओं की स्मृति के रूप में किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में दास और दस्यु के बीच नृतात्विक आधार पर भेद किया जाता है और यह भुला दिया जाता है कि दास और दस्यु दोनों के प्रतिशब्द ईरानी में पाये जाते है।[49] दस-काटना, दबाना, मारना से ही दास और दस्यु दोनों की व्युत्पत्ति होती हैं। वैदिक साहित्य में इस तरह के विपरीतर्थक प्रयोग—राक्षस, असुर, दास, दानव—प्रायः देखने में आते हैं और यहाँ वाच्यार्थ और रूढ़ार्थ में फ़र्क़ करना अधिक उपयोगी होगा। जो भी हो सायण दास का अर्थ 'उपक्षयिता' या हिंसा करने वाला लेते हैं और इन अवसरों पर यही उपयुक्त है।

वस्तुतः इन्द्र के युद्धों और वृत्र और शम्बर आदि के बध तथा पुरियों को

विदीर्ण करने की कथाओं को ध्यान में रखते हुए सामान्यतः यह निष्कर्ष निकालना होगा कि इस रूप कथा का विकास एक ऐसे भौगोलिक क्षेत्र में हुआ है जहाँ बादल घुमड़कर उठते हैं और धारासार वृष्टि करते हैं। वर्षा के साथ बिजली की कौंध और तड़क तथा बादलों की गर्जना जुड़ी रहती है। उड़ते हुए बादल एक बढ़ती हुई वाहिनी की तरह आकाश में छा जाते हैं और युद्ध का सा दृश्य उपस्थित हो जाता है। जल की धाराएँ चारों ओर फूट कर बहने लगती हैं। ऐसा क्षेत्र न तो ईरान है, न रूसी स्तेपी, न उत्तरी या मध्य यूरोप, जिनको मुख्य रूप से जल के लिए हिमपात पर निर्भर करना पड़ता है। ध्यान देने की एक बात यह भी है कि वर्षा के इस देवता के समानान्तर हिम या तुषार का कोई देवता भारोपीय देवशास्त्र में नहीं पाया जाता। इसके विपरीत वर्षा के पर्जन्य देव का उल्लेख उन क्षेत्रों में भी पाया जाता है जहाँ मुख्यतः हिमपात ही होता है : गाथिक—फ़र्यगुनी, आइसलैंडिक—फिओर्जिन, लिथुआनियन्-पेर्कुनास।

पुरन्दर और शम्बर की इस कथा को थोड़ी देर के लिए हम वास्तविक युद्धों से सम्बद्ध मान लें, क्योंकि, जैसा हम पहले कह आये हैं, इन रूपकों और शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में न केवल हो सकता है, अपितु हुआ भी है, तो इससे क्या हम किसी आर्य आक्रमण की सूचना पाते हैं ? शम्बर का बध करके इन्द्र ने दिवोदास के लिए राज्य का विस्तार किया था।[50] हमें आर्यों का पता ठिकाना भले न मालूम हो पर दिवोदास का पता मालूम है। वह मध्य क्षेत्र का राजा था। और वह पहला राजा भी नहीं था। ऐसी स्थिति में यह युद्ध भारत में ही बसे 'राजा' के पक्ष में लड़ा गया दिखाई देता है और चूँकि वृत्र और शम्बर का सम्बन्ध पर्वत से और दुर्ग—दुर्गम स्थलों[51]—से जोड़ा गया है, अतः यदि यह सिद्ध भी हो जाये कि हड़प्पा सभ्यता पर हमला हुआ था और उनमें से एक पक्ष पहाड़ी क्षेत्रों के बर्बर कबीलों का था और दूसरा पक्ष हड़प्पा-वासियों का; एक छिप कर रहने वाला है और दूसरा नहीं; छिपकर या अपनी बस्तियों को दुर्गम स्थानों पर बसा कर रहने वाला पक्ष शम्बर का है[52] और दूसरा वैदिक देवता इन्द्र के उपासक दिवोदास का; तो आक्रमणकारी शम्बर ही सिद्ध होगा, जिसका पीछा इन्द्र या उसके उपासक उसके छिपने के अथवा रहने के दुर्गम स्थानों[53] तक करते हैं और उनकी बस्तियों को उजाड़ देते हैं। कारण इस प्रसंग में बहु-संख्यक पुरियों के विनाश या ध्वंस की बात आयी है और सारा मामला इस तरह से निबटाया जाता है कि यह एक ही कार्रवाई का अंग प्रतीत होता है और इतनी पुरियाँ तो तभी तबाह की जा सकती है जब हम इन्हें छोटी-छोटी कबीलाई बस्तियाँ मान कर चलें। इन्द्र और शम्बर या वृत्र के युद्धों में छेड़छाड़ इन्द्र की ओर से नहीं होती अपितु अपर पक्ष से ही होती है।[54] परम्परागत विवरणों के अनुसार भी देवता असुरों के उपद्रवों से तंग आ जाते हैं तभी उनके हाहाकार से द्रवित होकर इन्द्र या दैवी अवतार प्रकट होता है जो

असुरों का संहार करता है, और उस अवतार के मामले में भी छेड़छाड़ की कार्रवाई असुर पक्ष से ही की जाती है। दिवोदास के मामले में भी इन्द्र दिवोदास की रक्षा करते हैं—प्र आवः दिवोदासं चित्राभिः ऊती—'विविध उपायों से दिवोदास की रक्षा की'। और इन सबसे बड़ा कारण यह कि इन युद्धों में जब-तब वज्र-प्रहार के स्थान पर मुष्ठि-प्रहार और पाद-प्रहार के उल्लेख आते हैं जिनसे प्रकट होता है[55] कि युद्ध या मुठभेड़ का रूप किसी नगर पर आक्रमण से भिन्न था।[56] दिवोदास अतिथिग्व की अपनी भोगौलिक स्थिति इन समस्त टुकड़ों को एकस्यूत कर देती है और आक्रमणकारी के चित्र को बिलकुल उलट देती है।

ऋग्वेद में आक्रमण और नगर की रक्षा का एक उल्लेख बहुत स्पष्ट है। यह युद्ध यव्यावती नदी के तट पर हरियूपीया में हुआ था। वस्तुतः इन दोनों के बीच नदी कौन-सी थी और नगरी कौन यह तय करना कठिन है, कारण इस विषय में पाठ में स्थिति स्पष्ट नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसमें 'अनार्य नगर' पर आर्यों के आक्रमण की छाया देखी है और हरियूपीया को हड़प्पा से सम्बद्ध किया है।[57] पर रोचक बात यह है कि उपलब्ध विवरणों के अनुसार यह आक्रमण वैदिक राजा चायमान के पुत्र अभ्यावर्ती के ऊपर वरशिख नामक असुर के पुत्र वृचीवान ने किया था। वरशिख के पुत्रों द्वारा हमले की बात निम्न तथ्यों से प्रकट है: वरशिख के पुत्रों के द्वारा आकर तोड़-फोड़ करने का उल्लेख है; उसकी सेना की संख्या का स्पष्ट उल्लेख है, जिसे एक सौ तीस बताया गया है; वे कवच और तीर-धनुष से लैस हैं, अर्थात पूरी तैयारी से आये हैं; उनकी पूरी सेना हमले के समय नदी को पार नहीं कर पायी है, आधी सम्भवतः अभी दूसरी ओर ही है, या यदि सेना पार आ चुकी है तो वृचीवान के पक्ष के लोग दूसरे पार किसी स्थल के निवासी हैं, क्योंकि वृचीवान के हारने पर उस पार के वरशिख के पुत्रों के भयभीत हो जाने का उल्लेख मात्र आया है; और अन्ततः वृचीवान के पक्ष को अपने प्रयोजन में विफल सिद्ध किया गया है।[58]

एक अन्य उल्लेख आयसी पुर की रक्षा का है जिसकी सायण ने कुछ अटपटी-सी व्याख्या दी है जो ठीक नहीं लगती। इसमें भी आक्रमण वैदिक पुर पर होता है और सैनिक वेग से अपने पुर की रक्षा में तत्पर होकर बाहर निकलते हैं।[59] इन विभिन्न तथ्यों और विवरणों की उपेक्षा करते हुए, आर्यों को आक्रमणकारी सिद्ध करने के लिए विद्वानों द्वारा इन विविध उल्लेखों का उपयोग केवल यही सिद्ध करता है कि अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए वे कितने बेसब्र रहे हैं।

3

वैदिकों के शत्रु

जिन शत्रुओं के विषय में प्राकृतिक लीला आदि का भ्रम पैदा नहीं होता और जिन्हें वैदिक कवि अपने उत्पीड़न का प्रमुख कारण मानते हैं, उनको निम्न चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :

1. **असामाजिक तत्व** (चोर और डाकू) --स्तेन, तम, तमोवृध, मायाविन, मुषीवान, द्वयाविन, तस्कर, निरामिण, दस्यु, दास, धूर्त, जिघांसु, पृतन्यु, व्यथि, उब्ज, ध्वरस, अमृण, रिषण्य, भंगुरावत, पृतन्यु, अभिह्रुत, दुः, दुःशंस, दुरित, आदि;
2. **जंगली जनजातियाँ या यायावर कबीले**—मूर, अत्रि, व्यथि, दुः, रिषण्य अभृण, अकर्म, अनप्नस, मृध्रवाच, वृक, अधम, अघशंस, पिशाच, क्रव्याद, राक्षस, यातुधान, आदि;
3. **सामान्य शत्रु**—अमित्र, अभिद्रुह, द्वेषधत्त, अरि, अराति, शत्रु, स्पृध, आदि;
4. **वैचारिक या रीतिविधान विषयक मतभेद रखने वाले**—निद, वध्रिवाच, मृध्रवाच, मन्यमान, अतिमानी, किमीदिन, अयज्यू, अनिन्द्र, अकर्म, अनास, अन्यव्रत, द्विष, द्वेषधत्त, पणि, आदि।

इन शत्रुओं के लिए इन शब्दों का प्रयोग बहुत स्पष्ट और भेदक रूपों में नहीं किया जाता और चूँकि सभी शब्द निन्दापरक हैं इसलिए इनका प्रयोग अपने ही समाज या मत के लोगों के लिए भी हो सकता है।[60] इसी तरह असुर, वृत्र आदि का प्रयोग कबीलों से ले कर व्यापारिक यात्राओं के दौरान रास्ता रोकने वालों या अन्यथा घेरा डालने वालों के लिए होता दिखाई देता है।

ऋग्वेद में जिन संघर्षों के विवरण मिलते हैं उन्हें मोटे तौर पर इन्हीं के भीतर समेटा जा सकता है। जैसा कि इनसे प्रकट है, इनमें से किसी से शत्रुओं के विदेशी आक्रमणकारी होने की पुष्टि नहीं होती। वैदिक जनों को जिस बात का अधिक ख़तरा दिखाई देता है वह आक्रमण न होकर अशान्ति ही है। बाहरी तत्त्वों में दस्युओं और जंगली कबीलों के उपद्रव प्रधान हैं। सम्भवतः ये जंगली लोग न केवल समय-समय पर खेती और पशुओं को नुकसान पहुँचाते हैं अपितु स्वयं इन्हें भी अकेला या असुरक्षित पाकर यातना देते हैं। वे इन शत्रुओं को कोसते हैं, मनाते हैं कि इनका बुरा हो, "हे सोम देवता, जो मुझ भले मानस को भी लूट लेते हैं, जो मेरे जैसे सज्जन को भ्रष्ट कर देते हैं, उन्हें साँप काट ले, वे मौत के मुँह में चले जाएँ।[61] जो चोर और उचक्के शत्रु हमारे अन्न और जल को दूषित कर देते हैं, घोड़ों और गायों को यातना देते हैं, हे अग्नि, उनका नाश हो जाए, उनके पूरे खानदान का

नाश हो जाए।'[62] इस तरह की उक्तियों में हम जिस विवशता की गूंज पाते है, अपने असभ्य और हिंसक शत्रुओं या आततायियों के सम्मुख वैदिक जनों की जिस कातरता का आभास पाते हैं, उसको यदि ध्यान में रखा गया होता तो वैदिक जनों को और जो कुछ भी कहा जा सकता था, आक्रमणकारी तो नहीं ही कहा जा सकता था। लूटपाट को अपनी आय का साधन बनाने वाला तो उन्हें नहीं ही कहा जा सकता था।[63]

4

आर्त-नाद

जैसा कि ऊपर के इन दो उदाहरणों से प्रकट है, वैदिक समाज अपने आस-पास के परिवेश से और सम्भवतः अपने तंत्र के भीतर भी पैदा हुए अराजक और अपराधकर्मी तबकों से परेशान दिखाई देता है। उसके संघर्षों की एक सामान्य विशेषता यह है कि ये मुख्यतः रक्षापरक दिखाई देते हैं। वैदिक सभ्यता का दोष यह नहीं दिखाई देता कि यह आक्रामक और हिंसक थी, अपितु यह कि अपने युग और परिवेश को देखते हुए यह कम हिंसक और अधिक सहिष्णु थी। यही उसकी दुर्बलता थी और कुछ दृष्टियों से यही उसकी सबसे बड़ी शक्ति भी थी। विभिन्न उपक्रमों के विकास और विस्तार के लिए शान्ति और व्यवस्था अपेक्षित है, न कि अशान्ति; पर इस व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए रक्षा-प्रबन्ध और आततायियों को विरत करने की शक्ति भी अपेक्षित है। यही वैदिक साहित्य के मानव संघर्षों का सार है। युद्ध सामान्यतः उनकी विवशता है, आत्मरक्षा का उपाय है। अतः जो उल्लेख शौर्य और युद्ध के आते हैं उनसे कहीं अधिक प्रखर है रक्षा के लिए उनका आर्त-नाद। वे सभी देवताओं के शौर्य की याद दिला कर उनसे रक्षा की माँग करते हैं। राक्षसों के अत्याचारों और उत्पीड़नों के विरुद्ध 'त्राहि मां, त्राहि मां' की यह पुकार वैदिक काल से ले कर परवर्ती साहित्य तक में गूँजती रहती है। मर्त्य अघायु(शत्रु) चाहे वे पास हों या दूर, उनसे रक्षा करो। हमारी जान बचाए रखो।[64] अग्नि, धूर्त हिंसकों से हमारी रक्षा करो।[65] जो हमारी जान लेना चाहते हैं हमारे ऊपर क्रुद्ध रहते हैं, उनसे रक्षा करो। हे यज्ञ यूप, इन नरभक्षी राक्षसों को जला डालो, इन पापियों से हमें बचाओ।[66] अग्नि अपने अदम्य रक्षा-उपायों से हमारी रक्षा करो।[67] वरुण, जो चोर और उठाईगीर हमें मारता है उससे हमें बचाओ।[68] हम कभी इन हिंसकों के सम्पर्क में न आएँ।[69] अग्नि, हमारे यज्ञ से प्रसन्न हो कर अपनी रक्षा से हमें सुरक्षित रखो, प्रज्वलित होकर इन निरन्तर बढ़ते हुए राक्षसों को मार डालो।[70] इन विवादी, निन्दक, द्रोही, बुरे राक्षसों को भस्म कर डालो, और हमें बचाओ।[71]

ब्रह्मणस्पति, अपना प्राचीन पराक्रम फिर पैदा करो और अपनी तीखी तपनी से उन राक्षसों को जलाओ जो तुम्हारी निन्दा करते रहते हैं।[72] बृहस्पति इन चोरों, उचक्कों, द्रोहियों, दूसरों के माल पर नज़र रखने वाले देवविरोधियों के हाथ में कहीं मुझ भक्त को न सौंप देना।[73] इन्द्र तुम्हारे सख्य के भरोसे रहने वाले हम लोगों को डर न लगे। हे अपराजित जेता, हम तुम्हें नमस्कार करते हैं।[74] अग्नि निरन्तर हमारी रक्षा करते रहना, हमारे प्रिय घर में दीप्त रहना, तुम्हारे भक्त को और दूसरे लोगों को डर न लगे।[75] हे वरुण, हमें सपने में भी चोरों का डर लगा रहता है।[76] इन्द्र हमारे भय को दूर करें।[77] हे यज्ञ के देवता, हमारी ओर नज़र करो, तुम्हारी रक्षा से हमारा भय दूर हो जाए। देवताओ, हमें नृशस हिंसकों से बचाओ, इन अपकारियों से हमारी रक्षा करो।[78] अग्नि, हमारी एक पुकार सुन कर हमारी रक्षा करना, दूसरी, तीसरी और चौथी पुकार पर हमारी रक्षा करना।[79] बृहस्पति पश्चिम, उत्तर और नीचे की ओर से और इन्द्र पूर्व और मध्य से इन पापियों से हमारी रक्षा करें।[80]

यह खीझ और अवशता अक्सर बद्दुआओं का रूप ले लेती है:—शत्रुओं के जीवित सदस्य और गर्भस्थ शिशु तक मर जाएँ।[81] जो हमें सताता है वह नरक में चला जाए।[82] अग्नि चोरों और तस्करों को मैं तुम्हारे मुँह में झोंकता हूँ, इन्हें चबा-चबा कर खा जाना, इन चोरों का मुँह नोच-नोच कर खा जाना।[83] यहाँ इन शत्रुओं की स्थिति भी स्पष्ट है, ये वनचर या जंगली और कक्ष या नदी के कछार में छुपे रहकर प्रहार करने वाले या चोरी या लूट करने वाले लोग हैं।

यह है उन वैदिक देवताओं और उनके उपासकों की आक्रामकता की स्थिति। यह भय, यह त्रास, बचाओ-बचाओ की यह कातर पुकार, तंग आकर शाप देने और अमंगल चाहने की यह प्रवृत्ति, शायद इतिहासकारों की नज़र से ओझल रह गयी है जब कि इन संघर्षों का केन्द्रीय स्वर यही है। जिन संघर्षों की कहानी वैदिक स्तोत्रों में बार-बार दुहरायी जाती है वह है सभ्यता और उत्पादन के अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर पर पहुँचे हुए और खुशहाल लोगों का बर्बर, लुटेरे, हिंसक, घुमक्कड़, असभ्य चोरों, डाकुओं, आदिवासी कबीलों, गिरिजनों, धन-दौलत और मवेशी चुरा कर भागने वालों के विरुद्ध सतत संघर्ष। जैसा कि हम कह आये हैं, इनमें से कुछ अपने ही समाज की देन हो सकते हैं, और अन्य बलूचिस्तान की पहाड़ियों से शीतकाल में उतरने वाले कबीले जिसका वर्णन मार्शल ने 1931 के मोहनजोदड़ो की खुदाई की रिपोर्ट में किया है, और जिसे एक अर्थ में ह्वीलर ने भी स्वीकार किया है। आपेक्षिक समृद्धि और वैभव में जीते हुए, अपनी सुरक्षा के लिए चिंतित इन जनों की कामना युद्ध की नहीं शान्ति और व्यवस्था की है। सर्वत्र शान्ति की, सबके कल्याण की यह कामना भी असुरों और आततायियों के भय और आतंक की ही तरह वैदिक काल से लेकर आज तक की परम्परा में—नाटकों के भरत वाक्यों,

काव्यों के मंगलाचरणों और सामान्य पूजा-पाठ में सब कुछ के बाद शांतिपाठ के रूप में--चली आयी है। सब कुछ अनुकूल रहे, सब कुछ मंगलकारी हो, किसी को कोई कष्ट न हो,अनुष्ठान निर्विघ्न पूरा हो, यही वैदिक स्तोत्रों का केन्द्रीय स्वर है। अनिष्टकारी तत्वों के नाश की कामना और बद्दुआओं के बाद अन्ततः वे इसी पर लौटते हैं। शान्ति की इतनी उत्कट कामना तत्कालीन जगत में कहीं अन्यत्र भी पायी जाती है या नहीं, इसकी खोज विद्वान लोग करें। हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि यह शान्तिपाठ उसी प्राचीन ऋग्वैदिक अंश में मिलता है जिसके आधार पर वैदिकों को बर्बर सिद्ध किया जाता है। इन्द्र, अग्नि, वरुण, सोम, पूषा, भग, अर्यमा, धाता, धर्ता, पृथिवी, आकाश, पर्वत, अश्विनीकुमार, अन्तरिक्ष, रुद्र, त्वष्टा, सूर्य,अदिति, मरुद्गण, बसुगण सभी से और धरती, आकाश, वन, औषधि, नदी, समुद्र, वायु, पर्जन्य, समस्त दिशाओं में, अर्थात सर्वत्र शान्ति की कामना की जाती है।[84]

इस शान्ति और कल्याण की कामना के पीछे अपने आर्थिक उपक्रमों के निर्विघ्न चलते रहने की कामना पर ध्यान देना ज़रूरी है: इन्द्र और पूषा अन्नलाभ के लिए 'वाजसातौ' शान्ति-कारक हों, धन-धान्य सकुशल रहे, 'शमु सन्तु राय'; हम शुभ कर्मियों के सुकर्म कल्याणकर हों 'शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु'; वर्षा सुखकर हो, अतिवृष्टि या अनावृष्टि न हो; खेत के मालिक आराम से रहें, फसल अच्छी हो; हवा कल्याणकर हो, आँधी तूफ़ान न आए; धरती और आकाश शान्तिकारक हों, मौसम ख़राब न हो और भूचाल आदि न आए; भेषजदाता और व्याधिकारक देव रुद्र शान्तिकर हों, बीमारी-महामारी न आए; उत्पादन कर्म से जुड़े लोग 'अभिषाच' और दान पर जीने वाले 'रातिषाच' चैन से रहें; कलाकार और शिल्पी 'ऋभवः सुहस्ताः' सुख-शान्ति से रहें; नदियाँ कल्याणकर हों, बाढ़ न आए; समुद्र कल्याणकारी हो, समुद्री यात्राओं के समय तूफ़ान आदि न आए; ग़रज की आर्थिक प्रचालन और चतुर्दिक का परिवेश सब कुछ अनुकूल रहे यह कल्पना और कामना क्या वर्बर जनों की, या पिछड़े अर्थतंत्र से जुड़े लोगों की हो सकती है?

5

इन्द्र-विजय

ऋग्वेद में गविष्टि और गवेषणा आदि शब्द जिनका शाब्दिक अर्थ गाय की इच्छा या कामना(गो-इष्टि, गो-एषणा)है, युद्ध या संघर्ष के अर्थ में रूढ़ हो चुके थे। इससे कभी-कभी भ्रम पैदा होता है कि वैदिक जन दल बाँध कर जाते थे और अपने शत्रुओं की गायें लूट ले आते थे। वलि उगाहने का उनका यही तरीक़ा था। इस पहलू पर हम आर्थिक पक्ष के सन्दर्भ में विचार करेंगे। यहाँ इन्द्र की उन स्तुतियों का उल्लेख ज़रूरी है जिनमें उन्हें गोजित, अश्वजित, उर्वराजित,[85] सहस्रजित,[86]

आदि कहा जाता है। जहाँ गविष्टि आदि शब्दों पर पूरा ध्यान दिया गया है, इस विजय के कुछ पहलुओं का उल्लेख नहीं किया गया है। शायद यह उल्लेख वैदिकों को बर्बर सिद्ध करने के मामले में असुविधाजनक पाया गया हो। कारण, यदि वैदिक लुटेरे अवैदिक हड़प्पावासियों की गायें छीन लाते थे, तो उनकी पशुचारण की अवस्था की पुष्टि इससे की जा सकती थी, पर यदि हड़प्पावासियों के यहाँ से वे घोड़े भी छीन कर लाते थे तो फिर घुड़सवार आर्यों की छवि खंडित हो सकती थी। यदि हड़प्पावासियों या अनार्यों के पास घोड़े न हुए तो इन्द्र इन्हें जीतेंगे कैसे और यदि हुए तो घोड़े की सवारी और रथचालन से परिचय के कारण आर्यों की जिस श्रेष्ठता की बात की जाती है, वह ख़त्म हो जायेगी। जो भी हो, युद्ध रक्षा-परक हों या विस्तार-परक, ये उन समाजों और व्यवस्थाओं की भी लाचारी होते हैं जिनकी कामना शान्ति की होती है। कभी तो शान्ति और व्यवस्था की रक्षा के लिए ही युद्ध जरूरी हो जाता है और कभी जनता शान्ति चाहती है और राजा को राज्यविस्तार की सूझ जाती है। इसलिए, जैसा कि हम आगे देखेंगे, युद्ध वैदिक जनों द्वारा भी किये गये हैं और इनमें सम्भवतः दोनों प्रकार के तक़ाज़ों से किये गये युद्ध शामिल हैं।

यहाँ इन्द्र की विजयों में जीत के जो उल्लेख हैं उनके दो आशयों पर ध्यान देना उचित होगा। एक तो 'जीत' शब्द का वैदिक कालीन अर्थ अधिक व्यापक था। इसका एक अर्थ 'अर्जन करना' था। यह आशय तेलुगु के 'ज़ीतमु', कमाई में आज भी सुरक्षित है। अतः इन विवरणों में से कुछ का सम्बन्ध निश्चित रूप से व्यापारिक अर्जन से भी हो सकता है, जंगलों आदि की सफ़ाई करके उर्वर भूमि अर्जित करने से भी हो सकता है। जहाँ युद्धों के स्पष्ट उल्लेख हैं, वहीं इनका वाच्यार्थ ग्रहण करना अधिक उचित प्रतीत होता है। क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेन एव जयामसि (ऋ. 4.57.1) जैसे स्थलों पर परम्परावादी टीकाकारों को बाध्य होकर 'जयामसि' का अर्थ 'जयाम' या 'उपार्जयामः' करना पड़ता है।

यदि हम प्राचीन जगत के युद्धों और विजयों पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि विजयी राजा अपने शत्रु को सोना, पशुधन, कभी-कभी सुन्दरियाँ या राजकुल की कुमारियाँ और रानियाँ, अनाज, कपड़े और दूसरी कीमती चीजें, और इन सबके साथ यदि वांछित हुआ तो राज्य का कोई हिस्सा देने को बाध्य करते रहे हैं। यहाँ जो तथ्य उभर कर आता है वह यह कि इन्द्र की इन विजयों का, जिन्हें इन्द्र उपासकों की विजय या राजा की विजय मानना उचित होगा, सम्बन्ध न तो लूट-पाट से है न ही यह विदेशी आक्रमण का सूचक है। यह महत्वाकांक्षी राजा की विजय और राज्य-विस्तार का सूचक अवश्य हो सकता है जो अपने अधीनस्थ राजाओं से राजवलि लेता हो : इन वलियों का सम्बन्ध चाहे विजय काल से जोड़ा जाए या वार्षिक कर से। वह इसीलिए धनजित, धनंजय, स्वर्णजित, सत्रजित, सर्वजित,

विश्वजित,[87] अपराजित, अप्रतिष्कुत, अप्रतिम, अप्रतिमान[88] या प्रतिद्वन्द्वी विहीन भी है। यहाँ पर याद दिला देना ज़रूरी है कि इन्द्र को जब गो-जित के साथ अन्य चीजों को जीतने वाला कहा जा रहा है तो सन्दर्भ किन्हीं बड़े अभियानों से है; उर्वराजित में क्रमिक राज्यविस्तार का भाव भी स्पष्ट है। एक और तथ्य यह कि यह स्थिति वैदिक काल की है, पूर्व वैदिक काल में इन्द्र की स्थिति भिन्न थी और जैसा कि आगे चल कर हम देखेंगे, ऋग्वेद के नवीन मंडलों तक आ कर ये शब्द भले इन्द्र के नाम के साथ जुड़े रह गये हों, वह शुद्ध वणिक बन जाते हैं और मुख्यतः इसी रूप में, जिसका अर्थ है मुख्य रूप से यजमानों के इसी वर्ग द्वारा, उन्हें याद किया जाता है। अतः इन्द्र की विजयों में स्वयं अपने उद्यम से अर्जित धन और सम्पत्ति के सभी पहलू सिमट आते हैं और प्रायः ये व्यापारी सार्थों पर लुटेरों और आततायियों के आक्रमणों के समय धन-माल तथा जान की रक्षा का द्योतक बन जाती हैं।

6

युद्ध

जहाँ ऋग्वेद में युद्धों के स्पष्ट उल्लेख आये हैं वे स्थल संख्या में बहुत कम हैं। सामान्य संघर्षों की तुलना में इन्हें नगण्य कहा जा सकता है, जो पुनः इस बात का सूचक है कि उपासक वर्ग मुख्यतः वह है जिसे हम आर्थिक उत्पादनों और व्यापारिक कार्यों से जुड़ा पाते हैं। फिर भी राजाओं के स्पष्ट उल्लेख हैं, उनके दान आदि के चर्चे हैं जिन पर आगे विचार किया जाएगा। इन युद्धों के विवरणों में जो बात उभर कर आती है वह है इनका आकार। इन्हें सामान्य मुठभेड़ नहीं माना जाना चाहिए। वैदिकों युद्धों के विषय में कुछ अधिकारी विद्वानों ने भी ऐसी बातें की हैं जो हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। इनमें से एक यह है कि युद्ध के समय वैदिक पुरोहित राजा के साथ जाते थे और युद्ध भूमि में मन्त्र पढ़ते थे, आदि। इन मन्त्रों का सम्बन्ध युद्ध से नहीं अध्वर से है जिसे हिंसा रहित यज्ञ माना गया है। बिना हथियार उठाए, मंत्रों से शत्रुओं और अनिष्टों का नाश यज्ञ द्वारा किया जा सकता है, यह इस विश्वास की देन है। देखें, आगे रक्षोहा अग्नि, जहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि इनका सम्बन्ध किन युद्धों से है। इसी तरह का एक दूसरा भ्रम यह है कि वैदिक राजाओं के पास कोई स्थाई सेना नहीं होती थी। कबीले के पूरे लोग लड़ते थे। आपदा पड़ने पर खास-तौर पर यात्राओं के समय आक्रमण होने पर—कोई शान्त नहीं रह सकता, पर जिस समाज में स्थाई लड़ाकू अंग के रूप में क्षत्रियों या राजन्यों का एक पूरा जत्था मौजूद है जो आगे चलकर जाति का भी रूप ले लेता है, उसके विषय में यह कहना कि स्थाई रक्षावाहिनी उसके पास नहीं

थी, सामान्य बोध से बाहर की चीज़ है।

इन युद्धों के आकार का अनुमान हम जब-तब उपलब्ध होने वाली संख्याओं के आधार पर नहीं लगा सकते। कारण संख्याएँ अविश्वसनीय होती हैं। पर जहाँ ध्वजा ले कर[89] और रथ आदि पर सवार हो कर[90], रथों को गोचर्म से कवचित करके[91], वर्म धारण करके[92], संग्राम भूमि में छेप्यास्त्रों--बाण आदि -- के साथ युद्ध की चर्चा आ रही हो वहाँ इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता कि ये युद्ध सामान्य मुठभेड़ों से अलग हैं।[93] ऐसे मामले में सेना[94] और सेनानी[95] जैसे स्पष्ट प्रयोगों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

इन युद्धों के आकार का कुछ अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि सेनाओं के जमघट की तुलना बादलों की घटाओं से दी गयी है, 'जीमूतस्य एव भवति प्रतीकम्'[96]। सेना के साथ चित्र का विशेषण यह सूचित करता है कि इसमें अनेक अंगों के सैनिक हैं।[97] बाणों की वर्षा सचमुच बरसाती झड़ी का रूप ले लेती है।[98] युद्ध के अवसर पर रणवाद्य बजते दिखाई देते हैं। सेना का जमाव तो इतना भारी है ही कि उनके शोर से आकाश फटने लगता है।[99]

जिन इतिहासकारों ने गविष्टि आदि के आशय को गायों आदि की छीन झपट और उगाही माना है उन्हें कम-से-कम इन युद्धों के आकार को ध्यान में रखते हुए यह स्वीकार करना चाहिए—यद्यपि संभवतः यह भी वास्तविकता का सही चित्र नहीं होता—कि एक ओर तो बड़े राजा थे और दूसरी ओर उनके अधीन छोटे-छोटे सामंत और जमींदार आदि भी थे, जो प्रजा पर अत्याचार करते थे और वसूली के रूप में उनकी गायें आदि छीन ले जाया करते थे। पर वह अपने विवेचनों से जो कुछ सिद्ध करना चाहते थे, उसकी सिद्धि में यह भी बाधक बनता, अतः इन युद्धों के ऊपर उन्होंने नज़र ही नहीं डाली।

7
आयुध

यदि हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त हथियारों की तुलना वैदिक विवरणों से करें तो इन दोनों के बीच इतना साम्य मिलेगा कि हड़प्पा के हथियारों को वैदिक नाम दिये जा सकते हैं और वैदिक आयुधों की शक्ल हड़प्पा के अवशेषों से पहचानी जा सकती है। हड़प्पा के हथियार और औजार कांस्य-कालीन हैं। यही स्थिति वैदिक हथियारों और औजारों की है। जैसा कि हम देख आये हैं, अयस शब्द के प्रयोग को देखते हुए और अनेक भारोपीय भाषाओं में लोहे के लिए अयस् शब्द के प्रचलन को ध्यान में रखते हुए कुछ इतिहासकारों ने यह सम्भावना प्रकट की है कि वैदिक जन लोहे से परिचित थे।[100] कुछ को लोहे का आर्य जनों से सम्बन्ध

इतना गहरा प्रतीत होता है कि वे लोहे के उपकरणों को परवर्ती आर्यों के सांस्कृतिक अवशेषों की पहचान के लिए एक अपरिहार्य लक्षण मानते हैं।[101] पर जैसा कि हम पहले उल्लेख कर आये हैं, अयस् शब्द ऋग्वैदिक काल में केवल धातु (ताँबा, काँसा, आदि) के अर्थ में व्यवहृत होता था। अन्यत्र इसका लोहे के अर्थ में प्रचलन भारत से सम्बन्धित अंचलों के लौह-युग तक सम्पर्क में बने रहने का प्रमाण है जिसका काल कुछ लोगों के अनुसार 1300—1000 ई० पू० में पड़ता है।[102] यद्यपि शैफर ने इस भ्रम को तोड़ दिया है कि हड़प्पा वासी लोहे से परिचित नहीं थे।[103] वास्तविकता यह है कि आरम्भ में लोहा कहीं भी यथेष्ट मात्रा में पैदा नहीं किया जा रहा था, अतः हथियार ताँबे और काँसे के ही प्रचलित थे।

युद्ध और शान्ति के प्रति वैदिक जनों के दृष्टिकोण के विषय में पीछे हम जो कुछ देख आये हैं उनसे स्पष्ट है कि अपरिहार्य स्थितियों में युद्ध में भाग लेने के बावजूद वैदिक जनों को युद्ध से घृणा थी। शत्रु के प्रति उनकी पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि वह किसी तरह दूर हो[104]। ऐसे लोग आयुधों के विकास की दृष्टि से बहुत आगे नहीं बढ़ सकते थे। हड़प्पा सभ्यता के अध्येताओं का ध्यान जिस बात पर बार-बार जाता है वह है इसके हथियारों का अन्य पक्षों की तुलना में कम विकसित होना। इस असावधानी को वैदिक मनोवृत्ति को सामने रख कर ही समझा जा सकता है। सच बात तो यह है कि हड़प्पा संस्कृति के नगरों के परकोटे केवल शान्ति रक्षा के लिए ही थे—उनके द्वार साधारणतम थे।[105]

हड़प्पा के हथियारों में भाला, फ़रसा, कटार, आदि आते हैं।[106] ह्वीलर बिल्लौरी चकमक के फलकों को, जो विविध हड़प्पा-स्थलों से काफ़ी संख्या में पाये गये हैं, आयुधों की गिनती में नहीं लेते।[107] इन्हें कोई उपकरण मानना अधिक उचित होगा।

हथियारों के मामले में उन्नत 'आर्यों' के नेता और महाविजेता इन्द्र का प्रधान आयुध वज्र या गदा है, जो आगे चलकर सभी असाधारण पौरुष वाले चरित्रों—विष्णु, हनुमान, भीम आदि का प्रमुख हथियार बना रहता है, और जाहिर है यह एक पाषाण-कालीन हथियार है[108] हड़प्पा के अवशेषों से भी पत्थर की गदाएँ पायी गयी हैं, पर मार्शल इन्हें ही वैदिक सभ्यता से अलगाव सिद्ध करने के लिए एक तर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[109] व्यक्तिगत मुठभेड़ों में इसकी जो भी उपयोगिता हो, पर युद्ध के मामले में इसमें भोंड़ा कोई अन्य हथियार नहीं हो सकता। यदि इस पहलू पर ध्यान दिया जाए तो हथियारों के मामले में 'आर्यों' के उन्नत होने का मिथक आसानी से टूट जाएगा। घोड़े पर सवार होकर इस हथियार के उपयोग का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसके साथ यदि पाद प्रहार[110] और मुष्टिप्रहार को भी जोड़ लें तो पता चलेगा कि, कम से कम, इन्द्र के युद्धों में शारीरिक शौर्य और शक्ति पर अधिक बल दिया गया है और यह इन्हें मल्लयुद्धों की कोटि में ला देता

है। इस वज्र का शतपर्व[111] या सहस्रभृष्टि[112] होना सभी अतिरंजनाओं के बावजूद इसे परवर्ती शतघ्नी या सौ नोकों वाली गदा से आगे नहीं ले जाता। इसके लिए वज्र[113] (तु, वज्रकूट, वज्रलेप, बंजर, बजरी) स्वतः इसे पत्थर का हथियार सिद्ध करता है। वैदिक काल में अथवा हड़प्पा सभ्यता में पत्थर की गदा के अतिरिक्त धातु की गदा का भी प्रयोग होता था।[114] पत्थर और धातु दोनों से बनी गदाओं की हड़प्पा से प्राप्ति और दोनों का ही ऋग्वेद में उल्लेख असाधारण महत्व रखता है।

कुल्हाड़े के लिए ऋग्वेद में कुलिश[115], परशु[116], आदि पर्यायों का प्रयोग हुआ है। हड़प्पा के अवशेषों में कुल्हाड़े के अनेक रूप मिलते हैं और इन्हें देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये विभिन्न नाम इसके प्रभेदों के सूचक हैं। परशु का प्रयोग आयुध के रूप में करने के विवरण बाद की परम्पराओं में - परशुराम— भी मिलते हैं, अतः यह मानने का पर्याप्त आधार है कि वैदिक काल में इसका प्रयोग आयुध के रूप में भी किया जाता था[117] पर इसका अधिक उपयोग मुख्यतः लकड़ी काटने और चीरने के लिए ही किया जाता है।[118] हड़प्पा की खुदाइयों से प्राप्त परशु बहुत अच्छी किस्म के नहीं माने जा सकते। यही स्थिति सामान्य वैदिक परशु की दिखाई देती है। परिव्राजक साधुओं के साथ आयुध रूप में हम जिस फ़रसे को देखते हैं वह संभवतः अपने वैदिक पूर्व-रूप का ही अवशेष है। वस्तुतः लोहे के व्यापक प्रचलन के बाद जिस तरह के चौड़े फ़रसे बनने लगे वे कांस्य काल में सम्भव भी नहीं थे। फिर भी अपने समय को देखते हुए कुछ परशु अधिक चौड़े भी होते थे; इसकी सूचना इनके लिए प्रयुक्त शब्द 'पृथुपर्श'[119] से मिलती है। मरुद्गण जिनका चित्रण प्रायः योद्धाओं के रूप में भी किया गया है[120] अपने आयुध ऋष्टि ले कर चलते हैं।[121] ऋष्टि की वास्तविक शक्ल कैसी थी, यह तय कर पाना कठिन है। कुछ विवरणों से ऐसा लगता है कि यह भी एक ऐसा उपकरण था जिसका चट्टानों को तोड़ने के लिए और साथ ही संकट की घड़ी में हथियार के रूप में उपयोग किया जाता था। एक उपकरण जिसे 'खनित्र' कहा गया है[122] निश्चय ही खुदाई का यन्त्र — खन्ती — होगा। पर प्राचीन काल में और कुछ हद तक आज भी, काम करने वाले लोग अपने उपकरणों का प्रयोग भी हथियार के रूप में आपातिक स्थितियों में करते हैं। यदि अर (तीक्ष्णाग्रदंड) को आयुध के रूप में कभी प्रयोग में लाया जाता रहा होगा तो वह कुछ इसी प्रकार का रहा होगा। यह पुनः नागा साधुओं के आयुधों में से एक है। जो भी हो, अर--प्राचीन तीक्ष्णाग्र दंड—अब तक 'लांगल' बन चुका था, अर्थात् खुदाई या चिराई के आदिम उपकरण में हरिस लगा कर इसको ऐसा रूप दिया जा चुका था कि इनमें बैलों का उपयोग किया जा सके। इसकी विकर्तन शक्ति के कारण ही इसे वृक भी कहा गया है।[123] अतः अर/अल और खनित्र का प्रयोजन अलग हो गया था। हड़प्पा के

अवशेषों में खनित्र के फ़लक या फाल को आसानी से पहचाना जा सकता है।

ऋष्टि के अतिरिक्त 'हेती'[124] और 'भृष्टि'[125] के उल्लेख हथियारों के रूप में आये हैं। इन दोनों के विषय में सायण कुछ दुविधा में दिखाई देते हैं।[126] मोनियर विलियम्स हेती को एक प्रकार का क्षेप्यास्त्र, आयुधों का प्रतीक या मानवीकृत रूप और भृष्टि को एक प्रकार की बर्छी या स्पाइक मानते हैं।[127] ह्वीलर हड़प्पा से प्राप्त एक विशिष्ट आयुध के फलक का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, "पत्ती की शक्ल वाली छुरियों को कभी-कभी भाले से अलग किया जा सकता है, जिनकी नोक या अग्र भाग कुछ टेढ़ा-सा है। यह हड़प्पा की अपनी ख़ास चीज़ है जो हड़प्पा से बाहर शायद ही कहीं पायी जाती हो, यद्यपि पूर्वोत्तर ईरान से इसके मिलने की सूचना मिली है।'[128] हेती का उल्लेख सोम और रुद्र के सन्दर्भ में आया है।[129] सोम को अन्यत्र तिग्मशृंग भी कहा गया है।[130] रुद्र का एक आयुध शूल है जो आगे चलकर तीन की संख्या के आध्यात्मिक आशय से संभवतः त्रिशूल हो गया। अतः भृष्टि और हेती दोनों को इस विशेष प्रकार के भाले के रूप पहचाना जा सकता है, जिसके फल की ओर ह्वीलर ने संकेत किया है। शूल के अग्र भाग का कुछ मुड़ा होना इस प्रस्ताव के पक्ष में जाता है। सम्भवतः इसका उपयोग औजार, शस्त्र और अस्त्र तीनों रूपों में किया जाता था। शिव के शूल का इस रूप में उल्लेख परवर्ती परम्परा में पाया जाता है। मूलतः यह आखेट का हथियार रहा लगता है जिसकी नोक पशु के शरीर में धँस जाता रहा होगा और इसके आसानी से निकल न पाने और दूसरा सिरा शिकारी के हाथ में होने के कारण पशु छूट कर भाग नहीं पाता रहा होगा। भाले के मुकाबले पतली नोक के कारण इसे तिग्म विशेषण दिया गया है। आज भी इस यन्त्र 'अंकारी' का प्रयोग किया जाता है।

वैदिक काल का एक विशेष आयुध असि है। यह हड़प्पा के उस हथियार की याद दिलाता है जिसका नमूना अन्यत्र नहीं मिलता, और जिसको ह्वीलर ने छोटी तलवार (शॉर्ट शोर्ड्स ऑर डर्क्स) मानना चाहा है।[131] ऋग्वेद में 'असि' का उल्लेख सम्भवतः इसी शस्त्र के लिए किया गया है।[132] इसका एक उपयोग छेदने या भोंकने के लिए भी किया जाता था।[133] इसके अतिरिक्त 'कृपाण' का उल्लेख भी पाया जाता है, जिसे हड़प्पा से प्राप्त डैगर के रूप में पहचाना जा सकता है।[134] चक्र[135] के विषय में श्रुति है कि यह आघात करके चालक के पास लौट आता है। इसे ध्यान में रखते हुए कोसम्बी के अनुसार इसे एक तरह का बूमरैंग माना जा सकता है। कोसम्बी ने इसकी पहचान डिस्कस के रूप में भी की है।[136] इससे मिलता जुलता कोई हथियार हड़प्पा से प्राप्त हुआ है तो उसे डिस्कस के रूप में नहीं अपितु उस बाँकी के रूप में ही लिया जा सकता है जिसका खण्डित अवशेष ही मिला है।[137] 'तपनी' जो डिस्कस की धारणा की याद दिलाती है, कभी-कभी हेती के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है।[138] एक स्थल पर इसके एक पृथक आयुध होने का

सन्देह होता है।[139] परन्तु वहाँ भी सम्भव है इसका प्रयोग तापकारक या शत्रु को क्लेश पहुँचाने वाले अर्थ में ही किया गया हो। इसकी पहचान करना अभी कठिन है।

पर वैदिक साहित्य का सबसे प्रधान और असन्दिग्ध रूप में विश्वसनीय हथियार धनुष और वाण ही है। युद्ध के अवसर पर जितने विस्तार और जिस आत्मीयता से इसका चित्रण किया गया है उतनी आत्मीयता और विस्तार के साथ अन्य किसी का नहीं। इसके संदर्भ में धनु,[140] ज्या[141] या प्रत्यंचा, आर्त्नि[142] या धनुष के छोर जिनसे प्रत्यंचा बाँधी जाती है, वाण[143] और इसके पर्याय शर[144], इषु तथा सायक[145] इसके फल[146] तरकश अर्थात् इषुधि[147] या वस्ति[148] तथा बचाव के लिए वर्म[149] का उल्लेख आया है। तकनीकी दृष्टि से इसे बहुत विकसित नहीं माना जा सकता। वाण का फल धातु[150] के अतिरिक्त सींग[151] का भी बना होता था। यह ध्यान देने योग्य है कि युद्ध के विवरण जहाँ स्पष्ट हैं वहाँ केवल और केवल धनुष, वाण, वर्मऔर इषुधि के उल्लेख आते हैं, अन्य किसी हथियार के नहीं, अतः मुख्य रूप से अन्य सभी हथियार औजार अथवा शिकार के हथियार हैं, युद्ध के नहीं। इनका उपयोग संकट की स्थिति में ही हथियार के रूप में किया जा सकता था। यह तथ्यहड़प्पा के हथियारों और औजारों में फ़र्क़ करने की दृष्टि से उपयोगी है।

युद्ध में रथों का उपयोग, निश्चय ही, केवल प्रधान व्यक्तियों द्वारा ही किया जाता रहा होगा। पर रथ संचालन के विषय में दक्षता का स्तर न केवल सारथी[152] के एक अलग कुशल पेशे के रूप में प्रकट होता है, अपितु इस बात से भी कि एक अच्छा सारथी घोड़ों को इतने अधिकार से चलाता है कि वह रथ को जब और जिधर चाहे मोड़ लेता है।[153] उसकी इच्छा जान कर ही घोड़े मुड़ जाते हैं, लगाम (रस्सियाँ) बाद में खिचती हैं।[154] युद्ध के सयम योद्धाओं के अतिरिक्त घोड़ों के भी रथों से भिड़ जाने का विवरण तथा अन्य पहलू युद्ध के एक प्रसंग को तो काव्यात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का सिद्ध करते हैं।[155]

इस तरह हम पाते हैं कि वैदिक जन आयुधों के मामले में न केवल हड़प्पा से आगे नहीं बढ़े थे, अपितु उनके हथियार ठीक वे ही हैं जो हड़प्पा के अवशेषों से प्राप्त हुए हैं। प्रश्न एक दो बातों को लेकर उठाया जा सकता है, कहें, उठाये जाते रहे हैं। घोड़ों से हड़प्पावासी परिचित न थे, रथ की उपस्थिति उस काल में सन्दिग्ध है और वर्म या कवच तो हड़प्पा के अवशेषों से मिला ही नहीं है। वर्म, जिसके साथ मार्शल ने अपनी ओर से शिरस्त्राण को भी जोड़ लिया है, के अभाव को मार्शल ने हड़प्पावासियों की अपने शत्रुओं से पराजय का प्रधान कारण माना है। पर भाषावैज्ञानिक साक्ष्यों के आधार पर कुछ विद्वान यह सुझाते हैं कि सं. घोट, हिं. घोड़ा, द्रविड़ 'गुर्रम्' से निकला है। इससे इतना तो ज़ाहिर ही है कि हड़प्पावासी घोड़े से अच्छी तरह परिचित थे और इसका उपयोग करते थे और इस

विषय में प्राप्त साक्ष्य भी सन्देहजनक नहीं है। रथ से उनके परिचय को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। इसकी लोकप्रियता इस बात से भी प्रकट है कि बच्चों के खिलौने के लिए भी इसके माडलों का उपयोग होता था।[158] जहाँ तक कवच का प्रश्न है, इसका न पाया जाना ही इस साम्य को सर्वांगीण साम्य बना देता है। कारण वैदिक जन जिस कवच या वर्म का प्रयोग करते थे वह कपड़े या चमड़े को सिल कर बनाया जाता था।[159] अतः यदि हड़प्पा से कवच के प्रमाण मिलते तो ही यह प्रश्न उठाया जा सकता था कि हड़प्पावासी जहाँ धातु के कवच का प्रयोग करते थे वहाँ वैदिक जनों के कवच कपड़े या चमड़े को सिल कर बनाये जाते थे।

इस तरह वैदिक संघर्षों की प्रकृति पर विचार करते समय हम पाते हैं कि वैदिक जन उन लोगों में से नहीं थे जिन्हें शस्त्रोपजीवी कहा जाता है। इन्द्र के जिन युद्धों या विजयों की बात की जाती है उनके अनेक अर्थ हैं, पर जहाँ लौकिक संघर्ष की पुष्टि होती है वहाँ ये मुख्यतः यात्राओं के दौरान हुए संघर्ष हैं और हैं भी तस्करों और दस्युओं के विरुद्ध। यहाँ भी वैदिक जनों का प्रयत्न हमेशा अपने शत्रुओं के साथ टकराव से बचने का रहता है।

अनेक प्रकरण जिनको परम्परागत व्याख्याकारों ने युद्ध से जोड़ा है और जिन्हें इसी आशय में आधुनिक पंडित भी ग्रहण करते रहे हैं, व्यापारिक प्रतिस्पर्धाओं के या व्यापारिक लाभ के सूचक हैं। यहाँ तक कि इनका सम्बन्ध दस्युओं के साथ टकराव से भी नहीं है। इन्द्र को जब अश्वजित, गोजित, सत्रजित, सुवर्णजित आदि कहा जाता है तो ऐसे स्थलों पर जीत का अर्थ न तो लूट है न ही जीत, अपितु व्यापारिक प्रतिलाभ या कमाई है, जिसमें लुटेरों आदि से अपने माल और जान को बचाकर सकुशल वापस आने का भी भाव निहित है। यह धन सम्पत्ति के बढ़ाने मात्र का सूचक है। जीत का अर्थ ही कमाई है। पर कुछ अवसरों पर इसका सीधा अर्थ आत्मरक्षा और अपनी सम्पत्ति की रक्षा में सफलता है। यह बात तब स्पष्ट हो जाएगी जब हम सोम पर विचार करें। यह पण्यवस्तु था और इसकी खरीद बिक्री होती थी, इस विषय में तो किसी सन्देह की सम्भावना ही नहीं है। सोम के बदले भी ठीक उन्हीं चीजों की प्राप्ति या कमाई होती है;

गो-जित् नः सोमः रथ-जित् हिरण्य-जित् स्वः-जित् अप्-जित् पवते सहस्र-जित्। ऋ. 9.78.4.

पर जहाँ वास्तविक युद्धों का वर्णन आता है वहा 'राजाओं' के आपसी टकराव हैं, जिनमें मुख्य सवाल आर्य—अनार्य का नहीं है, अपितु मैत्री और विरोध का है। इन युद्धों में भी प्रधान कारण व्यापारिक प्रतिस्पर्धा हो सकती है। यदि राजा की ओर से भी व्यापारिक सार्थ जाते रहे हों या कभी-कदा राजा अपने राजकुमारों

को भी इन उपक्रमों पर भेजते रहे हों तो आश्चर्य की बात नहीं । मिस्र इसका एक उदाहरण हो सकता है ।

इन सबके अतिरिक्त शान्ति और व्यवस्था की अपनी समस्याएँ थीं और इनके कारण भी यदाकदा दमन अभियान आवश्यक हो जाते रहे होंगे, जो त्रसदस्यु के नाम से भी प्रकट होता है ।

जो भी हो, वैदिक प्रवृत्ति अनावश्यक खून-खराबा करने की नहीं है । वे किसी भी प्रकार के टकराव को यथासम्भव टालते दिखाई देते हैं । जहाँ तक आतंक का प्रश्न है उनसे उनके शत्रु नहीं, अपने शत्रुओं से वे स्वयं आतंकित रहते हैं । उनकी दृष्टि में शौर्य की एक परिकल्पना यह है कि युद्ध से घिर जाने पर भी शूर बिना लड़े ही अपने को व अपने जनों को बचा कर सकुशल वापस आ जाता है, यद्यपि यह भी इन्द्र के सख्य या सहायता से ही सम्भव है ।[60]

पर यदि तर्क के लिए कुछ मामलों में गायें आदि छीनने की बात भी ली जाए तो, यहाँ उल्टा ही चित्र दिखाई देता है । गायें उनकी हुआ करती हैं और अपहरण करने वाले उनके शत्रु या तस्कर आदि हुआ करते हैं ।

साथ ही स्थायी सेना न होने की बात, या जहाँ युद्ध की स्थितियाँ हैं वहाँ उनको कबीलाई स्तर का करार देने की बात तथ्यों से अनमेल पड़ती है और इससे विद्वानों की एकांगिता प्रमाणित होती है न कि वैदिक युद्धों का कबीलाई स्तर । वैदिक संघर्षों का एक पक्ष निश्चय ही पिछड़ी अर्थव्यवस्था से चिपके हुए अपने ही पड़ोस के अन्य कबीलों से सम्बन्ध रखता है, पर इस पर हम इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में विचार करेंगे ।

जहाँ तक हड़प्पा से तुलना का प्रश्न है, दोनों में हर मामले में पूर्ण सादृश्य और अभेद दिखाई देता है। यह अभेद युद्ध, सुरक्षा की चिन्ता, व्यवस्था की चिन्ता, आयुध और उपकरण सभी मामलों में दिखाई देता है । यह संगति भाव और अभाव, जैसा कि कवच के मामले में हम देखतेहैं, दोनों में बनी रहतौ है । अतःइन्हें इस आधार पर एक दूसरे से कदापि भिन्न नहीं माना जा सकता ।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. देखेंजार्ज एफ. डेल्स, 'मिथिकल मैसेकर ऐट मोहनजोदड़ो', एक्सपेडीशन, 1964,6,3; 'सिविलाइजेशन ऐंड फ्लड्स इन दि इंडस वैली,' एक्सपेडीशन, 1965,7,4;एफ. ए. खान, 'आर्कियॉलॉजी इन पाकिस्तान,' एक्सपेडीशन, 1964,6,3; के. एम. श्रीवास्तव, 'दि मिथ ऑफ़ आर्यन इंवेजन ऑफ हड़घन टाउन्स,' फ्रइंसि, 1984 आदि।
2. इन्द्र के पर्यायों में उन्हें 'वृत्रहन', 1.84.3; 3.31.18; 4.30.1; 5.38.4, आदि 'वृत्रहन्तम', वृत्र का वध करने वालों में श्रेष्ठतम, 1.78.4; 6.16.48, आदि कहा गया है।
3. ऋ. 1.51.6; 2.12.11; 4.30.14; 6.18.8; 7.18.20 आदि।
4. ऋ. 2.15.9; 6.18.8; 7.19.4; 10.113.9, आदि
5. ऋ. 2-15.5; 6.18.8; 7.19.4; 10.113.9, आदि।
6. ऋ. 1.101.2; 2.14.5; 4.16.13; 5.29.11; 6.18.8,आदि।
7. ऋ. 2.14.5
8. ऋ. 1.11.7; 2.14.5; 4.16.12; 5.29.9; 6.18.8, आदि।
9. ऋ. 1.36.15; 8.60.10; 9.13.9, आदि।
10. ऋ. 1.53.6; 3.30.22; 4.24.10, आदि।
11. ऋ. 2.24.2
12. वृत्रो वृणोतेर्वा वर्त्तेतर्वा वर्धतेर्वा। नि. 2.10
13. वही। देखें,यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वं इति विज्ञायते, यत अवर्तत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वं इति ज्ञायते, यदवर्धत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वं इति विज्ञायते।
14. वृत्र मेध का पर्याय है, नि. 1.10; 'वृत्रो वै सोम आसीत।' शतब्रा 3.4.3.13
15. 'स यद् वर्तमानः समभवत तस्मात् वृत्रः।' शतब्रा. 1.6.3.9
16. 'वृत्राणि-आवरका घना इव शत्रुसैन्यानि।' दवैक
17. 'प्रकाशावरकं मेघमिव···'वही।
18. स यो ह एवं एतं वृत्रं अन्नादं वेद···शतब्रा 1.6.3.17
19. 'शं सुखं वृणोति यस्मात तं मेघं' दवैको.; 'शंबर मेघ, नि. 1.10; बल, वही तथा 1.9; उदक का पर्याय है, वही 1.12
20. 'चुमुरिं अत्तारम्' दवैको.; 'चोरम', वही, 317
21. धुनयः नदी का पर्याय', नि. 1.13; 'कम्पयियतारम्', दवैको 521
22. 'पिप्रुं व्यापनशीलं—प्रपूरकं, मेघं, शत्रुं वा' दवैको. 603

23. वही
24. 'शुष् शोषणे,' शुष्ण बल का पर्याय', नि. 2.9; 'शोषणकर्तारं मेघं', दवैको. 651
25. 'यो रुधीन् आवरकान् क्रामति तं (राजद्रोहिणं जनं)' दवैको
26. 'अम्बुदो मेघो भवति स (मेघः) यथा महान् बहु र्भवति वर्षः तत, इव अर्बुदम्', नि. 3.10
27. 'कुत्सिता यवा अन्नादि यस्य', दवैको 307
28. 'उरणं आच्छादकं', दवैको., 256
29. 'यो जलं न मुंचति', दवैको. 532; 'पाप्मा वै नमुचि', शतब्रा. 12.7.3.1-4
30. अध्वर्यवः यः स्वश्नं जघान यः शुष्णं अशुषं यः वि-अंसम्
यः पिप्रुं नमुचिं यः रुधिक्रां तस्मै इन्द्राय अन्धसः जुहोत ।। ऋ. 2.14.5; देखें, 6.18.8; 7.19.4; 10.113.9, आदि भी।
31. इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीः अधूनुतम् । साकं एकेन कर्मणा ।। ऋ. 3.12.6
32. स रन्धयत् सदिवः सारथये शुष्णं असुषं कुयवं कुत्साय
दिवोदासाय नवतिं च नव इन्द्रः पुरो वि ऐरत् शंबरस्य ।। ऋ. 2.19.6
33. अध्वर्यवः यः शतं शम्बरस्य पुरः बिभेद अश्मन इव पूर्वीः
यः वर्चिनः शतं इन्द्रः सहस्रं अप अवपत भरत सोमं अस्मै ।। ऋ. 2.14.6
34. ऋ. 2.14.3; 4; 5, आदि।
35. इन्द्राग्नी नवतिं पुरः दासपत्नीः अधूनुतम् । साकमेकेन कर्मणा । ऋ. 3.12.6 देखें, 10.65.2 भी।
36. हतं वृत्रं सुदानवः इन्द्रेण सहसा युजा । मा नः दुःशंस ईशत । ऋ. 1.23.9; देखें, 1.165.8 भी।
37. य ईं मह्रीं धुनिं एतोः अरम्णात् सः अस्नातॄन् अपारयत् स्वस्ति।
ते उत् स्नाय रयिं अभि प्र तस्थुः सोमस्य ता मदे इन्द्रः चकार। ऋ. 2.15.5
38. अहेः यातारं कं अपश्यः इन्द्र हृदि यत् ते जघ्नुषः भीः अगच्छत्।
नव च यत् नवतिं च स्रवन्तीः श्येनः न भीतः अतरः रजांसि ।। ऋ 1.32.14; देखें, ऋ. 10.104.8 भी।
39. ऋ. 2.14.4; 6, आदि।
40. अस्य मन्दानः मध्वः वज्रहस्तः अहिं इन्द्रः अर्णः वृतं हि वृश्चत्।
प्र यत् वयः न स्वसराणि अच्छ प्रयांसि च नदीनां चक्रमन्त ।। ऋ. 2.19.2; देखें 3 भी अर्थात् मधु से मस्त होकर इन्द्र ने जल को रोकने वाले अहि को विदीर्ण कर दिया और नदियाँ उसी तरह समुद्र की ओर दौड़ चली जैसे

पक्षी अपने घोंसले की ओर भागते हैं।

41. जल में वृत्र को पथरोधक के रूप में दिखाया जाता है। पर उसके जल में सोए होने के चित्र प्रायः आते हैं, "अहन् अहिं परि शयानं अर्णः ओजायमानं तुविजात तव्यान्। ऋ. 3.32,11

42. उत् दासं कौलितरं बृहतः पर्वतात् अधि। अव अहन् इन्द्र शम्बरम्। ऋ. 4.30.14

43 अध्वर्यवः यः दृभीकं जघान यः गा उत् आजत् हि वलं वः। तस्मै एतं अन्तरिक्षे न वातं इन्द्रं सोमैः आ ऊर्णतः जूः न वस्त्रैः ऋ. 2.14.3

44. देखें, सैक्रेड बुक्स ऑफ़ ईस्ट सीरीज़, 25, भूमिका पृष्ठ 23 पर एगलिंग के विचार और पादटिप्पणी भी।

45. पंचाशत् कृष्णा नि वपः सहस्रा अत्कं न पुरः जरिमा वि दर्दः। ऋ. 4.16:13

46. ऋ. 3.12.6

47. ऋ. 1.23.9 आदि। सबसे महत्वपूर्ण है इन पुरों का विदीर्ण किया जाना। इसकी उपमा पुराने वस्त्र को चीर देने से दी गई है; अत्कं न पुरः जरिमा वि दर्द'; 4.16.13; आ ऊर्णतः जूः न वस्त्रैः।" ऋ. 2.14.3 जो बादलों के फटने या विजली की कौंध के साथ एक लकीर सी बन जाने का बहुत ही मोहक चित्र है।

48. देखें, कीथ, माइथॉलॉजी ऑफ़ ऑल रेसेज, 4, 1917,263-65

49. एस. आर. शर्मा, पूर्व. 1983, 19; हिल्लेब्रांट, वैदिक माइथॉलॉजी 1, परिशिष्ट-2

50. दिवोदासात् अतिथिग्वस्य राधः शाम्बरं वसु प्रति अग्रभीष्म। ऋ. 6.47.22; 6.2.65

51. दुर्ग शब्द दुर्गम के अर्थ में पर्वत, रेगिस्तान और जंगल के लिए मूलतः प्रयोग में आता रहा है। दुर्गा या जंगलों की देवी का नामकरण इसी आधार पर हुआ है।

52. त्वं तत् उक्थं इन्द्र बर्हणा कः प्र यत् शता सहस्रा शूर दर्षि।
अव गिरेः दासं शम्बरं हन् प्र आवः दिवोदासं चित्राभिः ऊती॥
ऋ. 6.26.5
यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरदि अनु अविन्दत्।
ओजायमानं यः अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इंद्रः॥ ऋ 2.12.11.
'अव गिरेः, दासं शम्बरं हन्, पर अपने भाष्य में सायण लिखते हैं,' गिरे पर्वतान्निर्गतं शम्बरं असुरं अवहन् अवावधीः' अर्थात् पर्वत से निकले हुए

शम्बर को मारा।' और 'पर्वतेषु क्षियन्त्रं' को वह 'पर्वतगुहासु निवसन्तं' अर्थात् पर्वत की गुफा में रहने वाला बताते हैं।

53. दुर्गाः का अर्थ सायण 'दुर्गा गंतुं दुःशकानि' अर्थात् 'जहाँ पहुँच पाना दुष्कर हो' करते हैं, देखें, ऋ. 1.41.3; 1.06.1 में वह दुर्गात् को 'गंतुं अशक्यान निम्नोन्नतात्' अर्थात् ऊँचा-नीचा होने के कारण (रथ से) अगम्य मानते हैं।

54. इन विवरणों में शम्बर को 'महि', बहुत बड़ा, 'शर्ध' दुस्साहसी, 'मन्यमान' घमंडी, 'ओजायमान' अकड़ या घमंड से आया हुआ दिखाया गया है। देखें ऋ. 2.12.10-11 भी।

55. नि येन मुष्टि हत्यया नि वृत्रा रुणधाम है। ऋ. 1.8.2; देखें, 5.58.4; 6.26.2 आदि भी।

56. पुर-भेदन का सम्बन्ध जहाँ मानव-संघर्ष से है वहाँ पुर नौका (दस्युओं की नौका) और पर्वतीय क्षेत्रों के मामले में लुटेरों का दल है। देखें, भगवान सिंह, 'ऋग्वेद में पुर', ऋतम्भरा, 1986

57. ह्वीलर; पूर्व; 1953, 18; कोसंबी, 1965

58. एतत् त्यत् ते इन्द्रियं अचेति येन अवधीः वरशिखरस्य शेषः।
वज्रस्य यत् ते निहतस्य शुष्मात् स्वनात् चित् इन्द्र परमः ददार।।
वधीत् इन्द्रः वरशिखस्य शेषः अभि आर्वातिने चायमानाय शिक्षन्।
वृचीवतः यत् हरियूपीयायां हन् पूर्वे अर्धे भियसा अपरः दर्त्।।
त्रिंशत् शतं वर्मिणः इन्द्र साकं यव्यावत्यां पुरूहूत श्रवस्या।
वृचीवन्तः शरवे पत्यमानाः पात्रा भिन्दाना नि अर्थानि आयन्।। ऋ. 6.27.4-6

59. शतं मा पुरः आयसीः अरक्षन् अध श्येनः जवसा निः अदीयम्। ऋ. 4.27.1

60. देखें, ऋ. 7.104.16 जिससे इस बात का आभास मिलता है कि सम्भवतः वसिष्ट को भी किसी ने यातुधान—अभिचार करने वाला—कह कर गाली दी है।

61. ये पाकशंसं विहरन्ते ऐवैः ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः।
अहये वा तान् प्रददातु सोमः आ वा दधातु निर्ऋतेः उपस्थे।। 7. 104.9

62. यः नः रसं दिप्सति पित्वः अग्ने यः अश्वानां यः गवां यः तनूनाम्।
रिपुः स्तेनः स्तेयकृत् दभ्र एतु नि सः हीयतां तन्वा तना च।। 7.104.10; यह पूरा सूक्त इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

63. तॉल्स्तॉय ने वार एंड पीस में रूस के गिरजाघरों में उस खास दौर में चल

रही प्रार्थनाओं और मनौतियों का, देवताओं (आइबीरियन देवी की प्रतिमा) की कृपा और ईश्वर से प्रार्थना के बल पर शत्रु का सर्वनाश करने या उसको पराजित करने की कामना का चित्रण किया है, जब नैपोलियन की सेनाएँ विजय हासिल करती हुई मास्को के निकट पहुँच आयी हैं। ऋग्वैदिक प्रार्थनाओं का इनसे अद्भुत साम्य दिखाई देता है।

64. सः नः दूरात् च आसात् च नि मर्त्यात् अघायोः । पाहि सदं इत् विश्व आयुः । ऋ. 1.27.3
65. पाहि नः अग्ने रक्षसः पाहि धूर्ते अराव्णः ।
पाहि रिषतः उत वा जिघांसतः बृहद्भानो यविष्ठ्य ॥ ऋ. 1.36.15
66. ऊर्ध्वः नः पाहि अंहसः नि केतुना विश्वं सं अत्रिणं दह । ऋ. 1.36.14
67. अदब्धेभिः पायुभिः पाहि अस्मान् । ऋ. 1.95.9
68. स्तेनः वा यः दिप्सति नः वृकः वा त्वं तस्मात् वरुण पाहि अस्मान् । ऋ. 2.28.10
69. द्रुहः रिषः संपृचः पाहि सूरीन । ऋ. 2.35.6
70. रक्षा नः अग्ने तब रक्षणेभिः ररक्षाणः सुमख प्रीणानः ।
प्रति स्फुर विरुज वीडु अंहः जहि रक्षः महि चित् ववृधानम् ॥ ऋ. 4.3.14
71. दह अशसः रक्षसः पाहि अस्मान् द्रुहः निदः मित्रमहः अवद्यात् । ऋ. 4.4.15
72. तेजिष्ठया तपनी रक्षसः तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम् ।
आविः तत् कृष्व यत् असत् ते उक्थ्यं बृहस्पते वि परि-रपः अर्दय । ऋ. 2.23.14
73. मा नः स्तेनेभ्यः ये अभि द्रुहः पदे निरामिणः रिपवः अन्नेषु जागृधुः 1··· ऋ. 2.23.16
74. सख्ये ते इन्द्र वाजिनः मा भेम शवसः पते । त्वां अभि प्र नोनुमः जेतारं अपराजितम् ॥ ऋ. 1.11.2
75. पाहि नः अग्ने पायुभिः अजस्रैः उत प्रिये सदने आ शुशुक्वान ।
मा ते भयं जरितारं यविष्ठ नूनं विदत् मा अपरं सहस्वः ॥ ऋ. 1.189.4
76. यः मे राजन् युज्यः वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्य आह ।
स्तेनः वा यः दिप्सति नः वृकः वा त्वं तस्मात् वरुण पाहि अस्मान् ॥ ऋ. 2.28.10
77. इन्द्रः अंग महद् भयं अभि सत् अप चुच्यवत् । सः हि स्थिरः विचर्षणिः ॥ ऋ. 2.41.10
78. अर्वांचः अद्य भवत यजत्राः आ वः हार्दि भयमानः व्ययेयम् ।
त्राध्वं नः देवाः निजुरः वृकस्य त्राध्वं कर्तात् अवपदः यजत्राः ॥ ऋ. 2.29.6

79. पाहि नः अग्ने एकया पाहि उत द्वितीयया ।
पाहि गीः भिः तिसृभिः ऊर्जां पते पाहि चतसृभिः वसो ।। ऋ. 8.60.9

80. बृहस्पतिः नः परि पातु पश्चात् उत् उत्तरस्मात् अधरात् अघायोः ।
इंद्रः पुरस्तात् उत मध्यतः नः सखा सखिभ्यः वरिवः कृणोतु ।। ऋ. 10.42.11; 43.11; 44.11, आदि ।

81. जामि अजामि प्र मृणीहि शत्रून् । ऋ. 4.4.5; जहि शूर शत्रून् जामि अजामिम् । ऋ. 6.44.17; जामि अजामि पृतनासु सक्षणिम् । ऋ. 1.111.3, आदि ।

82. यः अस्मान् अभिदासति अधरं गमया तमः । 10.152.4
यः नः अग्ने अभिदासति अन्ति दूरे पदीष्ट सः । ऋ. 1.79.11, आदि ।

83. याः सेना अभीत्वरीः आव्याधिनीः उगणाः उत । ये स्तेना ये च तस्कराः तान् ते अग्ने अपि दधामि आस्ये । दंष्ट्राभ्यां मलिम्लुच जंभ्यैः तस्करां उत । हनुभ्यां स्तेनान भगवन् तान् त्वं खाद सुखाद इति ।। ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनासः तस्करा वने । ये कक्षेषु अघायवः तान ते दधामि जम्भयोः ।। यजु. 11.77-79

84. शं नः इन्द्राग्नी भवतां अवःभिः शं नः इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शं इन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं नः इन्द्रापूषणा वाजसातौ ।।
शं नः भगः शं ऊं नः शंसः अस्तु शं नः पुरन्धिः शं ऊं सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नः अर्यमा पुरुजातः अस्तु ।
शं नः धाता शं ऊं धर्ता नः अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः ।
शं रोदसी बृहती शं नः अद्रिः शं नः देवानां सुहवानि सन्तु ।।
शं नः अग्निः ज्योतिः अनीकः अस्तु शं नः मित्रवरुणौ अश्विना शम् ।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं नः इषिरः अभि वातु वातः ।।
शं नः द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शं अन्तरिक्षं दृशये नः अस्तु ।
शं नः ओषधीः वनिनः भवन्तु शं नः रजसः पतिः अस्तु जिष्णुः ।।
शं नः इन्द्रः वसुभिः देवः अस्तु शं आदित्येभिः वरुणः सुशंसः ।
शं नः रुद्रः रुद्रेभिः जलाषः शं नः त्वष्टा ग्नाभिः इह श्रणोतु ।।
शं नः देवः सविता त्रायमाणः शं नः भवन्तु उषसः विभातीः ।
शं नः पर्जन्यः भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिः अस्तु शंभुः ।।
शं नः सत्यस्य पतयः भवन्तु शं नः अर्वंतः शं ऊं सन्तु गावः ।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नः भवन्तु पितरः हवेषु ।।
शं नः अजः एकपात् देवः अस्तु शं नः अहिः बुध्न्यः शं समुद्रः ।
शं नः अपां नपात् पेरुः अस्तु शं नः पृश्निः भवतु देवगोपा ।।
ऋ. 7.35 की कुछ ऋचाओं को विस्तार से बचने के लिए छोड़ दिया गया है ।

85. ऋ. 2.21.1; 9.59.1; 78.4, आदि।
86. ऋ. 1.188.1; 5.26.6, आदि।
87. ऋ. 2.21.1; 3.42.6; 6.16.15; 8.45.13; 8.98.4, आदि।
88. ऋ. 1.11.2; 5.25.6; 7.32.6, आदि।
89. यत्रा नर: समयन्ते कृतध्वज: । ऋ. 7.83.2
90. रथे तिष्ठन् नयति वाजिन: पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथि:। अभीशूना महिमानं पनायत मन: पश्चात् अनुयच्छन्ति रश्मय: ।। ऋ. 6.75.6
91. रथवाहनं हवि: अस्य नाम यत्रायुधं निहितं अस्य वर्म। तत्रा रथं उप शग्मं सदेम···ऋ. 6.75.8
92. वर्मी याति समदां उपस्थे। ऋ. 6.75.1
93. ऋ. 6.75.2-4
94. ऋ. 1.66.4; 116.1; 143.5; 186.9; 2.33.11; 5.30.9; 7.25.1; 10.103.1, आदि।
95. ऋ. 7.20.5; 9.96.1; 10.34.12; 84.2, आदि।
96. ऋ. 6.75.1
97. चित्रसेना इषुबला अमृध्रा: सतोवीरा उरव: व्रातसाहा:। ऋ. 6.75.9
98. इदं पर्जन्य रेतस इष्वै देव्यै बृहन् नम:। ऋ. 6.75.15; यत्र वाणा: सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। ऋ. 6.75.17, आदि।
99. सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्षते इन्द्र दिवि घोष आरुहत। ऋ. 7.83.3
100. देखें, पीछे, 2.4
101. ए. पी. गुप्ता, डिस्पोजल ऑफ़ दि डेड ऐंड फ़िज़िकल टाइप्स, 1972, 78. विभा त्रिपाठी, पूर्व.
102. आर. एस. शर्मा, पूर्व., 1983, पृ. 12, 23,51 आदि; एम. आर. बनर्जी, आयरन एज इन इंडिया, 1965; एस. पी. गुप्त, महाभारत : मिथ ऐंड रिएलिटी, भूमिका; के. सी. वर्मा, दि एज ऑफ़ महाभारत वार, भूमिका आदि।
103. जिम. जे. शैफर, ब्रांज़ एज आइरन फ्रॉम अफ़ग़ानिस्तान···, 1984, 41.62
104. ऋ. 1.35.10; 2.7.2; 7.32.27, आदि।
105. अरुण केसरवानी, 'हड़प्पन गेटवेज़ : ए फ़ंक्शनल असेसमेंट', फ्रंडसि 1984, 63-74

106. मार्शल, पूर्व. 1931.1. भू. 6; ह्वीलर, पूर्व., 1953. 52, और आगे; चित्र 10. पृ. 54; बैशम, पूर्व; 1967, 22

107. पूर्व, 53

108. कोसम्बी, पूर्व., 1946,35

109. देखें पूर्व; पृ. 31 और तुलना करें उन्हीं के पृ. 110-12 से।

110. ऋ. 1.133.2

111. ऋ. 1.80.6; 8.6.6; 76.2; 89.3

112. ऋ. 1.85.9; 5.34.2; 6.17.10

113. ऋ. 1.8.3; 2.11.4; 3.32.12; 4.16.7; 5.29.2; 6.17.10; 7.18.18 आदि।

114. तुलना करें मार्शल, पूर्व; 111; ऋ. 1.52.8; 81.4; 10.48.3;

115. ऋ. 1.32.5; 3.2.1

116. ऋ. 3.53.22; 4.6.8; 6.3.4; 7.100.21, आदि।

117. ऋ. 8.83.1; 9.67.30

118. परशुं चित् वि तपति शिम्बलं चित् वि वृश्चति। ऋ. 3.53.22
विजेहमानः परशुः न जिह्वां द्रविः न द्रावयति दारु धक्षत्। ऋ. 6.3.4

119. ऋ. 7.83.1

120. भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः राजानः इव त्वेष संदृशो नरः। ऋ. 1.85.8

121. अंसेषु एषां नि मिमृक्षुः ऋष्टयः साकं जज्ञिरे स्वधया दिवः नरः। ऋ. 1.64.4
अंसेषु वः ऋष्टयः पत्सु खादयः वक्षःसु रुक्मा मरुतः रथे शुभः। ऋ. 5.54.11

122. ऋ. 1.179.6

123. यवं वृकेण अश्विना वपन्ता इषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा। ऋ. 1.117.21
दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः। ऋ. 8.22.6

124. ऋ. 4.4.4; 6.74.4

125. ऋ. 4.5.3

126. सायण 4.4.4 के भाष्य में हेति का अर्थ ज्वाला करते हैं; 6.74.4 में तीक्ष्ण शर; 4.5.3 में भृष्टि का अर्थ तेज करते हैं; 1.56.3 में सींग, 1.53.15 में 'भ्रंशयति शत्रून् इति भृष्टिः।' पर जहाँ वज्र के साथ सहस्रभृष्टि का प्रयोग आया है, जैसे 1.95.9, वहाँ 'अनेकाभिः धाराभिः

युक्तम्' करते हैं।
127. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, 1981, 1303
128. पूर्व., 1953, 53
129. ऋ. 6.74.4
130. ऋ. 9.97.9
131. ह्वीलर, पूर्व., 53
132. ऋ. 10.79.6; 89.8
133. ऋ. 1.162.20
134. ऋ. 10.22.10; देखें, मार्शल, पूर्व.
135. ऋ. 1.155.6; 10.101.7
136. पूर्व. 1965, 115. चक्र पत्थर का हथियार हो सकता है, ऋ. 10.101.7
137. देखें, ह्वीलर, 1953, चित्र 10.9
138. ऋ. 2.23.14
139. ऋ. 4.4.2
140. ऋ. 6.75.2; 8.72.4; 77.11; 10.27.17, आदि।
141. ऋ. 6.75.3; 4.27.3
142. ऋ. 6.75.4; 10.166.3
143. ऋ. 1.85.10; 4.24.9;8.20.8
144. ऋ. 6.75.16; 8.70.13; 10.27.6, आदि।
145. ऋ. 8.77.7; 1.128.6; 5.41.6; 5.50.1; 6.75.9, आदि में इषु, तथा 1.32.3; 84.11; 2.33.10; 3.53.23, आदि में सायक।
146. ऋ. 6.75.11
147. ऋ. 6.75.5; 10.95.3; 1.33.3, आदि।
148. ऋ. 4.25.2; 5.49.3; 6.3.6;75.11, आदि।
149. ऋ. 1.31.15; 114.5; 6.75.8; 7.31.6, आदि।
150. ऋ. 6.75.15
151. ऋ. 6.75.11; 15
152. ऋ. 1.55.7; 2.19.6; 6.20.5; 57.6; 75.6
153. रथे तिष्ठन् नयति वाजिनः पुरः यत्र-यत्र कामयते सुसारथिः। अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चात् अनु यच्छन्ति रश्मयः ।। ऋ, 6.75.6
154. वही।
155. अश्वा अश्वेभिः सह वाजयन्तः। ऋ. 6.75.7

156. मार्शल, 1931,1,111
157. ब्लॉख, प्री-आर्यन ऐंड प्री-द्रविडियन इन इंडिया, 1929, 46
158. राव, पूर्व., 308
159. वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि। ऋ. 10.101.8; अर्थात् सिल कर खूब मोटा और बड़ा वर्म तैयार करो।
160. अयुद्ध इत् युधा वृतं शूरः आजति सत्वभिः । येषां इन्द्रः युवा सखा ॥ ऋ. 8.45.3

अध्याय चार

आर्थिक आधार

सभ्यता का मेरुदण्ड उसका आर्थिक ढाँचा होता है। युद्ध या प्रतिरक्षा से सभ्यता या बर्बरता का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अतः किसी सभ्यता के स्तर का निर्धारण करने के लिए उसकी अर्थ-व्यवस्था को समझना जरूरी है। जब हड़प्पा और वैदिक सभ्यताओं को परस्पर असम्बद्ध मानते हुए इनका विवेचन किया जाता है, तब इस बात पर विशेष रूप से बल दिया जाता है कि हड़प्पा सभ्यता नगर-सभ्यता थी, जब कि वैदिक सभ्यता कृषि और पशुचारण पर आधारित थी। सिद्धान्ततः प्राचीन काल में सुदृढ़ कृषि और पशुधन के अभाव में नगर-सभ्यता विकसित नहीं हो सकती थी। इन दोनों स्रोतों के उत्कृष्ट और अतिरिक्त उत्पादन से ही क्रमशः नगर-सभ्यता का जन्म हुआ। अतः यह स्वीकार करना होता है कि हड़प्पा सभ्यता कृषि और पशुधन के मामले में भी आगे बढ़ी हुई थी।[1] इसकी पुरातात्विक पुष्टि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के विशाल अन्नागारों, कालीबंगां से पूर्व-हड़प्पा स्तर पर हलाई के निशानों, हड़प्पा की मुहरों पर अंकित पशुओं की आकृतियों आदि से भी होती है। पशुओं की हड्डियों के अध्ययन भी यही बताते हैं। यही बात विभिन्न प्रकार के अन्नों के अध्ययन से उभरती है। अल्चिन व अल्चिन (1982) में इसका पूर्ण विवरण दिया है। पर तुलनात्मक विवेचनों में इन तथ्यों की स्वीकृति के बाद भी कृषि और पशुधन वाले पहलू की उपेक्षा की जाती है, विशेष रूप से इतिहासकारों द्वारा।

इसके विपरीत वैदिक सभ्यता के कृषि और पशुधन की बात करते समय भी विशेष बल इसके पशुधन पर दिया जाता है। इसके नागर पक्ष की उपेक्षा कर दी जाती है। प्रच्छन्न रूप से यह मान लिया जाता है कि जो सभ्यता पशुधन और कृषि पर आधारित है उसका नगरों से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वैदिक समाज को मैक्समूलर आदि ने प्रायः जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसको सार रूप में डॉ. आर. एस. शर्मा[2] के शब्दों में निम्न रूप में देखा जा सकता है :

"सिन्धुघाटी की शहरी सभ्यता के उदय से पहले ही भारतीय समाज का बनना आरम्भ हो गया था, पर ऋग्वेद से लेकर निरन्तर हमारे समाज का विकास होता रहा, कभी इसकी गति तेज़ और कभी धीमी रही। ऋग्वैदिक लोग प्रधानतः पशुपालक थे। जौ उपजाते थे, पर जीने का असल साधन गाय-गोरू का पालन था। वे अलग-अलग कबीलों में बँटे थे, और बराबर गोरू के लिए लड़ते रहते थे। इसलिए युद्ध का नाम गवेषण, अर्थात् गोरू की खोज पड़ा। सरदारों और पुरोहितों के पास अधिक पशु होते थे, उन्हें दासियों का भी अभाव नहीं था। सरदार अपने कबीले के प्रधान होते थे, और राजा कहलाते थे। हारे हुए कबीलों पर उनकी ज़ोर-ज़बरदस्ती चलती, पर अपने भाई-बन्दों से उन्हें केवल नज़राना मिलता था। मूलतः पशुचारी होने के कारण लोग कर देने की स्थिति में नहीं थे। भाई-बन्दों के अलावा सरदारों के पास कोई बराबर लड़ने वाली सेना नहीं थी। समाज में काफ़ी समता थी, और लोग अपने-अपने कबीले की सभा में लूट का माल बाँट लेते थे। सरदारों और पुरोहितों का ऊँचा पद था, पर उनका न अलग-अलग वर्ण था और न कोई वर्ग था।"[2]

यदि उक्त विवरण पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि इसमें अन्तर्विरोध भरे हुए हैं; कुछ पहलुओं की पड़ताल करने में कसर रह गयी है। प्रश्न यह उठता है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता तक समाज कहाँ तक बन चुका था? क्या वह नगर-सभ्यता की अपेक्षाओं के लिए पर्याप्त था? क्या बर्बर और पशुचारी आर्यों के सम्पर्क में आने के बाद हड़प्पा सभ्यता के विशाल जन-समाज ने बर्बरता को इतना रुचिकर पाया कि वे भी इसी पिछड़ी अर्थ-व्यवस्था या अव्यवस्था की ओर लौट गये? क्या इतिहास में इसका कोई और उदाहरण मिलता है? यदि वे पीछे नहीं लौटे तो क्या उनकी सामाजिक निर्मिति अलग विकसित हुई? ऋग्वैदिक काल से लगातार विकास का जो क्रम दिखायी देता है उसकी संगति क्या है?

डॉ. शर्मा लिखते हैं, "यद्यपि अर् धातु, जिससे आर्य शब्द निकला है, का अर्थ खेती करना होता है, पर वंश मण्डलों (फैंमिली बुक्स)[3] से पता चलता है कि वैदिक जन मुख्यतः पशुचारी थे।"[4] वह साथ ही इस बात की भी याद दिलाते हैं कि आगे चलकर भारतीय सन्दर्भ में इसका अर्थ श्रेष्ठ हो गया था और वह भी इस तथ्य के बावजूद कि दोनों उच्च वर्णों के लिए खेती करना वर्जित था।[5]

वास्तविकता यह है कि आर्य शब्द प्राचीन मण्डलों के समय में भी श्रेष्ठता का सूचक बन चुका था।[6] यदि आर्य शब्द का मूल अर्थ किसान था और ऋग्वैदिक काल तक इसका अर्थ श्रेष्ठ या अमीर हो गया था तो इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि कृषि का सुदृढ़ आधार ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों से बहुत पहले कायम हो चुका था और इसके उच्चवर्ण अब खेती का श्रम-भार किन्हीं दूसरों पर डाल कर इसका लाभ उठा रहे थे और स्वयं किन्हीं ऐसे कार्यों से जुड़े हुए थे जिनमें अन्य बातों के

अलावा इस उत्पादक वर्ग को नियंत्रित करना भी शामिल था ।

1
वैदिक पशुचारी संस्कृति का आधार

जिन तथ्यों पर एकांगी बल देते हुए वैदिक समाज को पशुचारी सिद्ध किया जाता रहा है, उन्हें निम्न रूप में रखा जा सकता है :

1. ऋग्वेद के प्राचीन अंशों में कृषि की तुलना में 'गो' शब्द का अधिक प्रचुरता से प्रयोग हुआ है ।

2. 'गोमत्' शब्द का अर्थ धनवान या रयिवान है और 'गो' धन या रयि का वाचक है ।

3. कृषि का सूचक 'कृष्टी' शब्द हो सकता है, पर सायण के अनुसार इसका अर्थ प्रजा और वह भी शत्रु-जन है ।

4. ऋग्वेद के अनेक शब्दों से यायावरी के संकेत मिलते हैं जिनमें से एक 'चर्षणी' है ।

5. दानस्तुतियों में गाय का उल्लेख तो आया है, पर कहीं अन्नदान का नहीं ।

6. युद्ध के अनेक पर्याय ऐसे हैं जिनके पूर्वपद के रूप में 'गो' शब्द आया है, इससे प्रकट है कि युद्ध अकसर पशुओं को लेकर होते थे ।

7. बँटवारे या हिस्सा लगाने की बात बार-बार आती है । इससे प्रकट होता है कि लूट का माल लुटेरों में बराबर बाँट लिया जाता था और कृषि का उत्पादन भी सामूहिक आधार पर होता था जिसमें से लोगों का हिस्सा बाँटा जाता था ।

ऐतिहासिक विवेचन के लिए भाषिक आँकड़ों का उपयोग करते हुए अधिकारी भाषाविदों से भी चूक हुई है । कारण यह है कि भाषा में परिवर्तन ठीक उसी तरह नहीं होता जैसे आर्थिक आधार और सामाजिक सम्बन्धों में । इस दृष्टि से भाषा आधार और अधिविन्यास दोनों की सीमाओं का अतिक्रमण करती है । प्राचीन सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों के दबाव में निर्मित अभिव्यक्तियाँ इन सम्बन्धों के बदल जाने के बाद भी भाषा में जीवित रहती हैं । दमड़ी, छदाम और कौड़ी का चलन समाप्त हो जाने के बाद भी दमड़ी, छदाम और फूटी कौड़ी पास न होने के मुहावरे चलते रहते हैं । जिन लोगों की प्रधान सम्पत्ति कभी उनकी पशु सम्पदा ही थी वे हज़ारों वर्षों तक सिक्के का प्रयोग करते रहने के बाद भी जब बिलकुल धन-दौलत की बात कर रहे हों तो 'गो-धन गज-धन वाजि-धन और रतन-धन खान' की बात तो करते हैं पर अनाज और सिक्के का नाम भी नहीं लेते । परिष्कृत मानों के

विकास के बाद भी ग्रेन, ग्राम, मासा, रत्ती, क्यूबिट, फर्लांग (फर्रो लांग), फूल्स-कैप, जैसे प्रयोग चलते रहते हैं। इसके आधार पर युग की तसवीर बनाने चलें तो पता चलेगा कि सम्बन्धित समाज अभी पशुचारी और आदिम कृषि की अवस्था से उबर ही नहीं पाया है। पर सांस्कृतिक स्तर का निर्धारण करने के लिए विशिष्ट प्रकृति की कृतियों से धनात्मक और ऋणात्मक प्रमाण जुटाते समय उचित सावधानी नहीं बरती गयी है।

पशुचारी संस्कृति के समर्थन में विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये जाने वाले जिन तर्कों का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं उनकी तफ़सील में जाने पर हम पाते हैं कि वैदिक साहित्य जिस वर्ग को सम्बोधित है उसकी रुचि कृषि में तो कम थी ही, पशुपालन में उसकी दिलचस्पी कृषि से भी कम थी। यह बात कुछ विस्मय में डालने वाली हो सकती है कि ऋग्वेद में कृषि-प्रचालनों के उल्लेख जिस तन्मयता के साथ आये हैं उस तन्मयता से गोचारण का एक भी उल्लेख नहीं आया है। इतना ही नहीं अपितु गोचारण के उल्लेख कृषि की तुलना में संख्या में भी कम हैं। इसके विपरीत उद्योग और शिल्प के उल्लेख कृषि की अपेक्षा अधिक प्रचुरता से आते हैं और वाणिज्य के उससे भी अधिक प्रचुरता से। रागात्मकता का पुट भी ठीक इसी अनुपात में है।

जब हम ऋग्वेद को पुराने और नये मण्डलों में बाँट कर यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि पुराने मण्डलों के रचनाकाल में आर्थिक आधार नये मण्डलों से भिन्न था तो सामान्यतः हम इस बात का ध्यान नहीं रखते कि इनके बीच समय का जितना छोटा अन्तराल रखा गया है उतने छोटे अन्तराल में पुरानी अर्थ-व्यवस्थाएँ बदल नहीं जाया करती थीं। और यदि अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन के लिए अपेक्षित अन्तराल की छूट देते हुए यह दावा किया जाये तो नये और पुराने मण्डलों के बीच हज़ारों वर्ष का अन्तराल आ जायेगा जो अपने तईं ही एक मुसीबत पैदा कर देगा।

डॉ. शर्मा के अनुसार ऋग्वेद में 'गो' शब्द का विविध रूपों और विकारों सहित 176 बार प्रयोग हुआ है, यद्यपि उन्होंने प्रत्येक मामले में यह निश्चित करने का प्रयत्न नहीं किया है कि यह प्रयोग किन अर्थों में हुआ है। 'गो' शब्द की तुलना कृषि के उल्लेखों से करना भी उचित नहीं है। यदि गोचारण की तुलना कृषि-प्रचालन से की जाये तो ऐसा करना सर्वथा उचित होगा, पर यदि 'गो' शब्द को लिया जाये तो इसकी तुलना कृषि के साधन वृषभ से की जानी चाहिए। आँकड़ा सांख्यिकीय आधार पर भी त्रुटिपूर्ण है। ऋग्वेद में 'गो' शब्द का विभिन्न रूप-विकारों में उससे कहीं बहुत अधिक बार प्रयोग हुआ है जितना सुझाया गया है।[7] पर रोचक बात यह है कि 'गो' शब्द बहुत कम स्थलों पर गाय का सूचक है।[8] इसका प्रयोग पशुमात्र, गाय या बैल, गमनशील, भूमि, वाणी, जल, इन्द्रिय, किरण,

धन, गो-उत्पाद—चमड़े आदि से बनी वस्तु, बैल पर लदे सामान आदि विविध अर्थों में हुआ है। अन्य अर्थों को छोड़ भी दें, यदि केवल इस बात का ही अनिश्चय बना रहता है कि किसी स्थल पर इसका अर्थ गाय है या बैल तो भी स्थिति अनिर्णायक हो जाती है। कारण, एक जहाँ पशुचारण की प्रधानता को प्रकट करेगा वहाँ दूसरा कृषि की प्रधानता को। और यदि यह प्रयोग माल-वहन के लिए प्रयुक्त बैलों और गाड़ियों के लिए भी हुआ हो तो यह वाणिज्यिक गतिविधियों से सम्बन्ध रखेगा।

गोमान और धनवान के समीकरण पर और 'गो' शब्द के धनवाची माने जाने के विषय में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इस बात पर बल देना ही पर्याप्त होगा कि धनी के लिए 'गोमत्' शब्द का प्रयोग बहुत कम बार ही हुआ है। धन के अन्य पर्यायों और धनी के लिए उनसे बने शब्दों को तुलना के लिए लें और नये तथा पुराने मण्डलों में इनकी आवर्तिता पर विचार करें तो दूसरी श्रेणी में आने वाले शब्दों की आवर्तिता बहुत अधिक पड़ेगी।

ऋग्वेद में 'कृष्टी' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में आया है, सामान्य प्रजा और किसान। दूसरे शब्दों में कहें तो सामान्य प्रजा के लिए किसान शब्द का प्रयोग स्वतः इस बात का सूचक है कि खेती का आधार बहुत व्यापक था। किसान का अर्थ ही था जनता। 'कृष्टी' शब्द का 'शत्रु जन' के अर्थ में यदि में कहीं प्रयोग हुआ है तो वह हमारी नजर में नहीं आया। डा. शर्मा ने ऋ. 6.21.2 का हवाला दिया है। पर उसमें 'कृष्टी' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। यहाँ छापे की भूल हो गयी लगती है। इस तरह का अर्थ सायण ने ऋग्वेद 7.19.1 में किया है। पर सायण की व्याख्याओं की अपनी सीमाएँ हैं। इस ऋचा से केवल यह प्रकट होता है कि भूस्वामियों और भूश्रमिकों के आपसी सम्बन्ध तनावपूर्ण थे, या वसूली की दर क्षोभकर थी और प्रायः किसान कर देने में हीला-हवाला करते थे। यह तथ्य भी इस प्रस्तावना के अनुरूप ही है कि इस काल में भूमि पर जिनका स्वामित्व था वे उत्पादन कार्य में प्रत्यक्ष भाग न लेते हुए भी इसका अधिकतम लाभ स्वयं अर्जित कर रहे थे। ऋ. 8.18.3 में 'कृष्टी' का अर्थ सायण ने 'पुत्रदासादीन' किया है और इस ओर भी शर्मा जी ने ध्यान दिलाया है, पर यह भी इसी बात की पुष्टि करता है कि भूस्वामित्व किन्हीं और के पास था और श्रमकार्य के लिए आश्रितों और दासों का प्रयोग किया जा रहा था।

ऋग्वेद में जिस यायावरी के संकेत मिलते हैं वह पूरे समाज की यायावरी नहीं अपितु इसके एक विशेष वर्ग की और एक विशेष प्रयोजन से, एक निश्चित ठिकाने से किन्हीं अनिश्चित या अर्धनिश्चित ठिकानों तक आवाजाही है जिस पर हम व्यापार और वाणिज्य के सन्दर्भ में विचार करेंगे।

दानस्तुतियों में यदि अन्न के स्पष्ट उल्लेख नहीं आते तो जिन वस्तुओं के

उल्लेख आते हैं, जैसे उत्कृष्ट भोजन, वाहन—घोड़ा, ऊँट, रथ, बैलगाड़ी—वस्त्र, आभूषण आदि, वे चारणजीवी अवस्था से कितना मेल खाते हैं? यदि केवल दान-स्तुतियों में अनाजों का या अन्न-दान का उल्लेख नहीं आया तो इसकी पूर्ति सुन्दर भोजन से हो जाती है जो ही सन्दर्भों को देखते हुए उचित भी है, पर सोचना तो यह चाहिए कि पूरे ऋग्वेद में 'दुग्ध' शब्द का प्रयोग एक बार भी क्यों नहीं हुआ है? इसकी तह में जाने पर अन्नदान के अभाव की शिकायत दूर हो जायेगी। इसके अतिरिक्त यदि दान लूट के माल का वितरण है तो अन्य वस्तुएँ लूटते हुए अनाज की लूट क्यों नहीं की जाती थी? वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण, रथ आदि चरवाहों से तो नहीं ही लूटे जाते रहे होंगे।

गविष्टि, गवेषण आदि शब्द युद्ध के अर्थ में रूढ़ हो चुके हैं। इसका कारण क्या है, इस पर हम कुछ संकेत कर आये हैं। इसकी विस्तार से चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ केवल यह याद दिलाना पर्याप्त होगा कि जहाँ भी 'गायों' की या माल की चोरी का उल्लेख स्पष्ट है, चोरी करने वाले वैदिक आर्यों के शत्रु सिद्ध होते हैं और खोज करने वाले स्वयं वैदिक जन हैं। बँटवारे के जो उल्लेख हैं उनकी तफ़सील में हम अगले अध्याय में जायेंगे। यहाँ केवल इतना ही कि बँटवारा बराबरी का नहीं होता था, अपितु अपने-अपने हिस्से के अनुसार होता था। बँटवारे के सन्दर्भ में विभक्ता—विशेष भाग देने वाला, विभाग—विशेष भाग, देव भाग या धर्म का हिस्सा आदि प्रयोग तो आते हैं पर संभक्ता या संभाग—बराबर बाँटने वाला, बराबर का हिस्सा प्रयोग में नहीं आता। अल्प और अधिक भागों के उल्लेख आते हैं।[10] दूसरों को अधिक लाभ देने और स्तोता को कम देने की शिकायत आती है।[11] व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत भूमि के उल्लेख आते हैं।[12] अतः साझे की खेती और साझे की सम्पत्ति के दिन वैदिक समाज के अतीत के गर्भ में जा चुके हैं। विभाग और वितरण की परिस्थितियाँ क्या हैं, इस पहलू पर भी हम आगे चर्चा करेंगे।

इस तरह हम पाते हैं कि बर्बरता की जो तसवीर ईसाई धर्मप्रचारकों और मिल से बाद के पाश्चात्य प्राच्यविदों और इतिहासकारों द्वारा गढ़ कर तैयार की गयी थी और जिसे आधुनिक इतिहासकारों ने भी बिना जाँच-पड़ताल के स्वीकार कर लिया है, वह दोषपूर्ण है। इसको आप्त बनाने के लिए हमें हर कदम पर तोड़-मरोड़ से काम लेना पड़ता है और इस तोड़-मरोड़ के बाद भी जो दलील तैयार की जाती है वह लँगड़ी होती है। यह कुछ दूर तक तो हमारा साथ देती है, पर नये तथ्यों का सामना होने के बाद अपने आप लुढ़क जाती है। अतः सारा विवेचन इकहरा और सतही रह जाता है और असुविधाजनक तथ्यों की ओर से आँख मूँद ली जाती है। इन सारी कोशिशों के बावजूद विरोधाभास ज्यों-के-त्यों बने रह जाते हैं।

अब इन सतही आक्षेपों के खारिज हो जाने के बाद हम कुछ अधिक आश्वस्त होकर ऋग्वैदिक अर्थ-व्यवस्था पर विचार कर सकते हैं।

किसी उन्नत अर्थ-व्यवस्था के चार आधार होते हैं : पशुधन, कृषि उत्पाद, उद्योग और वाणिज्य। हड़प्पा के अवशेषों से और वैदिक साहित्य से इन चारों का विकास अपने युग को देखते हुए किसी अन्य सभ्यता से आगे बढ़ा हुआ दिखायी देता है। हम इस अध्याय में पहले तीन पक्षों पर विचार करेंगे और चौथे पक्ष पर कुछ विस्तार से अगले अध्याय में विचार किया जायेगा।

2

पशुपालन

हड़प्पा के अवशेषों से जिन पशुओं के अस्थि-अवशेष और इसकी मुहरों पर जिनके अंकन मिले हैं उनमें ककुद्मान वृषभ, भैंस, भेड़, बकरी, हाथी, गधा, घोड़ा, ऊँट, सूअर और मुर्ग तथा बत्तख आते हैं। यद्यपि घोड़े से हड़प्पावासियों के परिचय को एक लम्बे समय तक विवादास्पद माना जाता रहा, पर उन दिनों भी उत्खननकर्ताओं का विचार था कि वे टट्टू की नस्ल वाले घोड़ों का उपयोग करते थे। कुत्ते, बिल्ली, बन्दर, खरगोश, कबूतर, तोता और अन्य पक्षी भी उनके पालतू या अर्ध-पालतू पशुओं-पक्षियों में आते थे। जंगली जानवरों में गवल (बड़रोज,नीलगाय), गैंडा, शेर, भालू, साँभर, चित्रमृग, कृष्णमृग आदि से वे परिचित दिखायी देते हैं और इन सबको ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि उनके पड़ोस में कुछ जंगल भी रहे हो सकते हैं जो आज सिन्धु की उपत्यका में नहीं पाये जाते।[13]

हड़प्पा के पशुधन को बाद के किसी भी काल की तुलना में कम समृद्ध नहीं पाया जाता और इसके कुछ लोग पूरी तरह पशुपालन पर ही लगे हुए थे। कुछ लोगों का विचार है कि काठियावाड़ और गुजरात की ओर हड़प्पा सभ्यता का आरम्भिक प्रसार हड़प्पा के चरवाहों के कारण ही हुआ हो सकता है।[14]

जहाँ तक ऋग्वैदिक समाज का प्रश्न है, आरम्भ से ही इसके पशुपालक पक्ष पर बल दिया जाता रहा है। यद्यपि पशुधन की दृष्टि से इस काल की समृद्धि के विषय में किसी प्रकार के सन्देह का प्रश्न नहीं उठता, पर इस समृद्धि का रूप ठीक वही नहीं था जैसा अब तक माना जाता रहा है।

ऋग्वेद में गाय[15], भैंस[16], घोड़ा[17], हाथी[18], भेड़[19], बकरी[20], गधा[21], सूअर[22], कुत्ता[23], हंस[24], कबूतर[25], और तोता आदि पालतू, अर्ध-पालतू जानवरों का ज़िक्र आया है। बन्दर भी पाले जाते लगते हैं।[26] जंगली जानवरों में हाथी, हिरन, भेड़िया, सिंह, रीछ आदि की चर्चा आयी है। एक स्थल पर सिंह को पिंजड़े में

बन्द दिखाया गया लगता है।[27] यदि हम हड़प्पा के अवशेषों की शत-प्रतिशत और तदनुरूप पुष्टि ऋग्वेद से चाहें तो कुछ ज्यादती होगी। ऋग्वेद पशु-सर्वेक्षण की कृति नहीं है, न ही हड़प्पा के अवशेष अपने समय की पशु-प्रदर्शनी के अवशेष। दोनों मामलों में सन्दर्भ और औचित्य को ध्यान में रखकर ही इनकी अभिन्नता को समझा जा सकता है।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि हड़प्पा के अवशेषों से जिन पशुओं की पुष्टि होती है उन्हें हम ऋग्वेद में भी पाते हैं। भेदक रूप में बकरी, घोड़े, हाथी और सिंह पर विचार किया जा सकता है। बकरी के विषय में यह कहा जाता रहा है कि आर्य इसे अपने साथ तुर्की से ले आये थे, पर भारत में बकरी वन्य रूप में पायी जाती रही है और इसलिए हड़प्पावासियों के लिए इससे अपरिचित रहने का प्रश्न नहीं आता। बकरी की ही तरह गाय के विषय में यह कहा जाता रहा है कि आर्य इसे बेबीलोनिया से ले आये थे, मानो हड़प्पा के साँड़ बिना गायों के ही पैदा होते रहे हों। घोड़े के विषय में प्रधान आपत्ति यह रही है कि इसका अंकन हड़प्पा की मुहरों पर नहीं हुआ है और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि आर्यों के लिए घोड़ा महत्वपूर्ण पशु था, मुहरों पर इसका अभाव समस्या पैदा करता रहा है। पर जैसा कि हम देख आये हैं आर्य जिसे अश्व कहते थे वह मूलतः गधा था और इसी का प्रयोग आगे चल कर टट्टू के लिए और फिर व्यापारिक क्रम में स्तेपी के क्षेत्र से —सम्भवतः पहले गन्धार के माध्यम से—आनेवाले अच्छी नस्ल के घोड़ों के लिए इस शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ। अतः शौर्य और वीर्य के सन्दर्भ में ऋग्वेद में भी अश्व का नहीं, अपितु वृषभ का ही उल्लेख आता है। अश्व देवताओं का वाहन तो है पर कहीं किसी देवता की उपमा अश्व से नहीं दी गयी है, यद्यपि इन्द्र, अग्नि, सोम, बृहस्पति और रुद्र की तुलना वृषभ से की गयी है। ज़ाहिर है, जिस अश्व से वैदिक जन मूलतः परिचित थे वह ओजस्विता में साँड़ से घटकर था या कहें वह भारवाही टट्टू मात्र था। एक बार उपमा और सादृश्य रूढ़ बन जाने के बाद उन्नत नस्ल के घोड़ों से भी इन देवताओं की तुलना का प्रश्न नहीं उठता था और हड़प्पा की मुहरों पर वृषभ का अंकन देवताओं के प्रतीक रूप में ही हुआ लगता है, अतः घोड़े के अंकन का अभाव किसी प्रकार की समस्या नहीं पैदा करता। हाथी के सन्दर्भ में दो स्थलों पर इसके साथ 'मृग' शब्द का भी प्रयोग आया है, अतः यह कल्पना कर ली गयी कि यह वैदिक आर्यों के लिए एक अपरिचित पशु था और इसके सूँड़ को हाथ समझ कर वैदिक जनों ने इसके लिए 'मृग हस्ती' या 'हाथ वाला जानवर' शब्द प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। यद्यपि इस मत का समर्थन कुछ प्रख्यात भाषाविदों ने भी किया है, पर उनको हम पशुओं, प्राणियों और वस्तुओं के नामकरण के पीछे काम करने वाले तर्क की अवज्ञा करते पाते हैं।[28]

हाथी के लिए 'हस्ती' शब्द का प्रयोग सर्वथा संगत है। 'मृग' शब्द या कहें 'मृग

इव' जैसा प्रयोग अन्य अनेक पशुओं के साथ आया है।[29] हाथी के लिए 'हस्ती' के अतिरिक्त 'इभ'[30], 'वारण'[31] और 'शफारुज'[32] आदि अन्य प्रयोग भी आये हैं और वारण के साथ तो दान या मद का उल्लेख इस बात का आभास देने के लिए पर्याप्त था, कि वैदिक जन हाथी से बहुत अच्छी तरह परिचित थे, पर हाथी को आश्चर्यजनक पशु सिद्ध करने के उत्साह में इन पर्यायों पर ध्यान ही नहीं दिया गया, न ही ध्यान दिया गया हाथी को अनुशासित रखने के लिए प्रयुक्त अंकुसी[33] की ओर। अत: हाथी का वैदिक कवियों को विचित्र पशु प्रतीत होना एक मनोरंजक उद्‌भावना मात्र है जिसका वास्तविकता से कोई ताल-मेल नहीं।

हड़प्पा की मुहरों पर बाघ या व्याघ्र का चित्रण पाया जाता है; ऋग्वेद में व्याघ्र शब्द एक बार भी प्रयोग में नहीं आया है जब कि सिंह शब्द का ही भयंकरता आदि के मामलों में बार-बार प्रयोग आया है। जब तक हड़प्पा के अवशेषों का पता नहीं चला था तब तक इसका उपयोग इस रूप में किया जाता था कि आरम्भ में वैदिक जन भारत के पश्चिमोत्तर में ही बसे हुए थे जहाँ सिंह तो मिलते थे पर शेर या व्याघ्र नहीं। व्याघ्र शब्द चूँकि पहली बार अथर्ववेद में प्रयुक्त हुआ है, अत: "अथर्ववेद की रचना उस काल में हुई थी, जब वैदिक भारतीय बंगाल तक पहुँचकर बस गये थे।"[34] अर्थात् इससे पहले बाघ से परिचय का प्रश्न ही नहीं उठता था। क्या अब इस तरह का तर्क दिया जा सकता है कि हड़प्पा सभ्यता का प्रसार बंगाल तक था ? मामला किंचित् भिन्न व्याख्या की माँग करता है। बाघ हड़प्पा क्षेत्र में भी पाये जाते थे और इसी क्षेत्र में बसे वैदिक जन समान परिवेश में रहने वाले हाथी आदि अन्य वन्य पशुओं की तरह इससे भी अपरिचित नहीं रह सकते थे। फिर इस बात का क्या कारण हो सकता है कि ऋग्वेद में सिंह शब्द का ही प्रयोग हुआ है और हड़प्पा की मुहरों पर बाघ का ही अंकन है ? इसका कारण वैदिक शब्दावली में ढूँढ़ना उचित होगा जिसमें गधे तक के लिए वही अश्व शब्द प्रयोग में आता था, या आ सकता था, जो घोड़े के लिए। यव और धान्य समस्त अन्नों के लिए प्रयोग में आ रहे थे और गो शब्द, अन्य बातों के अलावा, गाय और बैल दोनों के लिए। क्या यह सम्भव नहीं है कि सिंह शब्द जिसका शाब्दिक अर्थ 'हिंसा करने वाला' या 'हिंस्र' है, सिंह और व्याघ्र दोनों के लिए प्रयोग में आता रहा हो ? इसका एक कारण यह भी है कि सिंह के केसर या अयाल का कहीं उल्लेख नहीं आया है। इस सम्भावना की ओर दृष्टि जाने पर हम निरुक्त से भी इसकी पुष्टि होते पाते हैं, जिसके अनुसार सम्मान भाव प्रकट करने के लिए व्याघ्र को ही सिंह कहते हैं।[35]

इस तरह हम पाते हैं कि पशु-जगत के विषय में अपने ज्ञान और पशु-पालन तथा पशु-धन के मामले में हड़प्पा सभ्यता ठीक वैदिक सभ्यता ही प्रमाणित होती है और वैदिक साहित्य में पशुओं के जिन उल्लेखों के आधार पर यह साबित किया

जाता रहा है कि ये मुख्यतः पशुचारी थे, उन पर गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि ऋग्वेद में पशुओं के उल्लेख जिन रूपों में आये हैं उनसे एक भिन्न तसवीर उभरती है। यह है पशुओं में एक ऐसे वर्ग की रुचि का ही उल्लेख, जिसके लिए इनका विशेष महत्व इनकी श्रमशक्ति और भारवहन, क्षमता थी जिसका सम्बन्ध मुख्य रूप से वाणिज्यिक प्रचलनों से है।

3
कृषि

पशुपालन की तुलना में ऋग्वैदिक कृषि की स्थिति अधिक विवादास्पद रही है, पर जैसा कि हम पीछे देख आये हैं इसका कारण सतही विवेचन रहा है। रोचक बात यह है कि कुछ विद्वानों को हड़प्पा सभ्यता का भी कृषि-आधार पर्याप्त सुदृढ़ नहीं दिखायी देता। उदाहरण के लिए डी. पी. अग्रवाल आदि को चूँकि हड़प्पा क्षेत्र में नहरों का उस तरह का जाल नहीं दिखायी देता जैसा पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं में दिखायी देता है, अतः उन्हें लगता है कि यहाँ नदियों के कछारों में ही थोड़ी-बहुत खेती होती रही होगी।[36] पश्चिमी एशिया की तुलना में तो हड़प्पा-वासी निश्चय ही कृषि के मामले में पिछड़े रहे होंगे।

जब हम दो भिन्न क्षेत्रों की तुलना इनकी भौतिक परिस्थितियों को सामने रखते हुए नहीं करते हैं और आधार को भी एकांगी बना देते हैं तो इस तरह के भ्रम अकसर पैदा हो जाते हैं। डॉ. अग्रवाल ने एक ओर तो एक बहुत महत्वपूर्ण पहलू की ओर संकेत किया है कि कृषि का मूल्यांकन करते समय सिंचाई की व्यवस्था पर ग़ौर किया जाना चाहिए, दूसरी ओर वह उस विशेष व्यवस्था को नज़रअन्दाज़ कर गये हैं जिस पर भारतीय कृषि विगत पाँच हज़ार वर्षों से या सम्भवतः इससे भी पहले से निर्भर करती रही है।

वह हड़प्पा सभ्यता के विशाल अन्नागारों की भी उपेक्षा कर गये हैं जिनकी तुलना भी पश्चिमी एशिया से ज़रूरी थी। हम हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो में सुव्यवस्थित ओर कोटरबन्द अन्नागार पाते हैं जिनके फ़र्श का क्षेत्र ही लगभग 9000 वर्गफुट है और जिनसे अन्न के भारी भंडार का पता चलता है। पश्चिमी एशिया के नगरों से कहीं से अन्नागारों का प्रमाण नहीं मिला है, पर जो लिखित विवरण मिलते हैं वे इन दोनों के अन्न-भण्डारों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। उदाहरण के लिए, ऊर के एक लेख में एक अन्नागार में 4020 दिनों की मज़दूरी संचित करने का उल्लेख है, दूसरे में 10,930 मानव दिवसों की मज़दूरी संचित रखने की ज़िम्मेवारी कोषपाल को दी गयी है, जो तीस मज़दूरों

की पूरे साल की मज़दूरी हुई। एक अन्य विवरण में पाँच अन्नागारों का ज़िक्र है जिनमें से प्रत्येक में दो टन अनाज अर्थात् कुल दस टन अनाज के भण्डार का उल्लेख है।[37] दोनों सभ्यताओं के अन्न-भण्डारों का यह अन्तर हमें ठीक उल्टे नतीजे की ओर ले जाता है और हड़प्पा कृषि के मामले में पश्चिम एशिया की तुलना में कहीं बहुत आगे बढ़ी सभ्यता दिखायी देती है। इनमें से प्रत्येक की तुलना यदि हड़प्पा सभ्यता के प्रसार-क्षेत्र से करें और इनके नगरों और गाँवों की आबादी को सामने रखें और इनके श्रमिकों के तुलनात्मक जीवन-स्तर पर ध्यान दें तो इससे भी दोनों की समृद्धि में यही अन्तर दिखायी देगा। यह भी याद रखना होगा कि कालीबंगां में हड़प्पा-पूर्व स्तर से हलाई के निशान मिले हैं जो हल के उपयोग के प्राचीनतम प्रमाण हैं[38] और वैदिक युग में हलों का बड़े पैमाने पर प्रयोग हो रहा था।

नहरों के अस्तित्व या नहरों के अभाव के पक्ष पर विचार करते समय हमें नहरों के भारतीय इतिहास पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। भारत अकेला ऐसा देश भी नहीं है जहाँ नहरों का जाल नहीं था और जो इसके बावजूद कृषि के मामले में पर्याप्त समृद्ध रहा है। नहरों का निर्माण दजला-फरात की उपत्यका की संस्कृतियों की प्राथमिक आवश्यकता थी। पश्चिमी एशिया में दजला और फरात के ग्रहण-क्षेत्रों की बर्फ़ पिघलने से बाढ़ आती है। जिन दिनों नदियाँ उफन रही होती हैं उन दिनों आस-पास का क्षेत्र झुलस रहा होता है। यदि नदी का जल-स्तर ऊपर हो और उन्हीं दिनों इसके पार्श्ववर्ती क्षेत्रों में पानी की भारी ज़रूरत हो तो नदी से नाले-नालियाँ और फिर इस अनुभव से लाभान्वित होकर बड़ी नहरें निकाल लेना बहुत आसान है। साथ ही यदि भूगर्भीय जल दुर्लभ हो तो इसके अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प भी नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में उस काल में भी पीने आदि के लिए पानी प्राप्त करने के लिए कोई युक्ति निकालना एक विवशता हो जाती है जब नदियों का जल-स्तर नीचे चला जाता हो। पश्चिमी एशिया को ऐसा ही करना पड़ा।[39]

इसके विपरीत भारत में बाढ़ उन दिनों आती है जब पूरे देश में वर्षा हो रही होती है। समस्या नदियों की बाढ़ को अपने खेतों में पहुँचाने की नहीं, अपितु प्रायः खेतों में जमा पानी से राहत पाने की या अधिक-से-अधिक उसे रोककर रखने की रहती है। जिन दिनों पानी की आवश्यकता होती है उन दिनों बड़ी नदियों का पानी अपनी पेटी में उतर चुका रहता है। अतः छोटी धाराओं का उपयोग सिंचाई के लिए तो हो सकता है, पर बड़ी नदियों का नहीं और इन छोटी धाराओं से भी पानी काट कर खेतों में नहीं लाया जा सकता; कारण, उनका भी जलस्तर नीचे ही रहता है। दूसरी ओर भारत में भूगर्भीय जल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध रहा है, अतः वर्षांत के मौसम में वर्षा पर और रबी की फ़सल के लिए सिंचाई के अन्य साधनों पर निर्भर करना पड़ता था। उस प्राचीन काल में न तो बराजों का विकास

हो सका था, न ही उतने बड़े पैमाने के निर्माण-कार्य सम्भव थे, जो भारत में नहरों के विकास के लिए ज़रूरी थे, अतः जब प्राचीन कालों में राजाओं आदि की ओर से भी सिंचाई और जलभण्डारण के कार्य हाथ में लिये गये तो विशाल तालाबों या 'सागरों' का ही निर्माण हुआ, नहरों का नहीं। अतः नहरों के अस्तित्व और अभाव के आधार पर कृषि के प्रसार का मूल्यांकन उचित नहीं है। बल्कि कहा यह जा सकता है कि चूंकि भारत में सूखे के दुर्दिनों को छोड़ कर, व्यापक वर्षा होती है अतः यहाँ कृषि केवल उस सीमित अंचल तक ही सम्भव नहीं थी जिस तक नहरों का जाल पहुँच सका हो,अपितु पूरे देश में सम्भव थी और चूंकि समूचे उत्तरी भारत में भूगर्भीय जल प्रचुर मात्रा में पाया जाता है अतः यहाँ, कुछ आयासकर ही सही, सिंचाई के साधन उपलब्ध थे और इसलिए पश्चिमी एशिया की तुलना में यहाँ अधिक बड़े पैमाने पर खेती होती थी, यही तथ्य के अनुरूप भी है।

पर डॉ. अग्रवाल ने जिस पक्ष की ओर संकेत किया है उसका हमारे लिए बहुत महत्व है और वह यह कि खेती की व्यापकता का सही निर्धारण अनाजों के उल्लेख की तुलना में सिंचाई के साधनों या फ़सलों को जल सुलभ कराने की चिन्ता के द्वारा मापा जाना चाहिए। ऋग्वेद के पुराने मण्डलों से लेकर ऐतिहासिक कालों तक यथा-समय वर्षा की चिन्ता दिखायी देती है। अग्नि या इसके माध्यम से किये जाने वाले यज्ञ का सबसे प्रधान लक्ष्य यही बताया जाता है कि इससे वृष्टि होती है और वृष्टि से ही खेती-बारी सम्भव होती है। अग्नि के बाद ऋग्वेद के दूसरे सबसे प्रधान देवता इन्द्र हैं और इनका भी दैवी महत्व वर्षा कराने की इनकी क्षमता में निहित है। तीसरे स्थान पर सोम को महत्व दिया गया है और यदि नवें मण्डल को नया मान कर छोड़ भी दें तो पुराने मण्डलों में भी सोम का जहाँ दैवीकरण किया गया है, वहाँ उन्हें जल का ही प्रतीक माना गया है। नदी जल को, मेघ जल को तथा द्युलोकीय जल को सोम के रूप में कल्पित किया गया है। मरुद्गण जो बादलों को उड़ा कर लाते हैं और उन्हें झकझोर कर वर्षा कराते हैं उनके प्रधान देवों में एक हैं और इनके अतिरिक्त पर्जन्य अलग भी देवता हैं। इन्द्र और वृत्र की सारी लीला कुछ अध्येताओं द्वारा वर्षा के दृश्य का रूपकीय चित्रण मानी ही जाती है। इसके लिए एक उत्कट चाव ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों में ही नहीं उस प्राचीन परम्परा में भी, जिसके आधार पर ऋग्वेद की रचना हुई थी, प्रतिबिम्बित पाया जा सकता है। वर्षा के विषय में यह चिन्ता किसानों की चिन्ता है। इस तरह की ललक पशुचारी कबीलों में नहीं पायी जा सकती। कारण, एक तो घास-दूब और काँस आदि की जड़ें तीन-चार फुट तक गहरी होती हैं, अतः यदि वर्षा में कुछ विलम्ब भी हो जाये तो यह सूखती नहीं; दूसरे, सूखे आदि के दौर में ये यायावर लोग प्रभावित क्षेत्र को छोड़ कर दूर चले ज़ाते हैं। इसके विपरीत धान्यों की जड़ें मुश्किल से चार-पाँच इंच गहरी होती हैं,

अतः यदि थोड़े समय का भी अन्तराल पड़ जाये और इन्हें किसी युक्ति से पानी न मिल सके तो पूरी फ़सल बर्बाद हो जाती है। अतः कृषि के व्यापक प्रसार को मापने का एक आधार है यज्ञों का, विशेषतः जल के लिए किये जाने वाले यज्ञों का विधान तथा इन्द्र, अग्नि, मरुद्गण, आदि का प्राधान्य। यदि नये और पुराने मण्डलों पर इस दृष्टि से ध्यान दें तो दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलेगा।

वैदिक काल में कृषि किस पैमाने पर हो रही थी, इसका निर्णय इस बात से नहीं किया जा सकता कि कृषि के उल्लेख कितनी बार आये हैं। कारण, ऋग्वेद किसानों का या उनके लिए रचा गया साहित्य नहीं है। इसके लिए उन युक्तियों पर ध्यान देना होगा जिनका विकास इस समय तक कर लिया गया था और जिनका सम्बन्ध कृषि-कार्य से है।

खेतों की जुताई के लिए वैदिक काल में हल का प्रयोग किया जाता था और हल को खींचने के लिए बैलों का उपयोग किया जाता था। हल के लिए ऋग्वेद में लांगल[40], सीर[41] और वृक[42] शब्दों का प्रयोग हुआ है। हल के सन्दर्भ में वरत्र[43] या पगहा, अष्ट्रा[44] या पैना, फाल[45], युग[46] या जुआठ तथा सीता[47] या हलाई के उल्लेख आये हैं। हलवाहे के लिए कीनाश[48] शब्द का प्रयोग हुआ है। भूस्वामी के लिए क्षेत्रपति[49] प्रयोग हुआ है। अनस और वृषभ के बीच फ़र्क़ से प्रकट है कि बैलों को बधिया करने का चलन था।[50] क्षेत्रपति और कीनाश की भिन्नता से प्रकट है कि भूस्वामित्व जिनके हाथ में था वे स्वयं उत्पादन-कार्य में हिस्सा न ले, इसके लिए भूदासों के श्रम का ही उपयोग करते थे। हलाई के लिए योनि[51] शब्द का प्रयोग किया गया है जो सादृश्यपरक भी हो सकता है। एक अन्य प्रसंग में अधिगर्त[52] शब्द का प्रयोग सोम या गन्ने की बोआई के लिए विशेष रूप से बनायी गयी नालियों के लिए हुआ लगता है। बीज बोते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि बीज हलाई में ही पड़ें।[53] अक्षित बीज[54] से ऐसा लगता है कि इस बात का ध्यान रखा जाता था कि बीज अच्छी किस्म का हो, इसे कीड़े आदि न खा गये हों। उर्वरा शब्द का प्रयोग कृषि-योग्य भूमि के लिए ही हुआ है, परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए खाद का प्रयोग किया जाता था या नहीं।

फ़सलों की सिंचाई के लिए वैदिक किसानों को मुख्यतः वर्षा के जल पर निर्भर करना होता था। अतः इन्द्र से वर्षा के लिए बार-बार अनुरोध किये जाते हैं। परन्तु वर्षा पर निर्भरता का प्रश्न ख़रीफ़ की फ़सल के सम्बन्ध में ही अधिक सार्थकता रखता है। रबी की फ़सल के लिए अन्य स्रोतों का सहारा लेना ज़रूरी था। ऋग्वेद में अकेले कुँए के तेरह पर्याय—कूप[55], कर्त[56], वव्र[57], काट[58], खात[59], अवत[60], क्रिवि[61], सूद[62], उत्स[63], कारोतरात[64], कुशय[65], ऋश्यदात[66] और केवट[67] आये हैं। निघण्टुकार ने एक अन्य वैदिक प्रयोग कातु का भी उल्लेख किया

है।[68]

यह कहना कठिन है कि इन विभिन्न शब्दों का प्रयोग किस तरह के कुओं के लिए होता था। मुमकिन है कि कुछ कुएँ न होकर मामूली गड्ढे ही रहे हों जैसा कि काट, खात, अवत और ऋश्यदात से प्रकट होता है और इनमें से कुछ का सम्बन्ध धाराओं से पानी निकालने के लिए इनके कगार से सट कर खोदे गये गड्डों से या तालाब से पानी उलीचने के लिए प्रयुक्त विशेष युक्तियों से रहा हो जिनका चलन आज तक देखा जाता है। हड़प्पा काल के कुछ कुँए इतने पतले हैं कि इनमें आसानी से बर्तन डाल कर पानी नहीं निकाला जा सकता। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि इतने पतले कुँए बनाने का तरीका इसलिए अपनाया गया था कि पानी निकास-मार्ग के सँकरेपन के कारण स्वत: ऊपर आ कर बहने लगे। इसमें कहाँ तक सच्चाई है, कहना कठिन है। ऋग्वेद में उद्रिण[69] शब्द का प्रयोग आया है। सम्भव है, वह इस प्रकार के कुओं के लिए या पानी के स्रोतों के लिए प्रयोग में आया हो।

ऋग्वेद में 'स्रुत्य'—पतली जल-धारा या नालों आदि के पानी, 'पथ्य'—पतली नालियों के पानी, 'काट्य'—पोखरों, तालाबों और नदियों से क्रमिक उत्तोलन द्वारा ऊँचे क्षेत्रों के लिए उठाये जाने वाले पानी, 'नीप्य'—झरनों के या नीचे की ओर बहते हुए पानी, 'कुल्या' के या कृत्रिम नालों के पानी, 'सरसी' या तालाबों के पानी, नदी के पानी, पोखर के पानी, कुँए के पानी, गड्ढे के पानी, निर्मल तड़ाग के पानी, गर्मी के मौसम में सुलभ पानी, मेघ से वर्षा-काल में और वर्षा-काल के बाद यदा-कदा वृष्टि से प्राप्त पानी का उल्लेख है जिसमें आज तक के सिंचाई के समस्त साधन आ जाते हैं।[70] इससे यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि वे नहरें बनाना जानते ही नहीं थे। निरापद स्थितियों में वे कुल्या या मामूली किस्म के नाले[71] बनाया करते थे और आज भी बनाते हैं। भौतिक सीमाओं को ध्यान में रखते हुए बड़े पैमाने पर नहरें नहीं निकाली जा सकती थीं।

सिंचाई के सन्दर्भ में कूचक्र[72] या ढेकुल और पक्के कुओं अश्मचक्र[73] और जगत-बँधे अंसत्रकोश[74] का संकेत मिलता है। 'द्रोण आहाव' का आशय पानी उलीचने के लिए प्रयोग में लायी जाने वाली बेड़ी या टोकरी अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसमें बाँस की बनी छिछली टोकरी से इस तरह रस्सियाँ बाँध दी जाती हैं जिनको दो ओर से सँभाला जा सके और पानी उलीचने वालों के एक या दो जोड़े एक साथ पानी को चार-पाँच फुट की ऊँचाई तक बड़े लयात्मक ढंग से उठाते हैं। काम आयासकर होता है, अत: पारियों में होता है और पारी समाप्त होने पर आवाज़ लगाते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में पारी को ओहार (वैदिक—आहाव?) कहते हैं और इसके लिए पारी समाप्त होने पर आवाज़ लगायी जाती है जिसे सुन कर आस-पास कहीं पेड़ आदि की छाया में आराम कर रहे या यदि

पहली ओहार हुई तो अब तक काम पर न आये हुए जोड़ीदार आ कर हाज़िर हो जाते हैं। समय की नाप करने के लिए घटीयंत्र का प्रयोग किया जाता है। यह एकमात्र सम्भावना है कि यहाँ आशय इस तरह की सिंचाई से ही हो, निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

अन्य अनेक इकहरी मान्यताओं की तरह यह भी मान लिया गया है कि चूँकि ऋग्वेद में अनाजों में से केवल यव का ही उल्लेख आया है, अत: वैदिक किसान केवल जौ ही पैदा करते थे।[75] यह धारणा ठीक नहीं है और भाषिक प्रयोगों को समझने में असावधानी को प्रकट करती है। यव का उल्लेख अन्न मात्र के लिए आया है, न कि यव के लिए। प्रार्थना में कहा जाता है 'ईश्वर, हमें हमारी रोज़ की रोटी दे।' गेहूँ और जौ आदि जिनका मुख्य आहार है वे खाने को रोटी और चावल खाने वाले सामान्य रूप से भात कहते हैं। इन प्रयोगों ये यह आशय निकालना कि ये रोटी या चावल छोड़ दूसरी कोई चीज़ नहीं खाते हैं, कुछ अविवेकपूर्ण होगा। व्यवहार में प्रधान वस्तु अपने पूरे वर्ग और उपवर्ग का प्रतीक बन जाती है। वास्तव में यव शब्द का प्रयोग जिन स्थलों पर हुआ है उन पर ध्यान दें तो भी इस विषय में भ्रम नहीं रह जायेगा कि यहाँ तात्पर्य पोषक या पुष्टि-दायक अन्न से है। अनाजों में मुख्य रूप से यव और धान्य का ज़िक्र आता है। पर इनका इस रूप में अर्थ लेना अधिक निरापद नहीं होगा कि यव रबी की समस्त फ़सलों का और धान्य ख़रीफ़ की समस्त फ़सलों का द्योतक हो कर आया है। वस्तुत: ये दोनों अभिन्न रूप में अन्न मात्र के काव्यरूढ़ प्रयोग हैं।

कुछ लोगों को खाद्यान्नों का यह मामला इतना महत्वपूर्ण लगता है कि हड़प्पा सभ्यता से वैदिक सभ्यता का फ़र्क़ करने के लिए वे इसे निर्णायक तत्व मान बैठते हैं। उदाहरण के लिए रोमिला थापर लिखती हैं कि वैदिक आर्य केवल जौ से परिचित थे। गेहूँ को तो वे म्लेच्छ भोजन मानते थे। धान से बिलकुल अपरिचित थे। इसके विपरीत हड़प्पावासियों के भोजन में ये सभी चीज़ें पायी जाती हैं।[76] आप्टे भी इस मत के समर्थक हैं कि वैदिक काल में चावल की खेती नहीं होती थी।[77] जैसा कि हम आगे, इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में, देखेंगे वैदिक जनों ने कृषि का आरम्भ श्यामाक और व्रीहि, अर्थात् ख़रीफ़ के अनाजों से ही किया था।

हम पहले देख आये हैं कि वैदिक जन ठीक उसी भूभाग में और निरपवाद रूप में उस समूचे भूभाग में बसे पाये जाते हैं जिसे हड़प्पा सभ्यता का क्षेत्र कहा जाता है। यदि तर्क के लिए आर्यों को हड़प्पावासियों से भिन्न मान कर भी चलें और यह भी मान लें कि वे मामूली स्तर की ही खेती करते थे, तो भी हड़प्पा के किसानों से वे उन विभिन्न खाद्यान्नों की खेती करना तो सीख ही सकते थे, जिन्हें वे किसान उपजाते थे। ग़नीमत यह है कि जिस तरह उन्हें हड़प्पा का विजेता बनाने के बावजूद यह सिद्ध कर दिया जाता रहा है कि वे नगरद्रोही थे

इसलिए सीधे देहातों में जाकर ढोर चराने और खेती करने लगे उसी तरह यह दलील नहीं दी गयी कि उन्हें हड़प्पा के किसानों से भी चिढ़ थी इसलिए उन्होंने सोच लिया था कि जिन अनाजों की खेती वे करते हैं उनकी खेती वे स्वयं नहीं करेंगे, यद्यपि रोमिला जी वाले 'म्लेच्छ भोजन' सिद्धान्त में इसकी एक क्षीण-सी छाया देखी जा सकती है।

रोमिला जी ने जिस सूचना के आधार पर यह नतीजा निकला है कि आर्यों के लिए गेहूं म्लेच्छ भोजन था वह बारहवीं शताब्दी के एक ऐसे चावलभोजी क्षेत्र के विद्वान की एक पंक्ति पर आधारित है जहाँ आज भी यह माना जाता है कि गेहूँ की रोटी खाने से पेचिश हो जाती है। वास्तव में यह रचना कुछ और बाद की होनी चाहिए जब इस क्षेत्र के लोगों ने पहली बार तुर्कों के प्रवेश के समय पाया होगा कि वे चावल की अपेक्षा गेहूँ की रोटी अधिक पसन्द करते हैं और अपनी सूक्ति रच दी होगी। यदि वैदिक कालीन स्थिति को समझना है तो इस लेखक से कम-से-कम दो हज़ार वर्ष पहले रचे गये शतपथ ब्राह्मण पर दृष्टि डालनी होगी, जिसके अनुसार गेहूँ मनुष्य के सबसे निकट है, क्योंकि जैसे अनाजों में गेहूँ का छिलका सबसे पतला होता है वैसे ही मनुष्य की चमड़ी सभी जानवरों में पतली होती है। देवताओं ने गेहूँ से ही सारे भुवन को जीता था।[78] यजुर्वेद में भी गोधूम का अन्य अनेक अनाजों के साथ उल्लेख आया है।[79]

शतपथ ब्राह्मण में ही यव के अतिरिक्त व्रीहि या धान का भी उल्लेख स्पष्ट रूप से अनेक बार आया है। पहले यह माना जाता था कि पंजाब में रहने वाले आर्य चावल से परिचित हो ही नहीं सकते थे, अतः वे चावल की खेती वैदिक काल में कर ही नहीं सकते थे। अब हम जानते हैं कि हड़प्पा में चावल का भी उपभोग होता था।[80] ऋग्वेद पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि इसमें भी चावल का उल्लेख स्पष्ट रूप में आया है[81], पर एक बार नहीं का दौर शुरू हो गया तो आगे भी यह पाठ जारी रहा और इतिहासकारों ने उलट कर इसकी छानबीन नहीं की।

भारत में कृषि का इतिहास बहुत लम्बा है और इस पर कुछ विस्तार से हम इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में विचार करेंगे। यहाँ केवल उस समृद्धि पर दृष्टि डालना और कृषि तथा पशुधन के अतिरिक्त ऐसे संगत पहलुओं पर विचार करना ही प्रासंगिक होगा जिनका सीधा सम्बन्ध ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था से है। हमने कृषि के सन्दर्भ में जो संकेत ऋग्वेद से प्रस्तुत किये हैं उन्हें देखने पर यह नहीं लगता कि तत्कालीन खेती के लिए अपनायी गयी युक्तियाँ और बोयी जाने वाली फ़सलें तथा किसानी की व्यापकता परवर्ती कालों से बहुत अधिक भिन्न थी। उनकी सिंचाई के साधनों का सम्बन्ध केवल रबी की फ़सल से ही हो सकता था। ख़रीफ़ के लिए वे सदा की तरह वर्षा पर ही निर्भर थे। जिन लोगों को यह विश्वास था कि वे जौ के अतिरिक्त कुछ बोते ही नहीं थे उन्हें वर्षा के लिए की गयी उन याचनाओं की ओर

ध्यान देना चाहिए था जो वर्षा ऋतु से ही सम्बन्ध रख सकती हैं और वह भी अनावृष्टि के दौर में या मानसून आने में देर हो जाने की स्थिति में ही। कम-से-कम इस बात को ध्यान में रख कर ही ख़रीफ़ के कुछ अनाजों को उपजाने का श्रेय उन्हें दे ही देना था।

4
कार्य-विभाजन और शिल्प

हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से जिस उत्कृष्ट कोटि की कार्यदक्षता का पता चलता है वह अपने समकालीन जगत को देखते हुए अनेक दृष्टियो से आगे बढ़ी हुई प्रतीत होती है। इसकी विभिन्न निर्मितियों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है वह संयत और नितान्त उपयोगितावादी दृष्टि जिसमें अनावश्यक अलंकरण और अपव्यय की उपेक्षा दिखायी देती है। यह बात ऐहिक जीवन और मरणोत्तर संस्कार दोनों पर लागू होती है। उद्योगों की स्थिति यह है कि हड़प्पा सभ्यता के अनेक नगर मुख्य रूप से औद्योगिक नगर प्रतीत होते हैं।[82] दक्षता का वह स्तर जो हड़प्पा के विभिन्न उत्पादनों में दिखायी देता है, वह कार्य-विभाजन और लम्बे विशेषीकरण के अभाव में सम्भव नहीं था और इसलिए अनेक विद्वानों ने हड़प्पा में वर्ण-व्यवस्था और दास-वर्ग के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है।

वैदिक साहित्य पर दृष्टि डालने पर हम ऋग्वेद के पुराने मण्डलों से ही उन बातों के प्रमाण पाने लगते हैं जिनको हड़प्पा के अवशेषों में प्रतिबिम्बित पाया जाता है। ऋग्वेद में स्पष्ट कार्य-विभाजन ही नहीं, अपितु उन सभी क्षेत्रों में विशेषज्ञता के प्रमाण मिलते हैं जिनमें हड़प्पा सभ्यता आगे बढ़ी हुई थी। कौशलों का हस्तान्तरण भी पैतृक क्रम से हो चला था, इसकी पुष्टि उन स्थलों से होती है जहाँ पिता द्वारा पुत्र को शिक्षा देने के उल्लेख हैं।[83] इसके बावजूद वर्ण-व्यवस्था ने जाति का रूप नहीं लिया था और किसी विशेष क्षेत्र में विशेष रुचि और दक्षता रखने वाला कोई बालक अपन पेशे को बदल सकता था।

ऋग्वेद में जिन व्यवसायों का उल्लेख आया है उनमें कर्मार[84], तन्तुवाय[85], भिषग[86] और शिक्षक[87] का उल्लेख किया जा सकता है। उपलप्रक्षी[88] शब्द से संगतराश का पेशा ही ध्वनित होता है, या यहाँ मात्र चक्की चलाने का उल्लेख है, यह कहना कठिन है। सन्दर्भित सूक्त में पेशों का उल्लेख इसे एक पेशा मानने की सम्भावना पैदा करता है, पर एक बुढ़िया के लिए उपलप्रक्षिणी का प्रयोग इसे भूना भूनने से सम्बन्धित सिद्ध करता है।

नकारात्मक प्रमाणों को ही वैदिक काल के विषय में अपना आधार बनाने

वाले विद्वानों को इससे यह लगता है कि वैदिक काल में विशेष कौशलों का अपेक्षित विकास नहीं हुआ था। इस विषय में यजुर्वेद में बहुत स्पष्ट और सविस्तार विवरण मिलता है, अतः इस काल के विषय में उन्हें कोई संदेह नही रहता।[89] ऋग्वेद में यद्यपि कलश[90], कोश[91], द्रोण[92], कुम्भ[93], कुण्ड[94], चमू[95] आदि के स्पष्ट उल्लेख हैं, पर चूँकि कुम्भकार के लिए स्पष्टतः किसी शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में नहीं पाया जाता, इसलिए कुछ विद्वान यह निश्चय ही नहीं कर पाते कि वैदिक जन या आर्य और उनके तथाकथित पूर्वज 'भारोपीय जन' बर्तन-भाँडे का प्रयोग करते भी थे या नहीं।[96]

जो भी हो, यह स्वीकार किया जाता है कि 'भारोपीय समाज' में भी कार्य-विभाजन अस्तित्व में था। कार्य-विभाजन विशेषज्ञता का पहला चरण है और इसलिए विशेषज्ञता को स्वतः सिद्ध माना जा सकता है। आर्यों को असभ्य मानने वाले भी यह स्वीकार करते हैं कि वे तकनीकी दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए थे। बैशम लिखते हैं, "यद्यपि उन्होंने नगर-सभ्यता का विकास कहीं किया था और पत्थर और ईंट से अपने निर्माण नहीं करते थे, पर आर्य तकनीकी दृष्टि से काफ़ी आगे बढ़े हुए थे। उनके कांस्यकर्मी अत्यन्त दक्ष थे और हड़प्पा संस्कृति से अधिक उन्नत औज़ार और हथियार बनाते थे। इनका और सुतारों (बढ़ई) और रथकारों का उल्लेख सूक्तों में अकसर काफ़ी आदर के साथ किया जाता है।"[97]

तकनीकी विकास का एक भौतिक आधार होता है। एक बार किसी तकनीक के प्रचलित हो जाने के बाद भले हम इस बात को न समझ सकें कि इनके मूल में संकल्पनाओं का भी तदनुरूप विकास होता चलता है और ये तकनीक और संकल्पनाएँ आर्थिक कार्य-व्यापार के सन्दर्भ में विकसित होती हैं; पर इस बात को तो मान ही लेना चाहिए कि इनका विकास एकांगी नहीं होता और जिसे हम सभ्यता और संस्कृति कहते हैं वह इन्हीं के समन्वित विकास का दूसरा नाम है। और यह विकास जहाँ तेज़ी से घटित होता है वहाँ भी यह क्रमिक चरणों को पार करता हुआ ही घटित होता है। इतिहासकारों ने भौतिक परिवेश और विकास की इस श्रृंखला का ध्यान न रखने पर प्रायः अन्तर्विरोधी दावे किये हैं।

यदि रथ का आविष्कार दूसरे किन्हीं जनों से पहले आर्यों के पूर्वजों ने किया था तो कुम्हार का चाक भी उन्हीं के आविष्कार की देन हो सकता है। कारण, पहिए के आविष्कार से पहले या इससे प्राप्त अनुभव और अन्तर्दृष्टि के अभाव में चाक के आविष्कार की कल्पना करना कठिन है। धातु कर्म में इतने उन्नत लोग, जो भाण्डों से और इनको पकाने की कला से परिचित हैं, और जो अपने यज्ञ-कुण्डों का निर्माण तक ईंटे चिन कर किया करते थे, ईंट पकाने से अनभिज्ञ रह जायेंगे, यह सोचने के लिए कुछ आयास करना पड़ता है। इसी तरह हम मान लेते हैं कि अमुक जन पकी ईंटों का प्रयोग नहीं करते थे, यद्यपि कच्ची ईंटों का प्रयोग करते

थे। यह स्वतः अन्तर्विरोधी बात है। मिट्टी की कच्ची ईंटों के निर्माण की कल्पना इसे पकाने की आवश्यकता की देन है, अन्यथा अधिक आसानी से मिट्टी की दीवारें बनायी जा सकती थीं। एक बार इस दबाव के कारण—पकाने के लिए—एक निश्चित आकार की कच्ची ईंट तैयार करने के बाद ही इसके दूसरे पक्ष पर ध्यान जा सकता था कि इस तरह चिनाई कम समय में और अधिक सन्तुलित रूप में की जा सकती है। यदि कहीं कच्ची ईंटों का प्रयोग मिलता है तो यह पकी ईंटों का प्रयोग करनेवालों द्वारा ही प्रेरित हो सकता है, इसकी पूर्वावस्था नहीं। एक ओर हम यह मान लेते हैं कि वैदिक जन कुशल काष्ठकर्मी थे और दूसरी ओर यह सोच लेते हैं कि वे पत्थर पर कटाई-गढ़ाई में पिछड़े थे। यह स्वतः एक पद-व्याघात है। कोई समाज काष्ठकला में तभी आगे बढ़ सकता था जब वह पाषाणकला में आगे बढ़ा हो—धातु-युग से पहले लकड़ी काटने के उस के औज़ार पत्थर के ही हो सकते थे। बिना लकड़ी काटे वह धातुओं को गलाने के लिए ईंधन नहीं पा सकता था, अतः उन्नत और विकसित पाषाणी संस्कृति ही धातुविद्या और काष्ठकला दोनों का विकास कर सकती थी। एक ओर काष्ठ-कर्म का परिचय और दूसरी ओर कम-से-कम कांस्यकर्म में उनकी अग्रता, जिससे उन्हें तकनीक, अनुभव और औज़ार तीनों दृष्टियों से उन्नत माना जा सकता है, पत्थर पर बढ़िया खुदाई के लिए भी उन्हें बहुत पहले से ही सुयोग्य सिद्ध करता है। प्रश्न ज्ञान का नहीं, किसी विशेष सांस्कृतिक संरचना में उसकी आवश्यकता का है और इसके होने पर वे किसी भी अन्य सभ्यता की तुलना में उतने ही आगे या पीछे हो सकते थे, और थे, जितने आगे या पीछे इन पहलुओं की दृष्टि से थे।

यहाँ हम वर्णविभाजन के प्रश्न को स्थगित रख कर, इस तथ्य पर विचार कर सकते हैं कि ऋग्वेद में जब भी किसी विशेष मामले में निपुणता का प्रश्न आता है, जनसाधारण को नहीं याद किया जाता, कुछ विशेष देवों या व्यक्तियों का ही उल्लेख आता है। तक्षण के लिए त्वष्टा और ऋभुगण क्रमशः पत्थर और लकड़ी के लिए याद किये जाते हैं। चिकित्सा के लिए रुद्र, और अश्विनीकुमार; शौर्य के लिए सेनापति और सैनिकों के रूप में इन्द्र और मरुद्गण; वास्तुशिल्प के लिए वास्तोस्पति; शिक्षा और ज्ञान के लिए विशेष रूप से अग्नि और सोम; प्रशासनिक मामलों में वरुण; न्याय-विचार के लिए अग्नि और वरण को याद किया जाता है। दैवी धरातल पर यह कार्य-विभाजन सामाजिक स्तर पर तदनुरूप कार्य-विभाजन को प्रतिबिम्बित करता है।

जैसा कि हम देख आये हैं, वैदिक हथियारों में अकेले धनुष-वाण और भाले को ही युद्ध और आखेट का हथियार कहा जा सकता है। शेष सभी हथियार दैनिक जीवन में उपयोग में आने वाले औज़ार हैं जिनको आवश्यकता पड़ने पर हथियार के रूप में भी काम में लाया जाता था। यही दशा हड़प्पा की भी

लगती है । यदि आर्य योद्धाओं की पहचान करनी हो तो उनके कुल्हाड़ों से न कर, उनके धनुष और वाण से ही करनी चाहिए । अश्व और रथ जैसे तेज़ वाहनों के साथ भाले, तलवार और तीर-धनुष की बात तो समझ में आ सकती है, पर इन पर सवार होकर कुल्हाड़े या फरसे चलाने वाले असुविधा की स्थिति में रहेंगे और यदि यही उनका उन्नत रण-कौशल हो सकता था तो इसके लिए कम-से-कम उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता । जिन कुल्हाड़ों को आर्यों का उन्नत हथियार माना गया है वे वैदिकों के, और हमारे प्रस्ताव के अनुसार हड़प्पावासियों के भी, लकड़ी काटने के परशु थे।[98] काटने-तोड़ने की किसी भी चीज़ को हथियार मान लेना और भारी औज़ार को उन्नत हथियार मान बैठना तर्कहीन है । काष्ठकला में आरे का आविष्कार करके अपने समकालीन जगत को पीछे छोड़ जाने का जो श्रेय हड़प्पा-वासियों को दिया जाता है[99], वह काष्ठकला रथ, नाव और मकान तक लकड़ी से या इसके प्रचुर उपयोग से बनाने वाले और आकाश तक के सन्दर्भ में धरन और स्तम्भ की याद न भूलने वाले इन वैदिकों के पास ही पायी जाती है । उनके अरे वाले पहिये और इतनी खूबसूरती से बने पहिये जो धातु के मेखल के अभाव में युद्ध के मैदान में तेज़ी से रुख़ बदलते रथों के धक्कों को झेलने में समर्थ हैं, चूल और जोड़ मिलाने की एक ऐसी कलाकारी की याद दिलाते हैं जिसकी बराबरी शायद उनके समकालीन जगत में कोई न कर सके । यदि हड़प्पा सभ्यता को इनसे अलग कल्पित किया जाये तो हड़प्पा के खिलौनों के आधार पर कल्पित इस सभ्यता के ठोस पहिये और साथ ही उसकी काष्ठकला वैदिकों के सामने हास्यास्पद लगने लगेगी । ऋग्वेद में रथ के अरे, नेमि और नाभि के उल्लेख आते हैं और धातु के सीमित उपयोग के उस काल में सम्भवतः इसके धुरे अपेक्षित तकनीकी कौशल और तदनुरूप उपकरणों के विकास के बिना सम्भव नहीं थे । यह एक रोचक बात है कि रथ के धुरों की लम्बाई हड़प्पा-काल से आज तक बदली नहीं है । उस काल के लीक के निशान ठीक उतनी ही चौड़ाई के हैं जो आज की गाड़ियों से बनते हैं ।[100] ऐसी स्थिति में स्वधिति[101] और वाशी[102], तेजस[103] और क्ष्णोत्र[104], वृक्ण[105], तंन्तु[106], रश्मि[107], सूची[108] या सुई, अशनि[109], दात्र[110], सृणी[111], खनित्र[112], यन्त्र[113], तन्त्र[114] आदि उपकरणों के उल्लेखों और इनके साथ जुड़ी मानसिकता पर ध्यान देना ज़रूरी हो जाता है ।

जहाँ तक इन उपकरणों की सही पहचान का प्रश्न है, हमें कुछ कठिनाइयों का सामना इसलिए करना पड़ता है कि परम्परागत व्याख्याकारों ने अनेक मामलों में इनकी सही बनावट या कार्य की ओर संकेत नहीं किया है । परवर्ती वैदिक साहित्य ने भी स्थिति को दुरूह ही बनाया है । यदि वज्र एक ऐसा आयुध है जिससे शत्रु पर प्रहार भी हो सकता है और इससे खुदाई का काम भी किया जा सकता है[115] तो इसका ठीक-ठीक रूप निश्चित करने में किंचित कठिनाई होनी तो स्वाभा-

विक है ही, पर यदि आज्य[116], वाणी[117], जल और यूप[118] आदि सभी वज्र हो जायें तो इनकी वज्रात्मकता जैसे भी प्रमाणित की जाये, इस हथियार और औज़ार के सही रूप का निश्चय करने में कठिनाई होगी ही। अतः अनेक विद्वान परशु, वृक्ण, स्वधिति, कुलिश और तेजस् को कुल्हाड़ा ही मानते हैं।[119] यदि रथनिर्माण और नौनिर्माण के विषय में कोई सन्देह नहीं है तो इस विषय में भी सन्देह नहीं होना चाहिए कि लकड़ी काटने या चीरने से सम्बन्धित जिन औज़ारों का उल्लेख मिलता है उन सभी का प्रयोजन, रूप और आकार एक ही नहीं रहा होगा। इन्हीं में से कुछ का उपयोग लकड़ी को चीरने और तराशने के लिए भी किया जाता रहा होगा। इस तथ्य को सामने रख कर ही हम कहीं-कहीं कुछ औज़ारों को पहचानने में सफल हो सकते हैं।

स्वधिति को सामान्यतः कुल्हाड़ा ही माना जाता है।[120] पर इसके सन्दर्भ में कुछ विवरण ऐसे आये हैं जो इसे आरा सिद्ध करते हैं। उदाहरण के लिए, इसे पीट कर या घिस कर नहीं, अपितु क्ष्णोत्र से तेज़ किया जाता है।[121] इसकी धार नीचे-ऊपर को चलती है।[122] बाहर आकर इसकी धार शुद्ध और चमकदार हो जाती है, या कहें बुरादे को बाहर गिरा देती है।[123] अपने कारोबार के लिए आरे की आवश्यकता और इसके साथ ही अन्य दन्तुर औज़ारों, जैसे दात्र[124] का उपयोग इस धारणा की पुष्टि करता है। इसी तरह वाशी को कुछ विद्वान कुल्हाड़ी मानते हैं।[125] वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे बसूला और इसके पाषाणकालीन पूर्वरूप का विकास माना है, जिसके नमूने भारत में नवपाषाण-काल से ही प्रचुरता से मिलने लगते हैं।[126] पहिये आदि जैसी निर्मितियों के लिए सूत्र या रस्सी के उपयोग की बात स्वतः सिद्ध है और वृत्त बनाने के लिए तो नहीं, पर माप के सन्दर्भ में इसके उपयोग का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। ज्यामितीय अल्पनाओं में एक सबसे लोकप्रिय अल्पना पूर्णिम (पुरइन) है जिसमें वृत्त की परिधि पर किसी विन्दु को केन्द्र बना कर पुनः वृत्त खींचे जाते हैं और इसकी परिधि को छः बराबर खंडों में बाँटा जाता है। यह पहिया बनाने की उसी प्रचलित युक्ति का सांस्कृतिक दाय है जिसके बिना द्वादशार चक्र का निर्माण नहीं हो सकता था। इस तरह ज्यामिति के विकास को कुछ लोग जो यज्ञ से और शुल्ब सूत्र से सम्बन्धित मानते हैं, उन्हें इसे आर्थिक आधार और तकनीकी प्रगति से जोड़ कर देखना चाहिए।

यदि ऋग्वेद में वर्णित उपकरणों की तुलना हड़प्पा के अवशेषों से की जाये तो इन दोनों के बीच असाधारण साम्य देखने में आयेगा। परन्तु इन उपकरणों के उल्लेखों से भी अधिक महत्वपूर्ण है निर्माण और उत्पादन-कार्यों के साथ लगाव और तकनीकी उत्कृष्टता के उल्लेख। हड़प्पा सभ्यता में कताई की व्याप्ति का उल्लेख करते हुए मार्शल लिखते हैं कि मोहनजोदड़ो के घरों से बहुत सारे तकुओं के टिक्कल पाये गये हैं, जिनसे प्रकट होता है कि सूत कातना हर एक घर के लिए एक

आम-सी बात थी और चूँकि ये टिक्कल कई तरह के उपादानों के पाये गये हैं अतः इनसे प्रकट होता है कि सूत कातने का चलन गरीब-अमीर सभी घरों में था। गर्म कपड़ों के लिए ऊन का प्रयोग होता था और हलके कपड़ों के लिए कपास का।[127] ह्वीलर ने हड़प्पा के बुनकरों द्वारा करघे के प्रयोग की पुष्टि की है।[128] ठीक यही तसवीर ऋग्वैदिक विवरणों से उभरती है। सूत के लिए तन्तु[129], रशना[130] और रश्मि[131] का प्रयोग हुआ है। कताई और बुनाई वैदिक जनों का इतना परिचित उद्यम है कि इनका उल्लेख उपमाओं में बार-बार आता है। दुहिता शब्द के साथ यदि तनय[132] और सन्तति शब्द पर भी ध्यान दिया गया होता, वयन के सन्दर्भ में यदि वियत या आकाश पर गौर किया गया होता, तो शायद उतनी ही आसानी से वैदिक जनों को बुनकरों की जमात साबित कर दिया गया होता, जितनी आसानी से इन्हें ग्वालों और गड़रियों की जमात साबित किया गया है। गो-चारण अधिक प्राचीन अवस्था है, अतः गो से व्युत्पन्न शब्द-भण्डार को तन्तु, रसना, रश्मि और वयन से व्युत्पन्न शब्द-भण्डार की तुलना में कुछ भारी पड़ना ही चाहिए। कारण, जिन व्यंजनाओं के लिए गोचारी अवस्था में गो से शब्द निर्मित हुए थे, उनके लिए अब नये स्रोतों से शब्द बनाने की प्रयोजनीयता लगभग समाप्त ही हो चुकी थी, पर यदि अकेले तन् से तत, तत्र—फैला हुआ या दूर या वहाँ, तनु, तन्वी, तनय, सन्तति, आदि शब्दों पर ध्यान दें तो निराश नहीं होना पड़ेगा।

वायु के लिए प्रकाश-रश्मियाँ अन्तरिक्ष में नये धागों से रंग-बिरंगा उम्दा वस्त्र बुनती हैं।[133] अग्नि से यज्ञ का तन्वन किया जाता है।[134] उषा और रात्रि धागे तान कर यज्ञ के लिए मन लगा कर वस्त्र बुनती हैं।[135] सूर्य रात्रि के काले तानों को नीचे दबाता हुआ, अपनी चमकीली किरणों का बाना फैलाता हुआ वस्त्र-सा बुनता है।[136] कवि अपना अज्ञान प्रकट करते हुए कहता है, मैं यज्ञ के मन्त्र रूपी धागों को न तो फैलाना जानता हूँ, न ही ऊपर-नीचे करके—साम और यजुः का भेद करके—बाने पिरोना जानता हूँ, और इस तरह यज्ञ का वस्त्र बुनना नहीं जानता[137], और उत्तर मिलता है कि वही इस वस्तु को जानता है, वही इसे उठाना-दबाना जानता है, वही इसे समझाना जानता है जो अमृत के रक्षक (लिपटे हुए धागे) की लपेटन को जानता है और अपनी निगाह ऊपर और नीचे दोनों ओर रखता है।[138] प्रार्थना की जाती है कि पाप रूपी बन्धनों को वरुण ढीला करें। बुनाई के लिए तार फैलाते हुए—वंशवृद्धि के लिए प्रयत्नशील—हमारे तार न टूट जायें—वंश का तार न टूट जाये।[139] माताएँ अपने बच्चों के लिए वस्त्र बुनती हैं।[140] यज्ञ के विस्तार की कल्पना तो प्रायः बुनाई के लिए ताना फैलाने के रूप में की जाती है।[141] सूर्य-रश्मियों की अकसर बुनाई और कताई के तारों से तुलना की जाती है।[142] वंश-विस्तार को सूत्र-विस्तार के रूप में ही कल्पित किया जाता है।[143] सिलाई के उल्लेख भी बड़े मार्मिक रूप में आते हैं। अग्नि मानो तम को

सी रहे हों।[144] राका देवी बिना छेद वाली सुई से सिलाई करती हैं।[145] वर्म की सिलाई का उल्लेख हम कर आये हैं। यह आत्मीय विवरण जिस लोकप्रिय और व्यापक उद्यम की ओर संकेत करता है, वह मोहनजोदड़ो के विषय में मार्शल के अनुमान से कितना मेल खाता है, इस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

कताई-बुनाई की तरह ही तक्षण का भी उल्लेख बड़ी आत्मीयता से किया जाता है। धरती और आकाश को भी गढ़ कर बनाने की कल्पना की जाती है।[146] धन के लिए बुद्धि का तक्षण किया जाता हैं।[147] उशना अपनी काव्य शक्ति से इन्द्र के बल का तक्षण करते हैं।[148] ऋभुगण धन का तक्षण करते हैं।[149] वे लाभ के लिए सुन्दर चक्र वाले रथों का तक्षण करते हैं।[150] बछड़े के साथ उसकी माँ का तक्षण करते हैं।[151] बिना चमड़े की गाय का निर्माण करते हैं।[152] सूर्य के स्थान का तक्षण किया जाता है।[153] इन्द्र के वज्र का तक्षण किया जाता है।[154] स्वधिति से वनस्पति का तक्षण किया जाता है।[155] यहाँ तक कि सरस वाणी का भी तक्षण किया जाता है।[156] तक्षण निर्माण का पर्याय-सा बन गया है।

इस तक्षण के साथ त्वष्टा ऋभुगणों, मरुद्गणों और अश्विनीकुमारों का प्रायः उल्लेख आता है। ऋभुगण इन्द्र के सखा हैं।[157] मरुद्गण इन्द्र-ज्येष्ठ हैं।[158] इन्द्र इनके नेता हैं।[159] ऋभुगणों के कौशल की प्रशंसा उन्हें बार-बार सुहस्त[160] या मँजा हुआ शिल्पी कह कर की जाती है। उनकी प्रतिभा की बार-बार सराहना की जाती है।[161] उनके इस महत्व का कारण यह है कि उनकी बदौलत उत्तम भोजन और धन प्राप्त होता है।[162] वे यात्रा में सहायक होते हैं और इनके बनाये हुए यानों से सभी प्रकार के जलों को पार किया जा सकता है।[163]

ऋभुगणों के विषय में यह श्रुति है कि उनको सोमपान में शामिल किया गया था और यह एक साथ ही दो तथ्यों पर प्रकाश डालता है—दस्तकारों की सामाजिक हैसियत को अपेक्षाकृत हीनतर माना जाता था और इसके बावजूद उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा या, यदि सोमपान को आर्थिक प्रतिलाभ में उपयुक्त हिस्सेदार होने का प्रतीक माना जाये तो, आर्थिक प्रतिलाभ में एक गौण स्थान प्राप्त होता था।[164] इसके पीछे है उनकी तकनीकी दक्षता जिसके अभाव में वैदिक अर्थ-व्यवस्था का आधार डगमगा सकता था।

इन पहलुओं पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तकनीकी दृष्टि से वैदिक समाज न केवल आगे बढ़ा हुआ था, अपितु इसके तकनीकी उत्पादनों का विशेष आर्थिक और वाणिज्यिक महत्व था। तकनीकी उपक्रमों के प्रति यह सजगता, अन्य बातों के अलावा, इस बात का अच्छा प्रमाण है कि वैदिक उद्योग-धन्धे उन अपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं जिनकी अनिवार्यता हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से प्रमाणित होती है।

5
धन-सम्पत्ति के रूप

वैदिक रचनाओं में जिन वस्तुओं की कामना की गयी है उन्हें भोजन, वस्त्र, वाहन, आवास, और अलंकार की कोटियों में रखा जा सकता है। यह बात अकसर उलझन पैदा करती है कि वैदिक कवि जिस उत्कटता से चल सम्पत्ति की कामना करते हैं उतनी उत्कटता से भूमि की नहीं। कृषि-कर्म और कृषक वर्ग के उल्लेख तथा अनाजों के उल्लेख तो बहुत कम पाये ही जाते हैं, गोचारण के उल्लेख भी नाम मात्र को ही आते हैं। इनका स्पष्ट कारण यह है कि वैदिक साहित्य जिस संरक्षक वर्ग के हितों और कामनाओं को ध्यान में रखते हुए रचा गया उनका कृषि-कर्म और पशुपालन से सीधा सम्बन्ध नहीं था। ये व्यापारिक केन्द्रों में बसने वाले ऐसे लोग थे जिनकी रुचि गाँवों में, खेती और पशुपालन में, उसी सीमा तक थी जिस सीमा तक ये उनके लाभ के स्रोत थे। जैसा कि हम देख आये हैं, पशुओं में भी परिवहन के साधनों का उल्लेख दुधारू पशुओं की तुलना में अधिक आया है। गो—बैल और गाय आदि की तुलना में अश्व अर्थात गधे और घोड़े के उल्लेख, अश्व की तुलना में रथों और नौकाओं के उल्लेख, बकरी की तुलना में भेड़—जिसका ऊन उनके निर्यात की मदों में से एक रहा लगता है—के उल्लेख अधिक बार आये हैं।[165] यदि गाय और बैल की तुलना में घोड़ों और गधों की संख्या अधिक रही हो तो भी यह तो कदापि नहीं माना जा सकता कि गधों, घोड़ों और बैलों की तुलना में रथों की संख्या अधिक रही हो सकती है। यदि इससे कोई नतीजा निकाला जा सकता है तो यही कि श्रेष्ठतर वस्तुओं के और वाणिज्यिक उपयोग की वस्तुओं के उल्लेख शेष की अपेक्षा अधिक प्रचुरता से आये हैं। घोड़े के पर्यायों में भी अनेक का सम्बन्ध इसकी गति से न होकर इसकी भार-वहन क्षमता से है जैसे वाजि, हरि, हर्यत, वह्नि, पैद्व आदि।

आवास की चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ शेष काम्य पदार्थों की ओर ध्यान देना उपयुक्त होगा। खाद्य और पेय पदार्थों में अन्न[166], अन्धस्[167], पुष्टि[168], भोजस्[169], आदि आते हैं; दूसरी कोटि में धन के सामान्यार्थक शब्दों को रखा जा सकता है : रयि[170], वसु[171], धन[172], अप्नस्[173], द्रविण[174], वित्त[175], सुवित[176], अर्थ[177], भग[178], रिक्थ[179], रेक्ण[180], मघ[181], पुरुक्ष[182], वय[183], वस्न[184], राधस्[185], जिन्हें सभी प्रकार के द्रव्यों का वाचक माना जा सकता है। पण का उल्लेख अलग से नहीं हुआ है, पर पणि[186] शब्द से प्रकट होता है कि यह भी धन का सूचक था। बहुमूल्य पदार्थों में मूल्यवान धातुओं—सोना या हिरण्य[187], रजत[188], मणि[189], रत्न[190] तथा कान[191], हाथ[192], गले[193] और माथे[194] के तथा पाँव[195] के आभूषण आदि आते हैं।[196]

निघण्टु में यास्क ने अन्न के 28 पर्याय गिनाये हैं—अन्ध, वाज, पय, श्रव, वृक्ष पितु, सुत, सिन, अव, क्षु, धासि, इरा, इडा, इष, उर्क, रस, स्वधा, अर्क, क्षद्म, नेम, सस, नम, आयु, सूनृता, ब्रह्मा, वर्च, कीलाल।[197] धन के पर्यायों में वह मध, रेक्ण, रिक्थ, वेद, वरिव, श्वात्र, रत्न, रयि, क्षत्र, भग, मीढुस, गय, द्युम्न, इन्द्रिय, वसु, राय, राध, भोजन, तना, नृम्ण, बन्धु, मेधा, यश, ब्रह्म, द्रविण, श्रव, वृत्र और ऋत आदि अट्ठाईस पर्याय गिनाते हैं।[198] हिरण्य या खनिज धातुओं में वह हेम, चन्द्र, रुक्म, अयस्, हिरण्य, पेश, कृशन, लोह, कनक, कांचन, भर्म, अमृत, मरुत, दत्र और जातरूप की गणना करते हैं।[199]

6
माप-तौल और विभाजन

उन्नत विनिमय प्रणाली के लिए सुनिश्चित माप-तौल और मूल्य-निर्धारभ की किसी प्रणाली का होना ज़रूरी है। हम देख आये हैं कि ऋग्वेद में भाग, भग, भक्त आदि शब्दों के प्रयोग को देखकर यह अनुमान कर लिया गया है कि यह समान वितरण का और इसलिए आदिम साम्यवाद का प्रमाण है।[200] भारत जैसे विषम आर्थिक विकास वाले किसी देश में यह कहना तो किसी भी ऐतिहासिक काल के विषय में गलत होगा कि उस काल में किसी भी जन-जाति में ऐसी व्यवस्था नहीं थी, न ही यह दावा किया जा सकता है कि स्वयं वैदिक-कालीन समाज में कभी ऐसा चलन नहीं रहा होगा। पर इस तथ्य को इन शब्दों के सहारे वैदिक समाज में स्थापित करना कुछ गलत है। वैदिक काल में निजी सम्पत्ति का न केवल अस्तित्व दिखायी देता है, अपितु इसका वंशानुक्रम से हस्तान्तरण भी दिखायी देता है।[201]

साम्यवादी उत्पादन की सरलता उसके सरल वितरण में भी दिखायी देती है। मामूली उन्नीस-बीस की वहाँ चिन्ता नहीं होती और उत्पाद सामने ही वितरित होता है, अतः इसमें बेईमानी की कोई सम्भावना भी नहीं होती। वस्तुतः ऐसे आदिम समाजों के लिए चोरी तो एक परिचित चीज़ हो सकती है, और वह भी क़बीले से बाहर के लोगों की या उनके द्वारा, पर बेईमानी की वे कल्पना भी नहीं कर सकते। वैदिक वितरण में अग्नि को साक्षी बना कर वितरण ऐसी स्थिति का सूचक है जिसमें अर्जन और प्रतिलाभ की प्रक्रिया अपेक्षाकृत अधिक जटिल हो।

अतः विभाजन से अधिक महत्वपूर्ण है विभाजन की रीति और विभाज्य वस्तु। अध्येताओं का ध्यान इस ओर गया है कि ऋग्वेद में मान और बाट की चर्चा ऐसी स्थितियों में भी आती है, जहाँ सामान्यतः इसकी अपेक्षा नहीं की जानी

चाहिए।[202] सृष्टि के विवरण में भी माप-तौल का हिसाब चलता दिखायी देता है।[203] ऋग्वेद में मान और मात्रा के प्रयोग विभिन्न रूपों और विकारों में दो सौ से अधिक बार हुए हैं। पर इस अवर्तिता से अधिक महत्वपूर्ण है यह बात कि माप-तौल वैदिक मानसिकता में इस तरह समायी हुई है कि वे मन[204], चित्त[205], संकल्प[206], वाणी[207], हवि[208], रूप[209], आकार[210] आदि के सारूप्य और सादृश्य के लिए भी 'स-मान', अर्थात् माप में बराबर, न कि 'सदृश' अर्थात देखने में बराबर का प्रयोग करते हैं। इन दोनों समानार्थकों में अन्तर यह है कि पहला जहाँ एक परिशुद्धता के आग्रह को प्रकट करता है जिसका विकास मानदण्डों और मानांकों के विकास के बिना असम्भव है, वहाँ दूसरे में मात्र प्रतीति का भाव निहित है और इसका प्रयोग किसी ऐसे समाज में भी प्रचलित हो सकता है जो अभी बहुत पिछड़ी अवस्था में हो। यह माप-तौल उनके लिए इतना पुराना हो चुका है कि 'मान' को नाभि बना कर इस काल में निकले शब्द स्वयं नाभिकीय महत्व पाकर नये शब्द-भण्डार का विकास करने लगे हैं। वि-मान[211], मित्-र[212], मित्-उन[213], अनु-मान[214], अति-मान[215], अभि-मान[216], आदि शब्दावली को इस दृष्टि से उल्लेखनीय माना जा सकता है। इसका सम्मान, घिस कर समान और सम-सं-स हो चुका है और बराबर, भला, उपयुक्त का अर्थ पा चुका है।

सामान्यतः यह माना जाता है कि वैदिक मान-प्रणाली दाशमिक थी, जब कि हड़प्पा सभ्यता में जो मान-क्रम प्रचलित था वह 1 : 2 (द्विगुण) क्रम में था। इस तरह का दावा कई सरलीकरणों को लेकर ही किया जाता है। चूँकि भारतीय प्रभाव-विस्तार उस काल के बाद हुआ है जब मूल केन्द्र में हज़ार तक की संख्याओं का विकास ही चुका था, इसलिए प्रायः यह सोच लिया जाता है कि दाशमिक क्रम भारोपीय जनों में आरम्भ से ही प्रचलित था और इसी के आधार पर उनका विभाजन-क्रम भी आरम्भ से केवल दाशमिक ही रहा होगा। यह निरा सत्याभास है। संख्याओं के विकास पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना उचित होगा कि मान-क्रम मेय वस्तु के गुण-धर्म को आधार बना कर नियत किया जाता है, और एक ही क्रम सभी पर लागू नहीं हो सकता। अतः किसी भी विकसित या विकासोन्मुख सभ्यता के विषय में इस प्रकार का सरलीकरण करना निरापद नहीं है। महीने के दिनों, वर्ष की ऋतुओं और महीनों को हम अपने नियत क्रम के अनुसार नहीं ढाल सकते, उनके अनुसार ही इनके लिए गणनाक्रमों के विकास की अनिवार्यता पैदा होगी। इसी तरह गणना का आधार या सहायक साधन मनुष्य का हाथ ही रहा है। अतः कहीं अँगूठे को छोड़कर एक हाथ की उँगलियों के सभी पोरों और दोनों हाथों की उँगलियों के सभी पोरों के अनुसार 1 : 3 : 4 : 2 के क्रम को; लम्बाई के मामले में बालिश्त, हस्त और अंगुलों से मापने के क्रम में 1 : 4 : 3 : 2 को; कहीं दोनों हाथोंकी उँगलियों को आधार बना

कर दशम क्रम को; कहीं हाथ और पाँव की सभी उंगलियों को आधार बना कर कोटि या सबसे बड़ी संख्या—जो आगे चलकर मान या मन, कोड़ी या बीस की संकुल राशि, और फिर कोटि[217] का सूचक बनती है—का विकास हुआ है। ये मात्र कुछ उदाहरण यह संकेत देने के लिए काफ़ी हैं कि किसी भी सभ्यता का काम न तो एक मान-क्रम से चल सकता था, न ही चलता था; साथ ही सभी संस्कृतियों में संख्याओं के विकास का जो प्रेरक तत्व रहा है वह हाथ अपने भीतर भी अनेक मान-क्रमों के विकास की सम्भावनाएँ लिये हुआ था। इसके साथ ही अब यह भी स्पष्ट हो चला है कि हड़प्पा सभ्यता में केवल एक मान-क्रम प्रचलित नहीं था। बृजभूषण विज ने यह सिद्ध किया है कि मोहनजोदड़ो का स्नानागार दाशमिक प्रणाली की नाप-जोख से बनाया गया था।[218]

इससे जुड़ा हुआ ही यह भ्रम भी है कि वैदिक विनिमय की इकाई गाय थी। इस सत्याभास के पीछे यह तर्क काम करता है कि धनिक व्यक्ति के लिए 'गोमत्' शब्द का व्यवहार होता था और यह कि गाय को प्राचीन भारतीय परम्परा धन मानती थी। दान आदि के प्रसंग में गो-दान का उल्लेख प्रायः आता है। इसको स्वीकार कर लेने के बाद हम कई ऐसी शंकाओं का कोई समाधान नहीं पाते, जिनको सामान्यतः उठाया जाना चाहिए था, पर उठाया नहीं गया है। पहली बात तो यह कि इससे विनिमय का पूरा आधार ही खंडित हो जाता है। यदि गाय एक मात्र विनिमेय वस्तु हो तो गाय देकर गाय लेने का कोई तुक नहीं है। यदि गाय देकर कुछ चीज़ें पायी जा सकती हैं तो ज़रूरी नहीं कि उन चीज़ों को देने वाले को गाय की ही ज़रूरत हो। यदि होगी तो अपनी चीज़ों के बदले गायें लेते-लेते एक दिन वह भी चरवाहा बन जायेगा और फिर उस चीज़ का स्रोत ही ख़त्म हो जायेगा। अतः गाय देकर कुछ बड़ी या प्रचुर चीज़ें अवश्य ख़रीदी जा सकती थीं, या इसे उलट कर कहें कि एक नियत परिमाण में दूसरी चीज़ें देकर गाय अवश्य ख़रीदी जा सकती थी, पर ज़रूरी नही कि हर लेन-देन गाय के सममूल्य का हो। अतः हर लेन-देन में गाय का प्रश्न नहीं आता। फल, फूल, सब्जी, मधु, आदि क्या गाय देकर लिया जाता है? अधिक-से-अधिक गाय के अंशों के रूप में या इसके मान-खण्डों और गुणकों के रूप में ही उन वस्तुओं का परस्पर विनिमय हो सकता था। पर यहाँ आकर हम ऐसे विन्दु पर पहुँच जाते हैं जहाँ गाय, गाय नहीं रह जाती, एक मान बन जाती है। अतः जहाँ हम यह स्वीकार करते हैं कि विनिमय का साधन गाय थी, वहीं हमें यह स्वीकार करना होगा कि गाय एक मान थी, निश्चय ही एक बड़ा मान। और वस्तु का वस्तु से हटकर एक मान में बदल जाना, सभी वस्तुओं का मूल्य किमी एक वस्तु के संविभागों और मानांकों से नियत होना—चाहे वह सोना हो या गाय—विनिमय की एक ऐसी उच्च अवस्था का सूचक है जिसका विकास किसी आदिम समाज में नहीं हो सकता, जिसमें वस्तु-

विनिमय का कोई प्रतीकात्मक आधार नहीं होता, अपितु यह उभय पक्ष की अपनी आवश्यकता पर निर्भर करता है। और गाय को मान मानते ही हमें 'गोमत्' शब्द का एक अन्य अर्थ भी करना होगा—बहुमान या बड़ा। मान का यह भाव सम्पन्नता और दक्षता के मामले में मानी, माना हुआ—बड़े आदमी, में भी दिखायी देगा। गोसाँई; गोसयाँ अर्थात् गोस्वामी का अर्थ 'मालिक' या स्वामी मात्र है। यह आशय वैदिक काल से बहुत पहले से प्रचलित हो चुका लगता है।

अब इस सिद्धान्त के स्थिर हो जाने पर हम वैदिक साहित्य पर एक बार पुन: यह देखने के लिए दृष्टिपात कर सकते हैं कि 'गोमान' क्या था? ऋग्वेद में शफ[219], कला[220] और पाद[221] का उल्लेख आया है। ब्राह्मणों में सोमक्रयणी गो का उल्लेख, सोम की खरीद के सन्दर्भ में होने वाले मोल भाव के मामले में आया है।[222] इसमें कला,कुष्ट, शफ, पाद, गो या धेनु का क्रमश: उल्लेख आया है। कहीं-कहीं यह क्रम कला, शफ, पाद, गवार्ध और धेनु का है।[223] शफ का शाब्दिक अर्थ है खुर, खुर से ज़मीन में पड़ा निशान या 'गोपद'। अत: कला इसका आधा या खुर के एक हिस्से का निशान हुआ। शफ के बाद पाद का आशय दो शफ हुआ और गवार्ध दो पाद तथा गो या धेनु दो गवार्धों या चार पदों के बराबर हुआ। इस तरह हम पाद को कुछ समय पहले प्रचलित मान-प्रणाली के पाव, और कला को छटाँक या षष्टदशांक—सोलहवें हिस्से के बराबर पाते हैं। यहाँ हम 1 : 2 के ठीक उसी मान पर पहुँचते हैं जिसको हम हड़प्पा का सबसे प्रचलित मान-क्रम मानते हैं।

यह एक रोचक तथ्य है कि गाय की माप लगभग शेर की माप या सेर के बराबर थी। छटाँक तक की छोटी मात्रा का ध्यान विनिमय की बारीकी को प्रकट करता है। सोने आदि की तोल के लिए यह मान भिन्न रहा होगा। लम्बाई की माप के लिए कुछ समय पहले प्रचलित गज का नाम कुछ रोचक है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि लम्बाई की माप 1 : 2 के क्रम में दिखायी देती है। अंगुल, वितस्ति और हस्त तक 1 : 4 : 3 : 2 का क्रम चलता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर दशांगुल का उल्लेख आया है[224] और प्रहस्त या गज का मान 30 अंगुल का बताया जाता है, इस तरह 1 : 10 : 3 का एक अन्य क्रम दिखायी देता है। तीन, छ:, बारह और चौबीस के पीछे सम्भवत: मौसमों, ऋतुओं, मासों और पक्षों का हाथ रहा है और इस तरह ज्यामितिक गणनाओं में वर्ष के 30 दिनों के 12 महीनों से परिकल्पित 360 की संख्या और पूर्ण चक्र के लिए 360 अंशों या 180 अंश के विषुव की अवधारणा का विकास हुआ है।[225]

इस तरह हम देखते हैं कि मेय वस्तु की विशिष्ट प्रकृति और गुण व विभाग को ध्यान में रखते हुए किसी भी विकसित समाज को अनेक प्रकार के मान-क्रम अपने भौतिक ज्ञान और अनुभव तथा आवश्यकता के अनुरूप अपनाने पड़ते हैं और वैदिक काल में भी अनेक प्रकार की मान-प्रणालियाँ प्रचलित थीं। इसके अनुरूप

ही हम ज्योतिष आदि का भी सराहनीय स्तर का विकास हुआ पाते हैं। अतः यह सोचना कि वैदिक जनों में केवल दाशमिक मान-क्रम प्रचलित था, मान-क्रम और गणना-पद्धति के पारस्परिक अन्तर को न समझने का परिणाम है। इसी तरह जो विद्वान यह मानते रहे हैं कि हड़प्पा सभ्यता में केवल एक ही मान-क्रम प्रचलित था वे हड़प्पा सभ्यता के मान-क्रम और भौतिक विकास दोनों के अन्तःसम्बन्ध को समझने में असमर्थ रहे हैं। यह भ्रम अब पुरातात्विक खोजों से भी टूट चुका है।[226]

माप, तौल, गणना और विभाजन के उक्त विवरणों से स्पष्ट है कि वैदिक-कालीन भौतिक कार्य-व्यापार का स्तर भी इनके अनुरूप ही रहा होगा। यह सच है कि इस काल में मुख्य रूप से वस्तु-विनिमय ही प्रचलित रहा होगा, पर सोने आदि के ऐसे मानक खण्डों का प्रचलन भी देखने में आता है जो किसी उन्नत व्यापार के लिए अपेक्षित था।[227] निष्क को हार मानने का पूरा कारण हमारे पास है, पर यदि इस बात को सामने रखें कि सोने-चाँदी के सिक्कों के हार बनाने का चलन बहुत पुराने समय से आज तक प्रचलित रहा है, और साथ ही इस बात पर भी ध्यान दें कि बहुत प्राचीन काल से ही निष्क शब्द का प्रयोग सोने की मुहरों के लिए होता आया है, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वैदिक काल में भी मानक स्वर्ण-खण्डों का अस्तित्व था। हड़प्पा से निष्कों का पता चलने के बाद तो इस विषय में किसी प्रकार के सन्देह की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।[228] और फिर इस स्थिति में पण को भी ताँबे के नियत आकार व भार के खण्डों के रूप में कल्पित किया जा सकता है, यद्यपि इनके प्रचलन की कल्पना पणि शब्द के प्रयोग के आधार पर ही की जा सकती है जिसके इतर अर्थ—व्यापारी, व्यवसायी (पण् वण्—खंडन, वितरण) आदि हो सकते हैं। पर धनी के लिए 'पैसे वाला' प्रयोग आम है और यह बात पणि के मामले में भी लागू हो सकती है। रजत शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में केवल एक बार आया है[229], पर स्वर्णमुद्राओं के लिए जैसे कभी-कभी स्वर्ण शब्द ही प्रयोग में आता रहा है वैसे ही रजत-खण्डों के लिए रजत शब्द प्रचलित रहा हो सकता है। मार्शल ने इस पहलू पर बहुत बल दिया है कि हड़प्पा सभ्यता में चाँदी का प्रचलन बहुत अधिक था और इसके पात्र आदि भी बनाये जाते थे, जब कि ऋग्वेद में इसका महत्व नहीं दिखायी देता।[230] शब्दों की आवर्तिता को आधार बनाकर निकाला गया यह नतीजा भी अन्य सांख्यिकीय नतीजों की तरह अविश्वसनीय है। जैसा हम कह आये हैं, ऋग्वेद में जिन वस्तुओं की कामना की गयी है वे मुख्यतः वे ही हैं जिन्हें अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान माना जाता रहा है। यदि चाँदी अपेक्षाकृत सस्ती थी तो इसका एक बार के लिए उल्लेख आ जाना भी काफ़ी है और यह इसके प्रचलन की अधिकता को प्रकट करता है न कि इसके अभाव को।

इस तरह हम आर्थिक और औद्योगिक विकास के मामले में भी हड़प्पा सभ्यता

को वैदिक साहित्य के विवरणों के अनुरूप पाते हैं। यह एक अन्य महत्वपूर्ण बात है कि ऋग्वेद के अपेक्षाकृत आधुनिक मण्डलों में शिल्प और दक्षता के मामले में भारी प्रगति दिखायी देती है, यद्यपि इन विविध गतिविधियों का आरम्भ प्राचीन माने जाने वाले मण्डलों में और अनुमानतः इससे भी काफी पहले से हो चुका है। हम आगे चलकर इस विषय में कुछ अधिक विस्तार से विचार करेंगे कि प्राचीन मण्डलों और नवीन मण्डलों का सम्बन्ध हड़प्पा सभ्यता के किन चरणों से है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. डी. एच. गोर्डन, दि प्रीहिस्टॉरिक बैकग्राउंड ऑफ़ इंडियन कल्चर 1960, 71; ह्वीलर, सिविलाइजेशन ऑफ़ दि इंडस वैली ऐंड बियांड, 1953, 62-63; कोसम्बी, दि कल्चर ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ इंडिया, 1965, 58 और आगे।
2. 'प्राचीन भारतीय समाज : इतिहास के झरोखे से', इतिहास, 3, 11-12
3. 'फ़ैमिली-बुक्स' से यहाँ अभिप्राय मण्डल 2-7 से है, जिन्हें अपेक्षाकृत पुराना माना जाता है। देखें, मैटीरियल कल्चर ऐंड सोशल फ़ार्मेशन्स इन ऐंशेंट इंडिया, 1983, 22; कीथ, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1922, 1962, 1, 69; साथ ही, ब्लूम फ़ील्ड, ऋग्वेद रिपिटीशन्स (1916), 1981 सं., 20-21 व 636-649
4. वही, 24
5. वही।
6. ऋग्वेद के प्राचीन माने जाने वाले मण्डलों में अर्य का 52 बार और नये माने जाने वाले मण्डलों में 46 बार प्रयोग हुआ है। आर्य शब्द का विविध विकारों में प्राचीन मण्डलों में 14 बार और नवीन मण्डलों में 23 बार प्रयोग हुआ है जो अनुपाततः समान है।
7. 'गो' शब्द का केवल चतुर्थी और पंचमी एकवचन तथा सप्तमी बहुवचन में ही 165 बार प्रयोग हुआ है। नये और पुराने मण्डलों में अनुपात निम्न प्रकार है :

गो:	2-7 तक	24 बार	1 व 8-10 तक	23 बार	कुल 47 बार
गोभिः	,,	23 ,,	,,	52 ,,	75 ,,
गोषु	,,	15 ,,	,,	28 ,,	43 ,,
	कुल	62		103	165

8. पहले मण्डल में गो: का प्रयोग 12 बार हुआ है। सायण के अनुसार इनमें 1. 28. 9 में यह बैल के लिए, 1. 53. 2; 61.12; 121.7 में अर्थात् 3 बार पशु के सामान्य अर्थ में; 1. 121.9 व 1.84.15; में गमनशील के सामान्य अर्थ में; 1.158.2, 63.7 में भूमि के अर्थ में; 180.5 में स्तुति रूपा वाणी के अर्थ में; 181.8 में उदक के अर्थ में; 121.2 में गो समूह या वज्र या गाय या जल में से किसी अर्थ में और केवल 180.3 में एक बार निश्चित रूप में गाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
9. ऋग्वेद में राजा के लिए जनभक्ष (ऋ. 2. 21.3) का प्रयोग इसका कुछ आभास देता है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के विशाल अन्नागारों से भी वसूली की ऊंची दर और वसूली में बरती जाने वाली कठोरता का अनुमान होता है।
10. विषम भागों का प्रतीकात्मक वर्णन विभिन्न देवों के लिए विहित पुरोडाश के कपालों में, यज्ञ में प्रथम या उत्तरवर्ती अधिकार में, सोमपान की भागीदारी आदि में पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'भूरिदा भूरि देहि नः मा दभ्रं भूरि आ भर। भूरि घा इन्द्र दित्सति॥' ऋ. 4.43.20, आदि भी द्रष्टव्य हैं।
11. 4.32.20
12. 1.116.3 में इस बात का संकेत है कि मरणपर्यन्त सम्पत्ति पर पिता का अधिकार रहता था जो इसके बाद पुत्र को प्राप्त होता था। ऋ. 4.57. 1-3; 7.35.10; 10.66.13 में क्षेत्रपति या खेत के मालिक का किसानों से अलग उल्लेख है। ऋ. 1.112.22 में क्षेत्र के वितरण का उल्लेख है। उपज का नहीं, खेत का बँटवारा निजी भूसम्पदा के मामले में ही सम्भव है।
13. मार्शल, 1931, 1, 27-28, ह्वीलर, 1953, 63; पिगट, 1950, 156-57; बैशम, 1963 सं., 18; गोर्डन, 1960,71 और आगे; कोसम्बी, पूर्व., 1965, 58 और आगे।
14. सुमन पंड्या, 1980-81, 61
15. किसी अन्य पशु की तुलना में 'गो' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अधिक बार हुआ है, पर जैसा कहा जा चुका है, यह लिंग-निरपेक्ष रूप में प्रयोग में आया है, अर्थात् गो का अर्थ गाय और बैल दोनों है। साथ ही गो प्रजाति से सम्बन्धित किसी वस्तु और इसके उत्पाद—दूध, दही, चमड़ा, स्नायु, सींग के लिए और गमनशीलता का मूल भाव रखने वाले किसी भी तत्व या वस्तु, जैसे, जल, किरण, धरती, धन आदि के लिए गो शब्द का प्रयोग हुआ है। इस तरह गो शब्द की आवर्तिता धन के अन्य पर्यायों की आवर्तिता से बहुत कम तो है ही; इसके सभी प्रयोग गाय का आशय नहीं रखते और गमनशीलता पर बल, गो या बैल के परिवहन और श्रम के साधन के रूप में इसके महत्व को अधिक

प्रकट करता है, बनिस्बत चारण के।

16. 5.29.8; 6.17.11; 8.35.7-9, आदि।

17. ऋग्वेद में अश्व शब्द का प्रयोग गधे के लिए भी हुआ है। इसके अन्य पर्याय अत्य, वाजि, हरि आदि भी अनेक बार प्रयोग में आते हैं। यह परिवहन का साधन है।

18. 1.64.7; 4.16.14, आदि।

19. अवि का सीधे उल्लेख न आकर इसके ऊन के सन्दर्भ में ही इसका प्रयोग आया है जो कि ऊनी वस्त्र का कच्चा माल और, इस तरह, एक पण्य वस्तु है। 10.91.14; 106.5 आदि में मेष का प्रयोग पशु के रूप में आया है।

20. 1.162.2; 4; 163.12; 2.31.6; 3.45.2, आदि में कुल 14 बार अज, और 1.162.3 में केवल एक बार छाग का प्रयोग हुआ है, पर अधिकांश प्रयोग पूषा या अग्नि के वाहन के रूप में हैं।

21. 1.29.5; 3.53.23; 8.56.3, आदि में सर्वत्र भारवाही पशु में रूप में।

22. 7.55.4; 8.77.10, आदि। लगता है, अभी तक यह वन्य ही था।

23. 2.39.4; 10.14. 10; 11, आदि। सर्वत्र पथरक्षण के सन्दर्भ में।

24. 1.163.10; 2.34.5; 3.8.9, आदि।

25. 1.30.4; 10.165.1-5;दुर्घटना की सूचना लेकर आने वाले दूत के रूप में।

26. 10. 86.5

27. 10.28.10 में 'अवरुद्धः परिपदं न सिंहः' पर सायण; देखें, वैदिक इंडेक्स, 2,465 भी।

28. इस तर्क से हम उन्हें अश्व, गो, अज, सर्प आदि किसी से भी अपरिचित सिद्ध कर सकते हैं। इन सबके पीछे 'गति करने वाला' का सरल भाव ही है।

29. 'मृगाः इव हस्तिनः खादथ वना', ऋ.1.64.7;'मृगः न हस्ती तविषीं उषाणः', ऋ. 4.16.14; तुलना करें,'मा वः मृगः न यवसे जरिता', ऋ. 1.38 5; 'मृगः न भीम कुचरः गिरिस्थाः', ऋ.1.154.2; 'मृगः न अश्नः…',ऋ. 1.173.2; 'मृगः न भीमः अरक्षसः तुविष्मान्', ऋ. 1.190.3, आदि।

30. 1.65.4; 84.17; 4.4.1; 6.20.8, आदि। तुलना करें, 'इभ्यान् न राजा वनानि अत्ति', ऋ. 1.65.4 की ऊपर 1.64.7 से।

31. 1.140.2; 6.4.5; 8.33.8, आदि। देखें, वैदिक इंडेक्स, 'हस्तिन' भी जिसके अनुसार वारण शिकार करने वाले या हाथी पकड़ने वाले हाथी के लिए प्रयोग में आता था जो इस बात का प्रमाण है कि वैदिक जन हाथी पालते भी थे।

32. 10.44.9; 87.12, आदि।

33. 10.106.6.

34. वैदिक इंडेक्स, 'व्याघ्र'।

35. 'सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्', नि. 3.18. दवैको में सिंह का अर्थ हिंसक व्याघ्र, 'हिंसको व्याघ्रः' किया है।

36. डी. पी. अग्रवाल और आर. के. सूद, 'इकोलॉजिकल फैक्टर्स ऐंड हड़प्पा सिविलाइज़ेशन', हसि., 1982, 229

37. ह्वीलर, पूर्व., 23-24

38. देखें, बी. बी. लाल व थापर, 'एक्सकैवेशन्स ऐट कालीबंगां : न्यू लाइट ऑन इंडस सिविलाइज़ेशन', 1967, 78-88

39. आर. एल. राइक्स, 'मोहनजोदड़ो इन्वायर्नमेंट,' फइंसि., 1984, 227 के अनुसार हड़प्पा में भी सिंचाई की नहरें रही होंगी, परन्तु इस बीच नदियों के द्वारा लायी मिट्टी में ये दब गयी हैं और इनकी खोज की आशा नहीं की जा सकती। देखें ह्वीलर, 1968, 108 भी।

40. शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लांगलम्। ऋ. 4.57.4

41. युनक्त सीरा वियुगं तनुध्वं कृते योनौ वपत इह बीजम्। ऋ. 10.101.3

42. यवं वृकेण मरुतः वपन्ति।

43. शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनं अष्ट्रां उत् इंगय। ऋ. 4.57.4

44. वही।

45. शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशाः अभियन्तु वाहैः। ऋ. 4.57.8

46. 10.101.3

47. अर्वाची सुभगे भव सीते बन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगा असिस यथा नः सुफला असिस॥ इन्द्रः सीतां नि गृहणातु तां पूषा अनु यच्छतु। ऋ. 4.57.6-7

48. 4.57.8

49. क्षेत्रस्य पते मधुमन्तं उर्मि धेनुः इव पयः अस्मासु धुक्ष्व। ऋ. 4.57.2; क्षेत्रस्य पतिः मधुमान् नः अस्तु। ऋ. 4.57.3

50. बधिया के लिए ऋग्वेद में वध्रि शब्द का प्रयोग—1.32.7; 33.6 आदि—आया है। बैलों के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख नहीं आया है, पर वृषभ और अनस तथा उक्षण और यदा-कदा ऋषभ आदि विभिन्न शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि अनस विशेष रूप से बधिया बैलों के लिए ही प्रयोग में आया है। साथ ही चूँकि घोड़ों के बधियाकरण के उल्लेख—ऋ. 6.61.1; 10.69.1; 23.4; 11-12 आदि—आये हैं, अतः बधियाकरण का यही तरीका बैलों के मामले में न अपनाने का कोई कारण नहीं है।

51. 10.101.3

52. 5.62.6

53. 10.101.3

54. येन तोकाय तनयाय धान्यं बीजं बहध्वे अक्षितम् । ऋ. 5.53.13
55. 1.105.17.
56. 6.51.15; 2.34.6
57. 1.52.3; 5.32.8
58. 1.106.6
59. 4.50.3
60. 3.31.2: 4.17.16; 5.7.5
61. 5.44.4; 8.87.1
62. 10.39.8
63. 2.16.7, 3.26.9
64. 1.116.7
65. 4.18.8
66. 10.39.8
67. 6.54.7
68. कूप: कातु: कर्त: वव्र: खात: अवत: क्रिवि: सूद: उत्स: ऋश्यदात् कारोतरात् कुशय: केवट इति कूपस्य । नि. 3.23
69. सिंचामहै अवतं उद्रिणं वयं सुसेकं अनुपक्षितम् । ऋ. 10.101.5 उद्रिणं सिंच अक्षितम् । ऋ. 10.101.6
70. नम: स्रुत्याय च पथ्याय च नम: काट्याय च नीप्याय च नम: कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ।। नम: कूप्याय च आवट्याय च नमो वीध्र्याय च आतप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय च अवर्ष्याय च ।। यजु. 16.37-38
71. कुल्या शब्द पर टिप्पणी करते हुए महीधर लिखते हैं, "कुल्या कृत्रिमा सरि: ।" यजु. 16.37 पर भाष्य ।
72. परिवक्ता इव पति विद्यं आनट पीप्याना कूचक्रेण इव सिंचन् । ऋ. 10.102.11
73. द्रोण-आहावं अवतं अश्म चक्रं अंसत्र-कोशं सिंचता नृपानम् ।। ऋ. 10.101.7
74. वही ।
75. आर. एस. शर्मा, पूर्व.; कीथ, पूर्व. ।
76. रोमिला थापर, पूर्व. ।
77. आप्टे, 'सोशल ऐंड इकॉनॉमिक कंडीशन्स', दि वैदिक एज, 1965, 398
78. पुरुषो वै प्रजापते: नेदिष्ठं स: अयं अत्वक् एते वै पुरुषस्य ओषधीनां नेदिष्ठतमां यत् गोधूमा: तेषां न त्वक् अस्ति मनुष्य लोकं एव एतेन उज्जयति ।

शतब्रा. 5.1.6.6; देखें सैबुईसी. 41, 31

79. व्रीहयः च मे यवाः च मे माषाः च मे तिलाः च मे मुद्गाः च मे खल्वाः च मे प्रियंगवः च मे श्यामाः च मे नीवाराः च मे गोधूमाः च मे…यजु. 18.12.

80. विष्णुमित्रे, 'दि बिगिनिंग ऑफ़ ऐग्रीकल्चर', इंडियन एक्सप्रेस, 19 नवम्बर 1975
'दि हड़प्पा सिविलाइजेशन ऐंड नीड फ़ॉर ए न्यू ऐप्रोच', 1982, 34-39

81. निः अविध्यत् गिरिभ्यः आ धारयत् पक्वं ओदनं। ऋ. 8.77.6; शतं महिषान् क्षीरपाकं ओदनं वराहं इन्द्र एमुषम् । ऋ. 8.77.10

82. मैकाय, चान्हूदड़ो एक्सकैवेशन्स : 1935-35; 1976, 38 और आगे।

83. 10.39.6

84. 10.72.2

85. 1.24.9; 2.33.4; 9.112.1; 3; 10.97.6, आदि ।

86. 2.38.4; 5.47.6; 9.99.1, 10.130.1, आदि ।

87. 7. 103.5 ; 8.42.3, आदि ।

88. 9. 112.3

89. यजु. 16.17-62; देखें, बैशम, पूर्व., 44;आर.एस. शर्मा, पूर्व., 1983, 49

90. 3.32.15; 4.27.5 ; 32.19; 6.69.2; 6; 9.63.3, आदि ।

91. 3.32.15; 4.17.16; 9.12.6; 10.42.2, आदि ।

92. 5. 50.4; 6. 2. 8; 44. 20; 9.3.1, आदि ।

93. 1.116.6; 117.6; 7.33.13, आदि

94. 1.29.6; 8. 17.13

95. 1.20.6; 4.18.3; 5.51.4; 8.82.7; 9.8.2, आदि ।

96. देखें, आर. एस. शर्मा, 1983,22

97. बैशम, पूर्व., 1967, 38

98. तष्टेव वृक्षं वनिनः नि वृश्चसि परश्वा इव नि वृश्चसि । ऋ. 1.130,4; विजेहमानः परशुः न जिह्वां द्रविः न द्रावयति दारु धक्षत् । ऋ. 6.3.4; परशुः यथा वनं पात्रा इव भिन्दन् । ऋ. 7.104.21; अश्विना सु विचाकशत् वृक्षं परशुमान् इव । ऋ. 8.73.17; देवासः आयन् परशून् अबिभ्रन् वना वृश्चन्तः अभि विट्भिः आयन् । ऋ. 10.28.8, आदि ।

99. बैशम, पूर्व., 22

100. डी. एच. गोर्डन, पूर्व., 1960, 71

101. 3.2.10; 7.3.9, आदि ।

102. 1.88.3; 5.53.4; 57.2; 8.19.23, आदि ।

103. 6.3.5; 8.5; 15.19

104. 2.39.7
105. 3.8.7; 10.87.5
106. 2.28.5; 4.13.4; 6.9.3; 8.13.14, आदि।
107. 1.19.8; 123.12; 10.93.9 आदि। सायण ने रश्मि को रस्सी, किरण और तेज का सूचक माना है। रस्सी के लिए रश्मि के अतिरिक्त रशना (1.162.8; 163.5; 4.1.9; 2.28.5, आदि), दाम (1.162.8; 2.28.6), बन्धन (1.163.3; 4; 7.59.12), रज्जु (1.162.8), वरत्र (4.57.4; 10.101.5; 102.8), अष्ट्रा—वस्तुतः बैलों के मुँह की जाबी (4.57.4), अभीशूः (6.75.6), आदि अनेक शब्दों का विविध प्रसंगों में प्रयोग हुआ है जो पतले धागे से ले कर मोटे रस्से तक के प्रचलन के द्योतक हैं।
108. 2.32.4. यहाँ एक विचित्र सामर्थ्य के रूप में अछिद्यमान या बिना छेद वाली सुई से सिलाई का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि छेद वाली सुई का प्रयोग होता था।
109. 1.143.5; 4.16.17; 6.6.5; 7.104.20, आदि।
110. 8.78.10
111. 1.58.4; 4.20.5; 10.101.3
112. 1.179.6; 7.49.2
113. 1.34.1; 10.149. 1
114. 10.71.9
115. 2. 15.3
116. 'वज्रो वै आज्यम्', शतब्रा.; 1.4.4.4, 'वज्रो वा आपः', शतब्रा., 1.1.1.17
117. 'वाक् हि वज्रः', ऐब्रा., 4.1; 'वज्रो वै त्रिष्टुप्'. शतब्रा., 7.4.2.24
118. 'वज्रो वा एष यत् यूपः' कौसी., 10.1; 'वज्रो यूपः', 3.6.4.19, आदि। वस्तुतः स्फ्य, तैसं, 1.7.10.5; चक्र, तैसं. 1.4.4.10; परशु, शतब्रा. 3.6.4.10 आदि, विविध वस्तुएँ पुरोहितों के हाथ में वज्र बन जाती हैं।
119. आर. एस. शर्मा, पूर्व., 26
120. मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, 1981, 1280; निघण्टु, 2.20; आर. एस. शर्मा, पूर्व., 26
121. 'क्षणोत्रे ण इव स्वधितिं सं शिशीतम्'। ऋ. 2.39.7; ऋ. 1.162.18 पर अपने भाष्य में सायण लिखते हैं, 'स्वधितिः छेदनसाधनो असि,' जिससे बड़े आरे के स्थान पर इसके बढ़ई की आरी होने का आभास मिलता है।
122. 'सः उद्वतः निवतः याति वेविषत् गर्भं एषु भुवनेषु दीधरत्।' ऋ. 3.2.10

123. निःयत् पूता इव स्वधितिः शुचि गात् स्वया कृपा तन्वा रोचमानः । ऋ. 7.3.9
124. हस्ते दात्र चन आ ददे । ऋ. 8.78.10
125. आर. एस. शर्मा, पूर्व., 1983, 26; सायण ऋ. 4.53.4 में इसको आयुध सामान्य अर्थ में लेते हैं ।
126. "ऋग्वेद में दो सार्थक शब्द आये हैं – 1. अश्मन्मयी वाशी और 2. आयसी वाशी । वासी से हिन्दी शब्द बसूला या बसूली बने हैं । यह ही पूर्वपाषाण-युगीन मानव के काटने या तक्षणक्रिया का औज़ार था । जैसा कि ऋग्वेद में कहा है—वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः (ऋ. 10. 101.10) । त्वष्टा देवता को हाथ में आयसी वाशी धारण करने वाला कहा गया है ।..." भारतीय कला, 1966, 11, देखें आगे भी ।
127. मार्शल, 1931, 1, 32
128. ह्वीलर, पूर्व., 1953, 69. श्रेडर मूल भारोपीय निवास में करघे का उपयोग ग़ैर-ऊनी बुनाई के लिए होता पाते हैं । ओटो श्रेडर, प्री-हिस्टॉरिक ऐंटीक्विटीज़ ऑफ़ दि आर्यन पीपुल्स, 1972 सं., 330-37
129. 2.28.5; 6.9.2; 8. 13.14, आदि । तन् से व्युत्पन्न क्रिया-रूपों का 200 बार से अधिक प्रयोग हुआ है ।
130. 1.162.8; 2.28.5; 5.1.3., आदि ।
131. 1.134. 4; 6.75.6, आदि । रश्मि शब्द का प्रयोग किरण, रस्सी और धागे के अर्थ में हुआ है ।
132. 1.64.14; 2.23. 19; 3.15.2, आदि । तनय शब्द का प्रयोग विविध व्याकरणिक विकारों के साथ 83 बार से अधिक हुआ है, जब कि दुहिता का लगभग 66 बार ।
133. तुभ्यं उषासः शुचयः परावति भद्रा वस्त्रा तन्वते दंसु रश्मिषु चित्रा नव्येषु रश्मिषु । ऋ. 1.134.4
134. त्वं अग्ने सप्रथाः असि जुष्टः होता वरेण्यः । त्वया यज्ञं वि तन्वते ।। ऋ. 5.13.4
135. ...उषासानक्ता वय्येव रण्विते । तन्तुं ततं संवयन्ती समीची.. ऋ. 2.3.6
136. वहिष्ठेभिः विहरन् यासि यन्तुं अवव्ययन् असितं देव वस्म ।
दविध्वतः रश्मयः सूर्यस्य चर्म इव अव अधुः तमः अप्सु अन्तः ।। ऋ. 4.13.4
137. न अहं तन्तु न वि जानामि ओतुं न यन्त्र वयन्ति समरे अतमानाः ।।...ऋ. 6.9.2
138. स इत तन्तुं सः वि जानाति ओतुं सः वक्त्वानि ऋतुथा वदाति ।

य ईं चिकेतत् अमृतस्य गोपा: अव: चरन् पर: अन्येन पश्यन् ।। ऋ. 6.9.3

139. वि मत् श्रथय रसनां इव आग:'''मा तन्तु: छेदि वयत: धियं मे मा मात्रा शारि'''ऋ. 2.28.5

140. वस्त्रा पुत्राय मातर: वयन्ति । ऋ. 5. 47.6

141. 1.142.1; 8.13.14; 9.22.6; 7

142. 1.35.7;4.38.10; 5.76.3; 9.69.6; 86.32, आदि ।

143. 1.5.10; 2.9.2; 2.35.13; 5.4.9; 7.32.13, आदि ।

144. 2. 17.4

145. 2.32.4

146. इना उत पृच्छ जनिम कवीनां मन: धृत: सुकृत: तक्षत् द्याम् । ऋ. 3.38.2; किं स्वित् वनं क: ऊं स: वृक्ष: आस यत: द्यावापृथिवी नि: ततक्षु:। ऋ. 10.31.7

147. सखा ऋभुभि: पुरुहूत प्रियेभि: इमां धियं सातये तक्षत न: । ऋ. 3.54.17.

148. तक्षत् यत् ते उशना सहसा सह: वि रोदसी मज्मना बाधते शव :। ऋ. 1. 51.10

149. शर्ध: वा य: मरुतां ततक्ष ऋभु: न त्वेष: रभसान: अद्यौत् । ऋ. 6.3. 8

150. तक्षन् रथं सुवृतं पिद्मनापस: तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू ।
तक्षन् पितृभ्यां ऋभव: युवत् वय: तक्षन् वत्साय मातरं सचाभुवम् ।।
ऋ. 1.111.1

151. वही ।

152. नि: चर्मण: ऋभव: गां अपिंशत सं वत्सेन असृजत मातरं पुन: । ऋ. 1.110.8

153. ततक्षे सूर्याय चित् ओकसि स्वे वृषा समत्सु दासस्य नाम चित् । ऋ. 5.33.4

154. त्वष्टा अस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष । ऋ. 1.32.2

155. ऋ. 3.8.6

156. गौरी मिमाय सलिलानि तक्षती, एक पदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ।। ऋ. 1.164.41

157. इन्द्रस्य सख्यं ऋभव समानशु: । ऋ. 3.60.3

158. इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा: देवास: पूषरातय: । ऋ. 2.41.15

159. ऋ. 3. 47.4

160. ऋभुगण 'सत्यमंत्र, ऋजुयव और विष्टी' ऋ. 1.20 4; 'सुकृत: सुकृत्यया', ऋ. 3.60.3; 'स्वपस: सुहस्ता:' ऋ. 4.33.8; 35.9; सुप्रवाचन, 4.36.3, आदि हैं ।

161. ऋभुगणों के दो कौशलों की आश्चर्यमिश्रित भाव से प्रशंसा की गयी है। एक तो वे सजीव गायें और घोड़े या प्रतिकृतियाँ बनाते हैं, ऋ. 1.20.2;3; 110.8; 161.7; 10; 3.60.2; 4, आदि, और दूसरे उन्होंने एक चमस के चार चमस बना दिये थे, ऋ. 1.20.6; 4.33.5; 6; 35.2-4, आदि। इसी के साथ उनका एक महत्व यह भी है कि इन्होंने अपने वृद्ध पिता को युवक बना दिया था, ऋ. 4.33.3; 35.5; 36.3, आदि।

162. ऋभुतः रयिः प्रथमश्रवस्तमः वाजश्रुतासः यं अजीजनन् नरः।
विभ्वतष्टः विदथेषु प्रवाच्यः यं देवासः अवथ सः विचर्षणिः।
यूयं अस्मभ्यं धिषणाभ्यः परि विद्वांसः विश्वानि नर्याणि भोजना।
द्युमन्तं वाजं वृषशुष्मं उत्तमं आ नः रयिं ऋभवः तक्षत आ वयः।।

163. वि नः वाजाः ऋभुक्षणः पथः चितन यष्टवे।
अस्मभ्यं सूरयः स्तुताः विश्वाः आशाः तरीषणि।। ऋ. 4.36.5; 8;37.7

164. प्रातः सुतं अपिबः हरि-अश्व माध्यंदिनं सवनं केवलं ते।
सं ऋभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः सखीन् यान् इन्द्र चकृषे सुकृत्या।। ऋ. 4.3.57. ब्राह्मणों आदि में इसके विवरण कुछ विस्तार से मिलते हैं। देखें कीथ, कैंब्रिज 1962,90 भी।

165. निघण्टुकार के अनुसार ऋग्वेद में अश्व के 26 पर्याय प्रयोग में आये हैं जब कि गाय के नव पर्याय, जिनमें से भी इला, जगती, मही, शक्वरी जैसे प्रयोग अनेकार्थी हैं। नि., 1.14 व 2.11. प्रथमा एव. और द्वितीया एकव. में गो का यदि गाय और बैल आदि अर्थों में 87 बार प्रयोग हुआ है तो अश्व के वाजि आदि रूपों को छोड़ कर 70 बार, पर रथ का 250 बार प्रयोग देखने में आता है। अवि का उल्लेख यदि 39 बार आया है तो अजा का 3 बार और छाग का केवल एक बार।

166. 1.140.2; 2.24.12; 3.48.3; 4.2.7, आदि।

167. 1.91,1; 2.14.5; 3.40.1; 5.34.2, आदि।

168. 1.77.5; 2.13.4; 4.33.2; 5.10.3, आदि।

169. 1.55.3; 8.51.3; 65.3, आदि।

170. 1.1.3;2.2.6; 3.1.19; 4.12.2; 6.1.3,आदि। 226 बार, राय— 235 बार।

171. 1.10.6; 2.5.1; 3.2.11; 4.8.3; 5.17.4, आदि। 200 से अधिक बार।

172. 1.36.4;2.13.10; 3.2.12, आदि। लगभग 137 बार।

173. 1.113.20; 4.7.1, आदि। सायण के अनुसार इसका अर्थ यथाप्रसंग धन और कर्म है।

174. 1.94.14; 3.1.22; 4.5.11; 7.9.1, आदि। लगभग 100 बार।
175. 1.24.4; 4.30.24; 6.13.2; 8.18.3, आदि। 100 बार से अधिक।
176. 3.6.2; 31.2
177. 1.31.14; 6.20.7; 7.4.7; 8.4.18; 10.61.11, आदि। 12 बार।
178. 10.34.13; आदि। इस शब्द का प्रयोग 'ज्ञात' और 'धन' दोनों अर्थों में हुआ है।
179. 1.90.4; 2.2.6; 3.2.13; 4.14.3; 5.11-1; 6.32.4, आदि। 45 बार।
180. 1.10.2; 2.30.2; 3.11.3, आदि। 40 बार से अधिक।
181. 1.11.3; 3.13.3; 4.32.8, आदि। इसी का दूसरा रूप मह, अधिक प्रचलित रहा लगता है, संभवत: दोनों मूलत: जलर्थक रहे हैं; ऋग्वेद में मघ का प्रयोग लगभग 250 बार हुआ है। इन्द्र का एक पर्याय मघवा—धनी है।
182. 1.68.5; 3.45.21; 4.29.5, आदि।
183. वय का प्रयोग लगभग 300 बार हुआ होगा पर कहीं इसका अर्थ पक्षी है कहीं धन।
184. 4.24.9. 6.47.21;10.34.3, आदि।
185. 1.10.7; 2.9.4; 4.20.7, 5.38.1, आदि। लगभग 150 बार।
186. 1.124.10; 4.51.3; 6.20.4, आदि।
187. 1.7.2; 46.10; 2.15.9; 4.10.6, आदि। हिरण्य सोना सहित अन्य बहुमूल्य धातुओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ लगता है।
188. 8.25.22
189. 1.33.8; 122.14
190. 1.41.6; 2.38.1; 3.8.6; 4.1.10; 6.13.2., आदि। लगभग 100 बार।
191. 8.78.3
192. 5.58.2
193. 2.34.3, आदि।
194. 1.6.3; 2.3.6; 4.36.7
195. 1.166.9; 5.54.11
196. यदि हम सांख्यिकीय विश्लेषण में उतरना चाहें तो हमें अनेक उलझनों का सामना करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, कुछ आभूषणों से पता चलता है कि ये आम प्रचलन में थे, पर सांख्यिकीय दृष्टि से इनकी आवर्तिता बहुत कम है। वस्त्र सभी पहनते लगते हैं, पर दूसरे द्रव्यों की तुलना में वस्त्र की

चर्चा कम है। इस आवृत्ति से हिसाब लगायें तो काफ़ी लोग नंगे दिखायी देंगे। सामान्य धन सूचक शब्दों में से कुछ—जैसे रयि, राय, मह, भग की आवर्तिता बहुत अधिक है। सोने के उल्लेख जिस तरह आते हैं उनसे तो कभी-कभी यह भ्रम पैदा हो सकता है कि सोना जगह-जगह बिखरा हुआ था।

197. नि. 2.7
198. नि. 2.10
199. नि. 1.2. इनमें लोह, कनक, कांचन और जातरूप की पुष्टि ऋग्वेद से नहीं होतीं। मरुत शब्द की धातु के अर्थ में स्वीकृति खासी रोचक है।
200. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, लोकायत, 1959, 562 और आगे; आर.एस. शर्मा, 1983,39 और आगे।
201. 1.116.3; देखें, वैदिक इंडेक्स, 1, 598-603, पितृ; सच्चिदानंद मिश्र, 1984, 141-46 भी।
202. मैकडनेल, वैदिक देवशास्त्र, अनु. डॉ. सूर्यकान्त, 19-20
203. इन्द्र ने मान से माप कर नदियों को खोदा था। सद्म इव प्राचः वि मिमाय मानैः वज्रेण खानि अतृणत् नदीनाम्। ऋ. 2. 15.3; मान से माप कर धरती का विस्तार किया और इसके ऊपर छत के रूप में आकाश को रख दिया, सं मात्राभिः ममिरे येमुः उर्वी, अंतः मही सं ऋते धायेस धुः। ऋ, 3.38.3, आदि।
204. समानः मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तं एषाम्।
समानं मंत्रं अभि मंत्रये वः समानेन वः हविषा जुहोमि ॥
समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानं अस्तु वः मनः यथा वः सुसह असति ॥ ऋ. 10. 191. 3-4.
समानेन मनसा संविदाना।
205. वही।
206. वही।
207. अक्षरेण मिमेत सप्त वाणी। ऋ, 1.164.24
208. यज्ञस्य मात्रा वि मिमीत उ क्व। 10.191.3
209. 6.59.5
210. 4.51.8
211. 2.40.3; 3.3.4; 7.87.6, आदि।
212. 1.151.6; 2.27.14; 5.46.2, आदि। तुलना करें, मित-ज्ञवः। ऋ. 3.59.3; 7.82. 4, आदि से। 'मान' सामान्य निर्माण और जुड़ाव आदि के आशय से प्रयोग में आने के बाद ही मित्र अर्थात् परस्पर जुड़े हुए,

सम्बन्धित का आशय ग्रहण कर सकता था।

213. मिथुन शब्द अर्थ की दृष्टि से मित्र के ही समान है। ऋ. 1.83.3; 3.39.3, आदि।

214. अनुमान शब्द का प्रयोग बाद में चल कर देखने में आता है। मन और म्न स्वयं भी माप की ही अवधारणा से विकसित हो सकते हैं। अंग्रेजी का मैन मान की उसी संकल्पना की देन प्रतीत होता है। मान के लिए किसी वस्तुगत दंड या शलाका का विकास होने से पहले शारीरिक अंगों को विशेषतः हाथ को माप के लिए प्रयोग में लाया जाता था। उसी हाथ या मानम् से मैन बना है। मान के कर्म से जुड़ने के कारण मानव या मनु अर्थात् आहार अन्वेषक की तुलना में अन्न उत्पादक मनुष्य के भाव ने ही देवों से अलग मानव और मनु की संकल्पना को जन्म दिया है, ऐसा लगता है।

215. ऋ. 1.129.5 में प्रयुक्त 'अतिमति' की तुलना शतब्रा. 5.1.1.1 में प्रयुक्त 'अतिमान' से करें। मन, मान, मित, मति का सम्बन्ध यहाँ कुछ अधिक स्पष्ट दिखायी देता है।

216. 2.4.6; 5.23.4; 6.7.3, आदि

217. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या 'कुड़ी' को आस्त्रिक परिवार से आया हुआ मानते हैं। यह 'भारतीय आर्य भाषा' की ग़लत अवधारणा की देन है। यदि हम सही हिसाब लगाएँ तो केवल कुछ दर्जन शब्द ही आस्त्रिक सिद्ध नहीं होंगे। पर भारतीय या पोलीनेशियाई समान शब्दावली के आधार पर इसका सही निश्चय कर पाना कठिन है।

218. 1929, 149-54; ब्रिजभूषण विज, लाइनियर स्टैंडर्ड इन दि इंडस सिविलाइजेशन, फ्रइंसि., 1984, 153-162; ह्वीलर, 1953, 61 और 62 भी हमारे प्रस्ताव की ही पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार हड़प्पा में निम्न मानक्रम में द्विगुण प्रणाली, अर्थात् 1, 2, 8/3, 8, 16,32 आदि क्रम में 12,800 तक की एक सम्भावित इकाई तक पहुँचती है जो 13.625 ग्राम के बराबर थी। उच्चतर भारों में दाशमिक प्रणाली प्रचलित थी जिसके अंश तिहाइयों में थे। मोहनजोदड़ो से सात बाट ऐसे मिले हैं जो इसके अपवाद हैं और इनका अनुपात कोई अन्य रहा लगता है। लम्बाई के मान दाशमिक प्रणाली पर बने प्रतीत होते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की विभिन्न इमारतों पर जिनमें विभिन्न सुनियोजित भवन, कक्ष, प्रांगण, सड़कें और चबूतरे आदि आते हैं, 150 जाँच करने के बाद यह नतीजा निकाला गया है कि हड़प्पा सभ्यता में पद (फुट) और हाथ (दो बालिश्त) दोनों से माप का क्रम प्रचलित था, पर इनका मानकीकरण हो चुका था। हड़प्पा से एक मानदण्ड

का टुकड़ा मिला है जो काँसे का बना है और जिस पर 0.367 इंच की दूरियों पर निशान लगे हैं जो कि 20.7 इंच के बराबर के हाथ के मान में अंगुल का आधा है। हड़प्पा के अन्नागारों की बाहरी दीवारों की लम्बाई 30 हाथ के बराबर है ओर चौड़ाई 10 हाथ के बराबर है। हड़प्पा की कुटाई के लिए बनी गोलाकार फ़र्श का व्यास 11 पद अर्थात् 13.2 इंच के 10 फुटों के बराबर है और मोहनजोदड़ो के स्नानागार का आयतन 13.1 इंच के 36 × 31 पद के बराबर है। उनके अनुसार हड़प्पा का पद (फुट) 13 से 13.2 इंच के बीच और हाथ 20.3 से 20.8 इंच के बीच पड़ता है।

219. 1.33.14; 3.39.6; 5.6.7; 8.47.16, आदि।

220. 2.39.5; 4.58.3, आदि। ये प्रयोग सामान्यार्थक हैं।

221. श्रौतकोश, 1970, 2. 53

222. शतब्रा. 3, 3,2,6,1-3,

223. जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में 'अष्टशफाः पशवः' (1-1-1-6; 6,6; 2,2,4; आदि) प्रयोग देखने में आता है जिसके अनुसार शफ खुर का आधा और कला शफ की आधी हुई।

224. 10.90.1, ऋग्वेद में पैमायश के अनेक दूसरे विवरण प्रासंगिक रूप में आते हैं, यथा काष्ठा—घुड़दौड़ की एक परिक्रमा; घोड़े की एक छलाँग की अधिकतम दूरी, जिससे ही सम्भवतः काठ या लट्ठा बना है। यद्यपि पूरे देश में इसके अलग-अलग मान चलते रहे हैं और यह कहना कठिन है कि मूल स्रोत क्या रहा हो सकता है। एक सम्भावित माप ऊर्ध्वहस्त व्यक्ति की अन्तिम ऊँचाई, दूसरी नासिका-पर्यन्त ऊँचाई और तीसरी शीर्ष-पर्यन्त ऊँचाई की रही है और क्षेत्र माप के लिए इनको द्विगुण किया जाता रहा है और अलग-अलग अंचल में एक ही नाम के किंचित भिन्न माप के पैमाने चलते रहे हैं। यह स्थिति दूरी की माप में योजना में भी देखी जा सकती है। धाप या धाव—जहाँ तक कोई तेज़ी से दौड़ सके; क्रोश—शांत वातावरण में जहाँ तक आदमी की आवाज़ सुनायी दे सके; योजन एक बार बैलगाड़ी या रथ को जोतने पर जहाँ तक पहुँचा जा सके या जिसके बाद बैलों को आराम देना ज़रूरी हो। पर यह योजन बैलगाड़ी और रथ दोनों के मामले में चलता रहा है और योजन की दूरी के विषय में अनेक आंचलिक भेद पाये जाते हैं।

225. देखें, आगे, शिक्षा के क्रम में।

226. देखें, राव, न्यू लाइट ऑन दि पोस्ट-अर्बन फ़ेज़ ऑफ़ दि इंडस सिविलाज़ेशन, हसि., 1982, 356; रोमिला थापर, पूर्व., पा. टि. 26, 233.

हड़प्पा क्षेत्र में आदि से अन्त तक व्याप्त एकरूपता के मिथक को हाल के अध्ययनों ने काफ़ी दूर तक तोड़ा है और यह माना जाने लगा है कि उसमें भी अनेक आंचलिक भेद थे। मामूली तौर पर यह भेद मान आदि के क्रम में भी था ही। मान-भेद का स्थान-भेद से सम्बन्ध तो है, साथ ही इसका सम्बन्ध वस्तु-भेद से भी है।

227. दश अश्वान् दश कोशान् दश वस्त्रा अधि भोजना। दशो हिरण्य-पिण्डान् दिवो दाशात् असानिषम् ।। ऋ. 6. 47.23

228. एस. आर. राव, दि डिसाइफ़रमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, फलक 37-बी।

229. 8.25.22

230. मार्शल, पूर्व., 1, 110

अध्याय पाँच

व्यापार और वाणिज्य

हड़प्पा सभ्यता का उद्घाटन होने के समय से ही इसके वाणिज्यिक और औद्योगिक पक्ष पर इतना एकांगी बल दिया जाता रहा मानो इसके समूचे प्रसार क्षेत्र में जीविका का एक मात्र आधार सुदूर व्यापार ही रहा हो। इसके पीछे क्षीण रूप में हड़प्पा के नगरों को पश्चिमी एशिया की उपनिवेशिक बस्तियाँ सिद्ध करने का आग्रह भी काम कर रहा था। इसके ग्रामीण पक्ष की ओर विद्वानों का ध्यान कुछ बाद में गया और इसकी विशालता और स्वविशिष्टता ने पुराने बद्धमूल आग्रहों को निरन्तर ध्वस्त किया है, यद्यपि आज भी इन आग्रहों की झलक यदा-कदा देखने में आती रहती है।[1] इसके विपरीत जैसा कि हम आगे भी देखेंगे[2] वैदिक सभ्यता के नागर पक्ष की, और इसकी व्यापारिक गतिविधियों की इस तरह उपेक्षा की गयी कि व्यापारिक यात्राओं के क्रम में आवागमन के विवरणों को ही यायावरी का प्रमाण बना दिया गया। इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि व्यापार और वाणिज्य के मामले में वैदिक विवरण हड़प्पा सभ्यता के भौतिक प्रमाणों से किसी भी दृष्टि से विसंगति प्रकट करते हैं या नहीं।

हड़प्पा सभ्यता का जिन विशेष मामलों में पश्चिमी एशिया से कोई सादृश्य दिखायी देता है उनमें यह पश्चिमी नगरों से आगे बढ़ी हुई और उन पर हावी दिखायी देती है। पिगट लिखते हैं, सुमेर में अक्कादी काल (2300 ई. पू.—2000 ई पू.) से पहले हड़प्पा सभ्यता से सम्पर्क के सुस्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं। पर इस दौर के अवशेषों में हड़प्पा की बहुत-सी उत्खचित मुद्राएँ पायी गयी हैं और एक ऐसा मुद्रांक मिला है जिसके पीछे मोटे कपड़े की छाप दिखायी देती है। इन मुहरों से प्रकट होता है कि हड़प्पा के व्यापारी सुमेरियाई नगरों में जमे और व्यापार में जुटे हुए थे।"[3] उनके अनुसार इनकी विपणन वस्तुओं में सूती कपड़ा भी शामिल था और यह 2000 ई. पू. के जल्द बाद ही बन्द हो गया था। वह आगे लिखते हैं, "हड़प्पा और सुमेर के व्यापारिक मिलन की प्रकृति चाहे जो भी

रही हो, इसमें सुमेर का योगदान मुख्यत: अलक्ष्य निर्यातों (इनविज़िबल एक्स-पोर्ट्स) का ही रहा होगा।"[4] पिगट का सुमेरी निर्यात के विषय में यह कथन यह कहने की छूट देता है कि जहाँ व्यापारिक सम्पर्क सुनिश्चित हो वहाँ भी यह ज़रूरी नहीं कि इसकी पुष्टि में अपेक्षित पुरातात्विक प्रमाण मिल ही जायें और इसलिए व्यापारिक सम्पर्क को केवल उस दौर तक ही सीमित मानना जिस दौर के निर्णायक पुरातात्विक प्रमाण मिल चुके हैं, या उस क्षेत्र या स्थल तक ही व्याप्त मानना जहाँ से ऐसे प्रमाण मिले हैं, एक विवशता तो हो सकती है, पर यह इन दोनों सीमाओं को पार करके इस सम्पर्क के चलते रहने का निषेध नहीं करता। पिगट अपनी मान्यता को सूत्रबद्ध करते हुए लिखते हैं, "यह लगभग निश्चित-सा है कि सुमेर के साथ व्यापार दक्षिणी बलूचिस्तान के कुल्ली संस्कृति के व्यापारियों ने आरम्भिक सल्तनत काल (इन अर्ली डाइनेस्टिक पीरियड) में शुरू किया होगा और यदि हम कहें कि सुमेरिया के नगरों में, जिनमें भारतीय व्यापारी रहते थे और परम्परागत रूप में अपने देवताओं की पूजा करते थे, भारतीय व्यापारियों के 'कारखाने' भी स्थापित थे तो यह बहुत खींचतान नहीं होगी। हड़प्पा के व्या-पारियों ने ऐसा व्यापार कायम कर रखा था जो 2300 ई. पू. के लगभग अपने पूरे रौ पर था और फिर उनके प्रतिनिधि ऊर और लगाश और व्यापार के दूसरे केन्द्रों पर भी रहे होंगे जहाँ वे माल और काग़ज़-पत्र पर अपनी मुहरें लगाते रहे होंगे।"[5]

हड़प्पा की मुहरों के अतिरिक्त पशुओं-पक्षियों के आशयों वाले साज-सामान, भाण्ड और हथियार और औज़ार मिस्र और मध्य एशिया तक के क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं जिनका हड़प्पा सभ्यता में प्रयुक्त प्रतिरूपों से निकट साम्य दिखायी देता है। इस विषय में उपलब्ध सूचनाओं की आवृत्ति यहाँ अप्रासंगिक होगी; कारण, इस पर अनेक अध्येताओं ने इससे पहले भी विचार किया है[6] और इस सम्पर्क के विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि उपलब्ध सूत्रों से प्रकट होता है कि इन व्यापारिक गतिविधियों में पहल हड़प्पा के व्यापारियों की थी और उनकी बस्तियाँ पश्चिमी एशिया के अनेकानेक केंद्रों में कायम थीं जब कि इसके विपरीत पश्चिमी एशिया के व्यापारियों की हड़प्पा क्षेत्र में किसी बस्ती का पता नहीं चलता। लोथल की गोदी की खोज ने हड़प्पा के व्यापारियों की नौवहन की गतिविधियों को बहुत उजागर किया है, पर सरस्वती और सिन्धु से भी इस तरह के समुद्रगम्य जहाज़ बहुत पहले से जाया करते थे, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इन जहाज़ों को चलाने के लिए पालों का प्रयोग भी होता था और सामान्यतः इनको पचासों मल्लाह डाँड़ों से चलाते थे, यह लोथल से प्राप्त जहाज़ों की प्रति-कृतियों से प्रकट है।

हड़प्पा का व्यापार केवल नदी और समुद्र मार्ग से ही होता रहा हो, ऐसी

बात नहीं। सोना, चाँदी, टीन, सीसा, अल्पमूल्य के रत्नों आदि की खोज में वे पश्चिमोत्तर की पर्वतीय बाधाओं को पार करके अफ़गानिस्तान, सोवियत मध्येशिया, ईरान, और तुर्की तक के क्षेत्रों में पहुँच गये थे और इनमें बदख्शाँ, शोर्तुगाई, आदि में इन्होंने अपनी व्यापारिक बस्तियाँ भी बसा ली थीं और ऐसा लगता है कि इनमें से कुछ क्षेत्रों में उन्होंने व्यापारिक एकाधिपत्य कायम कर रखा था।[7] उनके इस एकाधिकार का हाल यह था कि पश्चिमी एशिया के केन्द्रों को भी इन क्षेत्रों से उपलब्ध कुछ वस्तुओं का निर्यात हड़प्पा के व्यापारियों के माध्यम से ही हो रहा था।[8]

सुदूर देशों के साथ उनका व्यापार घरेलू स्तर पर उन्नत व्यापार के बाद ही, और इसकी सफलताओं के कारण ही, सम्भव था, अतः हड़प्पा प्रसार-क्षेत्र के भीतर और इसके बाहर पड़ने वाले भारतीय भू-भाग में भी इनकी गतिविधियाँ बहुत तेज़ थीं और निश्चय ही परिपक्व हड़प्पा-काल से बहुत पहले से जारी थीं। वे सम्भवतः नीलगिरि और मैसूर तक के क्षेत्रों से सोना और रत्न प्राप्त कर रहे थे और उनके उपयोग और विपणन में चंदन आदि भी रहा प्रतीत होता है। खेतड़ी की ताँबे की खानें उनके ताँबे का प्रधान स्रोत थीं। इस बात की कुछ सम्भावना प्रकट की गयी है कि चाँदी की उपलब्धि का उनका एक स्रोत बिहार भी रहा हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाणिज्यिक गतिविधियाँ परिपक्व हड़प्पा-काल में अपने चरम शिखर पर पहुँची हुई थीं और इसके नगर केन्द्रों की तो प्रधान गतिविधि उद्योग और व्यापार ही प्रतीत होती है। चान्हूदड़ो की खुदाई करने वाले नार्मन ब्राउन का विचार है कि यह शहर मुख्यतः शिल्पियों का ही रहा लगता है।[9]

2

वैदिक व्यापार के विषय में आशंकाएँ

हड़प्पा सभ्यता से वैदिक सभ्यता का अन्तर दिखाने के लिए इस बात पर बहुत ज़ोर दिया जाता है कि हड़प्पा की सभ्यता शहरी थी और इसमें व्यापारिक गतिविधियों का प्राधान्य था, जब कि वैदिक जन तो वाणिज्य से कोई सरोकार ही नहीं रखते थे, और इस विषय में भी संदेह प्रकट किया जा रहा है कि वे समुद्र से परिचित थे।

वैदिककालीन अर्थ-व्यवस्था पर विचार करते समय हम देख आये हैं कि यह ऋग्वेद के रचना-काल से पहले के चरण से ही उन विभिन्न अपेक्षाओं की पूर्ति

करती दिखायी देती है जिनकी आवश्यकता व्यापार और वाणिज्य के लिए होती है। कृषि, पशुपालन और उद्योग के मामले में इसका हड़प्पा से अभिन्न साम्य दिखायी देता ही है। वैदिक समाज के समृद्ध वर्ग का सम्बन्ध मुख्य रूप से व्यापार और वाणिज्य से था और ऋग्वेद की रचना, जैसा कि हम देखेंगे, इस व्यापारी वर्ग के संरक्षण और प्रोत्साहन से ही सम्भव हुई थी।

ऋग्वैदिक काल में वाणिज्य के प्रचलन के विषय में आशंका प्रकट करने वालों की अपनी झिझक का कारण ऋग्वैदिक समाज की आर्थिक स्थिति के विषय में बनी हुई उनकी धारणा रही है। वे वैदिक समाज को पशुचारी मानते रहे हैं, क्योंकि उनकी समझ से ऋग्वेद में कृषि का उल्लेख पशुपालन की तुलना में कम आया है। घरेलू दासियों के उल्लेख तो मिलते हैं, पर दासों और मज़दूरों के नहीं। ऋण की चर्चा तो आती है पर ब्याज की दर का ज़िक्र नहीं आता, अतः यह महज़ उधार या हथफेर रहा होगा। और सबसे बड़ी बात यह है कि उनके अनुसार वाणिज्य के लिए ऋग्वेद में कोई शब्द नहीं आता, आदि।[10]

कृषि और पशुधन वाले पक्ष की उलझन पर हम पहले ही विचार कर आये हैं। ऋग्वेद में गुलामों का अस्तित्व बहुत स्पष्ट रूप में प्रमाणित होता है। एक स्थल पर दास-वर्ग का स्पष्ट उल्लेख है।[11] अन्यत्र सौ दासों के दान की चर्चा है।[12] दासों का अस्तित्व अन्य बातों से भी प्रमाणित होता है[13]; जहाँ तक दासी शब्द का सम्बन्ध है, सायण इसका अर्थ दास-सेना करते हैं। और सन्दर्भों से भी उनके आशय की ही पुष्टि होती है।[14] इसके बावजूद सेविकाओं के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।[15] ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिए कि जो व्यक्ति पचास दासियाँ दान में दे सकता है उसके पास दासियों की संख्या क्या रही हो सकती है? और उस दान-जीवी पुरोधा द्वारा इन दासियों का जिस भी रूप में उपयोग किया जाता रहा हो, वह इनका भरण-पोषण कैसे करता रहा होगा? यदि किसी समाज के उपजीवी वर्ग की हालत यह मानी जाये कि वह पचास-पचास दासियाँ रख सकता हो तो उसकी आर्थिक समृद्धि क्या रही हो सकती है? और ब्राह्मणों की ही तरह क्षत्रिय भी उपजीवी हैं और वैदिक काल में इनकी आर्थिक स्थिति ब्राह्मणों से अधिक अच्छी दिखायी देती है। फिर यह प्रचुर उत्पादन जो दो उपजीवी वर्णों को इतना समृद्ध बना रहा था, दास श्रम का उपयोग किये बिना कैसे हो सकता था? यह बात उन विद्वानों की असावधानी को प्रकट करती है जो दानस्तुतियों में वधू शब्द को देख कर इसे स्त्रीवाचक मानते रहे हैं और यह कल्पना करते रहे हैं कि ये दासियाँ ही हो सकती हैं। वास्तविकता यह है कि दान के इन प्रसंगों में वधू शब्द का प्रयोग 'वहन करने वाले' के अर्थ में हुआ है और इनके सन्दर्भ में प्रायः रथों का उल्लेख आया है।[16] एक-दो स्थलों पर स्वयं सायण भी इसे स्त्री के अर्थ में लेते हैं[17], पर अन्यत्र उनका ध्यान इस बात की

ओर जाता है कि यहाँ आशय वहन करने वाले या रथ-खींचने वाले घोड़ों और बैलों से है ।[18] ग्रिफिथ ने सन्दर्भ और औचित्य का निर्वाह करते हुए वधू का अर्थ घोड़ियाँ (मेयर्स टु ड्रा) किया है ।

ऋण के प्रसंग में हम पाते हैं कि यह ऋण कबीलाई हथफेर नहीं है, अपितु इस पर ब्याज देना पड़ता है । ब्याज की दर कठिन लगती है; कारण, दिन-रात की गिनती करते रहने वाले इन सूदखोरों को कोसा जाता है ।[19] रत्ती-पाई करके ऋण को जैसे-तैसे उतारने की चर्चा आती है ।[20] इसमें कबीलाई उदारता भी नहीं है, ऋण के लिए सूदखोर के पास जाना पड़ता है, अतः कामना यह की जाती है कि दूसरों के पास कर्ज लेने न जाना पड़े ।[21] आश्चर्य नहीं कि पणि शब्द का एक आशय इस प्रकार के सूदखोरों से भी रहा हो और वे कर्जे की वसूली में जब-तब वैदिक ऋणग्रस्तों के गाय-बैल खोल ले जाते रहे हों । द्यूत वाले प्रसंग में यह उल्लेख भी है कि जुआरी को महाजन इस डर से क़र्ज़ नहीं देता कि कहीं उसका पैसा डूब न जाये ।[22] अब ऐसी दशा में ब्याज की दर का स्पष्ट उल्लेख न भी हो तो इससे क्या फ़र्क पड़ता है ? इसके बावजूद कुछ विद्वानों का यह ख़याल है कि ऋग्वेद में ब्याज की दर का भी उल्लेख है । वैदिक इंडेक्स के लेखक लिखते हैं, "ऋण का ऋग्वेद में और उसके बाद बार-बार उल्लेख है तथा यह वैदिक भारतीयों के बीच प्रचलित एक सामान्य व्यवहार था । पासे के सम्बन्ध में भी ऋण लेने का अकसर संकेत मिलता है । ऋण चुका देने को 'ऋण-सन्नी' कहा गया है ।...ऋण न चुकाने का परिणाम अत्यन्त गम्भीर हो सकता था; यथा पासा खेलने वाले को दास तक बनना पड़ सकता था । अन्य बुरे तत्वों, जैसे चोरों आदि की भाँति, ऋण लेने वाले व्यक्तियों को, कदाचित् उन पर और उनके मित्रों पर दबाव डालने के उद्देश्य से महाजन लोग उन्हें(ऋण लेने वाले व्यक्ति को) खम्भों से बाँध देते थे ।

"ऋण पर कितना सूद देना पड़ता था, इसका अनुमान करना असम्भव है । ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक स्थल पर आठवाँ (शफ) और सोलहवाँ(कला) भाग देने का उल्लेख है; किन्तु यहाँ यह निश्चित नहीं है कि वास्तव में इसका तात्पर्य सूद से है अथवा मूलधन की किसी किश्त से ।...

"ऋण किस सीमा तक उत्तराधिकार की वस्तु था, इसका उल्लेख नहीं है ।..."[23]

यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि वाणिज्य का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं आया है । ऋ. 1.112.11 में वाणिज्य करने का, 5.45.6 में वणिक शब्द का और 4.24.10 में 'क्रीणाति'—खरीदता है का, 4.24.9 में अविक्रीत का प्रयोग हुआ है, जिस पर सायण का भाष्य अवलोकनीय हैं । अथर्ववेद में तो इन्द्र को वणिक कहा ही गया है ।[24] ऋग्वेद में भी इन्द्र को बार-बार कहा गया है मघवा, जिसका भी अर्थ महा-धनी ही है । सबसे बड़ी बात यह है कि वैश्य वर्ण की

उत्पत्ति ऋग्वेद से मानी गयी है[25] और यह इस बात का एक प्रबल प्रमाण है कि ऋग्वेद के रचनाकारों के आश्रयदाता तत्कालीन वणिक ही थे और उन्हीं के द्वारा कराये जाने वाले यज्ञों को ध्यान में रखकर ऋग्वेद के सूक्तों की रचना की गयी थी। आश्चर्य नहीं कि आर्य शब्द का प्रयोग भी 'स्वामी और वैश्य' के लिए ही होता रहा है।[26]

3
व्यापारिक सम्पर्क-सूत्र

पहले हम इस मुद्दे को लें कि वे कौन-सी वस्तुएँ थीं जिनका वैदिक समाज उपयोग करता था और जो उसे सिन्धु से लेकर गंगा तक के मैदान में, स्थानीय स्तर पर, सुलभ नहीं थीं ? इस विषय में किसी तरह का विवाद नहीं होना चाहिए कि वैदिक जन धातु के औज़ारों और हथियारों का उपयोग करते थे। इसी तरह उनके आभूषण सोने और चाँदी के बने होते थे और इनके लिए वे मणियों या मनकों और रत्नों(मूल्यवान और अर्ध-मूल्यवान पत्थरों)का प्रयोग करते थे। इनको वे निश्चय ही सुदूर स्थलों से प्राप्त करते थे। दूसरे शब्दों में कहें तो वे किसी-न-किसी व्यापारिक सम्पर्क-सूत्र से जुड़े हुए थे।

किसी-न-किसी प्रकार की लेन-देन, चाहे वह विशेष अवसरों पर दिये जाने वाले उपहारों के रूप में हो या सामान्य अदला-बदली के रूप में, अविकसित कबीलों में भी पाया जाता है और इस क्रम में अनेक वस्तुएँ अपने उत्पादन-स्थल से सैकड़ों-हज़ारों मील की दूरियाँ पार कर जाती है।[27] अत: यह कहा जा सकता है कि कुछ ऐसी चीज़ों का पाया जाना जिनका स्रोत-स्थल प्राप्ति-स्थल से बहुत दूर है, व्यापारिक सम्पर्क-सूत्र के अस्तित्व का पर्याप्त प्रमाण नहीं है। यह सच भी है। वास्तव में इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण तथ्य हैं उपलब्ध वस्तुओं की गुणवत्ता और मात्रा, उपलब्धि-स्थल तक पहुँच, माप और तौल के मानक, विनिमय के रूप, स्थानीय कार्य-विभाजन और दक्षता का स्तर इत्यादि, जिनसे ही व्यापारिक गतिविधियों की प्रकृति और प्रखरता का सही ज्ञान हो सकता है। यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि ख़ानाबदोश ओर पशुचारी जमातों में सुनियोजित और दूरस्थ व्यापार की प्रवृत्ति नहीं होती, यद्यपि यदि उनका अटन-क्षेत्र बहुत व्यापक हुआ तो वे अपने मार्ग में पड़ने वाले स्थानों की कुछ ख़ास चीज़ों को अपने उपयोग के लिए जुटा भी सकते हैं। ऐसे सामानों की संख्या बहुत थोड़ी और मात्रा भी बहुत स्वल्प होगी, अन्यथा यह उन पर भार सिद्ध होगी। इसके विपरीत कुछ ऐसे अविकसित पर दक्ष कबीले भी हो सकते हैं जो अपने क्षेत्र का

माल लादकर और कुछ चीजें बनाकर जगह-जगह बेचते फिरें और उनकी पूरी ज़िन्दगी केवल यात्राओं में ही कटे, जसा कि पत्थर के चाक, सिल, बट्टे आदि बना कर बेचने वाले कंजर आदि आज भी करते हैं, पर इनके पशु केवल भारवाही—टट्टू, खच्चर और गधे आदि—होते हैं और साथ में उनके कुत्ते होते हैं जो उनकी और उनके माल की रखवाली करते हैं। ये अपने पशुओं को चरने के लिए अपने पड़ाव के आस-पास छोड़ ही देते हैं। इन पशुओं में गाय, भेड़, और बकरी आदि नहीं आते।

ऋग्वैदिक समाज को जब हम ऊपर की कसौटियों पर कसते हैं तो पाते हैं यह अविकसित समाज के किसी भी खाके में अँट नहीं पाता। उनको हर चीज़ प्रचुर चाहिए, भूरि और अकूत चाहिए।[28] इसे सारी दुनिया की[29], सभी दिशाओं की[30], चारों समुद्रों की[31] सम्पत्ति चाहिए। भोजन हो या मकान, वस्त्र हो या वाहन, सब कुछ श्रेष्ठ चाहिए।[32] यदि चुनाव दूध और घी में करना हो तो दूध नहीं, घी चाहिए। ऋग्वेद में दूध शब्द का एक बार भी प्रयोग नहीं हुआ है जब कि घृत शब्द का 201 बार प्रयोग हुआ है। दान-उपहार में देने वाले की मर्ज़ी चलती है, पाने वाले की नहीं, पर इन्हें अपनी इष्ट और स्पार्ह वस्तु चाहिए।[33]

यदि ऋग्वेद के संख्यावाची और परिमाणवाची शब्दों पर दृष्टि डालें तो उनकी समृद्धि और स्वप्नों की दुनिया का एक ठोस चित्र सामने आयेगा। यहाँ यह स्मरण दिलाना उचित होगा कि अविकसित समाजों में से अनेक में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भी तीन से बड़ी संख्या नहीं पायी जाती रही है। बहुत या समस्त के लिए भी इसी तीन की संख्या का प्रयोग होता रहा है।[34] किसी अति प्राचीन काल में वैदिक जनों के पूर्वजों की स्थिति भी यही थी जो बहुवचन के कारक चिन्हों में विद्यमान है--एक, दो के बाद समग्र या बहु का कारक चिन्ह। तीन की संख्या के जादू के पीछे भी शायद इसी का हाथ है, क्योंकि इसमें सब कुछ सिमट आता है। पर वैदिक काल में यह तीन फैलता हुआ तीन देवताओं को तैंतीस आदि से गुज़ारते हुए हज़ारों में पहुँचा देता है। जहाँ वैदिक काल से सहस्राब्दियों बाद की उन्नत सभ्यताओं को भी हज़ार से ऊपर के संख्यावाची का ज्ञान नहीं है[35] वहाँ वैदिक जनों ने हज़ार के अतिरिक्त अयुत (लाख) और नियुत (करोड़ ?[36]) की अवधारणा को विकसित कर लिया है। परिमाण के सन्दर्भ में विश्व, सर्व, अऋण—कभी समाप्त न होने वाला और परीणस—सब प्रकार का, शाश्वत—अक्षय; व्यानशी—अनश्वर, सलिल आदि उनके लोभ और वैभव दोनों को प्रकट करते हैं।[37] उनके भण्डारण या संग्रह का, जिसके लिए वे कोश शब्द का प्रयोग करते हैं, कुछ अनुमान इस बात से लग सकता है कि आकाशीय कोश में संचित जल से वृष्टि का सारा जल गिरता है। इस अतिरंजना का भौतिक आधार भी तदनुरूप कुछ विशाल और देखने वालों को अकूत प्रतीत होने वाला लगना

चाहिए। हड़प्पा के अन्नागारों को अन्नागार कहने के स्थान पर 'कोश' कहना अधिक उचित होगा।

सबसे रोचक बात यह कि जिस व्यापारिक आवागमन से वैदिक कालीन व्यापारिक गतिविधियों की गुरुता और व्याप्ति की अकाट्य पुष्टि होती है उसे ही व्यापारिक गतिविधियों के निषेध के लिए एक प्रमाण बनाया जाता रहा है। इन्हीं के आधार पर यह सिद्ध किया जाता रहा है कि वैदिक जन यायावर थे और फिर उलटकर यह सोचा जाता रहा है कि यायावर जनों का उन्नत व्यापार से सम्बन्ध नहीं हो सकता था। दृष्टिकोण का एक मामूली-सा भेद कितने भिन्न परिणामों पर पहुँचा सकता है, इसकी यह एक अच्छी मिसाल है। ऋग्वेद में "चलो, चलो", "चैरवेति-चरैवेति" की गूँज इस तरह व्याप्त है कि लगता है पूरा समाज निरन्तर गतिशील है। क्या कोई पूरा समाज व्यापारियों का समाज हो सकता है? अतः विद्वानों को इसका एक ही सरल समाधान दिखायी दिया और वह यह कि यह पूरा समाज यायावरी की अवस्था में था। जो कमी थी उसे गाय-बैल और लूट-मार की कल्पना से पूरा कर दिया गया। इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि किसी भी साहित्य में पूरे समाज का चित्र नहीं होता है। इसमें अपने समय के प्रभुवर्ग को प्रधानता दी जाती है और उन्हीं के कारनामों का किसी भी साहित्य में गुणगान और विस्तृत विवरण होता है। शेष का उल्लेख यदि आता भी है तो प्रासंगिक रूप में। अतः यह गतिशीलता पूरे वैदिक समाज की नहीं, अपितु इसके प्रभुवर्ग की है। यदि इस तथ्य को पकड़ लिया गया होता तो वैदिक व्यापारिक गतिविधियों को समझने में कठिनाई नहीं होती। वास्तव में 'कृष्टी'—कृषि-कर्मी, जन सामान्य या प्रजा और चर्षणी—व्यापारिक यात्राओं पर जाते रहने वाले लोग, उनके दल, इस दृष्टि से काफ़ी महत्वपूर्ण हैं कि कृषि-कर्मियों की विशाल जनसंख्या के समानान्तर व्यापारिक उपक्रमों में लगे हुए लोगों की संख्या भी काफ़ी प्रभावशाली थी।

4
यात्राएँ

वैदिक यात्राओं के सन्दर्भ में निम्न तथ्यों पर ध्यान देना कुछ उपयोगी हो सकता है :

1. इन यात्राओं के सन्दर्भ में गो आदि को लेकर चलने के उल्लेख जहाँ आये भी है वहाँ गो शब्द पर ध्यान देना ज़रूरी है। ऐसे उल्लेख कम हैं और चूँकि गो शब्द गाय के अलावा बैल का, धन का, गम्य वस्तु का, अर्थ रखता था अतः ज़रूरी

नहीं कि सन्दर्भ चरवाही का हो। इसके विपरीत भारवाही पशुओं—ऊँट, गधा, बैल, घोड़ा, खच्चर आदि के उल्लेख अधिक स्पष्ट हैं।

2. परिवहन के अन्य साधनों में नौकाओं, रथों, बैलगाड़ियों के उल्लेख अधिक प्रचुर हैं।[38]

3. नदियों की प्रशंसा उनकी तेज़ धाराओं के लिए[39], पर्वत से लेकर समुद्र-पर्यन्त उनके प्रवाह के लिए[40], धन कमाने में उनकी भूमिका के लिए[41], और यातायात के साधन के रूप में[42] की गयी है और इनके सहारे कुछ व्यक्तियों के मालामाल होने के स्पष्ट उल्लेख आये हैं।[43] लहरों को नाव डुबाने वाला बताया गया है।[44]

4. पितरों को और कुछ देवों को मार्ग के अनुसन्धानकर्ता और निर्माता के रूप में[45] याद किया गया है।

5. इन यात्राओं को दुस्तर बताया गया है[46], जान-माल को लेकर बार-बार चिन्ता प्रकट की जाती है।[47] इस बात की प्रार्थना की जाती है कि किसी तरह शत्रुओं से सामना न हो।[48] रक्षा के लिए चौकसी रखी जाती है।[49] रात के समय या अँधेरे में खासतौर से डर बना रहता है।[50]

6. जहाँ मुठभेड़ के स्पष्ट विवरण आये हैं वहाँ आक्रमण विरोधी पक्ष की ओर से होता है[51] और वैदिकों का प्रयास आत्मरक्षा तक सीमित दिखायी देता है। इन आक्रमणकारियों को बाधक या रास्ता रोकने वाला[52], द्वयाविन[53] या दिन और रात दोनों समय लूट करने वाला, दुःशेव[54], दुराध्य[55] अर्थात् आसानी से प्रसन्न न होने वाला और तमोवृध या तम[56], अँधेरे में सक्रिय होने वाला बताया जाता है। दुःशेव और दुराध्य शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि संकट से बचने के लिए वैदिक यात्री अपने माल का कुछ हिस्सा इन्हें देकर भी मुक्ति पाने की कोशिश करते थे। एक स्थल पर इनके विषय में स्पष्टतः यह कहा गया है कि वे न तो कुछ पूछते हैं, न बोलते हैं और न ही बातचीत पर राज़ी होते हैं।[57]

7. जहाँ नौचालन के विवरण आये हैं, समुद्री जहाज़ों 'नावः समुद्रियः'[58] और 'शत-अरित्र'[59] नौकाओं को सामान्य नौकाओं से अलग पहचाना जा सकता है। अपेय समुद्री जल के बीच पानी के लिए तरसते हुए यात्रियों की कष्ट-कथा का भी उल्लेख आता हे।[60] इसके अतिरिक्त एक-दो दुर्घटनाओं का बार-बार उल्लेख आता है जिनका सम्बन्ध असन्दिग्ध रूप से समुद्री यात्राओं से ही है।[61]

8. यात्राओं का लक्ष्य धनार्जन है।[62] धनार्जन के लिए की जाने वाली इन यात्राओं के दौरान ही मुठभेड़ों की नौबत भी आती है, पर जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, ये आर्यों द्वारा अनार्यों के धन-माल की लूट के लिए नहीं बल्कि लुटेरों से अपनी और अपने माल की रक्षा के लिए होने वाले मुकाबले हैं। विजयों

का अर्थ भी रक्षापरक है। यदि आक्रमणकारी के मंसूबे विफल कर दिये जाते हैं और उसे जान बचाकर भागना पड़ता है तो यह भी विजय ही है और जिन चीज़ों को वह लूट लेना चाहता है उन्हें बचा लेना भी जीत ही है। पर आदर्श स्थिति वह है जिसमें लड़ने की नौबत ही न आये।[63]

9. ये यात्राएँ सुदूर देशों से सम्बन्ध रखती हैं।[64] इनके मार्ग में पहाड़ और समुद्र[65] पड़ते हैं, रास्ता काफ़ी बीहड़ पड़ता है।[66] पहाड़ी रास्ते में रोंगटे खड़े करने वाली सर्दी और ठण्डी हवाओं का सामना करना पड़ता है।[67] अन्य किसी धन की अपेक्षा उन्हें समुद्र और पर्वत-पार के देशों का धन अधिक आकर्षक लगता है।[68]

10. इन यात्राओं का उद्देश्य धनार्जन होने और इनके साथ लुटेरों से संघर्ष की अकसर सम्भावना पैदा होने के कारण, धन और इसके पर्यायों के साथ युद्ध और इसके पर्यायों का लगभग नित्य सम्बन्ध स्थापित हो गया है और प्रायः ये एक-दूसरे के पर्याय बन गये हैं।

यदि हम इन विभिन्न तथ्यों को व्यापारिक उपक्रमों के अतिरिक्त किसी भी अन्य उपक्रम से जोड़ना चाहें तो हमें निराशा का ही सामना करना पड़ेगा। चारणजीवी जमातों को एक चरागाह से दूसरी चरागाह तक जाने के लिए किसी निश्चित मार्ग की आवश्यकता नहीं होती। वे अपनी मन्द-मन्थर गति से चलते हुए न तो अलग से चलने की कोई तैयारी करते हैं, न ही इस बात की उनके मन में पृथक् अनुभूति होती है कि वे कहीं जा रहे हैं। अतः यात्रा के स्पष्ट उल्लेख का उनके सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं। चरवाहे अपनी गायों बकरियों को न तो रथों पर लाद कर चलते हैं न नावों पर और उनके पास इतना सामान भी नहीं होता कि इसके लिए अलग से गाड़ी की ज़रूरत पड़े। वास्तव में गाड़ी उनकी यात्रा में बाधक ही हो सकती है। कारण, खुले जानवरों को सँभालना और जुते जानवरों के साथ चलना अपने आप में एक समस्या हो जायेगी। अतः हम कहीं घुमन्तू चरवाहों को गाड़ी पर चलते नहीं देख सकते। मैदानों का उल्लेख जितना कम आया है और नदियों का जितना अधिक, उसे ध्यान में रखना ज़रूरी है। चरवाहों के प्रसंग में थोड़ी देर के लिए कल्पना कर लें कि नदी आदि पार करते समय उन्हें अपने मवेशियों को नाव पर लादना भी पड़ सकता है तो कम-से-कम नावें तो उनके पास नहीं ही हो सकतीं। नावों के सन्दर्भ में यहाँ बार-बार अपनी नावों का उल्लेख आता है। इसके विपरीत जब हम आर्यों को लुटेरा मानकर चलते हैं तो यह भूल जाते हैं कि लुटेरों से दूसरे आतंकित रहते हैं, स्वयं वे नहीं। यहाँ हम आर्यों को भयभीत पाते हैं[69], उन पर आक्रमण होने के उल्लेख पाते हैं, उन्हें रातों से डरते पाते हैं और इस बात की याचना करते पाते हैं कि अपने शत्रुओं से इनका सम्पर्क न हो। यदि शिकार से सम्पर्क ही न हो तो शिकार सुरक्षित तो रहेगा, पर शिकारी

कैसे रह सकता है ? लुटेरे भला क्यों कामना करने लगे कि विरोधियों से सामना ही न होने पाये ? अँधेरा डाकुओं के मन में भय नहीं पैदा करता, अपितु अन्धकार का आवरण उन्हें अभय प्रदान करता है ।

5
वदिक ऋषि और राजा

हमने आरम्भ में यह कहा है कि ऋषि शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में सर्वत्र सूक्तों के रचनाकार के रूप में नहीं हुआ है । वहाँ ऋषि का अर्थ है वह पात्र या चरित्र जिसके मुख से ऋचा कहलायी गयी है ।[70] इसके कुछ कारणों का उल्लेख भी हमने वहाँ किया है । इसका एक अन्य प्रमाण यह भी है कि जिन सूक्तों के रचयिता वसिष्ठ और विश्वामित्र माने गये हैं उनमें कतिपय सूक्तों में इनके लिए प्रयुक्त 'तृत्सवः'[71] और 'कुशिकाः'[72], 'वसिष्ठाः'[73] और 'कुशिकासः'[74] जैसे बहुवचन प्रयोग यह प्रमाणित करते हैं कि इन सूक्तों की रचना उसी गोत्र या गुरु-परम्परा के अन्य कवियों ने की है, स्वयं वसिष्ठ या विश्वामित्र ने नहीं, जब कि ऋषि के रूप में इन्हीं का नाम आया है ।

ऋषि शब्द का शाब्दिक अर्थ है द्रष्टा या देखने वाला ।[75] इसका एक अन्य अर्थ है जाने वाला ।[76] प्राचीन काल में जब ज्ञानवर्धन के दो ही साधन थे—परम्परा का ज्ञान और देश-देशान्तर का भ्रमण और परम्परा का ज्ञान भी एक जगह बैठकर अर्जित करना सम्भव नहीं था—तब भ्रमण या देश-देशान्तर-गमन का अर्थ ज्ञान-वर्धन भी था ।[77] अथर्व आंगिरस, जिनको प्राचीन आस्थाप्रतीक ऋषियों में गिना जाता है, पथ का विस्तार करने वाले बताये जाते हैं ।[78] अन्यत्र भी पूर्ववर्ती पितरों को पथों का निर्माण या खोज करने वाला बताया जाता है ।[79] एक अन्य व्याख्या के अनुसार जिन लोगों ने तप करके अपने स्वयं के प्रयत्न से ब्रह्म को प्राप्त किया वे ऋषि कहलाये ।[80] यदि इस ब्रह्म को सायण के सुझाव के अनुसार वेद मान लें तो उन्होंने वेद का तपस्यापूर्वक अर्जन किया । पर ब्रह्म तथा वेद दोनों शब्द बहुत उलझे हुए शब्द हैं । ब्रह्म अन्न को भी कहा गया है और वेद का अर्थ ज्ञान के अतिरिक्त लाभ भी है ।

ऐसा लगता है कि सांस्कृतिक विकास-क्रम में मेधावी जनों की विभिन्न भूमि-काओं के सन्दर्भ में ऋषि शब्द का प्रयोग होता रहा है । जिन लोगों ने कृषि की ओर पहल की वे भी ऋषि थे और इसके निमित्त उन्होंने घोर श्रम और तप भी किया । आगे चलकर वाणिज्य के चरण में देश-देशान्तर की यात्रा करने वाले उन साहसिक व्यक्तियों के लिए भी ऋषि शब्द का प्रयोग होने लगा जिनके लिए सबसे उपयुक्त

शब्द 'खोजी' या अनुसन्धाता हो सकता है। ऋषि का अर्थ पर्यटक और देखने वाला होता है, यह न केवल ऊपर की व्याख्या में अपितु बाद में दुर्गम स्थलों की यात्रा करने की साधुओं और तपस्वियों की परम्परा में भी देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इनके मन्त्रद्रष्टा होने का अर्थ यह प्रतीत होता है कि जो लेखन से परिचित या साक्षर थे और इस दृष्टि से भी अधिक ज्ञानी थे, उनके लिए भी ऋषि शब्द का प्रयोग होने लगा था।

हमारे लिए इस समय जो तथ्य अधिक महत्वपूर्ण है वह यह कि व्यापारिक यात्राओं पर अनेक ऐसे व्यक्तियों के जाने के उल्लेख मिलते हैं जो बाद की परम्परा में ऋषि के रूप में याद किये जाते रहे हैं। नवग्वों और दशग्वों को तो न केवल इन यात्राओं पर जाते हुए दिखाया गया है, अपितु वे इन्द्र के साथ दस्युओं से युद्ध करते हुए भी दिखाये जाते हैं।

नवग्व और दशग्व

नवग्वों ओर दशग्वों को सामान्यत: नव और दस महीनों का यज्ञ-सत्र करने वाला माना जाता रहा है। यदि यह सच भी हो तो नव और दस महीनों के इस यज्ञ-सत्र का कुछ विशेष ही अर्थ होना चाहिए जिसमें अन्य बातों के अलावा यात्रा और दस्युओं से युद्ध भी शामिल है। इन नवग्वों और दशग्वों का उल्लेख अनेक बार इस तरह आया है जैसे इनके बीच कोई भेद न हो।[81] इनकी संख्या सात बतायी गयी है[82] जो प्राचीनतम ऋषियों या सप्तर्षियों की संख्या से मेल खाती है। इनमें सबसे प्रधान स्थान अथर्व आंगिरस को दिया गया है, जिन्हें अन्य बातों के अलावा नर या नेता भी कहा गया है।[83] इन पूर्व पितरों को पदज्ञ भी कहा गया है, जिसका स्थूल अर्थ 'स्थानों का ज्ञान रखने वाला' होगा।[84] अंगिरा ने पर्वत-विवर का द्वार खोला था।[85] इनकी पर्वत की चढ़ाई की भी चर्चा आती है।[86] इन्होंने अन्धकाराच्छन्न मार्ग को पार कर पुन: प्रकाश हासिल किया था।[87] इनकी यात्राओं के उल्लेख स्पष्ट हैं[88] और इन यात्राओं का धन से सम्बन्ध है।[89] जिस विलक्षण बुद्धि से इन्होंने शत्रुओं से पार पाते हुए अपनी यात्रा पूरी की थी उसी बुद्धि को प्राप्त कर जलमार्ग में होने वाली शत्रु-बाधा को पार करने की कामना व्यक्त की गयी है।[90] वस्तुत: इन नवग्वों के पर्वतीय मार्गों से जाने का ही उल्लेख नहीं है, अपितु जलमार्गो से जाने का भी उल्लेख है।[91] इन सभी तथ्यों को सामने रखने पर नव और दस महीनों के पुरोहिती यज्ञ से भिन्न एक आर्थिक या व्यापारिक यज्ञ की ही पुष्टि होती है। स्वयं सायण भी इस विषय में दुविधा में दिखायी देते हैं कि इनका सम्बन्ध नव और दस महीनों के यज्ञ से जोड़ा जाये या नहीं।[92] प्रकारान्तर से कहें तो नवग्व और दशग्व वर्षा-काल को छोड़ कर शेष वर्ष-भर पर्यटन करने वाले उन जिज्ञासुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है जो 'धरती का अन्त क्या

है'[93] इस बाधा के आगे, इस जंगल के पार, पर्वत के पार, क्या है ? इसकी खोज करने या परम सत्य का साक्षात्कार करने निकल पड़ते थे और इनकी इन यात्राओं के क्रम में जिन नये भण्डारों का, नये क्षेत्रों का पता चलता था उससे अनेक संरक्षक और पुरस्कर्ता भी लाभान्वित हो रहे थे, अतः उन्हें असाधारण सम्मान दिया जा रहा था। वे इनकी आरम्भिक यात्राओं पर मार्ग-दर्शक के रूप में तो जाते ही थे, बाद की यात्राओं पर भी इनको साथ लेना आवश्यक समझा जाता था। कारण, अपने पर्यटन के क्रम में इनको सम्बन्धित क्षेत्रों का जितना अच्छा ज्ञान हो जाता था, उतना अपनी लीक पकड़ कर जाने वालों को नहीं हो सकता था। इनके मार्ग-दर्शन के अभाव में वे भटक सकते थे या किसी मार्ग के, किन्हीं भी कारणों से अवरुद्ध हो जाने की दशा में घोर संकट में पड़ सकते थे।

ऐसी स्थिति में अन्धकार को पार करके आलोक में पहुँचना, विवर या गुहा-द्वार को खोल कर गायों को देखना, मार्ग का निर्माण करना, पर्वतों पर चढ़ना, उत्तर-पश्चिमी पर्वतीय दर्रों की कठिनाइयों को पार करने और एक नया सम्पर्क-मार्ग बनाने से, कहें पश्चिमोत्तर के सुदूर देशों की ओर यात्रा से और, जैसा कि हम आगे देखेंगे, खनिज भण्डारों की खुदाई से सम्बन्ध रखता है।[94] आश्चर्य नहीं कि इन नवग्वों और दशग्वों में ऋग्वेद में प्रधान स्थान रखने वाले अथर्वांगिरस को ईरानी परम्परा में भी श्रद्धा-प्रतीक बनाया गया है और इनके अद्भुत कारनामों की इतनी अधिक धूम थी कि आगे चल कर मात्र मन्त्र-तन्त्र-बल से इच्छित प्रभाव दिखाने वाले सूक्तों के संग्रह को भी अथर्ववेद की संज्ञा दी गयी।

राजा

इसी तरह जिन व्यक्तियों को परम्परागत रूप से राजाओं के रूप में जाना जाता रहा है, उनमें से अनेक की गतिविधियों पर ध्यान देने पर वे राजा से अधिक व्यापारी ही सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए सुदास, जिन्हें वैदिक काल का एक प्रधान राजा बताया जाता है, शायद ही कहीं किसी राजकीय भूमिका में सामने आते हों। इसके विपरीत उन्हें बार-बार व्यापारिक गतिविधियों से सम्बन्धित दिखाया गया है, जिनमें समुद्री यात्राएँ भी शामिल हैं।[95] उनके सन्दर्भ में किसी सुनिश्चित भौगोलिक क्षेत्र का उल्लेख नहीं आया है। यही बात दूसरे भरतों के विषय में भी सच है। यदि उल्लेख आया है तो जल-धाराओं का ही![96] दाशराज्ञ युद्ध वाले प्रकरण में एक स्थल पर तो सुदास की तुलना पेत्व या मेमने से की गयी है और उनके शत्रुओं की सिंह से और इसे इन्द्र का कमाल बताया गया है कि उन्होंने मेमने से सिंह को परास्त करा दिया और दूसरा कमाल यह है कि इन्द्र ने अकिंचनप्राय सुदास को मालामाल कर दिया।[97] मेमने से किसी राजा की तुलना कुछ अपमानजनक-सी लगती है और अपने धन की चिन्ता में हर प्रकार के उपद्रव से बचने वाले वणिकों

की नम्रता और अहिंसकता के सर्वथा उपयुक्त। बनिये की बकरी का मुहावरा वैदिक काल से चला आ रहा है। सुदास का माल ही उनका सर्वस्व लगता है जिससे वंचित हो जाने पर वह बर्बाद हो जाते और इन्द्र की कृपा से इसका बच जाना सबसे बड़ी उपलब्धि है। पर इतने विवादास्पद पहलू पर इसी आधार पर यह मान लेना उचित न होगा कि सुदास राजा नहीं रहे होंगे, अतः सुविधा के लिए हम यह मान सकते हैं कि यदि वह, या उन्हीं की तरह दूसरे व्यक्ति भी जिनको परम्परा राजा के रूप में मानती रही है, राजा थे, तो मानना होगा कि व्यापारिक गतिविधियों में राजकीय पहल भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखती थी और सम्भवतः इसी के संरक्षण या अभिभावकत्व में उस समय के काफ़िले चला करते थे। यदि यह प्रस्ताव असुविधाजनक प्रतीत हो तो ही यह मानना अधिक संगत होगा कि वैदिक काल में राजा शब्द का प्रयोग उन प्रधान व्यापारियों के लिए भी होता था जिनको काफ़िलों के नेतृत्व का भार सौंपा जाता था।[98]

ऋग्वेद में वंशपरम्परा से राजाओं की नियुक्ति का प्रमाण मिलता है, पर साथ ही राजाओं के वरण का भी बहुत ही स्पष्ट उल्लेख आता है।[99] महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ राजा का वरण वृत्र से भयभीत होकर, अर्थात् एक विशेष अवसर पर एक सीमित प्रयोजन के लिए किया जा रहा है जिसका सम्बन्ध व्यापार से ही हो सकता है। इस वरण का सम्बन्ध इन काफ़िलों या सार्थों के नेता के रूप में किसी प्रधान वणिक के चुने जाने से लगता है। इन्द्र, जिनके राजा के रूप में वरण के उल्लेख आये हैं, नर और नेता के रूप में भी याद किये जाते हैं।[100] यूँ तो प्राचीन कालों में राजाओं को युद्ध के समय सैनिक नेतृत्व भी सँभालना पड़ता था, अतः किसी राजा के सन्दर्भ में नेता का प्रयोग ग़लत नहीं लगता, पर जब हम इस नेतृत्व के द्वारा इन्द्र को व्यापारियों को सुरक्षित बचा कर ठिकाने तक पहुँचाने के भी हवाले पाते हैं[101] तो इस नेता को हम सेनापति या सैन्य संचालन करने वाले राजा से भिन्न पाते हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्र को ऐसे अवसरों पर 'उपयुक्त सखा' या मित्र बताया जाता है।[102] एक राजा का अपने सैनिकों से मित्र और सहायक का सम्बन्ध नहीं होता।

प्रधान व्यापारियों के लिए राजा की उपाधि का प्रयोग भारतीय परम्परा में किसी तरह की समस्या पैदा नहीं करता। अग्रवालों के अनुसार उनके आदि-पुरुष राजा अग्रसेन थे ओर यह उपाधि राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द तक तो देखी ही जा सकती है।

ऋग्वेद में दान की जो प्रशस्तियाँ आयी हैं उनका सम्बन्ध प्रशासनिक राजाओं से न हो कर इन महाजनों से ही लगता है। अपनी यात्रा से भारी लाभ कमा कर सकुशल लौटने वाले ये व्यापारी इसका एक भाग मुक्त रूप से दान करते थे।[103] इसके पीछे उनकी यश-कामना तो थी ही, जो वैदिक समाज की एक बड़ी कमजोरी

थी[104], साथ ही एक अन्य कारण यह भी था कि वैदिक पुरोहितों ने यह प्रचारित कर रखा था कि भारी लाभ उसी को मिलता है और यात्रा उसी की निरापद पूरी होती है जो दानी और धर्मपरायण होता है।[105] यात्रा में साथ जाने वाले रक्षकों और सेवकों को पुरस्कृत करने का भी यही उपयुक्त अवसर था। बाद की परम्परा में भी सदाव्रतों का चलन और आज का धर्मादा खाता इसी का अवशेष है। इस पहलू पर ध्यान दें तो यह बात किसी तरह की समस्या पैदा नहीं करेगी कि क्यों वैदिक दानों में भूमि और अन्न के दान के उल्लेख नहीं आते जब कि भोजन, वस्त्र, वाहन, सोना, रत्न आदि के उल्लेख बार-बार आते हैं।

6
वैदिक देवता

वैदिक समाज को पशुचारी मान कर यदि हम तय करने चलें कि वैदिक देवताओं में किस देवता का सम्बन्ध पशुचारण से है तो हमें खासी उलझन का सामना करना पड़ता है। कारण, इस काल तक आ कर, सामाजिक-आर्थिक अवस्था में परिवर्तन के कारण पशुचारण की अवस्था के देवताओं ने भी अपनी प्राचीन भूमिकाओं के समानान्तर एक नयी भूमिका अपना ली है, जिस पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

पूषा—यह छाग-वाहन देवता[106], जिसे अग्नि का पोषक रूप भी माना गया है, और जिसे यदा-कदा सूर्य का रूप माना जाता रहा है, जैसा कि इसके वाहन से ही पता चलता है, आदिम पशुचारण अवस्था का अवशेष है। पर ऋग्वैदिक काल में यह पशुओं की रखवाली छोड़कर रास्ते की रखवाली करता दिखायी देता है। इससे रास्ते को पार लगाने के लिए, बदमाशों को दूर रखने के लिए, सहायता के लिए आकर साथ हो जाने के लिए अनुरोध किया जाता है। प्रथम मण्डल का पूरा एक सूक्त इसको सम्बोधित है और इसका भाव कुछ निम्न प्रकार है :

हे पूषा, हमारा रास्ता पार कराओ, पतन से बचाने वाले देव, दुष्टों से छुड़ाओ और हमारे साथ आगे-आगे रहो। ऐ पूषा, जो दुष्ट और बदमाश हमारे ऊपर हुक्म चलाता है, उसे हमारे रास्ते से दूर करो। रास्ते में बाधा उत्पन्न करने वाले चोर और डाकू चाहे दूर हों या करीब, उन्हें रास्ते से अलग हटाओ। वे पापी जो रात को चोरी और दिन को लूटपाट करते हैं, उनको पैरों से रौंद डालो।[107]

पूषा का प्राचीन रूप पूरी तरह भुलाया नहीं गया है, पर यह तथ्य कि उनका हथियार औज़ार में बदल चुका है[108], और पशुओं की रखवाली से आगे बढ़ कर वह रास्तों की रखवाली करने लगे हैं, उस आर्थिक रूपान्तरण को स्पष्ट

करने के लिए पर्याप्त है जो ऋग्वैदिक काल तक घटित हो चुका है।

वरुण—वरुण सम्भवत: उस आदिम अवस्था के देवता हैं जब किन्हीं विशेष धान्यों को पकने से पहले खाने या तोड़ने पर प्रतिबन्ध लगना आरम्भ हुआ था और इस दृष्टि से वह आर्थिक विकास को समझने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण देवता हैं। पर वैदिक काल तक उनका एक रूप प्रशासक का और दूसरा सम्भवत: प्रधान नाविक या कप्तान का हो चुका है। यात्रा के प्रसंगों में वह मार्गों के ज्ञाता हैं और उनका यह ज्ञान समुद्री यात्राओं के प्रसंग में विशेष रूप से याद किया जाता है।[109] उनकी वेश-भूषा भी एक सम्पन्न और अधिकार-प्राप्त व्यक्ति की है।[110] वह सरल मार्ग के ज्ञाता हैं और यात्रा के समय नेतृत्व उनके हाथ में रहता है।[111] उन्होंने नदियों के मार्ग को बनाया है।[112] जब लोग वरुण की नाव पर चढ़ कर चलते हैं तो समुद्री लहरों के साथ दोलायमान होते हुए उन्हें लगता है, मानो झूला झूल रहे हों।[113] वरुण ने आकाश की तरह समुद्र को भी मर्यादा में बाँध रखा है। महायशस्वी और शक्तिशाली वरुण जब पार जाने के लिए नौका पर सवार होते हैं तो सचमुच राजा जैसे लगते हैं।[114] अपने प्रभावक्षेत्र में वह मालिकों के भी मालिक हैं, नदियों के मर्मज्ञ हैं, उनका प्रभाव अद्वितीय है और वे सर्वत्र जाने वाले हैं।[115] वह जीवन-रक्षा करते हुए पार लगाते हैं।[116]

इन्द्र-वरुण—जहाँ इन्द्र और वरुण का उल्लेख साथ आता है, वहाँ यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इनमें श्रेष्ठ कौन है। पर एक कप्तान के रूप में लगता है वरुण का ही आदेश यात्रा के दौरान सर्वोपरि रहता है। इन दोनों को विविध प्रकार के धनों के लिए याद किया जाता है।[117] सामान्य प्रशासन में और इन विशेष स्थितियों में वरुण के कठोर नियमों की चर्चा बार-बार आती है, और इनके आदेशों की अवहेलना करने वाले को मृत्युदण्ड तक दिया जा सकता है।[118] वह सब पर नज़र रखते हैं, सबके मन की बातें जान लेते हैं—जो कुछ हो चुका है और जो होने वाला है, सबका उन्हें ज्ञान है।[119]

इस तरह यदि इन्द्र की तुलना में वरुण को रखा जाये तो स्थानीय मामलों में न्याय और सामान्य प्रशासन का भार वरुण पर आता है और राज्यपद इन्द्र का प्रतीत होता है। व्यापारिक सन्दर्भों में वरुण प्रधान नौचालक और इन्द्र प्रमुख व्यापारी प्रतीत होते हैं।

इन्द्र—किसी प्राचीनतर अवस्था में इन्द्र वर्षा के देवता थे। प्रकारान्तर से कहें तो पूषा, वरुण, रुद्र आदि की तुलना में भी ये नये देवता हैं, जिनका उत्थान कृषि के आरम्भ के बाद होता है। चारणजीवी अवस्था में इनके देवत्व का प्रश्न नहीं था और परम्परा के अनुसार भी इनके देवत्व को चुनौती चारणजीवी समुदायों से ही मिलती है। ऋग्वेद में और इसके बाद से अब तक के कालों में भी इनके देवत्व के इस पक्ष को भुलाया नहीं जा सका है। पर ऋग्वेद तक आकर इनका सम्बन्ध

मुख्यत: धनार्जन से जुड़ गया है। इन्द्र का एक पर्याय ही 'मघवा'[120] हो गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है धनी। उन्हें प्राय: मघवंतम[121] या महाधनी कह कर भी याद किया जाता है। यह उपमा उनके वर्षक रूप से भी अनमेल नहीं पड़ती। पर स्थिति यहाँ तक ही नहीं रहती। अथर्ववेद तक आकर तो उन्हें सीधे वणिक करार दे ही दिया जाता है।[122] ऋग्वेद में भी इन्द्र-विषयक विवरणों पर ध्यान देने पर इस विषय में किसी प्रकार का भ्रम नहीं रह जाता कि इस समय तक उनका सम्बन्ध मुख्यत: व्यापारिक गतिविधियों से जुड़ चुका है और वर्षा आदि के करतब पुरानी प्रशस्तियाँ हैं जो इस काल में भी चलती रहती हैं। वह वसुपति हैं।[123] उनकी नज़र पैसे पर रहती है।[124] धन-लाभ के लिए वह घोड़े की तरह दौड़ कर जाते हैं।[125] वह दिव्य धनों के ही नहीं, पार्थिव धनों के भी राजा हैं।[126] उनकी प्रेरणा से उनके उपासक भी धन की ओर उसी तरह दौड़ते हैं जैसे मांस की ओर गृद्ध दौड़ता है और वे ऊँचे-नीचे विषम मार्गों को पार करते हुए अनजान क्षेत्रों तक अपने घोड़ों पर दौड़ते चले जाते हैं।[127] उनसे श्रेष्ठ धन की याचना की जाती है।[128] वह स्पृहणीय धन देने वाले हैं।[130] उनकी भुजाएँ कल्याणकारी, हाथ शुभकर्मा हैं, और उनकी स्तुति से धन प्राप्त होता है।[131] वह धन के निधान हैं और महाधन की प्रेरणा जगाने वाले और रक्षक हैं।[132] जैसे पिता पुत्र को बुलाता है वैसे ही धनकामी इन्द्र को बुलाते हैं।[133]

इन्द्र का महत्व उनकी रक्षणशीलता और नेतृत्व में है।[134] नदियों को सुपारा और जलयात्राओं को सुगम और निरापद बनाने का श्रेय उन्हें प्राप्त है।[135] तुर्वश और यदु को वह विघ्न-बाधाओं को पार कराकर सकुशल ले आये थे।[136] इन्द्र के मार्गदर्शन में सभी विघ्न-बाधाओं को पार किया जा सकता है।[137] वह लोगों की नौका को पार लगाते हैं।[138] द्वेषियों को दूर करते हुए सकुशल पार ले जाते हैं।[139] इस तरह मूलत: कृषि का यह देवता भी व्यापार और वाणिज्य का देवता बन चुका है और उसके उपासक खरीद-बिक्री के काम में जुट कर धन से धन पैदा करने लगे हैं।[140]

अग्नि—वैदिक देवताओं में सबसे प्राचीन माने जाने वाले देवता अग्नि हैं।[142] आश्चर्य नहीं कि पाषाणकाल में ही कभी मनुष्य का ध्यान हथियार बनाने के समय पत्थर की टकराहट से पैदा होने वाली चिनगारियों की ओर गया हो। आग से मनुष्य का परिचय कब हुआ यह कहना कठिन है, पर अनेक जन-जातियाँ अपने आखेट और आहार अन्वेषण के दिनों में आग से परिचित हो चुकी थीं। अन्य बातों के अतिरिक्त आग के धुएँ से शिकार आदि की तलाश में जंगल में भटक गये कबीले के लोगों को अपने निश्चित ठिकाने का पता लगाने में सहायता मिलती थी। अग्नि के दाहक पक्ष की तुलना में इसके धूम वाले पक्ष पर यज्ञ आदि में अधिक बल देने, इसके धूमकेतु नाम और देवताओं को बुलाने की इसकी कीर्ति[142]

के पीछे यह एक प्रधान कारण दिखायी देता है। पशुचारण की अवस्था में जंगली जानवरों से पशुओं की रक्षा और सम्भवतः कीट-पतंगों को दूर करने में इसके धुएँ की सहायता के कारण इसको पशुपा या पशुपति की संज्ञा प्राप्त हुई।[143] कृषि का विस्तार करने के लिए आग से जंगलों को जलाकर इनकी सफ़ाई की गयी। इस चरण में यह धरती और आकाश को अलग करने वाला[144], धरती का विस्तार करने वाला[145], सृष्टि के कारणों में से एक हो गया।[146] इस प्रकार उपलब्ध धरती में ही वनस्पतियाँ या कहें अनाज बोये जाने लगे और इसलिए यह वनस्पतियों का जनक भी बन गया।[147] इससे खानपान की जो सुविधा हुई उसके कारण इसको प्रजापति की भी संज्ञा मिली।[148] इसी दौरान जंगलों के जलाने के क्रम में ही यह अनुभव किया गया कि आग लगने से हवा का कम दबाव-क्षेत्र पैदा होने के कारण अनिवार्य रूप से वर्षा होती है, अतः—संभवतः कुछ भ्रमवश ही बादलों के रंग और धुएँ के रंग की समानता, धुएँ के आकाश में जाने और घटाओं के घिरने के साहचर्य को और बादलों में चमकने वाली बिजली को अग्नि का ही एक रूप मान कर अग्नि का अनिवार्य सम्बन्ध वर्षा से मान लिया गया और यह सोचा जाने लगा कि यज्ञ के द्वारा वर्षा करायी जा सकती हैं।[149] यहाँ आकाशीय अग्नि या इन्द्र का एक अलग देवत्व कायम हो गया।[150] अन्न को आग पर पकाने पर इसका स्वाद बढ़ जाता है, अतः यह मधुजिह्व हो गया।[151] बर्तन और ईंट आदि पकाने के क्रम में इसके नाशक या शर्व रूप के विपरीत इसके अमरतादायक रूप का परिचय मिला।[152] धातुओं को गलाने की अवस्था तक इसके द्रविन्नु रूप का साक्षात्कार हुआ और यह द्रविणोदा बन गये।[153] और काँचली मिट्टी के साथ अन्य द्रव्यों को मिलाकर जब मनके या मणियाँ बनाने की कला सूझी तो यह रत्नधा भी बन गये।[154] पर इन सबके अलावा इनका एक रूप था जो उत्पादन से सम्बन्धित इन विभिन्न रूपों से अलग था। यह था विभक्ता का रूप। चूँकि अग्नि जातवेद हैं, झूठ-सच का पता लगा सकते हैं, इनके समक्ष कोई झूठ बात कर दूसरे के माल को अपना माल कह कर, या लाभ आदि में बेईमानी नहीं कर सकता था, अतः अग्नि को साक्षी बना कर हिस्से का बँटवारा होता था। उस काल में लम्बी व्यापार-यात्राओं पर न तो कोई अकेला निकलने का साहस कर सकता था, न ही निकलने पर सुरक्षित रह सकता था। अतः एक साथ बहुत-से व्यापारी अपना माल-असबाब लाद कर यात्रा पर निकलते थे और रास्ते में माल उतारने-चढ़ाने और रखने में, समुद्री यात्राओं में तूफ़ान आदि के समय माल सँभालने और बचाने में गड़बड़ी की काफ़ी सम्भावना रहती थी। अपने माल की पहचान के लिए मुहरों आदि की सहायता से उचित व्यवस्था के बावजूद गड़बड़ी से बचना आसान नहीं था। इसके अतिरिक्त आपस में भी कभी-कभी घोटाले की नौबत आती रही होगी। सही माल और हिस्से के निर्णय के लिए वरुण के कठोर प्रशासन के अतिरिक्त भी

किसी अन्य विधान की आवश्यकता उन्हें थी और इसकी पूर्ति भगभक्ता[155] अग्नि के साक्ष्य के द्वारा पूरी की गयी थी। इसके साथ ही आवश्यकता थी किसी ऐसे सर्वमान्य नेता या न्यायाचारी में विश्वास की जिसका निर्णय सर्वमान्य हो, और यह भूमिका सम्भवतः सार्थ के राजा या इन्द्र को सौंपी गयी थी।[156]

इस पहलू को नज़रअंदाज करने के कारण ही भाग वितरण के इन उल्लेखों को वैदिककालीन अविकसित उत्पादन में सबकी समान भागीदारी की पद्धति का सूचक[157] मान लिया जाता है। ऐसा करते समय व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्पष्ट उल्लेखों आदि की तो अनदेखी कर ही दी जाती है, इस बात का भी ध्यान नहीं रखा जाता कि सम्पत्ति का उत्तराधिकार पिता-पुत्र क्रम से चलता है, यह वितरण देव-समाज में हो रहा है जिससे कृषकों आदि को अलग रखा गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वैदिक कवियों की धन-लालसा प्रकट होती है वहाँ वे अपनी, स्तोता या यजमान की बात करते हैं, पर जहाँ खेती आदि की बातें आती हैं वे पंचकृष्टी की बात यूँ करते हैं, मानो वे स्वयं उनमें शामिल न हों।[158] किसान अच्छी तरह हल चलायें, चरवाहे पशुओं को सकुशल ले आयें, पर हमें (स्तोता और यजमान को) धन, रत्न, रयि, भोग प्राप्त हो। प्रथम पुरुष और अन्यपुरुष का यह फ़र्क़ बहुत महत्व रखता है। इसकी ओर ध्यान न देने के कारण ही सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों को समझने में ग़लती की जाती है। क्या यह रोचक नहीं है कि वास्तविक उत्पादकों, शिल्पियों और किसानों को कहीं भगभक्ता या भक्तभागी के रूप में एक बार भी नहीं दिखाया गया है ?

उत्पादन और विपणन से सम्बन्धित अग्नि और इन्द्र आदि के देवत्व को समझने में ही ग़लती नहीं की गयी है; यह ग़लती इन दोनों के रक्षक पक्ष को समझने में भी बार-बार दुहरायी जाती है। अग्नि का एक रूप रक्षोहा या राक्षसों का नाश करने वाले का है।[159] इसे देख कर कभी-कभी यह भ्रम पाल लिया जाता है कि इसका सम्बन्ध वैदिक जनों के आक्रमणों से है : वे अपने शत्रुओं के नगरों और बस्तियों को जला देते थे और लूट लेते थे। यहाँ यह भुला दिया जाता है कि आगज़नी के बाद लूट के लिए कुछ बचा नहीं रहता। व्यापार के लिए घर से निकले यात्रियों को कब किस अनिष्ट का सामना करना पड़ जाये, यह कहा नहीं जा सकता था। उनका जहाज़ डूब सकता था, तूफ़ान में वे भटक सकते थे; रास्ते में बीमार पड़ सकते थे, उन पर दस्युओं का आक्रमण हो सकता था और सब-कुछ के बाद उनका उचित लाभ मारा जा सकता था, या घाटा हो सकता था। अतः सुरक्षा का कोई भी प्रबन्ध इतना सुचारु नहीं हो सकता था जिसे पर्याप्त कहा जा सके। इन आशंकाओं का लाभ उठाते हुए उनके पुरोधाओं ने रक्षा और शत्रुओं के बिनाश का अपना एक तन्त्र विकसित किया था। यदि देवता प्रसन्न रहें तो इन सभी विघ्नों से पार पाया जा सकता था और उचित लाभ कमाया जा सकता था। वास्तविक

हथियार ही हथियार नहीं हैं, यज्ञ स्वयं एक हथियार है जिससे अदृश्य, निकटस्थ और दूरस्थ शत्रुओं को नष्ट किया जा सकता है। ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति या यज्ञ देव राक्षसों का विनाश करने में और अपेक्षित सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ है।[160] वास्तविक वर्म ही वर्म नहीं है, मन्त्र और यज्ञ स्वतः कवच है।[161] धन की प्राप्ति केवल उद्यम और पूँजी पर ही निर्भर नहीं करती, देवताओं की कृपा पर और दान-पुण्य और यज्ञ-तत्परता पर निर्भर करती है।[162] जो यज्ञ आदि नहीं करता उसका धन और सुख तो उलटे देवगण छीन कर दानी और यजनशील व्यक्ति को दे देते हैं। अतः यज्ञ-विधान द्वारा सभी अनिष्टों और अनिष्टकारियों को अग्नि के मुँह में झोंका जा सकता है।[163] यदि चोरों-बदमाशों ने किसी को पकड़ भी लिया तो देव-कृपा से वह उनके बन्धन से छूट सकता है।[164]

घोर अनिश्चय के उस जीवन में इससे बड़ी और कौन-सी गारन्टी हो सकती थी? पर इसके साथ अग्नि की एक और भूमिका है। अपना माल-असबाब लेकर बाहर निकले इन लोगों का सबसे बड़ा शत्रु अन्धकार है। रात में अँधेरे में पता नहीं कब किधर से कैसी आफ़त आ जाये। लूट और चोरी की तो सारी सम्भावना रात के अँधेरे में रहती ही है। अतः रात को आग जला कर, सम्भवतः बारी-बारी से ये अपने माल का पहरा देते हैं। रात के पहरे में भी इनकी आँख आने वाले दिन की रोशनी की ओर लगी रहती है, इतना दान पुण्य करने वाले हम लोग प्रसन्न रहें और सूर्य को उगता हुआ देखें…।[165] अग्नि यज्ञमान् को खूब धन दे और वह लम्बे समय तक सूर्य का उदय देखे—लम्बी उम्र का हो।[166] जो सो गया, वह लुट गया। वे मानते हैं कि उन्हें न नीद आये, न तंद्रा घेरे।[167] अग्नि जागने वाले को ही धन देते हैं।[168] अग्नि वहाँ सोच-समझ कर ले जाते हैं जहाँ अच्छा मुनाफ़ा होता है।[169] वह दिन और रात शत्रुओं से रक्षा करते हैं।[170] जैसे नाव से जल-धारा को पार किया जाता है वैसे अग्नि अदृश्य आपदाओं से रक्षा करते हैं।[171] वह धन के साथ जाने वाले देवता हैं।[172]

जो बात हम इन देवताओं के साथ देखते हैं उसी की पुष्टि अन्य देवताओं से भी होती है। ये सभी अपने प्राथमिक चरित्र को कुछ सीमा तक सुरक्षित रखते हुए भी या तो वाणिज्यिक अर्थ-व्यवस्था में सहायक और रक्षक की भूमिका में उपस्थित होते हैं, या उनके इस पक्ष पर अधिक बल दिया जाता है।

7
वैदिक सार्थ

ऋग्वेद में युद्ध या संघर्ष के लिए जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उनको मुख्यतः

तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में आने वाले शब्दों का वाच्यार्थ है लोगों का भारी संख्या में एकत्र हो कर चलना जैसे, समिति, समोह, संगथ, समरण, समत्, समन, समीक, संयुज, आदि। दूसरे वर्ग में आने वाले शब्दों का वाचिक अर्थ शोर, पुकार या गुहार है जैसे, रण, आक्रन्द, आह्व, आदि। तीसरे वर्ग में आने वाले शब्दों का सम्बन्ध इच्छा, इच्छापूर्ति या अभीष्ठ पदार्थों की प्राप्ति से है जैसे, इष्टि, आजि, वाज, स्पृधा, वाजसात, धन, महाधन, धनसात, गविष्टि, गवेषण, आदि। आगे चलकर भी युद्ध के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों को प्रथम दो कोटियों में रखा जा सकता है जैसे, संग्राम, संख्य, अभियान, समर आदि।

परम्परागत व्याख्याकारों ने इस शब्दावली को युद्धपरक या संग्रामपरक ही माना है। इस व्याख्या को आधुनिक विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। इनमें से कुछ ने कुछ शब्दों के साथ गो-पूर्वपद को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया है कि वैदिक संघर्षों की वजह मवेशियों की लूटपाट ही हुआ करती थी।

हमें किसी तरह का सरलीकरण करने से पहले वस्तु-स्थिति पर तटस्थता से विचार कर लेना चाहिए। यह सच नहीं है कि इन संघर्षों में गायों आदि को लूटना प्रधान लक्ष्य हुआ करता था। जैसा कि हम देख आये हैं गो शब्द इन्द्रिय, प्रकाश, जल, गव्य उत्पाद आदि के साथ धन और गो-सम्बन्धी सभी वस्तुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, और इस विषय में परम्परागत व्याख्याकारों की भी हमारे साथ सहमति है। इस गो-सम्बन्धी, या गव्य श्रेणी में बैलों पर लदा हुआ माल और फिर कोई भी माल आ जाता है। प्रतीक-रूप में गो शब्द का प्रयोग पशुमात्र के लिए हुआ है और इसलिए गो शब्द को देख कर ही झटपट कोई नतीजा निकाल लेना युक्तिसंगत नहीं।

दूसरी बात यह कि न तो गो शब्द की आवर्तिता ही अन्य सम्पत्तिसूचक शब्दों की तुलना में अधिक प्रभावशाली है, न ही इससे बने संघर्ष-सूचक शब्दों की ही। ऋग्वेद में गविष्टि का प्रयोग 17 बार, गवेषण का 5 बार और गोषु का 44 बार हुआ है। इसके विपरीत केवल वाज शब्द का 398 बार और सात उत्तरपद के साथ 73 बार, अर्थात् कुल 471 बार हुआ है जो इन शब्दों सहित गो शब्द की आवर्तिता से लगभग दूना है।

तीसरी बात यह कि जब हम प्रसंगों पर ध्यान देते हैं तो गोषु, गविष्टि आदि स्पष्टतः इस बात का संकेत देते हैं कि इनका सम्बन्ध गायों के लिए होनेवाले संघर्ष से नहीं है। उदाहरण के लिए गोषु बहुत कम बार ही द्वन्द्व की सूचना देता है[173] और जहाँ देता है वहाँ स्पष्ट है कि टकराव का कारण परिवहनगम्य माल है, न कि गाय।[174]

अतः विचारणीय प्रश्न यह है कि वे कौन-सी स्थितियाँ रही हो सकती हैं जिनमें धन से सम्बन्धित विभिन्न शब्दों का सम्बन्ध युद्ध और यात्रा दोनों से

जुड़ गया और विजय के उल्लेखों के साथ भय और असुरक्षा की घोर चिन्ता इस तरह छायी दिखायी देती है कि विजय अपना और अपने माल का बचाव बनकर रह जाती है।[175] यहीं पर हमारे सामने व्यापारियों के साथों का चित्र बहुत स्पष्ट होकर उभरता है जो तत्कालीन असुरक्षित मार्गों पर बहुत बड़े जत्थे बनाकर और किसी भी आपदा का सामना करने के लिए तैयार होकर निकलते तो थे, पर हर समय अपने जान-माल के विषय में चिन्तित रहते थे और यदि रास्ता निर्विघ्न कट गया तो इसे अपने देवताओं की बहुत बड़ी कृपा समझते थे। संघर्ष की नौबत आ जाने पर यदि वे दस्युओं और चोरों को भगाने, मारने या पकड़ने में सफल हो गये तो भी यह देवताओं की कृपा ही थी। यदि इस पहलू को नज़र-अंदाज़ कर दें तो एक ओर तो अपने देवों के और स्वयं अपने रक्षकों के शौर्य और साहस की प्रशंसा, इस बात का दावा कि उन्हें कोई दबा नहीं सकता, उनका कोई मुकाबला नहीं है और दूसरी ओर उनका भय से काँपते रहना एक ऐसा विरोधाभास पैदा करेगा जिसका कोई दूसरा इकहरा समाधान सम्भव नहीं हो सकता।

वैदिक युद्धों को पशु-धन के लिए होने वाले युद्ध मानने वाले विद्वानों ने इस बात पर ध्यान दिया है कि वैदिक युद्धों के जो उल्लेख मिलते हैं उनसे किसी बड़े पैमाने के युद्ध की सूचना नहीं मिलती। यदि उनसे कोई चूक हुई है तो यह कि वे इन टकरावों की वास्तविक परिस्थितियों का सही अनुमान नहीं लगा सके और इन्हें आर्यों द्वारा गायों की लूट-मार मान बैठे। इनका सम्बन्ध लूट-मार से तो है, पर लूट पशु-धन को लेकर नहीं है और लूटने वाले आर्य स्वयं नहीं, अपितु उनके शत्रु हैं और आर्यों को बचाव की ही चिन्ता बनी रहती है। रक्षा करो, पाहि, त्राहि, अवतु त्राध्वं की पुकार, उठो, चलो और कमाओ के उद्बोधन के समानान्तर पूरे वैदिक साहित्य में गूँजती दिखायी देती है।

उनके प्रधान सरोकारों में योग और क्षेम अर्थात् धन का अर्जन और उसकी सुरक्षा ही है जिसका आधुनिक रूपान्तर 'लाभ-शुभ' परम्परावादी वणिकों के घरों और दूकानों के दरवाजे पर ही लिखा नहीं मिलेगा, अपितु उनकी खाता-बही के आरम्भिक पन्ने पर भी। स्वस्ति या कल्याण तथा इसका भावलिपि में अंकन भी इसी मनोवृत्ति का सूचक है। ऋग्वेद में योग का प्रयोग विविध रूपों और आशयों से लगभग 50 बार हुआ है और क्षेम का लगभग 21 बार। अनेक बार इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक साथ हुआ है।[176] स्वस्ति शब्द का प्रयोग 193 बार अर्थात् गो शब्द के लगभग बराबर ही हुआ है। वस्तुतः वैदिक स्वस्ति पाठों का सम्बन्ध व्यापारिक यात्राओं के आरम्भ के समय किये जाने वाले उन यज्ञों से है जो मार्ग के अनिष्टों और बाधाओं से मुक्ति के लिए किये जाते थे। स्वस्ति शब्द के साथ ही 'शं' या कुशल, कल्याण की आवर्तिता भी ध्यान देने योग्य है जो ऋग्वेद में लगभग 125 बार व्यवहृत हुआ है। ऋग्वेद के सभी देवता इस योग, क्षेम, स्वस्ति

और त्राण के लिए ही याद किये जाते हैं और आगे चलकर दूसरे दैवी अवतारों को भी योग-क्षेम और कल्याण का यही भार वहन करना होता है। यह कल्याण अपराधियों और आततायियों के दमन के बिना सम्भव नहीं, इसलिए इन सभी देवताओं को आततायिओं के संहार का भी व्रत लेना पड़ता है। मुख्य बात यह है कि वैदिक काल से लेकर बाद की समूची भारतीय परम्परा में ये देवता आततायियों के उपद्रव से क्षुब्ध और पीड़ित 'भक्तों' जो मूलतः व्यापारिक उपक्रमों के भागीदारों का सूचक रहा लगता है—की रक्षा के लिए अवतार लेते हैं, न कि लूट-पाट करने के लिए। रामायण हो या महाभारत या अन्य कोई कृति, युद्ध की सम्भावना उत्पन्न होने के बाद सन्तप्त पक्ष की ओर से पहले युद्ध के बिना ही समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है और इसके विफल होने पर, अन्य कोई उपाय न रह जाने पर ही युद्ध का सहारा लिया जाता है। यही दृष्टिकोण ऋग्वेद में भी दिखायी देता है। वैदिक जनों का सारा प्रयास शान्ति और सद्भावना के द्वारा समस्याओं का हल ढूँढ़ने का है और इस तरीके के विफल होने पर ही युद्ध का आश्रय लिया जाता है और वह मुख्यतः अपने बचाव तक सीमित रहता है।[177] प्रकारान्तर से कहें तो भारतीय मूल्यव्यवस्था वाणिज्यिक मूल्यव्यवस्था है जो वाणिज्य-प्रधान वैदिक समाज की देन है।

इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक दूसरे संकेत हैं जिनके आधार पर लुटेरों और लूटने वालों के चरित्र को समझा जा सकता है। इनमें से एक है वैदिक जनों की नैतिकता जिसमें उद्योग, श्रम और तप को इतनी प्रधानता दी गयी है कि अन्तिम दो तो प्रभु-वर्ग के श्रम-कार्य से विरत होने और इसका भार दासों पर डालने के क्रम में आध्यात्यिक अर्थ पा जाते हैं। वे अनृत, एनस, आगस, हिंसा, उपद्रव, छल, अकर्म, आलस्य, सज्जनों के उत्पीड़न को[178] जघन्य अपराध मानते हैं। चोरों की सजा का उल्लेख हम कर आये हैं। उनको शुद्ध[179] धन चाहिए—शुद्धता की यही धारणा आगे चलकर सम्यक् आजीव या शुद्ध भक्त और शुद्धोदन जैसे विचारों को जन्म देती है और बनियों की शुद्ध आजीव की इस स्वविशिष्ट धारणा के कारण उनके साथ साधु या साहु, साधुकार और साहुकार आदि विशेषण जुड़ते हैं। रोचक बात यह है कि शुद्ध की ही भाँति साधु का भी यह विशिष्ट आशय ऋग्वेद तक विकसित हो चुका है।[180] इसका शाब्दिक अर्थ है सही रास्ते पर चलने या चलाने वाला। जिस समाज की नैतिक चेतना इतनी विकसित है कि इसमें मन्यु या क्रोध और अहंकार तक को निन्दनीय माना जाता है, कुछ काम ऐसे हैं जिनकी चर्चा तक करना दोष है जो अवद्य शब्द से प्रकट होती है, जो दूसरों के धन पर पलने या पराश्रित होने को गर्हित समझते हों,[181] उनको लुटेरा मानना विवेकपूर्ण नहीं है।

अतः जैसा कि हम पहले भी संकेत कर आये हैं, उन विशेष प्रसंगों में जहाँ जय

के प्रसंग में धन-लाभ का भाव जुड़ा हुआ है; इन यात्राओं का सम्बन्ध व्यापारिक अभियानों से है, न कि सामरिक या लूट-पाट के अभियानों से। जय का सीधा अर्थ अर्जन या लाभ है। वस्तुतः ऋग्वेद में और परवर्ती वैदिक साहित्य में भी जय का तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है : अर्जन करना, प्रतिस्पर्धा में आगे बढ़ जाना और संघर्ष की स्थिति में प्रतिद्वन्द्वी को परास्त कर देना या उसके प्रयत्न को विफल करके बिना संघर्ष के बच निकलना। इस पहलू पर हम अगले खण्ड में देवासुर-संग्राम के सन्दर्भ में कुछ और विचार करेंगे।

अतः जय से अधिक रोचक शब्द भय है। जय तो आध्यात्मिक अर्थ लेकर आत्म-जय का और प्राकृतिक अर्थ लेकर वृष्टि-लाभ तक का रूप ले सकती है, पर भय जिसकी अभिव्यक्ति ऋग्वेद में बार-बार होती है और जब-तब तो ठीक जय के प्रसंग में भी होती है, अधिक ठोस और पार्थिव है और वैदिकों की विडम्बना को अधिक मूर्त रूप में पेश करता है और डकैती और लूट के भ्रम को पूरी तरह ध्वस्त कर देता है।

एक बार इस लूट का नुक्ता दुरुस्त हो जाने के बाद हम पाते हैं कि वैदिक युद्ध के ये सारे पर्याय सार्थों के पर्याय हैं और धन के लिए की गयी ये सारी यात्राएँ व्यापारिक यात्राएँ।

व्यापारी काफ़िलों को हमेशा सबसे अधिक ख़तरा डाकुओं से रहता रहा है, अतः वे उनका मुकाबला करने की पूरी तैयारी के साथ निकलते रहे हैं। इतनी आपन्न स्थितियों में बिना साहस और शौर्य के वे अपना माल-असबाब ले कर देश-देशान्तर की यात्रा पर नहीं निकल सकते थे और रक्षा की तैयारी और निजी साहस जितना भी क्यों न रहे वे अपनी सुरक्षा के विषय में पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो सकते थे। यही वह स्थिति है जिसमें हम उनके अपने सैनिकों और देवताओं के शौर्य और साहस की प्रशस्ति और साथ ही आतंक की गहरी छाया का मिला-जुला रूप देखते हैं : मरुद्गण इन्द्र के साथ मिल कर वृत्र का नाश करें, अघशंस (बदनीयत) हमारे ऊपर हावी न होने पायें।[182] अग्नि, जो उपद्रवी हमारे ऊपर हमला करते हैं उन्हें मार डालो ताकि वे हमारे ऊपर हावी न हों[183]; देव वा मर्त्य, किसी प्रकार का शत्रु हमें अपने वश में न करे। इन द्वेषियों से हमें पार कराओ।[184] बृहस्पति, दुष्ट आततायी हमें अपने वश में न करें, सद्भावनापूर्वक हमें उनसे पार कराओ।[185] जो निर्दयी, द्वेषी, घमण्डी, उद्दण्ड हमारी जान लेना चाहते हैं उनके हथियार हमें छू न पाएँ और हम उन दुष्टों और उद्धतों से बचे रहें।[186] चोर और पापी हमारे ऊपर हावी न हों।[187] सविता, अपने अदम्य मंगलकारी संरक्षण से हमारे धन की रक्षा करो।...कहीं अघशंस हमारे ऊपर हावी न हो जायें।[188] हे सोमप्रेमी, मेधावी, पितृगण, धरती और आकाश सभी हमारे लिए दुर्भावशून्य हों। छिपकर घात लगाने वालों से पूषा हमें बचायें। वे

बदनीयत हमें अपने वश में न कर लें।[189] यह है उस विडम्बनापूर्ण स्थिति का खाका, जिसमें उन्हें विशाल जत्थों में रक्षा की पूरी तैयारी के साथ, और मुठभेड़ होने की स्थिति में विजय की कामना करते हुए निकलता पड़ता था और जिसे सही सन्दर्भ न दे पाने के कारण इन्हें आक्रमणकारी या लुटेरा बताया जाता रहा है।

ऋग्वेद में जो सूचना कुछ सांकेतिक रूप में आयी है उसका कुछ अधिक स्पष्ट विवरण अथर्ववेद में मिलता है। जैसा कि हम उल्लेख कर आये हैं, ऋग्वेद में इन्द्र को मघवा, धनी, धन पर नज़र रखने वाला, आदि कह कर सन्तोष कर लिया जाता है, पर अथर्ववेद में इन्द्र को स्पष्टतः वणिक कहा गया है।[190] वैदिक व्यापारी लूट से नहीं अपितु खरीद से धन और माल का आहरण करते थे।[191] वे पणन, प्रतिपणन और विक्रय में लगे हुए थे।[192] वे धन के बदले में धन पाने की इच्छा करते थे।[193] इनके गोषु, गवेषण, गविष्टि और गव्यूति का भी मर्म यहीं आ कर स्पष्ट होता है।[194]

वैदिक सार्थों के आकार के विषय में जो सूचना ऋग्वेद में मिलती है उसमें मामूली अतिरंजना हो सकती है, पर तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ये विवरण अविश्वसनीय नहीं लगते। वे हज़ारों बैलों और घोड़ों पर अपना माल लाद कर चलते हैं और फिर भी अदृष्ट आशंकाओं को ध्यान में रखते हुए देवताओं से अनुरोध करते हैं कि वे उनके पास ही रहें और उनकी रक्षा करें।[195] देवता उनकी आगे से रक्षा करें, बीच से रक्षा करें, पीछे से रक्षा करें, नीचे और ऊपर से रक्षा करें, दाएँ और बाएँ से रक्षा करें।[196] देवताओं से इन सभी दिशाओं से रक्षा मिलती रही हो या नहीं, पर वे हर तरह से चौकन्ने अवश्य रहते रहे होंगे। उनके उत्कृष्ट रथ एक-दूसरे के पीछे कतार बना कर चलते थे और देखने पर लगता था यह माला की एक लंबी लड़ी है। कच्चे रास्तों पर चलते इन सार्थों में जुते पशुओं के खुरों से उड़ती बिखरती धूल से एक गुबार-सा छा जाता था।[197] अरबी काफिलों में जाने वाले ऊंटों के गले में घंटियाँ बंधी रहती थीं ताकि किसी अप्रत्याशित स्थिति में घंटियों की आवाज़ से ही आगे और पीछे चलने वालों को इसकी सूचना मिल जाये और सभी मिलकर शत्रुओं मुकाबला कर सकें। खतरे की कोई-न-कोई घंटी या संकेत का कोई माध्यम ऐसी स्थितियों में जरूरी था ही। अतः उस काल में जब सम्भवतः घण्टी का विकास नहीं हुआ था डफ, मुरज, भेरी आदि वाद्यों का प्रयोग होता था और यात्री एक-दूसरे को आवाज़ लगाते या सम्भव है जयकार आदि लगाते हुए चलते थे। कुछ प्रसंगो में वाद्यों का[198] और शोर का[199] उल्लेख तो आता ही है, इन्द्रादि देवताओं को पुकारने के भी सन्दर्भ आते हैं।[200] सम्भव है, वाद्यों का और पुकार का सहारा संकट उपस्थित होने की स्थिति में ही लिया जाता रहा हो। उनके भारवाही पशुओं में ऊँट, घोड़े, बैल, गधे और खच्चर थे और

रखवाली के लिए वे कुत्तों को भी साथ लेकर चलते थे।[201] सम्भवतः प्रधान व्यापारियों के अतिरिक्त शेष लोग पैदल ही चलते थे और माल-वहन के लिए ही पशुओं और रथों का उपयोग होता था। रक्षा की पूरी व्यवस्था रहती थी और सम्भव है कुछ योद्धा यात्रा के दौरान हथियारों से निरन्तर लैस रहते रहे हों। वाहनों के साथ हज़ारों लोगों के चलने के उल्लेख आते हैं।[202] इन व्यापारिक सार्थों की प्रकृति की ओर ध्यान न दे पाने के कारण यह कल्पना कर ली गयी है कि अपनी यायावरी अवस्था में आर्य जन रथों के आवास में रहते थे। उनके मार्गस्थल पड़ावों और शिविरों के विषय में भी भ्रम बना रह गया है। चलते हुए विशाल काफ़िलों-ग्रामों की भी विचित्र उद्भावनाएँ की गयी हैं और इस सन्दर्भ में अन्य शब्दों यथा प्रजा, चर्षणी आदि का मर्म समझने में भी चूक हुई है।

काव्यात्मक विवरणों में हम सार्थों का इससे अधिक विवरण पाने की आशा नहीं कर सकते। इनसे यात्राओं के अपने क्षेत्रों आदि के विषय में कुछ अनुमान लगाने में हमें सहायता तो मिल सकती है, पर पूरा ब्यौरा नहीं। उदाहरण के लिए, जिन क्षेत्रों की यात्राएँ ऊँटों के द्वारा की जाती रही होंगी उनको हम आसानी से पहचान सकते हैं। राजस्थान और सिन्ध के रेगिस्तानी क्षेत्रों में ही इनका विशेष रूप से उपयोग हो सकता था और खेतड़ी की ताँबे की खानों आदि तक पहुँचने के लिए ऊँटों का विशेष रूप से उपयोग होता रहा होगा। इसी तरह पहाड़ी क्षेत्रों में नौकाओं, बैलगाड़ियों और रथों और ऊँटों के पहुँचने की सम्भावना नहीं थी। इसके बावजूद इन यात्राओं के प्रसंग में विभिन्न भारवाही साधनों का एक साथ उल्लेख किया गया है।

इसी तरह समुद्री यात्रा के विवरणों को भी अनेक सूक्तों में पहाड़ी क्षेत्रों की यात्राओं के साथ ही गिना दिया गया है। काव्यात्मक विवरणों की इस सीमा को छोड़ कर अन्य विवरण काफ़ी महत्वपूर्ण हैं। यहाँ यह याद दिला देना ज़रूरी है कि ऋग्वेद में अश्व शब्द का प्रयोग आशु-गामी के अर्थ में हुआ है और इसमें गधे, घोड़े, नाव, बादल, पानी, सभी का भाव छिपा है और इन विविध अर्थों में अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है। इसी तरह रथ शब्द का प्रयोग बैलगाड़ियों और घोड़ा-गाड़ियों के लिए ही नहीं हुआ है, अपितु पोतों या नौकाओं के लिए भी हुआ है। इन्द्र के जिन बहुसंख्य घोड़ों वाले रथों का यदा-कदा वर्णन आता है, उसे लेकर तरह-तरह के अनुमान लगाये जाते रहे हैं, पर यह इन हज़ारों वाहनों वाले सार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है और ऐसी स्थिति में रथ को एक साथ चलने वाले समूचे सार्थ के रूप में कल्पित गया है। पहाड़ी क्षेत्रों के सन्दर्भ में या नौकाओं के सन्दर्भ में भी रथ समूचे सार्थ या बेड़े का ही द्योतक है, न कि पृथक रथों का।

7

वैदिक व्यापारी और उनके प्रतिनिधि

हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि अनेक व्यक्ति जिनको बाद में ऋषियों और राजाओं के रूप में सम्मान दिया जाता रहा है, इन व्यापारिक यात्राओं पर जाते दिखाये गये हैं। राजाओं की भूमिका इनमें क्या थी? ये इन अभियानों के प्रायोजक और संरक्षक ही थे या ये स्वयं भी कभी यात्राओं पर जाते थे, यह कहना कठिन है, पर उपलब्ध विवरणों में इन्हें यात्रा पर ही दिखाया गया है। यदि इनमें से जिन्हें राजा माना जाता रहा है, वे मात्र व्यापारी ही थे तो उनकी इस असाधारण कीर्ति और पूरी परम्परा में उनके महत्व की अनुगूँज उस असाधारण समृद्धि का प्रमाण है जो उनके पास रही हो सकती है और इससे व्यापारिक गतिविधियों की प्रखरता का कुछ अनुमान हो सकता है। यदि ये व्यापारी न रहे हों और राजा होने के साथ-साथ व्यापारिक उपक्रमों में भी मिस्री राजाओं की तरह रुचि लेते रहे हों तो भी इन राजाओं की भागीदारी से इस उपक्रम की विशालता और व्यापकता की ही पुष्टि होती है।

इन व्यापारिक अभियानों पर जाने वालों में सबसे प्रधान स्थान तुर्वश और यदु का है जो व्यक्तिनाम के स्थान पर गण-नाम प्रतीत होते हैं। डॉ. चटर्जी के एक सुझाव के अनुसार तो तुर्वश में भी तुर और वश दो गण पढ़े जा सकते हैं।[212] इनका उल्लेख ऋग्वेद में व्यक्तियों के रूप में ही आया है और प्रख्यात व्यक्तियों के नाम पर कुल नाम चलते रहे हैं अतः यदुओं के परवर्ती उल्लेख के कारण यह मानना ज़रूरी नहीं है कि जिस यदु और, इसी तरह, तुर्वश का ज़िक्र ऋग्वेद में आया है वे व्यक्ति नहीं ही थे। इन दोनों के साथ यात्रा के क्रम में क्या आपदा आयी थी, यह कहना कठिन है, पर इनकी यात्रा का सम्बन्ध समुद्र-पार से था और किसी भारी विपत्ति से बच कर ही ये वापस आ सके थे, इसका उल्बेख बार-बार आता है।[203]

तुर्वश और यदु की आपदा के विषय में स्पष्ट संकेत भले न हों, तुग्र के पुत्र भुज्यु की कथा बहुत संक्षेप में पेश की गयी है। उनके अभियान का सम्बन्ध भी समुद्री व्यापार से ही था और समुद्र के बीच सम्भवतः किसी तूफ़ान में फँस कर वे भटक गये थे और फिर तूफ़ान शान्त होने पर किसी तरह किनारे आ सके थे या सम्भवतः उनका पोत नष्ट हो गया था और वह इसके किसी भग्न पटरे पर कुछ समय तक तैरते रहे थे और इसी बीच किसी दूसरे पोत के मल्लाहों की नज़र में आ गये थे और उन्होंने इनकी जान बचायी थी और वापस ले आये थे। इस संक्षिप्त कथा में सन्दर्भ बहुत स्पष्ट नहीं है, पर जो विवरण है वह निम्न प्रकार है :

तुग्रः ह भुज्युं अश्विना उद-मेघे रयिं न कश्चिन् ममृवान् अव अहाः।
तं ऊहथुः नौभिः आत्मन्वतीभिः अन्तरिक्ष प्रुद्भिः अप-उदकाभिः।।
तिस्रः क्षपः त्रिः अहा अतिव्रजद्भिः नासत्या भुज्युं ऊहथुः पतंगैः।
समुद्रस्य धन्वन् आर्द्रस्य पारे त्रिभिः रथैः शतपद्भिः षट्-अश्वैः।।
अनारम्भणे तत् अवीरयेथां अनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यत् अश्विनौ ऊहथुः भुज्युं अस्तंशत-अरित्रां नावं आतस्थिवांसम्।।

ऋ. 1.116.3-5

"अश्विनीकुमारो, तुग्र ने अपने पुत्र भुज्यु को समुद्रयात्रा पर उतनी ही अनिच्छा से भेजा था जैसे कोई मरणासन्न व्यक्ति सम्पत्ति को त्यागता है, पर तुम उसे अपने यान में बैठा कर समुद्र के ऊपर तैराते हुए, पानी से बचा कर ले आये। नासत्या, तुम अपने तीन पोतों के बेड़े पर जिसमें सौ चक्र (डाँड़) लगे हुए थे और जिनको छह अश्व (पाल) खींच रहे थे, लगातार तीन दिन और तीन रात चलते हुए समुद्र के सूखे तट पर ले आये थे। अश्विनीकुमारो, तुमने यह असाधारण वीरता उस समुद्र में दिखायी थी जिसमें कोई सहारा नहीं होता, टिकने को कोई ठाँव और पकड़ने को कोई अबलम्ब नहीं होता। इस तरह तुम भुज्यु को अपने सौ डाँड़ों वाले पोत में बैठा कर उसके पिता के पास ले आये थे।[204]

इस घटना का वर्णन अश्विनीकुमारों के असाधारण पराक्रम को प्रकट करने के लिए नये और पुराने मण्डलों में बार-बार किया जाता है।[205]

सुदास का उल्लेख हम इससे पहले कर आये हैं। इन कुछ अभियानों और आपन्न स्थितियों के सन्दर्भ में, जिनका सम्बन्ध व्यापारिक यात्राओं से ही लगता है, जिन अन्य राजाओं और ऋषियों का नाम आता है वे हैं – उग्रदेव, वृहद्रथ, तुर्वीति[206], अंगिरा[207], एतश[208], मन्धाता, दीर्घश्रवा, औशिज, आर्जुनेय, पुरुषन्ति, ऋतस्तुभ, ऋज्राश्व, अंबरीष, कण्व, वश[209], पुरुकुत्स, तरुषन्त, कक्षीवान, वम्र, कलि, भरद्वाज, शर्यात, श्रुत, कषव, त्रसदस्यु, शुचन्ति, वसिष्ठ[210], विश्वामित्र[211] आदि।

जैसा कि हम कह आये हैं, राजा माने जाने वाले व्यक्ति चाहे सचमुच के राजा रहे हों या नगर-सेठ मात्र, यह ज़रूरी नहीं कि अपनी व्यापारिक यात्राओं पर वे स्वयं ही जाते रहे हों। सम्भव है, ऋषियों में से कुछ ऐसे उपक्रमों में किसी के प्रतिनिधि हो कर भी जाते रहे हों। इस विषय में तो किसी प्रकार के सन्देह की आवश्यकता ही नहीं कि सुदास के कुछ व्यापारिक अभियानों पर विश्वामित्र उस दौर में गये थे जिस दौर में वह सुदास के पुरोहित थे। बाद में यह भूमिका वसिष्ठ ने भी निभायी हो तो इसमें आश्चर्य नहीं। वसिष्ठ के नेतृत्व में फूट और कलह में उलझे हुए भरतों का संगठित होना और उनके नेतृत्व में ही उनका समृद्ध होना[212], स्पष्टतः व्यापारिक गतिविधि का सूचक नहीं लगता, पर इस सम्भावना से

इन्कार भी नहीं किया जा सकता। कण्व, प्रियमेध, उपस्तुत, अत्रि, शिंजार सोभरि और अगस्त्य को किन परिस्थितियों में संकट का सामना करना पड़ा हो सकता है ?[213] अगस्त्य के विषय में तो यह स्पष्ट है कि वह धनार्जन के लिए ही गये हुए थे और सोभरि की भी स्थिति स्पष्ट ही है। प्रसंग एक ही होने के कारण इतर ऋषियों के सम्बन्ध में भी यही कारण रहा हो सकता है। अश्विनीकुमारों द्वारा रक्षा के विधान निश्चय ही व्यापारिक यात्राओं के दौरान हुए बचाव के सूचक हैं।

यदि उक्त ऋषि अपनी पहल पर और केवल अपने आपको लाभान्वित करने के लिए इन यात्राओं पर जाते होते तो उनकी ख्याति एक भिन्न रूप में होती। ऐसी स्थिति में यह सोचने की बाध्यता उत्पन्न होती है कि वे अपने आश्रयदाताओं के प्रतिनिधि के रूप में, सही अर्थ में पुरोधा या नेता के रूप में ही, व्यापारिक यात्राओं पर जाते रहे होंगे और यात्रा से भारी लाभ कमा कर लौटने पर इनको अच्छी तरह पुरस्कृत भी किया जाता रहा होगा। ऐसी स्थिति में दान की प्रशस्तियों में से अधिकांश निरे दान की प्रशस्तियाँ न होकर समुचित पुरस्कार की प्रशस्तियाँ बन जाती हैं और अन्यथा अतिरंजित प्रतीत होने वाले उल्लेख किंचित अधिक संगत दिखायी देने लगते हैं।

परन्तु मात्र दान शब्द को देखकर सर्वत्र दान या पुरस्कार की कल्पना कर लेना भी उचित नहीं है। इनकी एक सीमा होती है और यह सीमा उभय-पक्षीय होती है। न केवल दाता इतना अधिक दान नहीं दे सकता जितना कुछ ऋचाओं में दिखाया गया है, अपितु एक दाता से यदि इतना अधिक पुरस्कार या दान मिल जाये तो याचक की भी स्थिति बदल जायेगी और ऐसे कुछ दानियों के चलते तो उसकी मुसीबत हो जायेगी कि इतने अधिक धन का वह करे क्या ? अतः जहाँ दान दो-चार पशुओं, भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि की सूचना देता है वहाँ तो इसे दान या पुरस्कार मानना उचित है, अन्यथा यह मानना होगा कि यहाँ यात्राओं के लिए दिये गये धन और माल का वर्णन है जो वक्ता को इसलिए गदगद कर रहा है कि उसके संरक्षक ने उसके ज़िम्मे इतने बड़े अभियान का भार सौंपा। एक महत्वपूर्ण बात इन प्रसंगों में यह है कि इनमें भोजन, वस्त्र, और सोने का उल्लेख न होकर प्रायः भारवाही पशुओं का और उन पर लदे माल का उल्लेख है और इन कुछ पशु, जैसे गधे और कुत्ते, तो दान की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त हैं।[23]

इसका दूसरा पक्ष यह है कि जब यजमान देवताओं से उनकी दानवीरता की याद दिला कर उनसे सदाशय और उदार होने का और धनधान्य देने का अनुरोध कर रहा है, तब निश्चय ही इसका सम्बन्ध व्यापारिक लाभ से रहता है, न कि किसी के दान से। ऐसे ही एक प्रसंग में वह दस घड़े सोने की याचना करता है और शिकायत करता है कि इन्द्र इतना बड़ा दानी होते हुए भी और दूसरों को इतनी

उदारता से दान देते हुए भी उसे कम क्यों देता है।[214] दस कलश जो लगभग एक टन सोने से भी अधिक हुआ, निश्चय ही कुछ अतिरंजित कामना है, पर कामना तो अतिरंजित होती ही है। इसके बावजूद यह उस समृद्धि का कुछ आभास तो देती ही है जो वैदिक व्यापारियों को मुनाफ़े से मिली हुई थी। उनके वेश का विस्तृत परिचय तो प्राप्त नहीं है, पर सिर की सुनहली पगड़ी का उल्लेख बार-बार आता है और इन्द्र तो प्राय: मात्र शिप्रिन् या पगड़ी वाले के नाम से ही जाने जाते हैं।[215]

यह सुनहली पगड़ी जो आज तक व्यापारी परिवारों में वैभव और अधिकार के प्रतीक के रूप में चलती आयी है, हड़प्पा की एक प्रतिकृति में आसानी से पहचानी जा सकती है।

9

व्यापारिक प्रतिस्पर्धा

इन्द्र दासों के साथ जब-तब आर्यों का भी दमन करते हैं।[216] मर्त्य शत्रुओं के अतिरिक्त देव शत्रुओं का भी भय बना रहता है। ये आर्य या देव कौन हो सकते थे? निश्चय ही प्रतिस्पर्धी व्यापारी जिनकी रीति और विश्वास की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं थी। अत: आपसी मुठभेड़ के समय एक जैसे रथ पर सवार और इन्द्र का नाम लेकर भिड़ने वालों के उल्लेख भी आते हैं।[217] जिस दासराज्ञ युद्ध की हम चर्चा कर आये हैं उसमें भी कुछ शत्रु तो निश्चित रूप से आर्यव्रत को ही मानने वाले थे। इन प्रतिस्पर्धाओं में अपने व्यापार के लिए ख़तरा प्रतीत होने वाले या अधिक तेज़ी से आगे बढ़ने वाले व्यापारियों को तबाह कर देने का प्रयत्न देखा जा सकता है। तिरिन्दिर को यदुओं का धन इन्द्र की कृपा से हासिल हुआ था।[218] इसी तरह दूसरे कुछ विवरणों में भी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की छाया पायी जा सकती है और जब व्यापारी एक ही सार्थ का अंग बनकर जाते थे तब भी आपसी होड़ में माल का भाव गिराने या खरीदे जाने वाले माल का भाव चढ़ाने का अन्देशा बना रहता था। अत:, सम्भवत:, यात्रा आरम्भ करने से पहले, अग्नि को साक्षी बनाकर सभी सदस्यों को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वे यात्रा के दौरान साथ रहेंगे, एक-दूसरे के मनोभाव को ताड़ते हुए एक जैसी बोली बोलेंगे, एक जैसा दाम लगायेंगे, हानि और लाभ में बराबर की हिस्सेदारी करेंगे, उनमें किसी तरह का मतभेद पैदा नहीं होगा, हार्दिक सौमनस्य बना रहेगा, आदि। इसकी अभिव्यक्ति ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में हुई है जिसे सामान्यत: विचार-गोष्ठियों में होने वाली चर्चा से सम्बन्धित मान लिया जाता है।[219] समिति का

प्रयोग युद्ध के लिए भी होता था, पर युद्ध के प्रसंग में इस प्रकार के विचार-विनिमय का महत्व नहीं है और सामान्य गोष्ठियों के सन्दर्भ में साथ चलने का कोई औचित्य तो नहीं ही है, दूसरे का मत जानकर कुछ कहने का और एक साथ बोलने या एक जैसी बात कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यदि राय पहले ही कायम हो गयी तो चर्चा किस बात की ? फिर इसमें 'देव-भाग' या अपना-अपना 'धरम का हिस्सा' ग्रहण करने का कोई तुक नहीं रहता। इन सभी अपेक्षाओं की पूर्ति व्यापारिक सार्थों के सन्दर्भ में ही होती दिखायी देती है और इसके मूल में है पारस्परिक होड़ को कम करने का लक्ष्य।

10
व्यापारिक प्रसार

जब तक देसी स्तर पर उपभोग और खपत का आधार तैयार न हो तब तक विदेशों से या सुदूर स्थलों से जितना भी धन-संचय कर लीजिए, सब बेकार है। धन का सार ही उसकी क्रय-शक्ति है, भले वह सिक्के के रूप में हो या धातुपिंडों के रूप में या विनिमेय वस्तुओं के रूप में। अतः यदि वैदिक समाज में असाधारण व्यापारिक हलचल देखने में आती है तो इस विषय में किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती कि घरेलू बाज़ार में भी काफ़ी सरगर्मी रही होगी। पर ऋग्वेद में जितना अधिक ज़ोर सुदूर व्यापार पर दिया गया है उतना स्थानीय व्यापार पर नहीं। इसके प्रधानतः दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि काव्यात्मक विवरणों में सदा अधिक महत्वपूर्ण पक्ष का ही उद्‌घाटन होता है। सुदूर व्यापार बहुत बड़े पैमाने पर हो रहा था, जब कि स्थानीय व्यापार के लिए इतने बड़े उपक्रमों की आवश्यकता नहीं थी। दूसरा कारण यह है कि ऋग्वेद में आये सूक्त लाभ और रक्षा के लिए देवताओं से प्रार्थनाओं के रूप में आये हैं और ख़तरे और भारी लाभ दोनों की अधिक सम्भावना सुदूर यात्राओं के दौरान ही हो सकती थी।

अतः हम निकटस्थ क्षेत्रों की अपेक्षा दूरस्थ स्थानों—दूर[220] और परावत[221] आदि—के उल्लेख अधिक पाते हैं। परावत का शाब्दिक अर्थ है पार का देश। यह पार नदी के पार भी हो सकता है, पहाड़ या समुद्र के पार भी। ऐसी स्थिति में विशेष सन्दर्भों को सामने रखकर ही यह निश्चय किया जा सकता है कि यह दूर का देश कितनी दूर हो सकता है। निकटस्थ या इस पार के क्षेत्रों के सन्दर्भ में अर्वावत[222], आस[223] और अंत[224] का प्रयोग देखने में आता है।

आगे चलकर हम देखेंगे कि समुद्र और पर्वत-पार के देशों के लिए दिव या

द्युलोक का भी प्रयोग हुआ है।

समुद्र-यात्रा

एक लम्बे समय तक इस बात को लेकर विवाद चलता रहा है कि वैदिक जन समुद्र से परिचित भी थे या नहीं और आज भी यदा-कदा उन तर्कों को, जिनकी विश्वसनीयता इनके प्रस्तावकों को भी कुछ समय बाद ही सन्दिग्ध प्रतीत हुई थी, दुहरा दिया जाता है।[225] इस बहस में पड़ना समय और स्थान का अपव्यय होगा और इसे ज़िन्दा रखने का श्रेय अकादमिक दृष्टिहीनता को दिया जा सकता है जिसे समुद्र तक दिखायी नहीं देता रहा है। समुद्र का प्रयोग ऋग्वेद में निश्चय ही अनेक अर्थों में हुआ है, पर कौन-सा ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग अनेक अर्थों में नहीं हुआ है? प्रश्न सन्दर्भ का है और इस पर ध्यान देना ज़रूरी था। समुद्र वह है जिसमें नदियाँ जाकर मिलती हैं[226], जिसका ओर-छोर नहीं दिखायी देता।[227] सरस्वती गिरि (हिमालय) से लेकर समुद्र-पर्यंत—गिरिभ्यः आ समुद्रात्—प्रवाहित होती है।

वास्तविकता यह है कि ऋग्वेद में स्थल-यात्राओं की तुलना में जल-मार्ग से की जाने वाली सुदूर यात्राओं के उल्लेख अधिक मुखर होकर आये हैं और प्रायः इन यात्राओं का उद्देश्य भी बहुत स्पष्ट रूप में दिया गया है।[228] समुद्र यात्राओं के दौरान सबसे बड़ा संकट पानी के अभाव का हो सकता था। पानी के बीच रहकर प्यासों मरने का प्रचलित मुहावरा भारत में वैदिक काल से चला आ रहा है और यह इन्हीं समुद्री यात्राओं की देन है।[229] कुछ स्थलों पर अपना माल-असबाब लिये यात्रा करने वाले व्यापारियों के बहुत ही सजीव वर्णन आते हैं।

पिबतं च तृष्णुतं च आ च गच्छतं प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्।···
जयतं च प्रस्तुतं च प्र च अवतं···
हतं च शत्रून् यततं च मित्रिणः प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्।
सजोषसौ उषसा सूर्येण च ऊर्जं नः धत्तं अश्विना॥ ऋ. 8.35.10-12

समुद्री यात्रा के दौरान अनेक मुसीबतों का सामना करना पड़ता था, जिनमें से एक था समुद्री विक्षोभ। ऐसे अवसरों पर ही रास्ता खो जाने या दिशा-भ्रम हो जाने की सम्भावना भी बनी रहती थी। रात के समय दिशा-निर्देश के लिए उन्हें ध्रुवतारे और सप्तर्षिमंडल का सहारा लेना होता था।[230] समुद्र-तट से दूर बहक जाने की स्थिति में पक्षियों—कौओं का प्रयोग होता था,[231] और आपदा की स्थिति में स्वजनों को इसकी सूचना देने के लिए कबूतरों का।[232]

समुद्र-यात्रा पर जाने वाले पोतों का आकार बड़ा होता था और इनको चलाने के लिए पालों का प्रयोग होता था।[233] अनुकूल वायु न मिलने पर ही डाँड़ों का प्रयोग किया जाता रहा होगा। ऐसे जहाज़ों में सैकड़ों चालकों के होने

के उल्लेख आये हैं।[234] जहाज़ों को परस्पर बाँध कर एक बेड़ा बनाया जाता था और भुज्यु के प्रसंग में जिस बेड़े का उल्लेख है उसमें तीन पोत जुड़े हुए थे। समुद्री जहाज़ों के या सामान्य पोतों के भी जो पर्याय थे उनमें से एक था रथ। इसका एक अन्य पर्याय है विमान। भुज्यु के उक्त प्रसंग में पोतों के लिए रथ का ही प्रयोग हुआ है। जिस त्रिवृत रथ का या त्रिबन्धुर रथ का उल्लेख प्रायः आता है वह इस प्रकार पोतों को बाँध कर बनाया जाने वाला बेड़ा ही है।

विमान शब्द को लेकर काफ़ी भ्रम रहा है। कुछ विद्वान तो इस शब्द से इतने प्रभावित दिखायी देते हैं कि उनकी समझ से यह वैदिक-कालीन वायुयानों का सूचक है। उनको अपना भ्रम पालने में ऐसे प्रसंगों में रजस् और अन्तरिक्ष आदि शब्दों का प्रयोग भी सहायता करता है। पर जिस तरह समुद्र शब्द का अनेक बार प्रयोग आकाश के लिए हुआ है उसी तरह इसके उल्टे अन्तरिक्ष शब्द का प्रयोग प्रस्थान-स्थल और गन्तव्य स्थल के बीच के विशाल समुद्री प्रसार के लिए भी हुआ है। नभस् व रजस् का तो एक अर्थ जल है ही, अतः रजस विमान का जलयान के अर्थ में प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक ही है। जहाँ तक विमान शब्द का प्रश्न है, सायण ने सर्वत्र इसका एक ही अर्थ लिया है और वह है निर्माण। वह विमान का एक अर्थ निर्माता करते हैं।[235]

त्रिबन्धुर, त्रिचक्र, त्रिवृत, त्रियुग रथों का सायण अलग-अलग ढंग से अर्थ करते हैं।[236] इन रथों के सम्बन्ध में दो शब्द बहुत सार्थकता रखते हैं और वे हैं वातरंहा या हवा से चलने वाले और श्येनपत्व जो पालों से चलने वाले पोतों की तसवीर को स्पष्ट कर देते हैं।[237] परस्पर बाँधे जाने वाले पोत भिन्न आकार प्रकार के भी हो सकते थे। एक स्थल पर सम्भवतः इसका एक विनोदपूर्ण उल्लेख यह कहते हुए किया गया है कि 'गधे और घोड़ों का कोई मेल नहीं। इन्हें एक साथ जोता नहीं जा सकता, पर अपने त्रिवृत रथ में कुछ ऐसा ही जुगाड़ कर अश्विनीकुमार आ रहे हैं।'[238]

इन बेड़ों के लिए रथ, जिसका शाब्दिक अर्थ है चलने वाला, शब्द का प्रयोग करते हुए और फिर रथ के रूढ़ अर्थ या रूप से इसकी भिन्नता या विचित्रता दिखाते हुए वैदिक कवि इसे तीन मस्तूलों या खम्भों वाला[239], बिना घोड़ों और बिना लगाम के चलने वाला[240] बता कर एक कुतूहल की सृष्टि करते हैं। इसी तरह स्व, जिसका वाचिक अर्थ जल और धन भी है, का प्रयोग माल से लदे और जल में चलने वाले इन पोतों के लिए करते हुए वे इन्हें स्ववान कहते हैं।[241] अहि शब्द का भी अर्थ चलने वाला है और शत्रुओं की नौकाओं के लिए वे इसी अहि शब्द का प्रयोग करते हैं।[243] पोतों के पालों का पक्षी के डैनों से साम्य देखते हुए वे इनको एक पक्षी के रूप में भी कल्पित करते हैं।[244]

उनकी इस कुतूहली वृत्ति की ही अभिव्यक्ति विश्पला और च्यवन के मिथकों

में हुई लगती है। विश-जल पर प्लवन करने वाली नौका ही विश्पला है और इसकी टाँग धनसात या व्यापारिक यात्रा के क्रम में सम्भवतः दस्युओं से किसी मुठ-भेड़ के दौरान टूटती है,[245] और इसको आयसी टाँग प्रदान की जाती है या कहें धातु की कीलों आदि से इसके क्षत हुए पतवार की मरम्मत की जाती है।[246] च्यवन का शाब्दिक अर्थ है चूने वाला[247] और यह किसी पुरानी जर्जर नौका को जिससे पानी रिसने लगा था या जो बेकार-सी हो गयी थी, मरम्मत कर के काम-चलाऊ या जवान बनाने की ही घटना है।[248] ऐसा मानने का पर्याप्त कारण है कि वैदिक रचना-काल के दौरान ही ये दोनों घटनाएँ अपने भौतिक कारण से कट कर मिथकीय रूप ले चुकी थीं।[249] इन दोनों का श्रेय अश्विनीकुमारों को दिया जाता है जो अपनी भूमिका में नौचालक और रथचालक लगते हैं। कभी कदा इसका श्रेय ऋभुगणों के अद्भुत कारनामे को दिया जाता है और ऋभुगण कुशल शिल्पी हैं, न कि चिकित्सक और ऋभुगणों का अपने माता-पिता को युवा बनाने का सम्बन्ध पुराने पोतों की मरस्मत से ही हो सकता है।[250] ऋभुगणों को भी उनके शिल्प-कौशल के अतिरिक्त अश्विनीकुमारों की ही तरह धनधान्य के साथ आते-जाते दिखाया जाता है।[251] और उनकी दक्षता में विशेष रूप से रथों के निर्माण की भी चर्चा की जाती है।[252] ये रथ स्थलगामी भी हो सकते हैं, पर जलपोतों से इनके निर्माण-कार्य का सम्बन्ध भी स्पष्ट है।[253]

समुद्र-मन्थन

समुद्री यात्राएँ किस पैमाने पर की जा रही थीं, इसका कुछ आभास हम समुद्र-मन्थन के रूपकीय विवरण में पा सकते हैं जिस पर हम आगे चल कर विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसका क्षीण आभास ऋग्वेद में भी मिलता है।[254] समुद्र-मन्थन का लक्ष्य था आर्थिक लाभ और अमृत की प्राप्ति और यह याद रखना ज़रूरी है कि सोने को भी अमृत कहा जाता था।[255] यह मन्थन हज़ारों वर्ष तक चलता रहता है और अमृत या लाभ के बँटवारे को ले कर ही देवताओं और असुरों में—मालिकों और उनके दस्तकारों और अन्य कर्मियों में—फ़साद होता है। यहाँ केवल यह याद दिलाना उपयोगी होगा कि इस काल में समुद्री गतिविधियाँ इस हद तक बढ़ी हुई थीं कि लगता था समुद्र को मथा जा रहा है।

स्थल-यात्राएँ

हम इस बात का पहले ही उल्लेख कर आये हैं कि ऋग्वेद में जितनी प्रचुरता से जल-मार्गों का उल्लेख मिलता है उतनी प्रचुरता से स्थल-मार्गों का नहीं। इसका एक कारण तो यह है कि जल-मार्ग प्राचीन कालों का सबसे सुगम मार्ग था और

नदियों के मार्ग से दूर-दूर तक पहुँचा जा सकता था। अधिकांश बस्तियाँ नदियों के तट पर ही हुआ करती थीं। स्थल-मार्ग में पड़ने वाले जंगलों और बीहड़ों के कारण जीवन अधिक असुरक्षित तो रहता ही था, भारत जैसे देश में एक सीमित दायरे से बाहर स्थल-मार्ग से जाने पर कम-से-कम असबाब को एक पार से दूसरे पार ले आने के लिए भी नौकाओं का सहारा लेना ज़रूरी होता था।

परन्तु कुछ ऐसे स्थल भी हो सकते थे जो स्थल-मार्ग से कुछ दिनों की दूरी पर होने के बावजूद जल-मार्ग से हफ़्तों और महीनों की दूरी पर हो सकते थे। इनके लिए समस्त असुविधाओं के बावजूद स्थल-मार्ग को ही अपनाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे क्षेत्र हो सकते थे जहाँ जल-मार्गों का अभाव हो सकता था और इनकी यात्रा स्थल-मार्ग से ही की जा सकती थी। इस दृष्टि से रेगिस्तानी क्षेत्र और पहाड़ी अंचल ख़ास तौर से महत्वपूर्ण थे। वैदिक व्यापारियों को अपने उपयोग के लिए ताँबा खेतड़ी से ही प्राप्त हो सकता था और चाँदी, अच्छी नस्ल के घोड़ों और अल्प-मूल्य रत्नों के लिए उन्हें अफ़ग़ानिस्तान, ईरान और मध्य एशिया पर निर्भर करना पड़ता था। इन यात्राओं के सन्दर्भ में ही ऊँटों, गधों, बैलों, खच्चरों और घोड़ों का सहारा लेना पड़ता था। ठीक यही है हड़प्पा के सार्थों की स्थिति। ह्वीलर लिखते हैं, इस बात की काफ़ी सम्भावना है कि सिन्धु के सार्थों में ऊँट, घोड़े और गधे हुआ करते थे।[256]

पर्वतीय यात्राएँ

ऋग्वेद में पर्वतीय यात्राओं के उल्लेख प्रायः आते हैं। इन यात्राओं के सन्दर्भ में ही उन्हें उन दस्युओं का सामना करना पड़ता रहा होगा जिन्हें पर्वत के शिखर पर बैठा या पर्वत-कन्दराओं में छिपा बताया जाता है, यद्यपि उपलब्ध विवरणों में इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट भेद नहीं किया गया लगता है। दुर्ग शब्द का सामान्य अर्थ दुर्गम्य है, और मात्र इस शब्द को देख कर ही यह नतीजा निकालना निरापद नहीं हो सकता कि जहाँ भी दुर्ग शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ आशय पर्वतीय क्षेत्र से ही है, पर यदि विभिन्न स्थलों पर ध्यान दिया जाये तो यह निश्चय करने में मदद मिल सकती है कि किन स्थलों पर पर्वतीय क्षेत्रों की बात की जा रही है। जिस प्रकार नौका से सिन्धु को पार किया जाता है उसी तरह अग्नि हमें समस्त दुर्गम्य क्षेत्रों से पार करायें।[257] जिस तरह रथ से (बिना किसी अतिरिक्त आयास के) यात्रा की जाती है उसी तरह उदार वसुगण हमें उपद्रवकारियों से भरे इस दुर्ग से रक्षा करते हुए पार ले जायें।[258] जैसे जल में नाव से जाते हो उसी तरह, ऐ मरुतो, हमें दुर्ग से बिना किसी क्षति के पार ले जाना।[259] जो इन्द्र हमारे अपार धन को वहन करते हैं वह समस्त दुर्गों को सुवाह्य रूप में पार करायें।[260] जिस तरह दुर्गम्य स्थलों को छोड़कर रथगम्य मार्ग से चलते हैं वैसे ही इन्द्र हमें

पापियों से बचा कर ले चलें।[261]

परन्तु दुर्ग शब्द को एक विशेष स्थल पर पर यास्क और सायण ने माँ का गर्भ माना है और इस ऋचा का सम्बन्ध जन्म-ग्रहण से जोड़ा है। इस अभेद रूपक से दुर्ग के सम्बन्ध में जो उपयोगी जानकारी मिलती है वह है इसके मार्ग का सँकरा होना, यात्रा का तिरश्च या चढ़ाई और ढलान वाला होना और पर्वत-पार्श्वों से मार्ग का निकलना[262], जो पहाड़ी दर्रों से की जाने वाली यात्राओं के अनुभव पर आधारित प्रतीत होता है। एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि जब इन्द्र धन लाभ के लिए उद्यम करने को हमारे घोड़ों को प्रेरित करते हैं तो हम उबड़-खाबड़ मार्गों पर उसी तरह बढ़े चले जाते हैं जैसे गिद्ध मांस की ओर लपकता है।[263] इसका सम्बन्ध निश्चित रूप से पर्वतीय क्षेत्रों से है। इस प्रसंग में वल का भेदन करके मार्ग का निर्माण करने और निधियों का आविष्कार करने का प्रसंग एक नयी अर्थवत्ता ग्रहण कर लेता है।[264]

ऋग्वेद में जहाँ भी वल का उल्लेख आया है वहाँ उसका वध आदि करने की नहीं, अपितु इसको सुगम्य मार्ग चाहने वालों के लिए चीरने, तोड़ने और मार्ग को खोलने का ही उल्लेख पाया जाता है। इसे एक रोधक के रूप में कल्पित किया गया है, पर यह रोध जैसे किसी द्वार का हो। जैसे हवा बादलों को चीर देती है या काई को हटा देती है उस तरह इन्द्र ने वल को चीर कर उसके भीतर छिपे धन का उद्घाटन किया।[265] इन्द्र ने पर्वत-शिलाओं से दृढ़ीकृत वल को उद्घाटित किया।[266] इन्द्र ने बल का भेदन किया।[267] इन्द्र ने वल को चीर दिया, विदीर्ण कर दिया।[268] वल की चोटी को इन्द्र ने छिन्न-भिन्न कर दिया।[269] बल को गिराकर गुह्य मार्ग का आविष्कार किया।[270] यदि इन विवरणों पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि यहाँ वल नामक किसी असुर का वध करने का प्रसंग न हो कर, पहाड़ी दर्रे का मार्ग खोलने का, और कुछ मामलों में खनिज भण्डारों की खुदाई का, हवाला है। यही कारण है कि यदा-कदा बिल या विवर और फलिग या फाँक या सँकरे मार्ग का भी उल्लेख आता है।[271] ऐसी स्थिति में यह सोचने का प्रलोभन होता है कि वल बोलन का पुराना नाम भी हो सकता है।

ऋग्वेद में पर्वत शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है, पर जब कहा जाता है कि हम नदियों और पर्वतों के धन को वरणीय समझते हैं[272], जब पर्वतीय और समुद्री स्थानों से इन्द्र को आने को कहा जाता है और साथ ही गव्य और अश्व्य या बैलों और घोड़ों पर लदे हुए माल को प्रचुर संख्या में लाने का अनुरोध किया जाता है[273], तब इस विषय में सन्देह नहीं रह जाता कि यहाँ पर्वतीय क्षेत्रों से व्यापारिक लाभ की बात की जा रही है। एक स्थान पर अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि वह नदियों और पर्वतों की यात्रा के समय मित्र-भाव से सहायता करें।[274] अग्नि को अन्य स्थलों के साथ-ही-साथ पर्वतों के धन का भी राजा बताया गया

है।[275] इन्द्र और अग्नि को आमन्त्रित करते समय कहा जाता है कि वे द्युलोक, पृथिवी, पर्वत, जल, जहाँ कहीं भी हों वहाँ से आ जायें।[276] पर्वत में उदारतापूर्वक देय धन को धारण करने का उल्लेख भी रोचक है।[277] उषा से कहा जाता है कि पर्वतों के बीच से जाते हुए उसका मार्ग सुगम्य हो।[278]

समुद्र-मन्थन के प्रसंग में मन्दराचल का जो उल्लेख आता है वह वास्तव में समुद्री व्यापारिक गतिविधियों को पर्वतीय गतिविधियों से मिला देने के कारण काल-क्रम से उत्पन्न भ्रम के कारण है। मन्दराचल विदेश यात्रा के दौरान बीच में पड़ने वाली पर्वत-माला ही है।[279]

इस तरह हम पाते हैं कि विदेशों के साथ स्थल-मार्ग से सम्पर्क का एक मार्ग खैबर और बोलन (वल) के दर्रों से था और एक दूसरा मार्ग जो कदाचित अधिक निरापद, किंतु बहुत लम्बा था सरस्वती और सिन्धु के मार्ग से समुद्र-तट पर पहुँच कर मकरान तट से पर्वतीय बाधा को पार करके पश्चिमी पार्श्व से होकर मध्येशिया की ओर जाता था। ऐसा मानने का प्रधान कारण यह है कि ऋग्वेद में एक विशेष प्रकार के अच्छी नस्ल के घोड़े का उल्लेख आता है जिसके लिए दधिक्रा शब्द का प्रयोग हुआ है और जिसकी ओजस्विता, शक्ति आदि को देखते हुए लगता है[280] कि यह विदेशों से, मध्य एशिया से आयात किया जाता था। स्थानीय नस्ल के घोड़े भारवाही टट्टू थे, जिन्हें आज भी अलग से पहचाना जा सकता है। घोड़े की उत्पत्ति जल से मानने के पीछे एक कारण यह हो सकता है कि इनके भारत पहुँचने के मार्ग में समुद्र पड़ता था।[281] इन अच्छी नस्ल के घोड़ों को आगे चलकर सिन्ध के साथ सम्बद्ध कर लिया गया और सैंधव घोड़े का एक पर्याय भी बन गया।

लोक-कथाओं में दर्रों के कठिनाई-भरे और मकरान से होकर जाने वाले लम्बे रास्ते को क्रमशः छह महीने और बारह वर्ष के मार्ग के रूप में दुहराया जाता रहा है और जैसा कि कहानियों के राजकुमारों के शौर्य के अनुरूप है। राजकुमार जोखिमों, राक्षसों और विपत्तियों से भरे छह महीने के मार्ग को ही चुनता रहा है। पर बड़ी संख्या में अप्रशिक्षित, और अधिक सम्भव है घोड़ों के बछड़ों को लाने वाले व्यापारियों के लिए दर्रों के मार्ग की तुलना में यह लम्बा रास्ता अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता रहा होगा।

व्यापारियों के स्वर्ग

स्वर्ग की संकल्पना का विकास किस तरह हुआ और कैसे यह क्रमशः दूर होता हुआ द्युलोक तक पहुँच गया, इस पर हम इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि जिन क्षेत्रों के माल से तत्कालीन व्यापारी सम्पन्न हो रहे थे वे उनके लिए स्वर्गतुल्य प्रतीत हो रहे थे। इन भिन्न

जलवायविक क्षेत्रों के विशिष्ट उत्पाद भी इनमें से प्रत्येक को अलौकिक या स्वर्गीय प्रतीत हो रहे थे। इस तरह पाश्चात्य व्यापारियों के लिए भारत के विशिष्ट उत्पाद—चन्दन, हाथीदाँत, कस्तूरी, गन्ना, बन्दर, मोर आदि विचित्र लगते थे तो भारतीय व्यापारियों को पश्चिम के खजूर, किशमिश, अल्पमूल्य रत्नों की खानें और वहाँ के घोड़े आदि। यदि पश्चिमी विवरणों में स्वर्गतुल्य देश के ब्यौरे में जायें तो भारत का चित्र सजीव हो जायेगा। और, भारतीय विवरणों में स्वर्ग की कल्पना हिमालय के पार की जाती रही है और इसके सन्दर्भ में आरोहण, जो मूलतः पर्वतारोहण, रहा है, की बार-बार चर्चा आती है। इस पर कुछ विस्तार से चर्चा आगे की जायेगी, पर यहाँ इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि देवयान के जो विवरण ऋग्वेद में पाये जाते हैं उनका सम्बन्ध इन व्यापारिक यात्राओं से भी है। वैदिक जन अपने लिए जिन शब्दों का प्रयोग करते थे उनमें से एक था 'देव'। और जब वे स्पष्टतः धन की आकांक्षा से देवयान पर जाने की बात करते हैं तब हमें केवल आध्यात्मिक और रीतिवादी अर्थ ले कर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए।[282]

उपनिवेश और बस्तियाँ

ऐसा लगता है कि वैदिक व्यापारियों ने विदेशों में अपनी बस्तियाँ भी बसा ली थीं। समुद्र में बने मकानों का आशय समुद्र-पार के देशों में बनी आर्य-बस्तियों से ही हो सकता है।[283] इसी तरह द्वीपों का सम्बन्ध वास्तविक द्वीपों या तटीय अड्डों से हो सकता है।[284] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह सोचना उचित होगा कि ऋग्वेद में जिन मुठभेड़ों के उल्लेख आते हैं उनमें से अनेक का सम्बन्ध इन दूरस्थ देशों और बस्तियों से हो सकता है।[285]

विपणन

यद्यपि ऋग्वेद में ख़रीद-बिक्री के उल्लेख बहुत कम आये हैं, पर स्थिति निराशाजनक नहीं है। पर यदि यह प्रश्न किया जाये कि विपणन की वस्तुएँ क्या थीं तो ऋग्वेद ही नहीं, बाद का साहित्य, रामायण, महाभारत, पुराण आदि भी अपने समय की विपणन-वस्तुओं के विषय में हमें निराश ही करेंगे। अतः इनका उल्लेख न होना हमारे लिए समस्या भले उत्पन्न करे, इसको नकारात्मक प्रमाण नहीं बनाया जा सकता।

जहाँ वाणिज्य और पणन का उल्लेख भी बहुत कम आया हो वहाँ इन वस्तुओं के बेचने और ख़रीदने के उल्लेखों की आशा नहीं की जा सकती। पर जिन वस्तुओं का स्थानीय स्तर पर लेन-देन और उत्पादन-उपभोग दिखायी देता है, वे ही

बाहरी बाज़ारों में भी जाती रही होंगी, ऐसा सोचना ग़लत नहीं होगा। मुमकिन है, इनके अतिरिक्त कुछ मामलों में गुलामों की भी खरीद-बिक्री होती रही हो—जिन्हें दान में दिया जा सकता था उन्हें ख़रीदा और बेचा भी जा सकता था।

जहाँ तक वस्त्रों का सवाल है, यह आपत्ति उठायी जाती रही है कि वैदिक जन तो केवल ऊनी वस्त्रों से परिचित थे। पर इस तरह की मान्यता केवल नकारात्मक प्रमाणों पर आधारित है। ऋग्वेद में वस्त्र का जहाँ भी उल्लेख आया है, कहीं इस बात का संकेत नहीं मिलता कि वस्त्र है किस चीज़ का बना। भेड़ पालने का और भेड़ के ऊन का उल्लेख निश्चय ही कई बार आया है, पर वस्त्र के जो उल्लेख हैं वे भेड़ के ऊन का संकेत नहीं देते। कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनमें घूँघट काढ़ने या मुँह ढकने के संकेत मिलते हैं।[286] ऊनी वस्त्र इतनी उम्दा किस्म के उस ज़माने में शायद ही कहीं बुने जाते रहे हों कि इनको ओढ़नी के रूप में प्रयोग में लाया जा सके। इसके अतिरिक्त वस्त्रों के रंग-बिरंगा होने की भी चर्चा आती है।[287] यह पुन: सूती वस्त्रों के चलन की पुष्टि करता है। माताओं द्वारा बच्चों के लिए वस्त्र बुनने की रीति भी कुछ सीमा तक किसी अधिक मुलायम वस्त्र का सूचक माना जा सकता है[288], यद्यपि यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि वत्स से आशय किस उम्र के बच्चे से है। दूसरी ओर, हड़प्पावासी केवल सूती वस्त्र से ही परिचित नहीं थे। वे सर्दी के दिनों में गरम या ऊनी कपड़ों का प्रयोग करते थे।[289]

जिस मान्यता की पुष्टि के लिए हड़प्पा में प्रचलित वस्त्रों से वैदिक वस्त्रों की भिन्नता दिखाने के लिए वैदिक वस्त्रों को केवल ऊनी माना जाता है, उसमें स्वत: एक अन्तर्विरोध है। यदि वैदिक जनों को हड़प्पा से बाद का माना जाये तो कोई कारण नहीं कि वे भारत में पहुँचने पर सूती वस्त्रों से परिचित होने से रह जाते और फिर यहाँ के मौसम को देखते हुए अपेक्षाकृत अधिक सुखद वस्त्रों को अपनाने से बाज़ आते। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि वैदिक जन वस्त्र की बुनाई करघे से करते थे और जैसा कि श्रेडर का विचार है, उस काल में ऊनी वस्त्रों के लिए करघे का प्रयोग नहीं होता था, अत: करघे से बुनाई स्वत: गैर-ऊनी वस्त्रों के प्रचलन का प्रमाण है।[290] अत: यह मान लेने में कोई हरज नहीं है कि वैदिक जन सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्रों से परिचित थे और रुई के गद्दे-आसन्दी और तकिए-उपबर्हण भी प्रयोग में लाते थे। और ये वस्त्र उनके व्यापारिक असबाब में भी शामिल रहे हो सकते हैं।[291]

इस घरेलू उत्पाद के अतिरिक्त विविध प्रकार के आभूषण—हाथ और पाँव के खाद, गले के हार—रुक्म और स्रग, निष्क और मणि, कर्ण-शोभन या कान का अलंकार, माथे के पेश [292] आदि आते हैं। इन अलंकारों को हड़प्पा की प्रतिमाओं में पहचाना जा सकता है और इनके वाणिज्यिक महत्व को हड़प्पा की पण्य वस्तुओं में ढूँढ़ा जा सकता है।[293]

जैसा कि ह्वीलर का सुझाव है, यदि हम सातवीं-आठवीं शताब्दी के विवरणों को हड़प्पा-काल पर भी लागू करना चाहें और यह मानना चाहें कि इस दौर में पश्चिमी एशिया को निर्यात होने वाली वस्तुओं में से अधिकांश का निर्यात हड़प्पा-काल से चला आ रहा हो सकता है तो वैदिक साहित्य में इसके पर्याप्त प्रमाण मिल जायेंगे। लकड़ी भारतीय निर्यात की वस्तुओं में से एक रही है और पेड़ों को काटने और चीरने के जो विवरण वैदिक साहित्य में बार-बार मिलते हैं वे इसके निर्यात की दृष्टि से भारत की क्षमता को प्रकट करते हैं।[294] सामान्य लकड़ी के अतिरिक्त सुगन्धित द्रव्य[295], गन्धलेप[296] और अंजन का[297] प्रयोग वैदिक काल में होता था। वैदिक साहित्य में सुन्दर केश-सज्जा के प्रसंग में कुरीर और ओपस[298] के अतिरिक्त पुरुषों के द्वारा चोटियाँ रखने के उल्लेख[299] को देखते हुए केश-विन्यासके लिए प्रयुक्त कंघों और दर्पणों के प्रचलन का सहज अनुमान किया जा सकता है और ये वस्तुएँ भी निर्यात की जाती रही हो सकती हैं।

दूसरी और निर्यात की कुछ वस्तुएं पशु, पक्षी और हाथीदाँत के बने सामान और रथ तथा नौका स्वत: भी रहे हो सकते हैं। वैदिक जन मुर्गे से परिचित थे और इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि दुनिया में सबसे पहले मुर्गे को भारत में पालतू बनाया गया था और यहीं से इसे दूसरे देशों को निर्यात किया गया था।[300] ऋग्वेद में पक्षियों से शकुन विचार कराने का वर्णन आया है। यह स्पष्ट नहीं कि यह शकुन का पक्षी शकुन्त कौन-सा पक्षी है, पर सन्दर्भ को देखते हुए कौआ[301] प्रतीत होता है। मयूर से भी वैदिक जन परिचित थे और यह भी भारत से सम्भवत: निर्यात होता था।[302] इनके अतिरिक्त गाय और घोड़े[303] तथा ऊँट[304] व्यापार की वस्तुओं में शामिल रहे हो सकते हैं। हाथी से वैदिक जन परिचित थे और इसे पालतू बनाने में उस सीमा तक सफल रहे हो सकते हैं, जिस सीमा तक आज तक कोई हो सकता है, अर्थात् वे इसका प्रजनन कराने में सफल न होने के बावजूद इसका शिकार करके और इसे प्रशिक्षित करके अपने उपयोग में लाते थे।[305] हाथी के लिए प्रयुक्त वैदिक पर्यायों में एक है इभ।[306] यह शब्द ही हाथीदाँत के लिए मिस्री भाषा में इब्न बनकर आगे के पश्चिमी देशों में पहुँचा है, जहाँ इसने आइवरी का रूप ले लिया है। यह इस बात का सूचक है कि हाथीदाँत से बनी वस्तुओं का भी निर्यात वैदिक काल में होता था। ऋग्वेद में मदमस्त हाथी या 'दाना मृगो' का प्रयोग हुआ है और हाथीदाँत नर हाथी से ही प्राप्त होता है।[307] हड़प्पा में हाथीदाँत का काम होता था[308] और लोथल से हाथीदाँत का एक पैमाना भी मिला है।[309] ऋग्वेद में सोम का बड़े महत्व के साथ उल्लेख आता है। सोम, जैसा कि हम अन्यत्र सकेत कर आये हैं, वस्तुत: गन्ना था और इस शब्द का प्रयोग सोम के विविध विपाकों—गुड़ आदि—के लिए भी होता था।[310] ब्राह्मणों में सोम की ख़रीद आदि के विवरण मिलते हैं और यह माना जा सकता है कि यह वैदिक-

कालीन व्यापारिक मदों में से एक रहा होगा।

इस तरह ऋग्वैदिक काल तक जो व्यापारिक गतिविधियाँ दिखायी देती हैं उनकी तुलना यदि हम हड़प्पा सभ्यता की व्यापारिक गतिविधियों के सम्बन्ध में अब तक प्राप्त जानकारी से करने चलें तो इन दोनों में पण्यवस्तु, व्यापारिक सम्पर्क-क्षेत्र, मार्ग, परिवहन के साधन, सार्थ आदि सभी मामलों में अभिन्नता दिखायी देती है। कुछ मामलों में तो हम यह दावा कर सकते हैं कि अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद ऋग्वेद से प्राप्त होने वाली सूचनाएँ हड़प्पा के भौतिक अवशेषों से भी अधिक स्पष्ट हैं और हड़प्पा के व्यापारियों के जिन अनुभवों को इसके मूक अवशेष हम तक नहीं पहुँचा सकते उन्हें वैदिक साहित्य ही मुखर करता है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. देखें, एलिज़ाबेथ ड्यूरिंग कैस्पर, 'सुमेरियन ट्रेडिंग कम्यूनिटीज़ रिज़ाइडिंग इन हड़प्पन सोसायटी', फ्रं इंसि., 1984, 363-70
2. देखें आगे, अध्याय छह।
3. पिगट, प्रीहिस्टॉरिक इंडिया, 1950, 210
4. वही, 211
5. वही, 212
6. चाइल्ड, न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट ऐंश्येंट ईस्ट; मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइजेशन; ह्वीलर, पूर्व., 1953; मैकाय, पूर्व., 1948; वूली, एक्सकेवेशन्स ऐट ऊर; गैड, 'सीलस ऑफ़ ऐंश्येंट इंडियन स्टाइल फाउंड ऐट ऊर'; लीग्रेन, कल्चर ऑफ़ दि बेबीलोनियन्स; फ्रैंकफर्ट, सिलिलंडर सील्स; राव, 'लोथल ऐंड वेस्ट एशिया', 'ए परशियन गल्फ़ सील फ्राम लोथल'; राव, दि डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट; फ्राब्री, 'दि क्रीटन बुल-ग्रैपलिंग स्पोर्ट्स एंड बुल सैक्रिफ़ाइस इन इंडिया'; वूली, दि सुमेरियन्स; ऊर एक्सकेवेशन्स; लैंबर्ग-कार्लोव्स्की, 'दि ट्रेड मकैनिज्म इन इंडस सुमेरियन इंटररिलेशंस'; दुर्रानी, स्टोन वेसेज ऐज इविडेंस ऑफ़ कनेक्शन बिटविन मेसोपोतामिया एंड इंडस वैली; कैमर, 'दि इंडस सिविलाइजेशन ऐंड दिलमुन, दि सुमेरियन पैराडाइज़ लैंड'; तोशी, 'दिलमुन'; थापर, 'ए पॉसिबल आइडेंटिफ़िकेशन ऑफ़ मेलुह्हा'; रालिसन, इंटरकोर्स बिटविन इंडिया ऐंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, आदि। शशि अस्थाना

ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऐंड आर्कियालॉजी ऑफ़ इंडियाज़ कांटैक्ट विद अदर कंट्रीज' 1979 में इनमें से अधिकांश का समाहार प्रस्तुत किया है।

7. एस.पी. गुप्त व श्केतेंको, 'न्यू इविडेंस ऑफ़ हड़प्पा कल्चर इन दि सोवियत सेंट्रल एशिया, भारती, 1966-68; एस.पी. गुप्त, प्रीहिस्टारिक इंडियन कल्चर्स इन सोवियत सेंट्रल एशिया, इकंवथाक., 1970; अस्थाना, 'हड़प्पन ट्रेड इन मेटल्स ऐंड मिनरल्स', हड़प्पा सिविलाइजेशन, 1982, आदि।
8. अस्थाना, वही।
9. नार्मन ब्राउन, चान्हूदड़ो एक्सकैवेशन्स 1935-36; 1943, 38
10. आर.एस. शर्मा, पूर्व., 1983, 30-31; ए.एल. बैशम, पूर्व., 32-38
11. उषः तं अश्यां यशसं सुवीरं दास-प्रवर्गं रयिं अश्व-बुध्यम्। ऋ. 1.92.8. 'दास-प्रवर्ग' की व्याख्या करते हुए सायण लिखते हैं, "प्रकृष्टो वर्गः संघः प्रवर्गः। दासानां कर्मकाराणां प्रवर्गो यस्मिन् तम्। अनेकैः भृत्यैः उपेतं इति अर्थः।" ग्रिफ़िथ इसका अर्थ 'दासों के दल' (ट्रुप्स ऑफ़ स्लेव्ज़) करते हैं।
12. 8.56.3
13. 1.84.16; 8.66.11; 9.103.1, आदि।
14. ऋ. 1.103.3, 'दासीः दस्युसम्बन्धीनि'; 2.11.4, 'दासीः उपक्षयित्री'; 2.20.7, 'दासीः उपक्षयित्री (आसुरी) सेना', 4.28.4, 'दासी विशः कर्म-हीनाः मानुषी प्रजाः'; 4.32.10 'दासीः क्षेप्तुः असुरस्य स्वभूता याः पुरः यानि नगराणि', आदि।
15. यदि सेवकों की स्थिति ऐसी थी कि उन्हें दान में भेड़ बकरी की तरह दिया जा सकता था तो उनकी स्त्रियों को मनचाहे ढंग से काम पर लगाया जाता रहा होगा, यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है।
16. उप मा श्यावाः स्वनयेन दत्ता वधूमन्तः दश रथासः अस्थुः। ऋ. 1.126.3; द्वयान् अग्ने रथिनः विंशतिं गाः वधू-मतः मघवा मह्यं सम्राट्। ऋ.6.27.8; द्वैव नप्तुः देव-वतः शते गोः द्वा रथा वधू-मन्ता सुदासः। ऋ. 7.18.22; ग्रिफिथ, दि हीम्ज़ ऑफ़ दि ऋग्वेद, 1.126.3
17. देखें 6.28.8 पर सायण भाष्य।
18. ऋ. 8.68.17 में 'षट् अश्वान् अतिथिग्वः वधूमतः' पर टिप्पणी करते हुए सायण लिखते हैं, 'वधूभिः वडवाभिः तद्वतः षडश्वान्।' मोनियर विलियम्स, ऋ. 5.47.6 तथा 8.19.36 में वधूमत के सन्दर्भ में वधू का अर्थ गाय या घोड़ी करते हैं। देखें, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, 'वधू' भी। मादा का भाव वधू के साथ इस तरह इस शब्द से जोड़ दिया गया है कि इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया कि यह उसी 'वह्—' धातु से निकला है जिसका

मूल अर्थ ढोना या ले जाना है और स्वयं वधू—स्त्री, के लिए यह प्रयोग लाक्षणिक रूप में 'वह जिसे ले जाया जाता है' होता आया है। ऋग्वेद के दान के प्रसंगों में इसका अर्थ ढोने वाला ही है, अन्यत्र स्त्री है।

19. 8.66.10
20. 8.47.17
21. 8.21.16., मा भ्रातु: अग्ने अनुजः ऋणं वे: मा सख्यु-दक्षं रिपो: भुजेम। ऋ. 4.4.13
22. 10.34.10.
23. मैकडनेल व कीथ, वैदिक इंडेक्स, 1, 'ऋण'।
    पाद-टिप्पणी में वे लिखते हैं, "ऋ. 10.34.4 में ऐसा प्रतीत होता है कि उसे (कर्ज़दार को) दास की भाँति बाँधकर अपने साथ ले जाया जाता था, यद्यपि पिशल (देखिए, वेदिक स्टूडिएन 1,228) में एक अस्पष्ट मंत्र (1.169.7) की व्याख्या के आधार पर यह कहते हैं कि ऋणग्रस्त व्यक्ति द्वारा ऋण न चुकाने की दशा में उसे बाँधा जाता था। किन्तु अथर्ववेद 6.115.2-3 से ऋण का तात्पर्य है और यदि यही अर्थ ठीक है तो दंड-स्वरूप खंभे से बाँध रखने का स्पष्ट संकेत मिलता है।

    मैकडनेल और कीथ ने कला और शफ को (सोलहवाँ और आठवाँ हिस्सा) व्याज की दर माना है और ऐसा अर्थ करने में सूक्त कोई कठिनाई नहीं पैदा करता, क्योंकि "यथा कलां यथा शफं यथा ऋणं सन्नयामसि" 'यथा' का अर्थ के अनुसार या "की दर से" लिया जा सकता है, पर साहित्य की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार का अर्थ दूरारूढ़ लगता है। अन्य बात यह कि ऋण का जो आतंक ऋग्वेद में दिखायी देता है उसे ध्यान में रखते हुए ब्याज की दर बहुत अधिक होनी चाहिए। अतः कला और शफ का जो अर्थ सायण ने लिया है वही ठीक लगता है और यह है 'शनैः शनैः' या धीरे-धीरे चुकाना। इस सन्दर्भ में आम बोलचाल में भी "रत्ती-पाई करके चुकाने" या "जिस-तिस तरह चुकाने" का मुहावरा चलता है।
24. इन्द्रं अहं वणिजं चोदयामि।…अथर्व. 3.15.1
25. ऋग्भ्यः जातं वैश्यं वर्णं आहुः। तैस. 3.12.9.2
26. अर्यः स्वामिवैश्ययोः। पाणिनि 3.1.103.
27. बर्न्ट, रोनाल्ड एम. और सी.एच.बर्न्ट, दि वर्ल्ड ऑफ़ आस्ट्रेलियन्स, 1964, 115-17
28. ऋग्वेद में भूरि का 112 बार प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त भूयस्, भूयिष्ठ, भूमान जिसका शाब्दिक अर्थ ही हुआ दुनिया भर का, बहु, सर्व, विश्व आदि शब्दों पर ध्यान देना उपयोगी होगा। वैदिक असन्तोष की कुछ

झलक उस वाक्य में मिल सकती है जिसे आगे चल कर आध्यात्मिक अर्थ दे दिया गया—न अल्पे सुखं अस्ति भूमा एव सुखम् । यह भूमा भूमान का ही घिसा रूप है ।

29. त्वं नः अग्ने:···कल्याणं वसु विश्वं आ अपिषे । ऋ. 1.31.9; विश्वं सः अग्ने जयति त्वया धनं···ऋ. 1.36.4, आदि ।

30. ऋ. 6.75.2; 7.35.8; 8.100.4. इन सभी प्रसंगों में सीधे धन की नहीं, अपितु चारों दिशाओं में प्रभुत्व स्थापित करने की कामना व्यक्त की गयी है ।

31. सु-आयुधं सु अवसं सनीथं चतुः समुद्रं धरुणं रयीणम् । चर्कृत्यं शस्यं भूरिवारं अस्मभ्यं चित्र वृषणं रयिं दाः ।। ऋ. 10.47.2.

32. इंद्रं श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वं अस्मे ।
पोषं रयीणां: अरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वं अह्नाम् ।।ऋ. 2.21.6, आदि ।

33. वरेण्य अर्थात् वरणीय शब्द का प्रयोग मुख्यतः धन आदि के लिए ही हुआ है और इसकी आवर्तिता 40 बार से अधिक है । स्पार्ह या स्पृहणीय का भी धन के प्रसंग में प्रयोग होता दिखायी देता है ।

34. विल डुरांट, 1954, 79

35. उदाहरण के लिए, यूनान को और रोम को हज़ार से ऊपर के संख्यावाची का ज्ञान न था ।

36. ऋ. 4.26.7; 8.34.15; 1.134.2; 138.3 आदि ।

37. नि. 3.1

38. देखें, पृ. 134 व 142, टिप्पणी सं. 15 व 165

39. सरस्वती 'वाजेभिः वाजिनीवती' ऋ. 1.3.10; 6.61.4. (आने-जाने वाली मालवाही नौकाओं से भरी हुई ?) है इसका जल गर्जना करता हुआ बहता है, 'अमः चरति रोरुवत् ।' यह प्रखर वेग से बहता है, 'त्वेषः चरिष्णु अर्णवः' 6.61.8. सिन्धु भी वृषभ की तरह नाद करती हुई प्रवाहित होती है, 'सिंधुः यत् एति वृषभः न रोरुवत्', 10.75.3 और नदियों में अपने वेग के कारण सबसे आगे है, 'प्रसृत्वरीणां अति सिंधुः ओजसा', 10.75.1. सुसर्त्वा, रसा, श्वेता, कुभा, गोमती, क्रमुः मेहत्ना आदि को भी उनके प्रवाह के सन्दर्भ में ही याद किया गया है, 10.75.6

40. सरस्वती पर्वत से लेकर समुद्र-पर्यंत 'गिरिभ्यः आ-समुद्रात्', ऋ. 7.75.2, प्रवाहित होती है ।

41. यः त्वा देवी सरस्वती उपब्रूते धने हिते । ऋ. 6.61.5; सुखं रथं युयुजे सिन्धुः अश्विना तेन वाजं सनिषत् अस्मिन् आजौ । ऋ. 10.75.9, आदि ।

42. सिन्धु को सुरथा कहा गया है, ऋ. 10.75.8 और जल को सुगम्य बनाने के

उल्लेख प्रायः आते हैं, 'सुगा अपः चकार वज्रबाहुः' ऋ. 1.165; 'सुतरणान् अकृणोत इन्द्र सिन्धून् ।' ऋ. 4.19.6, आदि।

43. सरस्वती के मार्ग से नहुष ने सारी दुनिया का धन दुह लिया था, 'रायः चेतन्ती भुवनस्य भूरेः घृतंपयः दुदुहे नाहुषाय', ऋ. 7.95.2. इसी तरह इसने दिवोदास को इतना लाभ दिया था जो कभी खत्म न हो सके, 'इयं अददात् रभसं ऋणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे', ऋ. 6.61.1. सायण ने रभस् का अर्थ वेगवन्त किया है पर ऋणच्युत, और अददात् को ध्यान में रखते हुए और साथ ही र और ल में अभेद के नियम को ध्यान में रखते हुए इसे 'लभसं', व्यापार से प्राप्त लाभ मानना अधिक संगत है ।

44. मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसः अंहति। ऊर्मिः न नावं आ वधीत। ऋ. 8.75.9

45. इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः । ऋ. 10.14.15; त्वं नः गोपाः पथिकृत विचक्षणः, ऋ. 2.23.6; प्र ते अरदत् वरुणः यातवे पथः, ऋ. 10.75.2, आदि।

46. ऋ. 1.64.14; 79.8; 119.10; 139.8; 2.2.10; 26.1; 34.7; 3.24.1; 3.37.10; 4.36.6; 5.15.3; 35.1; 7; 38.2; 8.46.8; 9.16.3; 63.11, आदि।

47. ता नः वसू सुगोपा स्यातं पाहि नः वृकात् अघायोः । ऋ. 1.120.7; यः त्वा स्वश्वः सुहिरण्ययः अग्ने उपयाति वसुमता रथेन। तस्य त्राता भवसि तस्य सखा यः त आतिथ्यं आनुषक् जुजोषत् । ऋ. 4.4.10; पिपर्तु नः अदिती राजपुत्रा अति द्वेषांसि अर्यमा सुगेभिः । ऋ. 2.27.7, आदि।

49. द्रुहः रिषः संपृचः पाहि सूरीन्। ऋ. 2.35.6; अप स्म तं पथः जहि। ऋ. 1.42.2 दूरे अधि सुतेः भज। ऋ. 1.42.3; इंद्र त्वं रथिरः पाहि नः रिषः । ऋ. 3.31.20 : बाधतां द्वेषः अभयं कृणोतु। ऋ. 6.47.12, आदि।

49. अस्वप्नजः तरणयः सुशेवा अतन्द्रासः अवृकाः अश्रमिष्ठाः । ते पायवः सध्र्यंचः निषद्य अग्ने तव नः पान्तु अमूः । ऋ. 4.4.12; मा नः निद्रा ईशत् मा उत् जल्पिः । ऋ. 8.48.14

50. देखें ऊपर, तथा 5.19.2; 10.102.12, आदि।

51. सुदास पर दस राजाओं का आक्रमण जिसमें उनकी विजय नहीं अपितु बचाव ही हुआ था, और अभ्यावर्ती चायमान पर वरशिख के पुत्र वृचीवान का आक्रमण, पणियों द्वारा आर्यों की गायों—मुमकिन है बैलों पर लदे माल, क्योंकि गो शब्द गाय बैल दोनों के लिए प्रयोग हुआ है, और कभी-कभी वाहन मात्र के लिए—का हाँक ले जाया जाना, इस दृष्टि से रोचक है। वाहन पर लदे माल के लिए भी वाहन का ही प्रयोग होता है, यथा गाड़ी लूट ली,

डोली छीन ली, जहाज उड़ा ले गये।

52. 6.47.12; 7.50.2; 10.35.3, आदि। वृत्र व शम्बर का अर्थ भी बाधक ही है।
53. 1.42.4; 2.35.5, आदि।
54. 1.42.2
55. 6.51.13; 7.18.8; 32.27; 8.71.7, आदि।
56. 7.104.1; 2.17.4; 23.3; 3.27.13 आदि।
57. न यः संपृच्छे न पुनः हवीतवे न संवादाय रमते। ऋ. 8.101.4
58. 1.25.7
59. 1.116.5
60. अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णा अविदत् जरितारम्। ऋ. 7.89.4
61. 1.112.6; 20; 116.3.5; 117.14; 119.4, आदि।
62. 1.36.10; 64.14-15; 112.7; 10; 130.6; 6.45.12; 3.45.4, आदि।
63. अयुद्ध इत् युधा वृतः शूरो आजति सत्वभिः येषां इन्द्रः युवा सखा। ऋ. 8.45.3
64. नहि वां अस्ति दूरके यत्र रथेन गच्छथ। ऋ. 1.22.4; स नः दूरात् च आसात् च नि मर्त्यात् अघयोः। पाहि सदं इत् विश्व-आयुः॥ ऋ. 1.27.3; नकिः तं घ्नन्ति अन्तितः न दूरात यः आदित्यानां भवति प्र-नीतौ। ऋ. 2.27.13; ओ सु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वः दूरात् अनसा रथेन। ऋ. 3.33.9; आ ते कारो शृणवाम वचांसि ययाथ दूरात् अनसा रथेन। ऋ. 3.33.10; तिस्रः नासत्या रथ्या परावतः आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्। ऋ. 1.34.7; एनं नयत् मातरिश्वा परावतः देवेभ्यः मथितं परि। ऋ. 3.9.5; आ यातु इन्द्रः दिवः आ पृथिव्याः मक्षुः समुद्रात् उत् वा पुरीषात्। स्वः नरात् अवसे नः मरुत्वान् परावतः वा सदनात् ऋतस्य॥ ऋ. 4.21.3, आदि।
65. सुगा उत् ते सुपथा पर्वतेषु। ऋ. 6.64.4; आ याहि पर्वतेभ्यः समुद्रस्य अधि विष्टपः। 8.34.13; देखें ऊपर 4.21.3 भी और उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। ऋ. 8.6.28
66. यत् इन्द्र सर्गे अर्वतः चोदयासे महाधने। असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येनान् इव श्रवस्यतः॥ ऋ. 6.46.13
67. यत् एमि प्रस्फुरन् इव दृतिः न ध्मातः अद्रिवः। ऋ. 7.89.2; यह वस्तुतः एक दर्रे से होकर गुज़रते समय अनुभव की जाने वाली ठंड का वर्णन है जिसमें हवा कुछ इस तरह लगती है जैसे धौंकनी से निकल रही हो, जिससे रोम

स्फुरित हो जाते हैं।

68. आ शर्म पर्वतानां उत् अपां वृणीमहे। ऋ. 8.18.16; आ शर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम। ऋ. 8.31.10; सुदासे दस्रा वसु बिभ्रता रथे पृक्षः वहतं अश्विना। रयिं समुद्रात् उत वा दिवस्परि अस्मे धत्तं पुरुस्पृहम्। ऋ. 1.47.6
69. अपो सु म्यक्ष वरुणं भियसम्। ऋ. 2.28.6
स्वप्ने भयं भीरवं मह्यं आह। ऋ. 2.28.10
मा वः रथः मध्यमवाट् ऋते भूत मा युस्मावत्सु आपिषु श्रमिष्म। ऋ. 2.39.4; आ वहः हार्दि भयमानः व्ययेयम्। ऋ., आदि।
70. संवादेषु आह वाक्यं यः सः तु तस्मिन् भवेत् ऋषिः। बृहद्देवता, 2.88. देखें पीछे 'समस्या का स्वरूप', पृ. 18 भी।
71. 7.18.15; 19; 83.8, आदि।
72. 3.53.10; 11, आदि।
73. 7.7.7; 8.7; 12.3; 33.1; 7; 9; 37.4, आदि।
74. 3.26.1; 29.15; 30.20; 42.9; 50.4. देखें विश्वामित्राः 3.53.13. विश्वामित्रेभिः 3.1.19; विश्वामित्रेषु 3.18.4 भी।
75. दर्शनात् ऋषिः। निरु. 2.3.11
76. ऋषी गतौ। धा. पा.
77. ये गत्यर्थाः ते ज्ञानार्था। निरु. 2.3.11
78. यज्ञैः अथर्वा प्रथमं पथः तते... ऋ. 1.83.5
79. 10.14.15
80. तत् यत् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभु अभ्यानर्षत् ते ऋषयः अभवन्... निरु. 2.3.11
स्तोमान् ददर्श इति औपमन्यवः। निरु. 2.3.11
81. धियं वः अप्सु दधिषे स्वर्षां यया अतरन् दशमासः नवग्वाः।
अया धिया स्याम देव-गोपाः अया धिया तुतुर्याम अति अंहः॥ ऋ. 5.45.11
82. तमु नः पूर्वे पितरः नवग्वाः सप्त विप्रासः अभि वाजयन्तः।
नक्षत् दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठां अद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम्॥ ऋ. 6.22.2.
83. गव्यं चित् ऊर्वं अपिधानवन्तं तं चित् नरः शशमानाः अप-व्रन। ऋ.5.29.12
84. येन नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः अर्चंतः अंगिरसः गाः अविन्दन्। ऋ. 1.62.2
येन नः पूर्वे पितरः पदज्ञा स्वर्विदः अभि गाः अद्रिं उष्णन्। ऋ. 9.97.39
सायण ने भी इसका शाब्दिक अर्थ यही लिया है, यथा, 'पदज्ञः पणिभिः अपहृतानां गवां पदं जानन्तः।' 9.97.39 पर भाष्य। 'कर्माणि अनुष्ठाय देव पदं अनुभवन्तः।' ऋ. 3.55.2 पर भाष्य।

85. ऊपर, ऋ. 5.29.12; 9.97.39

86. 1.62.4.; 6.22.2

87. 'सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्' । ऋ. 3.39.5

88. 1.33.6, आदि ।

89. उनका गायों का अनुसरण करना, 3.39.5; सोम से प्रेरित होकर यात्रा करना, 9.96.11 : वाज पर जाना, 6.22.2; रेवत या धनवान होने का प्रयत्न, 5.29.12 द्रष्टव्य है ।

90. 5.45.11; 8.12.2

91. वही ।

92. देखें, 1.33.6; 8.12.2 पर सायण भाष्य ।

93. 1.164.34

94 देखें, अध्याय छह ।

95. सुदासे दस्रा वसु बिभ्रता रथे पृक्षः वहतं अश्विना । रयिं समुद्रात् उत् वा दिवः परि अस्मे धत्तं पुरुस्पृहं ।। ऋ. 1.47.6; अश्वं राये प्रमुंचता सुदासः । ऋ. 3.53.11, आदि ।

96. देखें, सूक्त 3.23 और ऋ. 3.33.11; 5.53.9-11, आदि ।

97. आध्रेण चित् तत् ऊं एकं चकार सिंह्यं चित् पेत्वेन जघान ।
अव स्रक्तीः वेश्या अवृश्चत् इन्द्रः प्र अयच्छत् विश्वा भोजना सुदासे ।। ऋ. 7.18.17

98. तुलना करें, सच्चिदानन्द मिश्र, 1984, 171-81, जहाँ वह भाषिक विश्लेषण के माध्यम से राजा को नेता, मार्गदर्शक, अनुचरों के साथ जाने वाला, आदि रूपों में व्याख्यायित करते हैं ।

99. ता ईं विशः न राजानं वृणानाः बीभत्सुवः अप वृत्रात् अतिष्ठन् । ऋ. 10.124.8

100. 2.12.7; 10.126.6, आदि । नेता की भूमिका में इन्द्र से भी अधिक बार अग्नि का उल्लेख आया है और इसके अन्य कारणों के अलावा ऋषियों की मार्गदर्शक की भूमिका भी ध्यान देने योग्य है । इनके नाम भी अग्निपरक हैं ।

101. देखें आगे ।

102. यः रायः अवनिः महान् सुपारः सुन्वतः सखा । ऋ. 1.4.10, आदि ।

103. चित्र इत् राजा राजका इत् अन्यके यके सरस्वती अनु ।
पर्जन्य इव ततनत् हि वृष्ट्या सहस्रं अयुतं ददत् । 8.21.18

104. 1.8.8-9; 27.6; 35.8; 2.19.4; 32.5; 3.24.5; 62.4, आदि ।

105. 1.9.8; 4.17.20; 4.31.15; 5.18.5, आदि ।

106. 1.162.3

107. सं पूषन् अध्वनः तिर वि अंहः विमुचः नपात् । सक्ष्व देव प्र नः पुरः ।।
यः नः पूषन् अघः वृकः दुःशेव आदिदेशति । अप स्म तं पथः जहि ।।
अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरः चितं । दूरं अधि स्रुतेः अज ।।
त्वं तस्य द्वयाविनः अघशंसस्य कस्य चित् । पदा अभि तिष्ठ तपुषिम् ।।
ऋ. 1.42.1-4; ऋ. 6.54.5;6; 10 में वह जानवरों को बचा कर ले आते हैं; ऋ. 4.57.7 में वह हराई को ठीक रखते हैं, और इस तरह क्रमशः अपनी भूमिका बदलते हुए, भटके हुए यात्रियों—व्यापारियों—को सही रास्ते पर लगाने लगते हैं और पशुओं को बचाने के स्थान पर धन-जन को बचाने लगते हैं। ऋ. 1.89.5

108. 8.4.15; 1.42.6, आदि। यही नहीं, वह शिल्पी भी बन जाते हैं। ऋ. 1.42.10; 1.138.4;6.58.4, आदि।

109. वेद यः वीनां पदं अन्तरिक्षेण पतताम् । वेद नावः समुद्रियः ।। ऋ. 1.25.7; इसमें आकाश से उतरने वाले पक्षियों के स्थान को जानने की जिस विशेषता की बात की गयी है, उसे तब तक समझा नहीं जा सकता, जब तक हम स्थल का पता लगाने के लिए प्राचीन नाविकों द्वारा कौए छोड़ने की पद्धति पर ध्यान न दें।

110. बिभ्रत् द्रापिं हिरण्ययं वरुणः वस्त निर्णिजं। परि स्पशः नि सेदिरे ।। ऋ. 1.25.13

111. ऋजुनीती नः वरुणः मित्रः नयतु विद्वान् । अर्यमा देवैः सजोषाः ।। ऋ. 1.90.1

112. आ चष्टे आसां पाथः नदीनां वरुण उग्र सहस्रचक्षाः । ऋ. 7.34.10

113. आ यत् रुहाव वरुणः च नावं प्र यत् समुद्रं ईरयाव मध्यम् ।
अधि यत् आपां स्नुभिः चराव प्र ईंख ईंखयावेह शुभ कम् ।।ऋ. 7.88.3

114. अव सिन्धुं वरुणः द्यौः इव स्थात् द्रप्सः न श्वेतः मृगः तुविष्मान् ।
गभीरशंसः रजसः विमानः सुपारक्षत्रः सतः अस्य राजा ।। ऋ. 7.87.6

115. राजा राष्ट्रानां पेशः नदीनां अनुत्तं अस्मै क्षत्रं विश्व-आयुः । ऋ. 7.34.11

116. प्र नः आयूंषि तारिषत्। ऋ. 1.25.12

117. इन्द्रावरुणा वां अहं हुवे चित्राय राधसे । अस्मान् सु जिग्युषः कृतम् ।।
ऋ. 1.17.7

118. ऋ. 1.25.2

119. अतः विश्वानि अद्भुता चिकित्वान् अभि पश्यति । कृतानि या च कर्त्वा ।।
ऋ. 1.25.11;
दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथं अधि क्षमि । ऋ. 1.25.18; एक अनुभवी

नौचालक की तरह उन्हें वर्षचक्र का भी अच्छा ज्ञान है। ऋ. 1.25.8 व 9. जो व्यापारिक हवाओं के साथ संतुलन बैठाने और यात्राओं को तदनुकूल निर्देशित करने के लिए जरूरी था।

120. मघवा और मघवत् का प्रयोग ऋग्वेद में 200 बार हुआ है।
121. 8.54.5
122. इन्द्रं अहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुर एता नः अस्तु। नुदन् अरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानः धनदा अस्तु मह्यम्। अथ. 3.15.5
123. 1.9.9
124. तत् इन्द्रः अर्थं चेतति। ऋ. 1.10.2
125. अत्यं इव शवसे सातये धना विश्वा धनानि सातये। ऋ. 1.130.6
126. अध्वर्यवः यः दिव्यस्य वस्वः यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा। ऋ. 2.14.11.
127. यत् इन्द्र सर्गेअर्वतः चोदयासे महा धने। असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येनान् इव श्रवस्यतः। ऋ. 6.46.13
128. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि। ऋ. 2.21.6
129. ऋ. 3.42.6
130. 'वाजं भरति स्पार्हं राधाः', ऋ. 4.16.16; 'दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु'। ऋ. 2.22.3
131. भद्रा ते हस्ता सुकृता उत् पाणी प्रयन्तारा स्तुवते राधः इन्द्र। ऋ. 4.21.9
132. रयिं स्थानः रयिं अस्मासु धेहि। ऋ. 6.47.6; अस्माकं बोधि अविता महाधने। ऋ. 6.46.4
133. रायः कामः वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रः न पितरं हुवे। ऋ. 7.32.3.
134. सनेम ये ते ऊतिभिः तरन्तः विश्वाः स्पृधः आर्येण दस्यून्। ऋ. 2.11.19; सनात् युवानं अवसे हवामहे। ऋ. 2.16.1; यत् मानुष प्रधनाः इन्द्रं ऊतयः। ऋ. 1.52.9
135. सुगाः अपःचकार वज्रबाहुः, ऋ. 1.165.8; सुतरणा अकृणोत् इन्द्र सिन्धून्, ऋ. 4.19.6; वृत्रं जघन्वान् असृजत् वि सिधून्। ऋ. 4.19.8; सुगान पंथः अकृणोत... ऋ. 3.30.10.
136. य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुं। इन्द्र सः नः युवा सखा॥ ऋ. 6.45.1
137. भव सुपारः अतिपारयः नः भव सुनीतिः उत् वामनीतिः। ऋ. 6.47.7; तव प्रनीति हर्यश्व सूरिभिः विश्वा तरेम दुरिता। ऋ. 7.32.15
138. सः नः पप्रिः पारयति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रः विश्वाः अति द्विषः। ऋ. 8.16.11
139. तरणिं वः जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः। ऋ. 8.45.28

140. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा: धनं इच्छमाना: । अथ. 3.15.5

141. 'अग्नि: अग्रे प्रथमो देवतानाम्', तैब्रा. 2.4.3.3; 'अग्नि: वै देवानां अवम:', ऐब्रा. 1.1

142. 1.27.11; 44.3, आदि । धूमकेतु: धूमेन ज्ञाप्यमान: । सायण, 1.27.11; हवि, आहुति, हवन—धूम पैदा करने वाले द्रव्यों—में भटके लोगों को राह पर लाने का यह भाव सुरक्षित है। अग्नि को ऋग्वेद में भी बार-बार दूत (2.6.8) कहा गया है।

143. 'त्वां यत् अग्ने पशव: समासते', 3.9.7; 'परि अग्नि: पशुपा न होता', 4.6.4

144. ब्राह्मणों के अनुसार पहले धरती और आकाश दोनों मिले हुए थे। कोई हाथ बढ़ाकर आकाश को यूँ छू सकता था। अत: स्थान का अभाव था। यह वन्य अवस्था में पेड़ों से घिरे हुए परिवेश में धरती और आकाश की कल्पना है। फिर देवों ने यज्ञ से अन्न के लिए भूविस्तार करने को दोनों को अलग किया और फिर बहुत सारा स्थान हो गया, जंगलों की सफ़ाई के बाद खुले आसमान के साथ धरती और आकाश की दूरी बड़ी दिखायी देने लगी। देखें शतब्रा. 1.4.1.22-23. "सं अन्तिकं इव ह वा इमे अग्रे लोका आसु: इति उन्मृश्या ह एव द्यौ: आस।...तान एतै: एव त्रिभि: अक्षरै: व्यनयन् वीतये इति त इमे विदूरा लोका:...।"

145. ऋग्वेद में अग्नि द्वारा धरती के विस्तार की और आकाश के निर्माण की बात प्राय: दुहरायी जाती है। देखें, 5.1.7; 6.7.7; 8.2; 3; 10.4; 11.1; 12.5; 7.1.1; 5.4; 1.36.8; 3.6.5, आदि।

146. अग्नि को सृष्टि का कारण मानने, या सूर्य को ब्रह्म मानने की परिकल्पना का विकास किंचित् जटिल है। इस पर कुछ चर्चा हम रुद्र के देवत्व के प्रसंग में करेंगे, परन्तु वह भी इसके विवेचन के लिए पर्याप्त नहीं है।

147. 1.70.2; 2.1.14; 3.1.13; 16; 6.3.7; 12.3; 13.4; 7.4.5; 9.3, आदि।

148. प्रजापति की परिकल्पना खास तौर से ब्राह्मणकाल में ज़ोर पकड़ती है। शतब्रा. 6.21.1; 1.16 में अग्नि को प्रजापति कहा गया है। अग्नि के अतिरिक्त संवत्सर, वायु, सोम, वाक् आदि को भी प्रजापति कहा गया है। इसकी संकल्पना के पीछे सृजन और पोषण का भाव विशेष रूप से दिखायी देता है।

149. 6.3.7; 12.1; 1.7.20; 2.6.5; देखें 'अग्ने: वै धूमो जायते धूमात् अभ्रं।' शतब्रा. 5.3.5.17. अग्नि के तीन रूप पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष के विद्युत और द्युलोकीय इन्द्र या सूर्य माने गये हैं, ऋ. 3.20.2; आगे यह

तीन का जादू कुछ और बढ़ता दिखायी देता है—त्रीणि शता त्रि सहस्राणि अग्नि त्रिशत् च देवा: नव च असर्पयन्, ऋ. 3.9.9—जिसे अन्तत: तैंतीस कोटि तक पहुँचा दिया जाता है।

151. 1.13.3; 44.6; 60.3; यजु. 1.16, आदि।

152. शतब्रा. में ईंट बनाने के विषय में लिखा है कि मिट्टी को पानी से गीला करने के बाद उस मृदा से जब ईंट बनायी जाती है तब पकाने के क्रम में अग्नि ईंट के जल और मिट्टी दोनों को अमर कर देते हैं, कारण 'यत् अग्निना पचन्ति तस्मात् अग्निना इष्टका: पचन्ति, अमृत: एव एना: तत् कुर्वन्ति।' 6.1.4.9; और इसका संकेत हमें ऋग्वेद में भी मिलता है, जहाँ अग्नि को अमरता देने वाला और अमृत का निधान बताया गया है, 6.7.7; 7.4.4, आदि। अग्नि जैसे विनाशकारी तत्व को अमृत का गर्भ या निधान मानने के पीछे यह अधिक तर्कसंगत कारण प्रतीत होता है, जिसकी पुष्टि शतपथब्राह्मण की उक्त व्याख्या से भी होती है।

153. अग्नि को ऋग्वेद में बार-बार द्रविणोदा कहकर सम्बोधित किया गया है। यद्यपि द्रविण ऋग्वैदिक काल में भी धन के सामान्य अर्थ में व्यवहृत होने लगा है और अन्य देवताओं से भी द्रविण की इच्छा की जाती है, पर द्रविणोदा नाम विशेष रूप से अग्नि के लिए प्रयोग में आता है, ऋ. 1.15.7-9; 96.8; 2.1.7; 7.16.11; 8.39.6; 10.2.2, आदि। ऋ. 6.12.3 में अग्नि को द्रविता भी कहा गया है।

154. अग्नि का यह विशेषण ऋ. 2.1.7; 5.8.3; 7.16.6; 12, आदि में। कभी-कभी मरुद्गण (ऋ. 1.15.3), ऋभुगण (4.34.6) के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, जिन्हें मणियों की माला पहने प्राय: दिखाया जाता है। पर अग्नि को विशेष रूप से रत्नधातम (1.1.1; 5.8.3) कहा गया है। यह विशेषण ऋभु को 1.20.1 में केवल एक बार मिला है, जहाँ सायण के अनुसार इसका आशय है, "अतिशयेन रमणीय मणि-मुक्तादि धनप्रद:"। अन्य किसी देवता को यह विशेषण प्राप्त नहीं हुआ है। अत: रत्न या मणि बनाने में अग्नि के उपयोग के अतिरिक्त इसका अन्य कोई कारण नहीं प्रतीत होता। हड़प्पा के क्षुद्र मनकों के निर्माण के विषय में तकनीकी पहलू की छानबीन करने के बाद हेगड़े और कारन्त (हड़प्पा सिविलाइज़ेशन, 1982, पृ. 239-44) इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि हड़प्पा के मणिकार राजस्थान से या अरवली पहाड़ी के ही किसी क्षेत्र से वह चिकना पत्थर प्राप्त करते थे, जिसे पीस और गूँथकर, इसके छोटे मनके बनाकर, इन्हें तार से छेदकर आग में पकाते थे और इन लेखकों के अनुसार मनके इस प्रयोजन के लिए बनाये गये विशेष छिद्रों के द्वारा दबाव डालकर बनाये और 900 से 1000

डिग्री सेंटीग्रेड के तापमान पर विशेप भट्ठियों में पकाये जाते थे। वही, पृ. 242-43

155. अग्नि को प्राय: विभक्ता, (ऋ. 1.27.7), देवभक्त (ऋ. 1.73.10; 10. 75.9), भगभक्त (ऋ. 1.24.5) आदि कहा गया है।

156. विभाजन के लिए जिन दूसरे देवताओं का नाम आता है, जैसे इन्द्र (ऋ. 4.17.11; 6.36.1) या सविता(ऋ. 1.22.7), वे भी अग्नि के ही प्रतिरूप हैं। इन्द्र तो यात्री-दल में प्रधान या सबसे बड़े व्यापारी का भी प्रतीक हो चुके हैं। सविता के नाम को लेकर काफ़ी अटकलें लगायी जाती रही हैं, पर यदि इसे स-वित् या बँटवारा करने वाले अग्नि का या सर्वदर्शी सूर्य का प्रतिरूप मानें तो सभी सन्दर्भ अधिक स्पष्ट हो जायेंगे।

157. आर.एस. शर्मा, 1983, 36 और आगे। सच्चिदानन्द मिश्र, 1984, 141-45 भी देखें।

158. देखें, ऋ. 1.4.6; 36.19; 3.49.1; 4.30.2; 5.19.3; 7.31.9, आदि। जहाँ पंच कृष्टियों का उल्लेख आया है, वहाँ कहीं उनके बीच वितरण का हवाला नहीं है, देवताओं को उनका स्वामी अवश्य बताया गया है, ऋ. 1.59.5; 177.1; 4.17.5; 5.1.6; 6.18.2; 7.5.5, आदि।

159. रक्षोहा या राक्षस-हंता केवल अग्नि ही नहीं, इन्द्र भी हैं, और दूसरे सभी देवता भी हैं जिनको यज्ञ द्वारा प्रसन्न किया जाता है। देखें, ऋ. 1.129.6; 7.8.6; 9.1.2; 17.3; 67.20; 10.97.6; 103.4, आदि।

160 ब्रह्मणस्पति की नयी स्तुतियों से पूरे उल्लास से वन्दना करो ताकि वह प्रसन्न होकर हमारी बुद्धि को धन-सिद्धि में प्रवृत्त करें। उन्होंने ही शंबर को मारकर, पर्वतों को विदीर्ण कर—धन या जल की धाराओं को हमारी दिशा में मोड़ा था। उन्होंने ही पणियों से अंगिरा की गायों को छुड़ाया था। सत्य की धन्वा से जिसकी ओर यह मन्त्र पालक देवता अपने वाण प्रेरित करते हैं उसी के धनुष और वाण शत्रु प्रहार में सफल होते हैं। उनके कर्णयोनि—कान तक पहुँचने वाली प्रत्यंचा के वाण, कान में पड़ने वाले मन्त्र, सर्वसाधक हैं।

161. अग्नि जो मनुष्य तुम्हें हवि आदि देता है, वह तुम्हारी बदौलत खूब सारा धन कमाता है, "विश्वं स अग्ने जयति त्वया धनं य: ते ददाश मर्त्य:।" ऋ. 1.36.4; अग्नि दाता को रत्न और धन देते हैं, "दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषे।" ऋ. 1.94.14; अग्नि धर्मपरायण व्यक्ति के लिए धन देने वाले द्रविणोदा और रत्नदाता सविता हैं। यज्ञ विधान करने वाले व्यक्ति को खूब धन देते हैं और उसकी हर तरह से रक्षा करते हैं, "त्वं अग्ने द्रविण: दा: अरंकृते त्व देव: सविता रत्नधा: असि। त्वं भग: नृपते वस्व:

ईशिषे त्वं पायुः दमे यः ते अविधत्।" ऋ. 2.1.7; अग्नि यज्ञ करने वाले को मालदार बना देते हैं, "कृधि क्षुमन्तं जरितारं अग्ने कृधि पतिं सु अपत्यस्य रायः।" ऋ. 2.9.5

162. असुन्वन्तं समं जहि दूणाशं यः न ते मयः। अस्मभ्यं अस्य वेदनं दद्धि सूरिः चित् ओहते ।। ऋ. 1.176.4

163. यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट रूप में यजुर्वेद आदि में व्यक्त हुई है। देखें, यजु. 1.28-29

164. 2.34.15

165. 6.52.5

166. 4.25.4

167. 2.30.7

168. 3.28.5; देखें, 1.22.21; 3.10.9; 6.1.3, आदि भी।

169. सः तु वः अग्निः नयतु प्रजानन् अच्छा रत्नं देवभक्तं यत् अस्य।
ऋ. 4.1.10

170. स नः दिवा सः रिषः पातु नक्तम्। ऋ. 1.98.2

171. सः नः सिन्धुं इव नावया अति पर्ष स्वस्तये। अप नः शोशुचत् अधम्। ऋ. 1.97 8. देखें, 4.4.10 भी।

172. वह धन के आधार हैं और माल-असबाब के साथ चलते हैं, "रायः बुध्नः संगमनः वसूनाम्।" ऋ. 1.96.6; अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्, 1.189.1

173. 1.29.1-7; 35.5, आदि।

174. इस दृष्टि से ऋ. 1.83.1; 2.25. 4-5 आदि द्रष्टव्य हैं, जहाँ गोषु का आशय व्यापारिक लाभ से भिन्न करने पर अर्थ बैठ ही नहीं सकता।

175. इस पहलू पर हम पीछे 'वैदिक संघर्षों की प्रकृति' में विचार कर आये हैं। देखें आगे भी।

176. योग क्षेमं च आदायं अहं भूयासं उत्तमः। आ वः मूर्धानं अक्रमीम्।
ऋ. 10.166.5;
पुष्यात् क्षेमे अभि-योगे भवाति उभे वृतौ संयती सं जयाति। ऋ. 5.38.5;
पाहि क्षेमे उत् योगे वरं नः यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः। ऋ. 7.54.3;
शं नः क्षेमे शं ऊँ योगे नः अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः। ऋ. 7.86.8, आदि।

177. इसकी एक मिसाल यह है कि उन देवताओं को भी जिनसे रक्षा की गुहार की जाती है, प्रायः 'अद्रुह' या द्रोह न रखने वाला कहा गया है। देखें, 1.3.9; 19.3; 159.2; 2.1.14; 3.9.4; 22.4; 4.56.2; 5.68.

4; 6.15.7; 7.66.18; 8.46.4; 9.9.4; 10.66.8, आदि। इन्द्र की विजयों के उल्लेख के बावजूद यह दुहराया जाता है कि उनका न तो कोई शत्रु कभी था, न आज है, और न ही उन्होंने कभी किसी से युद्ध किया। ऋ. 10.27.2, आदि।

178. देखें पृ. 49 तथा 81 पर वैदिक शत्रुओं के पर्याय।

179. इन्द्रं शुद्धः नः आ गहि शुद्धः शुद्धाभिः ऊतिभिः।
शुद्धः रयिं नि धारय शुद्धः ममद्धि सोम्यः॥
इन्द्र शुद्धः हि नः रयिं शुद्धः रत्नानि दाशुषे।
शुद्धः वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धः वाजं सिसाससि॥ ऋ. 8.95.7-8

180. ऋ. 1. 67.1; 70.6; 77.3; 124.3; 2.3.6; 27.3; 6; 3.18.1; 5.12.6; 80.4; 6.9.5; 15.16; 7.37.4; 43.2; 8.77.11; 10.80.4; 81.7, आदि।

181. मा कस्य अद्भुतक्रत यक्षं भुजेम तनूभिः। मा शेषसा मा तनसा।
ऋ. 5.70.4;

मा भ्रातुः अग्ने अनृजः ऋणं वेः मा सख्युः दक्षं रिपोः भुजेम। ऋ. 4.3.13; मा वः एनः अन्यकृतं भुजेम...ऋ. 6.51.7; मा वः भुजेम अन्य जातं एनः। ऋ. 7.52.2

182. हत वृत्रं सुदानवः इन्द्रेण सहसा युजा। मा नः दुःशंसः ईशत। ऋ. 1.23.9

183. घना इव विष्वक्र वि जहि अरावमः तपुः जम्भ यः अस्म-ध्रुक।
यः मर्त्यः शिशीते अति अक्तुभिः मा नः सः रिपु ईशत॥ ऋ. 1.36.16

184. मा नः अरातिः ईशत देवस्य मर्त्यस्य च। पर्षि तस्याः उत् द्विषः॥
ऋ. 2.7.2

185. मा नः दुःशन्सः अभिदिप्सु ईशत प्र सुशंसाः मतिभिः तारिषीमहि॥ ऋ. 2.23.10

186. अदेवेदन मनसा यः रिषण्यति शासां उग्रः मन्यमानः जिघांसति।
बृहस्पते मा प्रणक् तस्य नः वधः नि कर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः॥
ऋ. 2.23.12

187. मा वः स्तेनः ईशत मा अघशंसः परि वः हेतिः रुद्रस्य वृज्याः। ऋ. 6.28.7

188. अदब्धेभिः सवितः पायुभिः त्वं शिवेभिः अद्य परि पाहि नः गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्ष माकिः नः अघशंसः ईशत॥ ऋ. 6.71.3

189. ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नः द्यावा पृथिवी अनेहसा।
पूषा नः पातु दुरितात् ऋतवृधः रक्ष माकिः नः अघशंस ईशत॥
ऋ. 6.75.10

190. अथ. 3.15.1

191. ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा-पृथिवी संचरन्ति ।
ते मां जुषन्ता पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनं आहराणि ।। अथ. 3.15.2

192. शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु । अथ. 3.15.4

193. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवाः धनं इच्छमानः । अथ. 3.15.5; 6

194. स नः प्रजासु आत्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि । अथ. 3.15.7; अब इस पक्ष को सामने रखते हुए देखें, पूषन्, हमारे लाभ के लिए गवेषणा पर जाने वाले लोगों को संभालो, तुम दूर देश में भी प्रख्यात हो,'इमं च नः गवेषणं सातये सीसधः गणं । आरात् पूषन् असि श्रुतः ।' ऋ. 6. 56.5; और मित्रावरुण तुम्हारे अनुग्रह मे गविष्टि के लिए मरुद्गण कल्याण भाव से रथ को अच्छी तरह जोतते हैं...'रथं युंजते मरुतः शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु ।' ऋ. 5.63.5, आदि ।

195. आ नः गव्येभिः अश्व्यैः सहस्रैः उपगच्छतम् । अन्ति सत् भूतु वां अवः ।।
ऋ. 8.73.14;
मा नः गव्येभिः अश्व्यैः सहस्रेभिः अति ख्यतम् । अन्ति सत् भूतु वां अवः ।।
ऋ. 8.73.15

196. 6.19.9; 10.42.11; 43.11; 44.11, आदि ।

197. उत स्म आसु प्रथमः सरिष्यन् नि वेवेति श्रेणिभिः रथानाम् ।
स्रजं कृण्वानः जन्यः न शुभ्वा रेणुं रेरिहत् किरणं ददश्वान् ।।
...तुरं यतीषु तुरयन् नृजिप्यः अधि भ्रुवोः किरते रेणुं ऋंजन् ।।
ऋ. 4.38.6-7

198. स दुन्दुभे सजूः इन्द्रेण देवैः दूरात् दवीयः अप सेध शत्रून् ।
आ क्रंदय बलं ओजः नः आ धा निः स्तनिहि दुरिता बाधमानः ।
अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुनाः इतः इन्द्रस्य मुष्टिः असि वीलयस्व ।।
आमूरज प्रति-आवर्तय इमाः केतुमत् दुन्दुभिः वावदीति ।
समश्वपर्णाः चरन्ति नः नरः अस्माकं इन्द्र रथिनः जयन्तु ।।
ऋ. 6.47.29-31

199. समानं चित् रथं आतस्थिवांसा नाना हवेते सः जनासः इन्द्रः । ऋ. 2.12.8

200. यस्मात् न ऋते विजयन्ते जनासः यं युद्धमानाः अवसे हवन्ते । ऋ. 2.12.9

201. ऋ. 8.5.37; 8.46.28; 29; 31

202. उत एनं आहुः समिथे वियन्त परा दधिक्रा असरत् सहस्रैः । ऋ. 4.38 9
देखें, 6.60.14; 10.160.5 भी ।

203. प्र यत् समुद्रं अति शूर पर्षि पारय तुर्वशं यदुं स्वस्ति । ऋ. 1.174.9; 6.10.12;
उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः । इन्द्र विद्वान् अपारयत ।

ऋ. 4.30.17

यः आनयत् परावतः सुनीतिं तुर्वशं यदुं । इन्द्र सः नः युवा सखा ।।

ऋ. 6.45.1

येन अवः तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम् । राये सु तस्य धीमहि ।।

ऋ. 8.7.1४, आदि ।

204. सायण ने अपने भाष्य में जिस अन्तर्कथा का उल्लेख किया है उसके अनुसार तुग्र स्वयं यात्रा पर गये हुए थे और वहाँ वह शत्रुओं से घिर गये थे । अपनी सहायता के लिए उन्होंने भुज्यु को बुलाया था । भुज्यु अपनी सेना लेकर जा रहे थे, पर इस यात्रा के समय उनकी नौका दुर्घटनाग्रस्त हो गयी थी । फिर उन्होंने अश्विनीकुमारों का स्तवन किया था और अश्विनीकुमारों ने अपने जहाज़ में बैठाकर भुज्यु को लगातार तीन दिन और तीन रात की यात्रा के बाद तुग्र के पास पहुँचाया था । पर यह कथा कुछ असंगत है । तुग्र का अनिच्छापूर्वक भुज्यु को भेजना उनकी ओर से आमन्त्रण का सूचक नहीं लगता । इसके अतिरिक्त समुद्र में दस्युओं से घिर जाने के बाद बचाव के लिए इतना समय मिलने का प्रश्न नहीं उठता ।

205. 1.112.6; 20; 117.14; 119.4; 4.27.4; 6.62.6; 7.68.7; 69.7; 8.22.2; 46.20; 10.40,7; 65.12; 95.8; 143.5; भुज्यु का पोत नष्ट हो गया था इसकी सूचना ऋ. 1.119.4 में भी मिलती है ।

206. अग्निना तुर्वशं यदुं परावतः उग्रादेवं हवामहे ।
अग्निः नयत् नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सह ।। ऋ. 1.36.18

207. दिवः पुत्राः अंगिरसः भवेम अद्रिं रुजेम धनिनं शुचंतः । ऋ. 4.2.15
ऋतेन अद्रिं वि असन् भिदन्तः सं अंगिरसः नवन्त गोभिः । ऋ. 4.3.11, आदि ।

208. त्वं रथं एतशं कृत्व्ये धने त्वं पुरः नवन्ति दम्भयः नव । ऋ. 1.54.6

209. ऋज्राश्वः प्रष्टिभिः अम्बरीषः सहदेवः भयमानः सुराधा । ऋ. 1.100.17
याभिः रेभं निवृतं सितं अद्भ्यः उत् वन्दनं एरयतं स्वः दृशे ।
याभिः कण्वं प्र सिसासन्तं आवतं ताभिः ऊँ सु ऊतिभिः अश्विना गतम् ।।
याभिः सुचन्ति धनसां सुसंसदं तप्तं धर्मं ओम्यावन्तं अत्रये ।
याभिः पृश्निगुं पुरुकुत्सं आवतं...।।
याभिः सिन्धुं मधुमन्तं असश्चतं वसिष्ठं याभिः अजरौ अजिन्वतम् ।
याभिः कुत्सं श्रुतर्यं आवतं...।।
याभि विश्पलां धनसां अथर्व्यं सहस्रमीड़हे आजौ अजिन्वतम् ।
याभिः वशं अश्वयं प्रणिं आवतं...।।
याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधुकोशः अक्षरत् ।।

याभिः सूर्यं परियाथः परावति मन्धातारं क्षेत्रपत्येषु आवतम् ।
याभिः विप्रं भरद्वाजं आवतं...।।
याभिः महाँ अतिथिग्वं कशः-जुवं दिवोदासं शम्बर हत्ये आवतम् ।
याभिः पूर्भिद्ये त्रसदस्युं आवतं...।।
याभिः वम्रं विपिपानं उपस्तुतं कलिं याभिः वित्तजानिं दुवस्यथः ।
याभिः वि-अश्व्यं उत् पृथिं आवतं...।।
याभिः पठर्वा जठरस्य मज्मना अग्निः न अदीदेत् चितः इद्धः अज्मन् आ ।
याभिः शर्यातं अवथः महाधनै...।।
याभिः अंगिरः मनसा निरण्यथः अग्रं गच्छथः विवरे गो-अर्णसम् ।
याभिः मनुं शूरं इषा सं-आवतं...।।
याभिः कुत्सं आर्जुनेयं शतक्रतू प्र तुर्वीतिं प्र च दभीतिं आवतम् ।
याभिः ध्वसन्तिं पुरुसन्तिं आवतं ताभिः ऊँ सु ऊतिभिः अश्विना आ गतम् ।

ऋ. 1.112.5; 7; 9-11; 13-18; 23

210. वसिष्ठं ह वरुणः नावि आ-अधात् ऋषिं चकार सु-अपां महोभिः । ऋ. 7.88.4, आदि ।

211. विश्वामित्रः यत् अवहत् सुदासं अप्रियायत कुशिकेभिः इन्द्रः । ऋ. 3.53.9; 3.33.9-11, आदि ।

212. दण्डा इव इत् गो अजनासः आसन् परिच्छिन्नाः भरता अर्भकासः ।
अभवत् च पुरः एता वसिष्ठः आत् इत् तृत्सूनां विशः अप्रथन्त ।।

ऋ. 7.33.6

वसिष्ठस्य स्तुवतः इन्द्रः अश्रोत् उरुं तृत्सुभ्यः अकृणोत उ लोकम् ।।

ऋ. 7.33.5

213. यथा चित् कण्वं आवतं प्रियमेधं उपस्तुतम् । अत्रिं शिंजारं अश्विना ।
यथा उत कृत्व्ये धने अंशुं गोषु अगस्त्यम् । यथा वाजेषु सोभरिम् ।।

ऋ. 8.5.25-26

214. दश ते कलशानां हिरण्यानां अधीमहि । भूरिदा असि वृत्रहन् ।।
भूरिदा भूरि देहि नः मा दभ्रं भरि आ भर । भूरि घ इत् इन्द्र दित्सति ।।
भूरिदाः हि असि पुरुत्रा शूर वृत्रहन् । आ नः भजस्व राधसि ।

ऋ. 4.32.19-21

215. 1.29.2; 81.4; 101.10; 3.32.1; 36.10; 5.54.11; 6.44.14; 17.7; 7.25.3; 99.7; 8.7.25, आदि ।

216. हतः वृत्राणि आर्या हतः दासानि सत्पती । हतः विश्वा' अप द्विषः ।

ऋ. 6.60.6

217. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परे अवरे उभयाः अमित्राः । समानं चित् रथं

आतस्थिवांसा नाना ह्वेते स जनासः इन्द्रः। ऋ. 2.12.8

218. शतं अहं तिरिन्दिरे सहस्रं पर्शाबा ददे। राधांसि याद्वानाम।। ऋ. 8.6.46

219. सं समित युवसे वृषन् अग्ने विश्वानि अर्य आ।
इड़स्पदे समिध्यसे सः नः वसूनि आ भर।।
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वः मनांसि जानताम्।
देवाः भाग यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
समानः मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तं एषाम्।
समानं मन्त्रं अभि मन्त्रये वः समानेन वः हिविषा जुहोमि।।
समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानं अस्तु वः मनः यथा वः सुसहासति।। ऋ. 10.191

220. स नः दूरात् च असात् च नि मर्त्यात् अघायोः पाहि सदं इत् विश्व-आयुः।।
ऋ. 1.27.3

न किः तं घ्नन्ति अन्तितः न दूरात् यः आदित्यानां भवति प्रणीतो।
ऋ. 2.27.13, आदि।

221. तिस्रः नासत्या रथ्या परावतः आत्मा इव वातः स्वसराणि गच्छतम्।
ऋ. 1.34.7

अर्वावतः नः आ गहि अथो शक्र परावतः। ऋ. 3.37.11 आदि।

222. वही।

223. आ नः इन्द्रः दूरात् आ नः आसात् अभिष्टिकृत अवसे यासत् उग्रः।
ऋ. 4.20.1, आदि।

224. वयं हि ते अमन्महि आ अन्तात् आ पराकात्। अश्वे न चित्रे अरुषि।
ऋ. 1.30.21, आदि।

225. यह ख़याल विवियन सेंट मार्टिन को सूझा था। मैक्समूलर ने (सै. बु. ई. सी. 32, 61 और आगे) विस्तार से चर्चा करते हुए इस मान्यता का खण्डन किया था। लास्सन, त्सिमर आदि ने भी इसे दबे स्वर में स्वीकार किया था। विल्सन (ऋग्वेद 1, पृष्ठ 41वाँ) ने तो बहुत विश्वास से और प्रमाण-पूर्वक यह दावा किया था कि न केवल वैदिक जन समुद्र से परिचित थे, अपितु उनके व्यापारी समुद्री व्यापार में भी प्रवृत्त थे, पर विलसन को भी इस बात का सही अनुमान नहीं हो सकता था कि यह कितना व्यापक था।

226. राजा समुद्रं नद्यः विगाहते। ऋ. 9.46.6; समस्य मन्यवे विशः विश्वा नमन्त कृष्टयः। समुद्राय इव सिन्धवः। ऋ. 8.6.4; अग्ने धृतव्रताय ते समुद्राय इव सिन्धवः। गिरः वाश्रासः ईरते। ऋ. 8.44.25; समुद्रेण सिन्धवः यादमाना इन्द्राय समं सुषुतं भरन्तः। ऋ. 3.36.7, आदि।

227. 1.116.5; 182.6

228. अध यत् एषां नियुतः परमः समुद्रस्य चित् धनयन्ति पारे ।। ऋ. 1.167.2

229. अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णा अविदत् जरितारम् । ऋ. 7.89.4
पिबतं ज तृष्णुतं च आ च गच्छतं प्रजा च धत्तं द्रविणं च धत्तम् ।...
जयतं च प्र स्तुतं च प्र च अवतं···
हतं च शत्रून् यततं च मित्रिणः प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम् ।
सजोषसौ ऊषसा सूर्येण च ऊर्जं नः धत्तं अश्विना ।। ऋ. 9.35.10-12

230. देखें, 1.24.10

231. वेद यः वीनां पदं अन्तरिक्षेण पततां । वेद नावः समुद्रियः । ऋ. 1.25.7; 10.165.1-4

233. पालों के लिए पत्व, पर्ण, अश्व आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऋ. 1.116.4

234. 1.116.5

235. 3.3.4; 3.26.7; 7.87.2; 9.92.14; 10.95.17, आदि।

236. त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातं अर्वाक् । ऋ. 1.118.2;
त्रिवन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा रथेन यातं अश्विना । ऋ. 1.47.2

237. आ वां रथः अश्विना श्येन-पत्वा सुमृड़ीकः स्ववान् यातु अर्वाक् ।
यः मर्त्यस्य मनसः जवीयान् त्रिवन्धुरेण वृषणा वातरंहाः ।। ऋ. 1.118.1

238. क्व त्री चक्रा त्रिवृतः रथस्य का त्रय वन्धुरः ये सनीड़ा ।
कदा योगः वाजिनः रासभस्य येन यज्ञं नासत्या उपयाथः ।। ऋ. 1.34.9

239. त्रयः पवयः मधुवाहने रथे सोमस्य वेनां अनु विश्वे इत् विदुः ।
त्रयः स्कभासः स्कभितासः आरभे त्रिः नक्तं याथः त्रि अश्विना दिवा ।।
ऋ. 1.34.2

240. अनश्वः जातः अन-अभीशुः उक्थ्यः रथः त्रिचक्रः परिवर्तते रजः ।
ऋ. 4.36.1

241. दुर्गाचार्य, निरु. 5.4.23 और सायण ऋ. 54.12 पर भाष्य ।

242. 1.118.1

243. अप्-जां उक्थ्यैः अहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजः सु सीदन् । ऋ. 7.34.16

244. 1.116.4; 118.1

245. सद्यः जंघां आयसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रति अधत्तम् ।
ऋ. 1.116.15

246. याभिः विश्पलां धनसां अथर्व्यं सहस्रमीलहे आजौ अजिन्वतम् ।
ऋ. 1.112.10

247. च्यवनः च्यावयिता । निरु. 4.3.19. इसकी व्युत्पत्ति 'च्युङ् गतौ' से भी की गयी है, जो और भी उपयुक्त है ।

248. वस्तुतः च्यवन को युवा बनाने के सन्दर्भ में इस अद्भुत कारनामे की प्रशंसा यह कह कर की गयी है कि उसे रथ की तरह पुनः चलने योग्य बना दिया : युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनः युवानं चरथाय तक्षथुः । ऋ. 10.39.4 यहाँ रथ की तरह चलने के लिए प्रयोग के साथ गढ़ा 'तक्षथुः' प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है।

249. 1.117.13; 118.6; 5.75.5, आदि में इसी तरह के अन्य मिथकीय वृत्तों के साथ व्यक्तिनाम के रूप में च्यवन का उल्लेख इसी वात का सूचक है।

250. 10.30.4

251. 4.34.5; 35.1; 8; 37.1; 8.35.15

252. ततक्षन् नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम् । ऋ. 1.20.3 रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठाम् । ऋ. 4.33.8, आदि ।

253. 4.36.1

254. आ एनं नयत् मातरिश्वा परावतः देवेभ्यः मथितं परि । ऋ. 3.9.5

255. अमृतं हि एतत् अमृतेन क्रीणाति यत् सोमं हिरण्येन । शतब्रा. 3.3.3.6; अमृतं हिरण्यम् । तैब्रा. 1.7.6.3; 8.1; शतब्रा. 6.7.7.2

256. ह्वीलर, पूर्व., 1953, 60

257. सः नः पर्षत् अति दुर्गाणि विश्वा नावा इव सिन्धुं दुरिता अति अग्निः । ऋ. 1.99.1

258. रथं न दुर्गात् वसवः सुदानवः विश्वस्मात् नः अंहसः निः पिपर्तन ॥ ऋ. 1.106.1-6

259. वि यत् अज्रान् अजथ नावः ईं यथा वि दुर्गाणि मरुतः न अह रिष्यथ ॥ ऋ. 5.54.4

260. सः नः वक्षत् अनिमानः सुवह्या इन्द्रः विश्वानि अति दुर्गहाणि । ऋ. 6.22.7

261. परि नः वृणजन् अघा दुर्गाणि रथ्यः यथा । ऋ. 8.47.5

262. न अहं अतः निः अय दुर्गहा एतत् तिरश्चता पार्श्वात् निर्गमानि । बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युद्धयै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥ ऋ. 4.18.2

263. यत् इन्द्र सर्गे अर्वतः चोदयासे महाधने । असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येना इव श्रवस्यतः । ऋ. 6.46.13

264. यत् विद्वांसा निधिं अपगूढ़हं उत् दर्शतात् ऊहथुः वन्दनाय । ऋ. 1.116.11

265. अभि नक्षतः अभि ये ते आनशुः निधिं पणीनां परमा गुहा हितम् । ऋ. 2.24.6

मयोभुवा सरथा आ यातं अर्वाक् गतं निधिं धुर आणि: न नाभिम्।
ऋ. 5.43.8

266. अप ज्योतिषा तम: अन्तरिक्षात् उद्गा शीपालं इव वात आजत्
बृहस्पति: अनुमृश्य वलस्य अभ्रं इव वात: आ चक्रे आ गा: ।।
ऋ. 10.68.5

267. वि पर्वतस्य दृंहितानि ऐरयत् । ऋ. 2.15.8; इन्द्र: दृड्हा चित् आरुजत् ।
ऋ. 3.45.2

268. भिनत् वलं इन्द्र: अंगिरस्वान् । ऋ. 2.11.20; इन्द्र यत् अभिनत् वलं ।
ऋ. 8.14.7

269. उद्गा: आजत् अंगिरोभ्य: आविष्कृण्वन् गुहा सती । अर्वांच नुनदे वलम् ।
ऋ. 8.14.8

270. करेण इव वि चकर्त रवेण । ऋ. 10.67.6; रुजन् अरुग्णं वि अलस्य सानुम्।
ऋ. 6.39.2

271. त्वं वलस्य गोमत: अप अव: अद्रिव: बिलम् । ऋ. 1.11.5; सरण्युभि: फलिगं इन्द्र शक्र वलं रवेण दरय: दशग्वै: । ऋ. 1.103.4; वलं रुरोज फलिगं रवेण । ऋ. 4.50.5

272. आ शर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम् । ऋ. 8.31.10
आ शर्म पर्वतानां उत अपां वृणीमहे । ऋ. 8.18.16

273. आ याहि पर्वतेभ्य: समुद्रस्य अधि विष्टप: ।...
आ न: गव्यानि अश्व्या सहस्रा शूर दर्दृहि ।...
आ न: सहस्रश: भर अयुतानि शतानि च ।
दिव: अमुष्य शासत: दिवं यय दिवावसो ।।
आ यत् इन्द्र: च दद्वहे सहस्रं वसु-रोचिष: । ओजिष्ठं अश्व्यं पशुम् ।।
य अज्रा: वात-रंहस: अरुषास: रघुस्यद: । भ्राजन्ते सूर्या इव ।।
पारावतस्य रातिषु द्रवत् चक्रेषु आशुषु । तिष्ठं वनस्य मध्ये आ ।।
ऋ. 8.34.13-18

274. मित्र: अध्वर्यु: इषिर: दमूना: मित्र: सिन्धूनां उत पर्वतानाम् ।
ऋ. 3.5.4

275. या पर्वतेषु ओषधीषु अप्सु या मानुषेषु असि तस्य राजा । ऋ. 1.59.3

276. यत् इन्द्राग्नी दिवि स्थ: यत् पृथिव्यां यत् पर्वतेषु ओषधीषु अप्सु ।
ऋ. 1.108.11

277. अधारय: पर्वते दानुमत् वसु: । ऋ. 1.51.4

278. सुगा उत ते सुपथा पर्वतेषु । ऋ. 6.64.4

279. देखें आगे, 'समुद्र मन्थन' ।

280. ऋ. 4.38; 39 व 40
281. अप्सु योनि: वा अश्व: । तैब्रा. 3.8.4.3; अप्सुजा उ वा अश्व: । शतब्रा. 7.5.2.18
282. इस दृष्टि से निम्न कुछ अंश रोचक प्रतीत होंगे :
ये पन्थान: बहव: देवयाना: अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनं आहराणि ।। अथ. 3.15.2
यत् हविष्यं ऋतुश: देवयानं त्रि: मानुषा: परि अश्वं नयन्ति ।
ऋ. 1.162.4
अन्तर्विद्वान् अध्वन: देवयानान् अतन्द्र: दूत: अभव: हवि: वाट् ।
ऋ. 1.72.7
मा व: ध्नन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देवयन्तम् । सुम्नै: इत् व: आ विवासे ।
ऋ. 1.41.8
283. यत् स्थ: दीर्घ प्रसद्मानि यत् वा अद: रोचने दिव: ।
यत् वा समुद्रे अधि आ-कृते गृहे अत: आ यातं अश्विना ।। ऋ. 8.10.1
284. आप: न द्वीपं दधति प्रयांसि । ऋ. 1.169.4
285. वि द्वीपानि पापतन् तिष्ठत् दुच्छुना । ऋ. 8.20.4
286. 8.33.19
287. 1.134.4
288. 5.47.6
289. मार्शल, पूर्व., 1, 32-33; पिगट, पूर्व., 210
290. ओटो श्रेडर, ऐंटीक्विटीज़ ऑफ़ दि आर्यन पीपुल्स, 1972, सं. 330-37
291. देखें, मैकडनेल, 'वासस्', वैदिक इण्डेक्स, 1962, 2, 326; आप्टे, दि वैदिक एज, 1965, 393-94; मैकडनेल ने इस बात की चर्चा नहीं की है कि वैदिक जन सूती वस्त्रों से परिचित नहीं थे। उनके अनुसार, "कपड़े अकसर भेड़ के ऊन से बिने जाते थे। (तु. की. ऊर्णा); पूषन देवता को 'वस्त्रों का बुनने वाला' (वासो-वाय) कहा गया है, क्योंकि इनका आकृतियाँ निर्माण करने के साथ सम्बन्ध है। धारण किये जाने वाले परिधान अकसर कढ़े होते थे, और मरुतों को स्वर्ण से अलंकृत परिधान धारण किये हुए बताया गया है। जहाँ अश्वों और स्वर्ण का दान करने के साथ वस्त्रों का दान करने का उल्लेख है, वहाँ सम्भवत: कढ़े हुए वस्त्रों का ही तात्पर्य है। भारतीयों के अलंकार-प्रेम के ऋग्वेद में अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिसकी मैगस्थनीज़ ने भी अपने समय में पुष्टि की है। ऋग्वेद में 'सु-वसन' और 'सु-रभि' जैसी उपाधियाँ भी मिलती हैं, जिनसे वस्त्रों के अच्छे लगने अथवा शरीर के ठीक नाप से सिले हुए होने का तात्पर्य है।" वही, 326-

27. मैकडनेल की मान्यता को दूसरे शब्दों में रखें तो कह सकते हैं कि ऋग्वेद से एक उन्नत वस्त्र-उद्योग की पुष्टि होती है और इस पर जरी आदि के काम इसे एक मूल्यवाल और पण्यमाल बनाने के लिए काफ़ी हैं। यदि ऊन का स्पष्ट उल्लेख आया है तो इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि मध्येशिया के क्षेत्र को भेजी जाने वाली वस्तुओं में ऊनी वस्त्र भी रहे होंगे। चूँकि अन्यत्र भी, जैसा हम देख आये हैं, व्यापारी वर्ग से सम्बन्धित वस्तुओं का ही अधिक उल्लेख है अतः, सम्भव है, ऊनी वस्त्रों का उल्लेख विशेष रूप से आया हो। यद्यपि ऊर्णा, जिसका ऋग्वेद में दो बार उल्लेख आया है, ऊन का सूचक नहीं लगता। सायण ने 5.52.9 में इसका अर्थ 'दीप्ति' और 4.22.2 में 'आच्छादक' माना है। ऊर्ण का प्रयोग सूत के अर्थ में भी होता रहा है और इसी से मकड़ी का नाम 'ऊर्णनाभ' पड़ा है। जो भी हो, जहाँ तक वस्त्र-उत्पादन का सम्बन्ध है, इसका स्तर ऊँचा था। एक स्थल पर आश्चर्यजनक धागों 'दंसु रश्मिषु' से वस्त्र बुनने का उल्लेख, आश्चर्यजनक रूप से बारीक वस्त्रों के चलन का द्योतक लगता है(1.134.4) और इस कल्पना का आधार बारीक सूती वस्त्र ही हो सकता है।

कुछ अध्येता ऊनी और सूती के फ़र्क़ को लेकर ऋग्वैदिक काल को हड़प्पा से इतना अधिक पीछे खींच ले जाते हैं कि हड़प्पा काल सूत्र काल के समकक्ष आ जाता है। देखें, के.डी. सेठना, कार्पास इन प्रीहिस्टॉरिक इंडिया, 1981. नकारात्मक प्रमाणों का उपयोग किसी अध्येता को किन तार्किक परिणतियों पर पहुँचा सकता है, इनकी यह एक अच्छी मिसाल है।

जहाँ तक वस्त्रों के निर्यात का प्रश्न है, यह स्वीकार किया जाता है कि पश्चिमी जगत को कपास और सूती वस्त्र का परिचय भारतीय व्यापारियों से ही मिला था, यद्यपि क्रैमर (के.डी. सेठना को लिखित पत्र, उद्धृत, पृ. 4) के अनुसार अक्कादियन पट्टिकाओं पर प्रयुक्त शब्द 'सिन्धु' न होकर 'शितु' है, जिसका अर्थ किंचित अनिश्चित है, पर सम्भवतः इसका प्रयोग विशेष रूप से विनिर्मित ऊन या वस्त्र (स्पेशली प्रासेस्ड वूल ऑर गार्मेंट) के लिए होता रहा है। क्रैमर के कथनानुसार इस बात की हर सम्भावना है कि इनमें से कुछ का चलन प्राचीन बैबीलोनी काल में, अर्थात् लगभग 1800—1600 ई. पू. के लगभग था। इस शितु शब्द से ही अंग्रेज़ी का—शिट—भी निकला है जिसका भारतीयकरण छींट है और जो सूती वस्त्र के लिए ही प्रयोग में आता रहा है।

292. देखें, पृ. 128 व पृ. 143, परिशिष्ट 189-96

293. हड़प्पा के मनकों, या कहें वैदिक मणियों और रत्नों का निर्यात इसके व्यापारिक सम्पर्क के देशों में होता था। रत्न जिनमें लाजवर्द और फ़ीरोज़ा

हड़प्पा के सन्दर्भ में सार्थकता रखते हैं, मध्येशिया फरस और अफ़ग़ानिस्तान से प्राप्त किये जाते थे। इनका स्थानीय स्तर पर तो उपयोग होता ही था, पश्चिमी एशिया की सभ्यता को भी इनका निर्यात होता था। देखें, शशि अस्थाना, 'हिस्ट्री ऐंड आर्कियालॉजी ऑफ़ इंडियाज कांटैक्ट्स विद अदर कंट्रीज़', 1979, 31, 44, 55, 57, 69, 70, 77, 82, 83, 100, 101, 104, आदि; 'हड़प्पन ट्रेड इन मेटल्स ऐंड मिनरल्स', हड़प्पा सिविलाइज़ेशन, 1982, 271-85, आदि।

294. देखें पीछे, 'आर्थिक आधार'। एक स्थल पर अलक्ष्मी या दरिद्रता दूर करने के प्रसंग में नदी में बहती हुई लकड़ी का उल्लेख ऋग्वेद में आया है।

295. 7.59.12; 8.19.24; विशेषतः 5.1.6, जिसमें हवि के प्रसंग में सुरभि का उल्लेख है।

296. 7.55.8; गन्धर्वों से सुगन्धित द्रव्यों का विशेष रूप से प्रेम रहा लगता है, जो उनके नामकरण का भी कारण प्रतीत होता है। इसको मातृसत्ताक या स्त्रियों का विशेष रूप से प्रेमी और संगीत आदि का शौकीन माना जाता रहा है। ये उनके सम्भावित ग्राहकों में रहे लगते हैं।

297. ऋ. 10.85.7

298. वही, और 1.173.6; 8.14.5; 9.71.1; 10.85.8; मैकडनेल लिखते हैं, "ओप एक सन्दिग्ध शब्द है जो ऋग्वेद, अथर्ववेद, और कभी-कभी बाद में भी आता है। इसका अर्थ सम्भवतः एक 'वेणी' है, जिसका केशमार्जन के लिए विशेषतः स्त्रियाँ प्रयोग करती थीं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पहले पुरुष भी इसका प्रयोग करते थे।...'पृथुष्टक' (चौड़ी वेणीवाला), और विषित्.ष्टुक (ढीली वेणीवाला) में क्या अन्तर था, विशेषणों में इंगित प्रवेणी तथा ओपश में क्या अन्तर है, यह उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर निश्चित नहीं किया जा सकता।" वैदिक इंडेक्स, 1.130.40

299. 1.114.5; 5.55.2; 7.83.8

300. बैशम, पूर्व., 26; यजु. 1.16

301. 2.43.1-3; सायण ने इसका अर्थ कपिंजल किया है जो पुनः कुछ दुरुह है। 'उद्गातेव शकुने साम गायसि' से इसके तोता या मैना होने की ही पुष्टि होती है। हड़प्पा के अवशेषों में पक्षियों के पिंजड़े भी मिले हैं, जो कुछ पक्षियों को पोसने के चलन का प्रमाण है।

302. मोर के निर्यात का उल्लेख जातक कथाओं से पहले नहीं मिलता, पर इसका यह अर्थ लेना उचित नहीं कि इसका निर्यात ठीक उसी समय आरम्भ हुआ होगा जब इसका प्रथम उल्लेख मिलता है। ऋ. में मयूर का उल्लेख 3.45.1; 8.1.25, आदि में आया है।

303. घोड़ा वैदिक जनों की खरीद और बिक्री दोनों मदों में रहा हो सकता है।

304. भारत से निर्यात होने वाले पशुओं में ऊँट और विशेषतः दो कूबड़ वाला ऊँट भी शामिल रहा है। बुखारी मुकद्दसी के अनुसार, जिनकी पुस्तक का हवाला मौलाना सैयद सुलेमान नदवी द्वारा दिया गया है, ऐतिहासिक कालों में भी अरब और ईरान आदि में अच्छी नस्ल के ऊँटों के लिए सिन्ध से ऊँट मँगाकर संकर नस्ल तैयार की जाती थी। अहसनुत् तकासीम फी मारफितल अकालीम, बुखारी मुकद्दसी, लीदन, पृ. 474-82, नदवी द्वारा उद्धृत 1929, 65; देखें, रालिसन, इंटरकोर्स बिटविन इंडिया एंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, 1916, 93-94; अस्थाना, हिस्ट्री एंड आर्कियालोजी ऑफ़ इंडियाज़ कान्टैक्ट विद अदर कंट्रीज, 1976, 189 भी।

305. हाथी को उपयोग में लाने की सूचना इसके सन्दर्भ में अंकुश (ऋ. 10.44.9) के प्रयोग से मिलती है। यहाँ हाथी का पर्याय शफारुज अर्थात् 'पाँव से रौंदने वाला' आया है।

306. 1.84.17; 4.4.1; 9.57.3 आदि।

307. 8.33.8

308. मैकाय, 1937, 2, 94 और ह्वीलर, 1953, 92

309. देखें, सांकलिया, 1962, 60

310. भगवान सिंह, आइडेंटिफ़िकेशन ऑफ़ सोम, पुरातत्व, 1982-83

अध्याय छह

वैदिक उद्यमियों के खनिज स्रोत

वैदिककालीन व्यापार और वाणिज्य पर विचार करते हुए हम देख आये हैं कि कैसे व्यापारिक सार्थों के लिए प्रयुक्त विविध शब्दों को भ्रमवश युद्ध का पर्याय माना जाता रहा और इसके आर्थिक पक्ष को सही सन्दर्भ न दे पाने के कारण इस युद्ध को ही लूट-पाट करार दे दिया गया। ऐसा करने के लिए हम आधुनिक अध्येताओं को बहुत अधिक दोष नहीं दे सकते। इन विविध शब्दों का अर्थ परम्परागत रूप में युद्ध के ही परिप्रेक्ष्य में किया जाता रहा और इनके सन्दर्भों को देखते हुए विजय की अपेक्षा धन-लाभ ही इनका प्रधान लक्ष्य प्रतीत होता है, अतः आधुनिक अध्येताओं को सीधा विकल्प लूट-पाट का ही दिखायी दे रहा था। इस आग्रह के कारण वैदिक जनों के यात्रा-पथों में होने वाली लूट-पाट की घटनाओं को भी, जिनके वास्तविक भुक्तभोगी वे स्वयं थे और जिनके विवरणों में वे स्पष्टतः अपने को लुटने वाला और अपने शत्रुओं को लुटेरा कह रहे थे, इनके द्वारा किये गये हमलों आदि के रूप में कल्पित किया जाता रहा है।

परन्तु इनकी क्रियाशीलता का एक क्षेत्र ऐसा था जिसने वैदिक अध्येताओं को निरन्तर भटकाया है; कारण, इसकी व्याख्या न तो लूट-पाट की मान्यता से हो सकती थी, न ही आक्रमण और युद्ध के व्याज से। यह है बलूचिस्तान से लेकर मध्येशिया पर्यन्त के क्षेत्र में वैदिक उद्यमियों का खनन कर्म। जहाँ व्यापार की बात को ही अस्वीकार किया जाता रहा हो वहाँ खानों की खुदाई की ओर ध्यान जाने का प्रश्न ही नहीं था और इस सूत्र को समझे बिना पणियों द्वारा छिपायी गयी गायों के उद्धार की या वल के भेदन की कथा का पूरा मर्म उद्घाटित ही नहीं हो सकता था। अतः इन रहस्यमय गायों को जल, किरण, स्वर्गीय खजाना आदि विभिन्न लाक्षणिक आशयों में ग्रहण करके इस प्रसंग की व्याख्या के प्रयत्न किये जाते रहे, और इसके बावजूद भी यह अनुभव किया जाता रहा कि इनमें से कोई भी व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। इन विशेष प्रसंगों में गो का अर्थ और जो कुछ भी हो, गाय

नहीं है, यह प्राचीन भाष्यकारों से लेकर आधुनिक विद्वानों तक सभी मानते रहे हैं।

वस्तुत: इस रूपकीय विवरण की कठिनाई यह है कि इसकी कोई ऐसी व्याख्या सन्तोषजनक नहीं जो सकती हो अंगिराओं, मरुतों, इन्द्र, पणियों, गायों और वल के चरित्रों से एक साथ मेल न खा सके और उन सभी ब्यौरों पर कसने पर खरी न उतर सके जो इनके विषय में ऋग्वेद में पाये जाते हैं।

इनमें अंगिराओं के विषय में हम नवग्वों और दशग्वों पर विचार करते हुए यह देख आये हैं कि इनके नव और दश महीनों के यज्ञ-सत्र ऐसे आर्थिक अभियान थे जिन पर सम्भवत: मार्गदर्शक या व्यापारियों के प्रतिनिधि की हैसियत से वैदिक ऋषिगण भी जाते रहते थे। वल के रूपक में मार्गों की खोज और दर्रों के एक पक्ष का भी हम उल्लेख कर आये हैं और साथ ही यह संकेत कर आये हैं कि इसका एक पक्ष खानों की खुदाई से सम्बन्ध रखता है। इस दूसरे पक्ष पर, और पणियों और मरुद्गणों वाले पहलू पर, हम यहाँ विचार करेंगे।

मरुद्गण—ऋग्वेद-काल तक मरुद्गण दो गतिविधियों से जुड़े दिखायी देते हैं। इनमें से एक है कृषि[1] और दूसरा व्यापार।[2] यास्क ने निघण्टु में मरुत् को हिरण्य के पर्यायों में गिनाया है।[3] हिरण्य के पर्यायों में समस्त धातुएँ आ जाती हैं। ऐसी दशा में यह सोचना ग़लत नहीं होगा कि मरुद्गणों का सम्बन्ध खनन कार्य से और सार्थों में शामिल होने वाले वैश्यों या सामान्य व्यापारियों से हो सकता है। इस विशेष दृष्टि से मरुद्गण का अर्थ खानकर्मी भी किया जा सकता है।

व्यापारिक सार्थों में शामिल होने वाले सदस्यों की स्थिति एक जैसी हुआ करती थी, जो बिरादरी की आम अवधारणा में भी देखी जा सकती है, जिसमें अमीर-ग़रीब सभी एक दर्जे के समझे जाते हैं। यही कारण है कि मरुद्गणों को हर दृष्टि से बराबर माना जाता है जिनमें न तो कोई ज्येष्ठ है, न कनिष्ठ, न मध्यम।[4] इस विशिष्टता के कारण और इनके जत्थों में या सार्थों में चलने के कारण कुछ अध्येताओं को यह लगता है कि ये स्थानीय आबादी से निकले हुए और आर्यों के भृत्य वर्ग में शामिल लोग हैं जिनमें कबीलाई ढाँचा अभी बाकी रह गया है।[5] पर अज्येष्ठ, अकनिष्ठ आदि होने के साथ ही मरुद्गण सुजात भी हैं और इन्हें विश्ववेद्स या हर तरह से सम्पन्न और विश्वदेवों का प्रतिरूप (यंजन्तु त्वा मरुतो विश्ववेद्स इति युंजन्तु त्वा देवा इति एव एत्त् आह। शतब्रा. 5.1.4.9) तथा मरुत् को ऋत्विक् का भी पर्याय माना गया है[6] और ऋत्विक् का अर्थ है ऋतुकाल में गमन करने वाला या यजन करने वाला (ऋत्विक् ईरण: ऋक्यष्टा भवति इति शातपूणि:। ऋतुयाजी भवतीति वा। नि. 3.19)। इस दृष्टि से इनका नवग्वों और दशग्वों से अभेद हो जाता है।

मरुद्गणों का नेतृत्व इन्द्र करते हैं या वे इन्द्र-ज्येष्ठ हैं।[7] सोना-चाँदी और मणियों के विविध आभूषण पहनने का इन्हें बहुत शौक है।[8] इनके हथियारों में

धनुष और वाण आते, हैं[9] पर साथ ही इनको अनेक औज़ारों से, जिनमें ऋष्टि[10], वज्र या पवि[11], दात्र[12], वाशी[13] और कृति[14] आदि आते हैं, सज्जित दिखाया जाता है। इन औज़ारों में से कुछ का उपयोग पर्वतों को तोड़ने या पथरीली मिट्टी और चट्टानों को तोड़ने और खुदाई करने के लिए किया जाता रहा लगता है। कारण, इनको प्रायः पर्वतों को तोड़ते हुए दिखाया गया है।[15] इनके चलने से धरती काँपती है और आकाश थर्राने लगता है। उनको पहाड़ी रास्तों से जिनमें तरह-तरह की चढ़ाई-उतराई आती है—आपथ, विपथ, अन्तस्पथ, अनुपथ—से गुज़रते दिखाया गया है।

इस तरह हम पाते हैं कि मरुतों का उन उत्साही नौजवानों से पूरा सादृश्य है जो मालामाल होने के लिए लम्बी यात्राओं पर निकलते थे और सुदूर व्यापार के अतिरिक्त जिनका सम्बन्ध खानों की खुदाई से भी था।

वल—वल शब्द पर हम पीछे कुछ विचार कर आये हैं। यहाँ इस विषय में मैकडनेल की टिप्पणी को ही रखना उपयोगी होगा। वे लिखते हैं, "यह शब्द ऋग्वेद में लगभग चौबीस बार आया है और नियमित रूप से इन्द्र और उनके सहयोगियों, विशेषतः अंगिरसों, द्वारा गौओं को मुक्त कराने से सम्बन्धित है। तैत्तिरीय संहिता (2.1.5.1) में इन्द्र को वल का बिल खोदने वाला कहा गया है। परन्तु ऐसे अनेक सूक्त हैं जिनमें इस शब्द का मानवीकरण नहीं किया गया है। इन मामलों में मूल अर्थ आवरण (कवरिंग) या गुफा (केव) प्रतीत होता है।...कहा गया है कि इन्द्र ने गायों को बाहर निकाला और वल को खोला (अपावर्) या वल के उस विवर को खोल दिया (अपावर्) जिसमें गायें बन्द थीं। पंचविंश ब्राह्मण में असुरों की गुहा (वल) का उल्लेख आया है जो पत्थर से बन्द थी। अनेक ऋचाओं में इस शब्द का मूल या मानवीकृत भाव हो सकता है। इन्द्र के विशेषण 'वल रुज्' (वल भंजक) में जो वृत्रखाद (वृत्र विनाशक) के ठीक बाद आता है, बाद वाला भाव हो सकता है। मानवीकृत आशय की ओर संक्रमण 3.30.10 में प्रकट होता है जिसमें वल को गोष्ठ (व्रज) कहा गया है, जिसने इन्द्र के प्रहार से बचने के लिए अपने को खोल दिया था। यह मानवीकरण पूरी तरह विकसित नहीं हो पाया है, यह इन्द्र और दूसरों की उस कार्रवाई से प्रकट होता है जो वे वल पर प्रहार करते समय करते हैं जिसे 'भिद्' तोड़ना और कभी-कभी 'दृ' फाड़ना या 'रुज्' खण्डित करना द्वारा तो व्यक्त किया गया है, पर जैसा कि वृत्र के मामले में किया गया है, 'हन्' मारना द्वारा नहीं। वल के साथ 'भिद्' का सम्बन्ध 'वलभिद्' में सुरक्षित है जो उत्तरवैदिक साहित्य में इन्द्र का अकसर प्रयोग में आने वाला पर्याय है।"[17]

स्पष्ट है कि वल का सम्बन्ध किसी व्यक्ति या असुर से नहीं है। इसे वैदिक कवियों की उक्ति-वैचित्र्य की भूख ने खनिज भण्डारों तक पहुँचने वाले मार्ग या सुरंग से उठा कर मानवीकृत रूप दे दिया, पर जिसकी पहचान, इसके बावजूद,

उनके अपने विवरणों में उभरती रहती है। मैंकडनेल ने इन दोनों पहलुओं को कुछ इस रूप में पेश किया है मानो प्राथमिक विवरण बिलकुल वस्तुपरक रहे हों और इन्हें बाद में ही मानवीकृत किया गया हो और इस अगले चरण पर इसकी पहली पहचान मिट सी गयी हो'। पर हमें ऐसा लगता है कि काव्यात्मकता का यह पुट आरम्भ से ही था और बहुत बाद तक भी इसके वस्तुगत रूप की पहचान साफ़ बनी हुई थी जैसा कि उनके अनुसार भी तैत्तिरीय संहिता और पंचविंश ब्राह्मण से प्रकट होता है, पर कालक्रम से इसमें कुहरिलता अवश्य आती गयी जो वालि की कथा में देखी जा सकती है जिसमें एक असुर का पीछा करते हुए उसके सुरंग या विवर में प्रवेश के विवरण में उसके अपने नाम और पीछा किये जाने वाले के असुरत्व का विशाखन हो गया है।

हड़प्पा सभ्यता के व्यापारी बलूचिस्तान से लेकर पूर्वी मध्येशिया तक की खनिज सम्पदा का उत्खनन और उपयोग कर रहे थे और अब पिछले कुछ दशकों में सामने आने वाले प्रमाणों से जाहिर है कि इन खनन कार्यों में उनकी पहल ही नहीं थी, अपितु कुछ क्षेत्रों पर उनका एकाधिकार भी कायम हो चुका था।[18] इन विभिन्न खनिज पदार्थों की खानों और खुदाइयों के विषय में हमें बहुत स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त है, पर अफ़ग़ानिस्तान की लाजवर्द की खानों के विषय में ए. नासिर ने जो कुछ लिखा है वह वल की कथा को समझने में उपयोगी हो सकता है। उनके द्वारा दी गयी सूचना के अनुसार लाजवर्द संगमर्मर की मोटी चट्टानों के नीचे पायी जाती है। बदख्शाँ की लाजवर्द की खानों में इसके टुकड़े एक ग्राम से लेकर एक अंडे के आकार तक के पाये जाते हैं। सारीसुंग क्षेत्र में पुर-दारा और रोबत के चरागाहों के बीच पुरदर्रा घाटी (दर्रा शब्द का अफ़ग़ानी में अर्थ होता है घाटी) में एक का जो विवरण उन्होंने दिया है उसके अनुसार खान घाटी के तल से 350 मीटर की चढ़ान पर संगमर्मर की मोटी पर्त को काट कर निकाली गयी है। इसमें कई गलियारे खोदे गये हैं, जिनमें उत्तर की ओर जाने वाला गलियारा तो कई हज़ार वर्ष पहले खोदा गया था और इसकी खुदाई लम्बे समय तक चलती रही थी। यह सुरंग 75 फुट लम्बी है जिसके अन्तिम सिरे पर एक विशाल गुफा-सी बन गयी है। इस गुफा की चौड़ाई 10 मीटर, लम्बाई 34 मीटर और ऊँचाई फ़र्श से 25 मीटर है। यहाँ खनन क्षेत्र 6 से 8 मीटर तक गहरा है। खुदाई करने वालों को खुदाई के लिए इस क्षेत्र तक पहुँचने के लिए एक पतली सुरंग का प्रयोग करना पड़ता था।[19]

नासिर कुछ दूसरी खानों का भी उल्लेख करते हैं जिन तक पहुँचने का रास्ता अधिक कठिन है और जिनकी ऊँचाई भी बहुत अधिक है। उदाहरण के लिए, प्रोरा में स्थित चलमक खान घाटी से 450-500 मीटर के चढ़ान पर स्थित है। वह आगे लिखते हैं, "प्राचीन काल में टोहपरक खननों के प्रयोग लगभग संगमर्मर

की सभी चट्टानों पर किये गये थे। उन्हें जहाँ कहीं भी लाजवर्द का तनिक भी आसार दिखायी देता वे गड्ढे और सुरंगें खोदना शुरू कर देते थे। इसी तरह की एक प्रायोगिक सुरंग सारीसुंग घाटी में मूल खानों के निकट पूर्व-पश्चिम के रुख में खोदी गयी है। इन खननों को चार गर्तों में, जो विविध आकारों के हैं, पूरा कर लिया गया था। ये लगभग 20 से 50 मीटर लम्बी टीह्परक सुरंगें हैं जो डेढ़ से तीन मीटर गहरी और डेढ़ से तीन मीटर चौड़ी हैं।[20]

लाजवर्द की इन खानों के विषय में इस सूचना के बाद हम आसानी से समझ सकते हैं कि गुहाहित या गूढ़ निधि के उद्धार की जो कहानी ऋग्वेद में इतने आवेग के साथ बार-बार दुहरायी जाती है उसका सम्बन्ध किन निधियों से हो सकता है? मरुतों, अंगिराओं, इन्द्र और अग्नि के पर्वतों को तोड़ने, भेदने, इनमें छेद करने का प्रयोजन क्या है? यह प्रयोजन मन्त्रांशों में भी प्रायः स्पष्ट होकर आया है, जैसे मरुतों के प्रसंग में 'तुविद्युम्नासः धन्यन्ते अद्रिम्', 'वाजे अद्रि मरुतः रन्धयन्तः' और अंगिराजों के प्रसंग में,'दधन् ऋतं धनयन् अस्य धीतिभिः'[21], आदि में धन या खनिज सम्पदा के लिए पर्वतों की खुदाई के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। पर धन के लिए इसके एक अन्य पर्याय 'गो' के उल्लेख धन या निधि की तुलना में कुछ अधिक आये हैं, अतः धन को भी भाष्यकारों ने गोवाची मान लिया जब कि सन्दर्भ और प्रसंग को देखते हुए और इस तथ्य को देखते हुए कि गो शब्द स्वयं धन का पर्याय है और इस रूप में इसका प्रयोग होता आया है, इसे खनिज सम्पदा का भी सूचक माना चाहिए था। पर इसके साथ उस मनोबाधा का भी हाथ कम नहीं है जिसके चलते परम्परागत व्याख्याकार ऋग्वेद से यथासम्भव आध्यात्मिक अर्थ की तलाशते रहे हैं और जहाँ भौतिक पक्ष स्पष्ट है वहाँ भी इसे रहस्यात्मक बनाकर तरह-तरह के आशय ढूँढ़ते रहे हैं और आधुनिक विद्वान जिन्होंने वैदिकों को पशुचारी आदि मान रखा था, यह भूलकर भी सोचने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे कि खानों की खुदाई जैसे उद्यम में स्वयं वैदिकों की पहल हो सकती थी। वल के मानवीकरण के बावजूद नये मण्डलों में भी यह बात कतई भुलायी नहीं गयी है कि यह सुरंगों और खानों के गर्भ का ही मानवीकृत रूप है। उदाहरण के लिए, इसे स्पष्टतः 'बिल'[22] और विवर[23] तो कहा ही गया है, साथ ही इसे लगभग नियमित रूप से गुहा कहा गया है।[24] इन लम्बी सुरंगों से गुज़रते हुए अंधेरे में जिस गहरी असुरक्षा और भय की अनुभूति होती रही होगी और दिन ढलने के समय जो आकुलता बनी रहती रही होगी कि रोशनी कुछ अधिक देर तक बनी रहे, इन सुरंगों को तय करके पुनः रोशनी में आने पर जिस सन्तोष और उल्लास की अनुभूति होती रही होगी इसे उन विभिन्न उक्तियों में देखा जा सकता है जिनमें अन्धकार में जाने से भय, अन्धकार की जगह प्रकाश को चुनने, लम्बे समय तक सूर्य के दिखायी देने[25], अन्धकार से प्रकाश में जाने या

ले जाये जाने[26] की उत्कट कामनाएँ व्यक्त की गयी हैं। मैक्समूलर ने कहा था कि ऋचाओं की तो बात ही नहीं, ऋग्वेद के सूक्त-के-सूक्त हमारे लिए निपट दुर्बोध (डेड लेटर) बने रहेंगे।[27] हम कह आये हैं कि इस दुर्बोधता का उतना बड़ा कारण भाषा की दुरूहता नहीं है जितनी इनको सही सन्दर्भ न दे पाना और अब हम पाते हैं कि वल की इस कथा के मर्म को समझते ही दसियों सूक्तों का मर्म उद्‌घाटित हो जाता है; कारण, वल की कथा केवल उन्ही सूक्तों या मन्त्रों में नहीं आयी है जिनमें बल शब्द का प्रयोग हुआ है अपितु यह उन सूक्तों और मन्त्रों में भी दुहरायी गयी है जिनमें अंगिराओं (नवग्वों, दशग्वों) और पणियों के हवाले आये हैं। ऐसे बहुत-से मन्त्र जिसमें इनके नाम नहीं आये हैं पर जिनमें गायों के उद्धार का रूपक मात्र आया है या जिनमें मरुतों के शौर्य की चर्चा है, इस खनन उद्योग की छाया लिये हुए हैं। आज इसकी कल्पना करना भी कठिन है कि यह उपक्रम जिसके हवाले इतने अधिक मन्त्रों में आये हैं अपने समय में कितना आकर्षक, व्यस्ततापूर्ण और चुनौती-भरा रहा हो सकता है।

वल की इस कथा का मर्म खुलने पर कुछ दूसरे प्रसंग भी अधिक बोधगम्य हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब गो का एक अर्थ खनिज द्रव्य भी हो जाता है और खनन अभियान को भी असुरों पर विजय के रूप में या विजय के लिए प्रस्थान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब गविष्टि और गवेषण जैसे शब्दों का अर्थ न केवल बदल जाता है, अपितु यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिन्हें युद्ध-अभियान समझा जाता रहा है उनमें बिना किसी अपवाद के भारी लाभ की बात क्यों की जाती है। जहाँ किसी एक व्यक्ति के धन को इन्द्र द्वारा दूसरे को दे देने के उल्लेख हैं, वहाँ इनकी एक नयी व्याख्या भी सम्भव दिखायी देती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी भी क्षेत्र में आरम्भिक टोहपरक खनन करने के बाद एक दल ने निराश होकर आगे की खुदाई छोड़ दी हो और इसके बाद किसी दूसरे ने इसके बावजूद इस क्षेत्र को सम्भावनापूर्ण मान कर काम शुरू किया हो और उसे बहुत स्वल्प आयास से ही खनिज भण्डार मिल गया हो तो इस लाभ को क्या कहेंगे? जिन लम्बी टोहपरक खुदाइयों के उल्लेख नासिर ने किये हैं उनमें अपना पूरा मौसम खराब करने और खाली हाथ लौटने वालों और दूसरी ओर अपने उपक्रम में सफल होने वालों के भाग्य को देखते हुए पुरोहितों के इस प्रचार का कि दानशील, यज्ञपरायण और उदार व्यक्तियों को ही धन मिलता है और देवता उन्हें कृपण, अनुदार और अयजनशील व्यक्ति के हिस्से का भी धन दे देते हैं, एक नया पक्ष सामने आता है, जिसे लड़ाई-झगड़े वाले नुक्ते से समझा ही नहीं जा सकता था। हमने यह सुझाया है कि व्यापारिक सार्थों के साथ ऋषि माने जाने वाले लोग भी जाते दिखायी देते हैं। वैदिक मानसिकता को देखते हुए यह सोचना ग़लत नहीं होगा कि नये स्थलों पर खनन आरम्भ करने से पहले या पिछले

मौसम में जहाँ तक काम पहुँचा था उसे नये मौसम में आगे बढ़ाने से पहले मुहूर्त करने या पूजा-पाठ जैसा कुछ विधान अवश्य किया जाता रहा होगा और अन्य बातों के अलावा एक पुरोधा का अभियान दल के साथ जाना इसलिए भी जरूरी समझा जाता रहा होगा।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण है ऋग्वेद की भौगोलिक परिधि। अभी तक इस पर दो तरह की प्रतिक्रियाएँ रहीं हैं। कुछ विद्वान, जिनमें से हिल्लेब्रांट एक हैं, यह मानते रहे हैं कि ऋग्वेद की रचना के दो ही नहीं तीन चरण हैं, अर्थात् पुराने मण्डलों में से भी कुछ अधिक पुराने मण्डल, जैसे छठा मण्डल, हैं जिनकी रचना उस समय हुई थी जब आर्य अभी भारत में नहीं आये थे और फिर भारत में रचे गये शेष ऋग्वेद में नये और पुराने मण्डलों का सवाल आता है। इनकी समझ के अनुसार ऋग्वेद आमू दरिया के क्षेत्र से लेकर भारत तक की घटनाओं और जनों को समेटता है जिनमें पुराने मण्डलों का सम्बन्ध तो आमू दरिया क्षेत्र या कहें बदख्शाँ और मध्येशिया के क्षेत्र तक सीमित है, क्योंकि इस समय तक आर्य भारत में पहुँचे ही नहीं थे, पर नये मण्डलों की रचनाओं की परिधि में यह पूरा क्षेत्र आता है क्योंकि इस समय तक आर्य भारत में तो आ ही चुके थे और आमू दरिया क्षेत्र के अनुभव भी परम्परालब्ध रूप में रचनाकारों को प्राप्त थे। दूसरी ओर, अधिकांश विद्वान जो समूचे ऋग्वेद की रचना भारत में ही सम्पन्न मानते रहे हैं, इसके विवरणों को खींच-तान कर भारतीय भूभाग तक ही और इसके भी पंजाब तक ही सिमटा मानते रहे हैं और असुरों, दासों, मित्रों और शत्रुओं सभी की पहचान इसी दायरे में करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। व्यापार और वाणिज्य के प्रसंग में हमने जो कुछ कहा है और विशेष रूप से वैदिक खान उद्योग से जो तसवीर उभरती है वह उक्त दोनों ही सरलीकरणों का निषेध करती प्रतीत होती है। पहली मान्यता के विपरीत हम पाते हैं कि ऋग्वेद की रचना निरपवाद रूप में भारत में हुई थी और बहुत पहले से भारत में ही आबाद जनों के अपने बुद्धिजीवियों द्वारा ही हुई थी और दूसरे के विपरीत हम पाते हैं कि इसमें उन गतिविधियों और उनके दौरान अर्जित अनुभवों को भी समेटा गया है जिनका सम्बन्ध भारत से बाहर के, और वह भी दूरस्थ, देशों से था, अतः इसमें वर्णित घटनाओं को इस व्यापक दायरे में ही समझा जा सकता है और इस दायरे को छोटा करने का कोई भी प्रयत्न मूल पाठ को समझने में तदनुरूप बाधा उत्पन्न करता है।

इस प्रसंग में हिल्लेब्रांट द्वारा उनकी पुस्तक **वैदिक माइथॉलॉजी** के भाग एक में दिये गये तर्कों और प्रमाणों पर कुछ रुक कर विचार करना जरूरी है। हिल्लेब्रांट अपने उक्त निष्कर्ष पर मुख्यतः दो कारणों से, या कहें अपनी समझ से दो कारणों से, पहुँचे हैं। वह एक लम्बी जाँच-पड़ताल और उतनी ही लम्बी तर्कशृंखला से यह नतीजा निकालते हैं कि सोम वैदिकों का एक अति प्राचीन

पेय था जो उस समय प्रचलित था जब वे भारत में नहीं पहुँचे थे और इसकी सुलभता उनके पश्चिमोत्तर भारत में बसे रहने तक जारी थी, पर जब वे और पूर्व की ओर खिसक गये तो यह सुलभ नहीं रह गया और बाद की कृतियों में इसके उल्लेख मात्र अपनी पवित्र परम्परा की आवृत्ति हैं। सोम का मूल क्षेत्र वह आमू दरिया का क्षेत्र मानते हैं।[28] ब्राह्मणों में पणियों से सोम खरीदने के कर्मकाण्डीय हवालों को देखते हुए वह पणियों की शिनाख्त और उनके निवास का निर्धारण इस पुस्तक के परिशिष्ट एक में करते हैं और जैसा कि स्वाभाविक है इन्हें भी उसी क्षेत्र का निवासी सिद्ध करते हैं।

सोम की वानस्पतिक पहचान और इसके प्रतीकात्मक अर्थ की जटिल समस्या पर हिल्लेब्रांट ने जो कुछ कहा है उसकी तफ़सील में जाना यहाँ सम्भव नहीं है, पर कुछ असंगतियों का ध्यान उन्होंने नहीं रखा है, यह तो उनके लम्बे विवेचन पर सरसरी नज़र डालने पर भी पता चल जाता है। उदाहरण के लिए, यदि पश्चिमोत्तर भाग में और वह भी मध्यदेश में बसने के समय तक भी सोम उपलब्ध था तो कम-से-कम इस क्षेत्र के लिए तो यह बाद में भी उपलब्ध रह ही सकता था। फिर सूत्रकाल तक भी सोम का क्रय-विक्रय जारी था[30], जो हमें इस विषय में सचेत करने के लिए पर्याप्त है कि इस काल में भी सोम की पहचान लुप्त नहीं हुई थी। यदि इसने एक असाधारण महत्व और विचित्र अर्थ पा लिया तो यह अर्थ इसे वैदिक काल से पहले ही मिल चुका था और इस प्रतीकात्मक अर्थ ने ही इसके वानस्पतिक रूप को कुहरिल बना दिया। हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि हिल्लेब्रांट स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि वैदिक जनों के लिए सू—का अर्थ सोम का रस निकालने से कहीं अधिक गहन था।[31]

पणि शब्द का अर्थ हिल्लेब्रांट से पहले के व्याख्याकारों ने कंजूस और यज्ञविरत व्यापारी, आदिवासी, संचरणशील व्यापारी, लोभी, असुरों के खज़ाने पर पहरा देने वाले आदि के रूप में किया था।[32] वह इस दृष्टि से ऋग्वैदिक उद्धरणों को पेश करते हुए यह दिखाते हैं कि पणि संचरणशील व्यापारी नहीं हो सकते थे और फिर इनको दासों से अभिन्न और इन्द्र के आराधकों और सोम सेवन करने तथा दक्षिणा देने वालों से मतभेद रखने वाले रूप में कल्पित करते हैं जो स्तेपी के मैदान में बसे हुए थे और जिनकी पहचान ग्रीक लेखकों ने पनियनों के रूप में की है। वह पाते हैं कि पणियों का सबसे अधिक ज़िक्र छठे मण्डल में आया है जिसके पुरोहित भारद्वाज थे और इनके प्रधान संरक्षक दिवोदास थे जो सरस्वती तट के राजा थे और छठे मण्डल की सरस्वती अर्कोसिया की हरौती थी। उनके ऐसा मानने के अनेक कारणों में से एक यह था कि छठे मण्डल में जिस सरस्वती का वर्णन आया है वह मध्यदेश की सरस्वती जैसी कोई मामूली (इंसिग्निफ़िकेंट लिटिल स्ट्रीम) नहीं हो सकती जो बाद में सूख गयी थी। रसा को वह आमू दरिया मानते

हैं। सरस्वती तट के राजा दिवोदास को वह अर्कोसिया में राज करता दिखाते हैं, जहाँ ही उसकी शत्रुता पणियों से हो सकती थी। दिवोदास को वह दास कबीले का राजा मानते हैं और इस मामले में वह पणियों के ही गोत्र का था और दोनों में फ़र्क मात्र धार्मिक रीति-विधान का था और इसे छोड़कर, ज़ाहिर है, आर्यों और दासों में कोई फ़र्क नहीं रह जाता। इसी तरह बृबु, बृसय, पारावत आदि की भी रोचक व्याख्याएँ उनके द्वारा दी गयी हैं।

हिल्लेब्रांट नतीजा निकालते हैं, "ऋग्वेद में वर्णित कुछ घटनाएँ सिन्धु से पश्चिम अर्कोसिया और इसके पड़ोस के ईरानी क्षेत्र में घटित हुई थीं और शत्रुओं में एक क़बीला पनियनों का था जिसका उल्लेख बाद के कालों में अकसर आता रहता है।"[33] "दिवोदास निश्चय ही अर्कोसिया की हरौती (हेराक्वती) के तट पर अर्थात् एक ऐसे क्षेत्र में रहते रहे होंगे जिस पर पनियनों के, जो कि इससे उत्तर या उत्तर-पश्चिम में रहते थे, हमले होते रहते थे।" "यदि दिवोदास के नाम से निकाला गया हमारा यह निष्कर्ष सही है कि वह स्वयं भी दास था तो ज़ाहिर होगा कि वह अपने ही कबीले के सदस्यों से राड़ ठाने बैठा था। ...दास-राजा दिवोदास ने पनियनों के क़बीले से अर्कोतस के तट पर युद्ध किया और भरद्वाज उसके सहायकों में थे।"[34] दिवोदास के वंशधर सुदास "एक विजेता के रूप में पूर्व की ओर बढ़ते हुए उस क्षेत्र में पहुँचे जहाँ विश्वामित्र और वसिष्ठ के परिवार रहते थे जिनमें से विशेषतः वसिष्ठ को मालूम था कि इस शक्तिशाली विदेशी की कृपा कैसे प्राप्त की जा सकती है।"[35] और "हमारी इस परिकल्पना से सिद्ध होगा कि आर्यों के एक पूर्ववर्ती आव्रजन के बाद दासों के नेतृत्व में एक नया आव्रजन हुआ। हम सम्भवतः तृत्सुओं को पहले के बाशिन्दों का प्रतिनिधि मान सकते हैं।"[36] हिल्लेब्रांट के अनुसार पुरु भी पहले दिवोदास के पड़ोस में अर्कोसिया के पास रहते रहे होंगे, क्योंकि शम्बर को उन्होंने भी अग्नि वैश्वानर की सहायता से हराया था।[37] साथ ही भरद्वाज जो दिवोदास के पुरोहित थे वे ही पुरुओं के भी पुरोहित थे[38] अतः, "पुरु या उनका एक हिस्सा दिवोदास की राजधानी से अधिक दूर नहीं बसा रहा होगा और ऋ. 7.8.4 में एक पुरु पर भरतों की विजय की घोषणा है, अतः पुरुओं ने अपना राज्य यमुना और परुष्णी तक फैला रखा रहा होगा और लगता है वे भरतों से अलग ज़बान बोलते थे। ऋ. 7.18.13 में उन्हें मृध्रवाच कहा गया है जिसका अर्थ है 'विदेशी भाषा बोलने वाला,' न कि भर्त्सनापूर्ण कथन करने वाला।"[39] और भाषा का यह अन्तर हैरत की बात नहीं है, खास तौर से तब जब कि भरत उस क्षेत्र में पुरुओं के बाद आव्रजित हुए हों।[40]

वल के इस प्रसंग में पणियों के साथ-ही-साथ दिवोदास और पुरुवंश तक के बड़े दायरे को समेटने की और इस पर विचार करने की बाध्यता इसलिए उत्पन्न

होती है कि ये सवाल एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं और इनके बीच संगति स्थापित करना जरूरी है।

हिल्लेब्रांट की इस तर्कपद्धति और उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्षों या उनके द्वारा लगायी गयी अटकलों को अनेक विद्वान खासा महत्व देते हैं। यद्यपि कीथ ने बहुत पहले ही इसे अमान्य कर दिया था, पर हिल्लेब्रांट ने अपने पक्ष को कुछ और युक्तियाँ देते हुए पुनः दुहराया था।[41]

ऋग्वेद में पणियों को कहीं व्यापार करते नहीं दिखाया गया है, अतः हम हिल्लेब्रांट से इस मामले में आंशिक सहमति प्रकट कर सकते हैं कि पणि शब्द को 'पण्-वण्' से व्युत्पन्न मानने के कारण इन्हें व्यापारी मान लिया गया है। परन्तु पणियों को पर्नियन क़बीला मानने और इन्हें आमू दरिया के निकट और वहीं बसा हुआ सिद्ध करने के लिए हिल्लेब्रांट ने जिस तर्क का सहारा लिया है उसमें भी इकहरापन है। वह छठे मण्डल की ही उस ऋच के उत्तरार्ध को जानबूझ कर नज़र, अन्दाज कर गये हैं जिसके पूर्वार्द्ध का उपयोग उन्होंने पणियों का सम्बन्ध बृबु से कायम करने के लिए किया है और जो पणियों की पहचान के लिए बहुत महत्व रखता है। यह है "उरुः कक्षो न गांग्यः।" स्पष्टतः भरद्वाजों का सम्बन्ध भारत से था और यदि छठें मण्डल को सबसे पुराना माना जाये तो भी इस मण्डल के रचनाकार गंगा के कछार से परिचित थे और उपमा के रूप में भी पणियों का और बृबु का यहाँ उल्लेख, यदि पणियों को एक क़बीले के रूप में लें तो, उनकी भौगोलिक स्थिति को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

पणियों की शिनाख्त के लिए ऋग्वेद में आये इनके विवरणों को भी पेश करते हुए हिल्लेब्रांट खींच-तान से काम लेते हैं। उदाहरण के लिए, प्रथम मण्डल में इनका उल्लेख नव बार, छठे में बारह बार और दसवें में पन्द्रह बार आया है। इसके विपरीत दूसरे और तीसरे मण्डल में पणि शब्द का प्रयोग केवल एक-एक बार, पाँचवें और नवें में केवल दो-दो बार, चौथे और सातवें में तीन-तीन बार हुआ है। हिल्लेब्रांट यह सिद्ध करने के लिए कि छठे मण्डल में पणि शब्द का प्रयोग किसी अन्य मण्डल की तुलना में अधिक बार हुआ है, दसवें मण्डल के एक पूरे सूक्त को अलग कर देते हैं। उसके अनुसार पणियों के साथ शत्रुता या विरोध दिवोदास तक रहती है और शेष परम्परा का पालन है। छठे मण्डल में पणियों के जो विवरण हैं वे अधिक ठोस हैं, बाकी अस्पष्ट और वायवीय हैं।[42]

जहाँ तक प्राचीनता का प्रश्न है, छठे मण्डल को ऋग्वेद में सबसे पुराना माना जा सकता है। पर यह कथन ठीक नहीं है कि इसमें आये शम्बर, पणिगण तथा अन्य विवरण ही ऐतिहासिक हैं। वास्तविकता यह है कि ऋग्वेद की रचना श्रुति-लब्ध वृत्तों को आधार बनाकर की गयी और इसका नाम 'श्रुति' पड़ने का यही कारण है। दूसरे शब्दों में कहें तो, वर्तमान की बड़ी-से-बड़ी घटना इन कवियों के

लिए विशेष महत्व नहीं रखती। वही घटना जब लोक, विश्रुत होकर एक लीजेंड या आख्यान का रूप ले लेती है तब वह इन कवियों के उपयोग की वस्तु बनती है।[43] देश-काल और पात्रों की बहुत धुँधली पहचान, अतिरंजित विवरण आदि का एक प्रधान कारण यही है। अतः यदि कहीं भी कोई ठोस जानकारी मिल जाती है तो इसे एक सुखद सुयोग ही कहा जा सकता है। छठे मण्डल में इस दृष्टि से जो ठोस सूचना मिलती है उनमें से एक है गंगा के कछार का उल्लेख और दूसरा है सरस्वती के सन्दर्भ में पणियों और दिवोदास का उल्लेख।

हिल्लेब्रांट के लिए मध्यदेश की सरस्वती को सरस्वती न मानने के दो कारण थे। एक तो उन जैसे कुछ दूसरे भी लोग थे जो यह देखकर कि सरस्वती आसमुद्र प्रवाहित होती थी यह सुझा रहे थे कि सिन्धु का ही पुराना नाम सरस्वती था, जिसका अन्तरण आर्यों के मध्य देश की ओर बढ़ने के साथ मध्यदेश की एक नदी पर हो गया जिसे वह अग्राह्य पाते हैं।[44] फिर वह मानते हैं कि एक ऐसी नदी जो सूख सकती थी वह बड़ी नदी नहीं रही हो सकती जब कि छठे मण्डल की सरस्वती एक विशाल और ओजस्वी नदी है, अतः वह इसे खींच-तान कर हरौती सिद्ध करना चाहते हैं। यदि उन्हें अपने समय तक इस नदी के सम्बन्ध में प्रकाशित विवरणों का भी ज्ञान नहीं था जिनसे इसकी सूखी हुई धारा से भी इसके एक ऐसी विशाल नदी रहे होने का पता चलता है जो समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित होती थी[45] तो इसमें दोष किसका है? सातवें मण्डल की सरस्वती को वह मध्यदेश की सरस्वती मानते हैं। यदि इसी पर उन्होंने समुचित ध्यान दिया होता तो वह यह तो स्वीकार करते ही कि उनके पुराने छठे मण्डल के काल की मामूली और छोटी-सी रेगिस्तान में सूख जाने वाली मध्यदेश की सरस्वती इस बाद के सातवें मण्डल के काल तक समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित होती थी। उन्हें इसे अर्कोसिया पहुँचाने की ज़हमत मोल न लेनी पड़ती।

दिवोदास और सुदास के साथ दास उपपद को देखकर उन्होंने, और उन्हीं के सहारे कुछ अन्य विद्वानों ने, इन्हें दास क़बीले का राजा सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है वह भी तर्कसंगत नहीं है। यदि यह गण या क़बीले के नाम का द्योतक था जो व्यक्ति-नाम के साथ जुड़ता था तो दिवोदास का प्रधान नाम हुआ 'दिव' और सुदास का 'सु' जिनके साथ गण-नाम दास लगा हुआ है। दिवोदास के पिता वध्र्यश्व और सुदास के पिता पिजवन के नाम के साथ वह क़बीलाई नाम नहीं दिखायी देता। कहें, यह एकान्तर क्रम से जुड़ता चलता है। आखिर क्यों?

दास शब्द उस मूल से निकला है जिससे दंस, दस्म, दस्र आदि शब्द निकले हैं। सायण दास का अर्थ सामान्यतः उपक्षयिता करते हैं, पर अनेक स्थलों पर वह इसका अर्थ कर्महीन या अकर्म करते हैं जब कि दंस, दस्म, दस्र वाले वर्ग में कर्म वाले भाव को प्रधानता देते हैं। इसका मूल दम्, दस् मारना, काटना, तोड़ना रहा

है, पर वैदिक काल तक यह गढ़ना, बनाना, तोड़ना, काम करना आदि जैसे आशयों को भी विकसित हो चुका था और दास प्रवर्ग जैसे प्रयोग में[46] यह स्पष्ट है कि सेवक वर्ग के लिए भी दास शब्द का प्रयोग हो रहा था। हम यह सुझा आये हैं कि ऋग्वेद के राजा माने जाने वाले व्यक्तियों में अधिकांश मात्र व्यापारी रहे लगते हैं। दास उपपद सवर्णों में वैश्यों में अधिक लोकप्रिय रहा है जिनके घोषित आदर्श नम्रता, धर्मकातरता और दानशीलता आदि रहे हैं। अतः रामदास और धरमदास से लेकर चरनदास तक जैसे नाम पूरी वैश्व परम्परा में पाये जा सकते हैं और इसे दिवोदास—स्वर्ग का सेवक या देवताओं का सेवक, सुदास—अच्छा सेवक, में भी देखा जा सकता है। दास का मूल हिंसा, छेदन, खंडन, दमन वाला भाव अंग्रेज़ी के 'डैश' में आज तक सुरक्षित है। यदि अपने व्यापारिक प्रसार के दौरान किन्हीं क़बीलों को उपद्रवी पाकर इन व्यापारियों ने उनके लिए विशेषण के तौर पर इसका प्रयोग करना आरम्भ किया, जो ही इनका प्रसिद्ध नाम बन गया, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। नाम किसी को भी प्रायः दूसरों द्वारा दिये जाते हैं। हिन्द को हिन्द और यहाँ के निवासियों को हिन्दू यहाँ की भाषा को हिन्दी या इन्दी नाम भी बाहर वालों ने ही दिया था जो इस तरह चिपक कर रह गया है कि अपने मूल (सिन्धु) से इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया है।

अब हम पणियों और उनके उस खज़ाने पर विचार कर सकते हैं जिस पर वे पहरा देते हैं और जिसकी ओर पीटर्सबर्ग कोश, और बर्गेन आदि ने तथा परम्परागत व्याख्याकारों ने संकेत किया है, और मुख्यतः जिसके कारण ही इसके साथ कंजूसी वाला भाव जुड़ गया है।[47] कुछ स्थलों पर सायण ने पणि का अर्थ वल के अनुचर 'वलस्यानुचरा असुराः पणयः' किया है।[48] अन्यत्र प्रायः 'पणन्' खरीदना से पणि कंजूस और लोभी वणिक आशय लिया है। पणियों के असाधारण धनी होने की बात एकाधिक स्थलों पर की गयी है, पर यहाँ भी इनकी कृपणता का भाव बराबर बना हुआ है।[49] एक स्थल पर इन्हें दिन गिनने वाला सूदखोर 'अहर्दृश बेकनाट' कहा गया है।[50] तीन-चार स्थलों पर इनकी निष्ठुरता की या इनके न पसीजने की चर्चा है।[51] 'पण् वण्' का मूल अर्थ खरीदना नहीं 'अपितु तोड़ना' फोड़ना है, जिससे वितरण, व्यवहार और इस तरह पणन और विपणन का भाव विकसित हुआ है, अतः कुछ स्थलों पर जहाँ इनको ख़तरनाक और हिंसक बताया गया है, हिंसक वाला भाव भी काम कर सकता है। कुछ स्थलों पर पणियों की निधियों का उल्लेख है और दसवें मण्डल के प्रसिद्ध सरमा सूक्त में पणियों के विषय में जो जानकारी मिलती है उसके अनुसार उनका ठिकाना पश्चिम की ओर लम्बी दूरी पर रसा नाम की नदी के पार, "दूरे हि अध्वा जगुरिः पराचैः...रसायाः अतरः पयांसि" है।[52] उनकी निधि अद्रिबुध्न या पर्वतीय शिलाओं के नीचे छिपी हुई है जिसकी रखवाली में ही पणिगण तत्पर हैं, और इसे बैलों, घोड़ों और गधों पर

लादकर ले जाने योग्य बताया गया है, "अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नः गोभिः अश्वेभिः वसुभिः नि-ऋष्टः। रक्षन्ति ते पणयः ते सुगोपाः रेकुः पदं अलकं आ जगन्थ।"[53] एक स्थल पर पणियों की निधि को परम गुहा में निहित होने की बात की गयी है।[54]

यद्यपि मुक्त कराने के प्रतीकात्मक विवरणों में प्रायः गो शब्द का ही प्रयोग हुआ है, पर गो या बैल पर लाद कर लाये जाने वाले—गव्य—धन के अतिरिक्त अश्व्य या घोड़ों और गधों पर लाये जाने वाले धन की भी चर्चा आयी है।[55] एक स्थल पर "सूनरं वसु" या आसानी से ढोये जा सकने वाले धन की भी बात की गयी है।[56]

वल पर्वत विवर का सामान्य प्रतीक है जिसमें दर्रों से लेकर खानों की सुरंग और खनन स्थल के कोटरों तक को सम्मिलित किया जा सकता है। पर वल के इस खज़ाने पर पहरा देने वाले ये पणि कौन हैं? सरमा वाले सूक्त में इनको एक क़बीले के रूप में प्रस्तुत किया गया है और अन्य उपलब्ध ब्यौरों से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक खनन क्षेत्र के ऐसे स्थानीय कबीलों के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है जो अपने क्षेत्राधिकार के कारण अपने को उन पहाड़ों और अन्य स्थलों का स्वामी तो मानते थे, पर खनन कार्य में जिनकी स्वयं दिलचस्पी नहीं थी। उनका असाधारण धनी होना और फिर भी न तो स्वयं इस धन का उपयोग करना, न ही किसी को देना, इसी का द्योतक हो सकता है जिससे उनके लोभी, कंजूस, अकर्म, अव्रत, अयज्यू आदि होने की बात की गयी है।

इस तरह आरम्भ में जो शब्द सूदखोरों के लिए प्रयोग में आता था, सम्भवतः उसी का प्रयोग इन क़बीलों के लिए भी होने लगा। ऐसा लगता है कि वैदिक खननकर्मियों ने आरम्भ में उनको समझाने, फुसलाने और इस तरह उनके विरोध को कम करने की कोशिश की। यद्यपि उनका प्रतिरोध पूरी तरह कभी खत्म नहीं हुआ, पर सम्भवतः उनके नेताओं को कुछ हिस्सा या प्रतिलाभ मिलने लगा था और क्रमशः खननकर्मियों की गतिविधियों में तेज़ी आने के साथ ये उन क्षेत्रों पर हावी होते चले गये थे। सम्पर्क की इस सघनता के कारण ही इन क्षेत्रों के निवासियों का भाषा, रीति-नीति और विश्वास की दृष्टि से आर्यीकरण भी आरम्भ हुआ था और जहाँ इन्द्र की प्रशंसा में यह दावा किया जाता है कि उसने दस्युओं को आर्य बनाया[57] या जहाँ वैदिक कवि सारी दुनिया को आर्य बनाने या सारी दुनिया में आर्य-व्रत का प्रसार करने[58] के दावे करते हैं वहाँ इनका सम्बन्ध इस प्रकार के प्रभावों से ही हो सकता है जिसमें स्वतः स्फूर्तता के साथ ही साथ सक्रिय प्रयत्न का भी हाथ था।

पनियनों का मूल नाम पणि रहा हो सकता है। दहए का सम्बन्ध दस्, और दस्यु से हो सकता है और इस दृष्टि से इन दोनों का प्रयोग बलूचिस्तान, अफ़गा-

निस्तान, मध्येशिया और ईरान के क्षेत्र में बसे या विचरणशील उपद्रवी क़बीलों के लिए होता रहा लगता है, पर मूलत: ये शब्द उनके अपने क़बीलों के नाम न होकर आर्य व्यापारियों द्वारा उनके लिए प्रयुक्त भर्त्सना के शब्द थे जो क्रमश: क़बीले की संज्ञा बन गये होंगे। आधुनिक काल में 'निगर', 'रेड इंडियन' आदि शब्द इस दृष्टि से रोचक हैं। आपका किसी अन्य को दिया हुआ नाम उनके द्वारा भी कहाँ तक स्वीकृति पा सकता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस क्षेत्र में और इससे बाहर की दुनिया में आपका प्रभाव-मण्डल कितना बड़ा और प्रखर है। जो लोग या क़बीले आर्यों के सम्पर्क के कारण अपनी जीवन-पद्धति में अपेक्षित सुधार करते जा रहे थे वे वैदिक मूल-भूमि के निवासी न होते हुए और उनके समकक्ष समादर न पाते हुए भी वैदिक आचार-पद्धति को या वैदिक व्रत को अपनाने के कारण अपने ढंग से आर्य और भारतीयों की दृष्टि में व्रात्य थे —आर्यों के निकटस्थ पर वैदिक समाज और वर्ण-व्यवस्था से बाहर[59] और जो इस समय भी उपद्रवी बने हुए थे उनको अवज्ञापूर्वक दस्यु ही कहा जा रहा था।

पर यह सोचना ठीक न होगा कि पणि और दस्यु शब्द का प्रयोग केवल भारत से बाहर के उपद्रवकारियों और क़बीलों या व्यक्तियों तक के लिए ही सुरक्षित था। इसका प्रयोग निश्चय ही पहले से इन लक्षणों वाले व्यक्तियों के लिए हो रहा था और बाद में भी होता रहा।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. यवं वृकेण मरुत: वपन्ति। ऋ. 1.117.21; कीनाश: आसन् मरुत: सुदानव:। तैसं. 2.4.8.7. इन्हें भूमि का पुत्र या 'पृश्निमातर:' कहा गया है। ऋ. 1.23.10; 85.2, आदि।
2. मरुतो ह वै देवविशो...। कौब्रा. 7.8; आहुतादो वै देवानां मरुतो विट्। शतब्रा. 4.5.2.16
3. चन्द्रं, रुक्मं, अय:, हिरण्यं, पेश:, कृशनं, लोहं, कनकं, कांचनं, भर्मं, अमृतं, मरुत्, दत्रं, जातरूपं इति हिरण्यस्य। नि. 1.2.
4. अश्वा: इव इत् अरुषास: सबन्धव: शूरा: इव प्र-युध: प्र उत युयुधु:।...ते अज्येष्ठा: अकनिष्ठास: उद्भिद: अमध्यमास: महसा वि वव‍ृधु:। ऋ. 5.59.5 व 6, आदि।

5. देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय, लोकायत, 1959,148 और आगे।
6. नि. 3.18. ऋ. 1.40.2 में सायण मरुत् का 'अर्थ धनार्थी मर्त्य' (मनुष्य) करते हैं।
7. ऋ. 1.23.8; 2.41.15; 4.54.5; 6.51.15, आदि। जिस तरह मरुतों के लिए पर्याय रूप में इन्द्रज्येष्ठ आया है उसी तरह इन्द्र का एक पर्याय मरुत्वान् या मरुतों से युक्त है, ऋ. 1.23.7; 100.1-15; 101.1-7, आदि।
8. 5.53.4; 55.6; 60.4, आदि।
9. 5.53.4; 57.2; 8.20.4, आदि।
10. 1.168.5; 5.52.13, आदि।
11. 1.64.11; 166.10; 168.8, आदि।
12. 1.166.12
13. 1.137.2
14. 1.168.3
15. जिहीत पर्वतः गिरिः। ऋ. 1.37.7; गिरीन् अचुच्यवीतन। ऋ. 1.37.12; तुवि द्युम्नासः धनयन्ते अद्रिम्। ऋ. 1.88.3; वाजे अद्रि मरुतः रन्धयन्तः। ऋ. 1.85.5; येषां अज्मेषु पृथिवी जुजुर्वां इव विश्पतिः। भिया यामेषु रेजते।। ऋ. 1.37.8; उत पव्या रथानां अद्रि भिन्दन्ति ओजसा। ऋ. 5.52.9, आदि।
16. आपथ्यः विपथयः अन्तःपथा अनुपथाः।
एतेभिः मह्यं नामभिः यज्ञं विस्तार ओहते।। ऋ. 5.52.10;
हिरण्येभिः पविभिः पयोवृधः उत् जिघ्नते आपथ्यः न पर्वतान्।
ऋ. 1.64.11
17. मैकडनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, 1980,159-60
18. देखें, पीछे पृ. 148
19. ए. नासिर, 'दि लापिस लाजुली इन अफ़ग़ानिस्तान', अफ़ग़ानिस्तान, 17,4, 1962, 48-56; 'दि हिस्ट्री ऑफ़ लापिस लाजुली इन अफ़ग़ानिस्तान', वही, 1963, 18,1,51-56; 18,2,23-28
20. वही, 55-56
21. ऋ. 1.71.3
22. त्वं वलस्य गोमतः अप अवः अद्रिवः बिलम्। ऋ. 1.11.5
23. याभिः अंगिरः मनसा नि-रण्यथः अग्रं गच्छथः विवरे गो-अर्णसम्।
ऋ. 1.112.18
24. अविन्दत् दिवः निहितं गुहा निधिं वेः न गर्भं परिवीतं अश्मनि अनन्ते अन्तः अश्मनि। व्रजं वज्री गवां इव सिसासन अंगिरःतमः अप अवृणोत् इषः इन्द्रः

परिवृताः द्वारः इषः परिवृताः ।। ऋ. 1.139.3, आदि ।

25. मा ज्योतिषः प्रवसथानि गन्म । ऋ. 2.28.7 निः ज्योतिषा तमसः गा अदुक्षत् । ऋ. 1.33.10; उत् वयं तमसः परि ज्योतिः पश्यन्तः उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यं अगन्म ज्योतिः उत्तमम् ।। ऋ. 1.50.10; गूहत गुह्यं तमः वि यात विश्वं अत्रिणम् । ज्योतिः कर्त्ता यत् उश्मसि । ऋ. 1.36.10; अभि जैत्रीः असचन्त स्पृधानं महि ज्योतिः तमसः निः अजानन् ।...पतिः गवां अभवत् एकः इन्द्रः ।। ऋ. 3.31.4; ज्योतिः वृणीत तमसः वि-जानन् । ऋ. 3.39.7; ज्योक पश्यात् सूर्यं उच्चरन्तम् । ऋ. 4.25.4

26. 'असतो मां सद्गमय । तमसो मां ज्योतिर्गमय । मृत्योः मां अमृतं गमयेत ।' की मूल भावना ऋग्वेद में सर्वत्र व्याप्त पायी जायेगी । पर इसके आध्यात्मिक पक्ष को उजागर करते समय इस बात का ध्यान रखना होगा कि इसके ठोस भौतिक कारण थे । यहाँ तक कि 'जीवेम शरदः शतम्...' जैसी कामनाओं में 'शरद' के प्रयोग का भी एक बहुत सार्थक कारण है जिसे प्रायः उल्टे अर्थ में लिया जाता रहा है । कुछ अध्येता यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि मूलतः आर्य किसी अधिक शीत-प्रधान क्षेत्र के निवासी थे जहाँ जाड़े में मृत्यु अधिक होती थी, अतः इससे बचने की कामना यहाँ व्यक्त की गयी है । 'पश्येम शरदः शतम्' की उत्कट कामना ही इस बात का प्रमाण है कि यह काल उनके लिए किन्हीं कारणों से हर्ष और उल्लास का था । इसके विपरीत यह मत भी कि शरद में वसन्त होता था और इसलिए यह हर्षोल्लास का काल था उतना ही ग़लत है । कारण, शरद के साथ ही 'हिमाः' (ऋ. 1.64.15; 2.32.2; 5.54.15;6.48.8) का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि यहाँ प्रयोजन शीत-काल से ही है । अन्यथा भी यदि ऋतु-चक्र में कोई बदलाव हज़ारों वर्षों के दौरान आया भी है तो यह क्रमशः ही हुआ है, अतः ऋतुओं का नाम बदलने का कोई कारण नहीं दिखायी देता । इस तथ्य को पश्चिमोत्तर के क्षेत्र में वैदिक-कालीन भारतीय व्यापारियों की गतिविधियों को सामने रखकर ही समझा जा सकता है । ये व्यापारी और खनिकर्मी आदि मधुमास के साथ या फाल्गुनी पूर्णिमा के बाद प्रस्थान करते थे । सम्भवतः इसीलिए इस तिथि को सोम याग किया जाता था और सोमलाभ और सोमपान का सम्बन्ध व्यापारिक लाभ आदि से है । इस फाल्गुनी पूर्णिमा को वार्त्रघ्नी पूर्णिमा या वृत्र या पथ-रोधक शत्रुओं का संहार करने वाली पूर्णिमा (शतब्रा. 1.6.4.12, 20) कहा गया है । गर्मी और बरसात के दिनों में ही इस क्षेत्र में आराम से काम किया जा सकता था; कारण, यहाँ वर्षा नगण्य होती है और जो होती है वह भी जाड़े में । जाड़े के दिनों में तो समीपवर्ती क्षेत्रों में बलूची और अफ़ग़ानी भी पाकिस्तान के मैदानी भाग में आ जाते हैं । अतः जाड़ा आने से पहले वे यात्रा से वापस आ जाते थे

और दीपावली का भारतीय पर्व सम्भवतः उनके आगमन का उत्सव था, जिस पर सफल और लाभाविन्त व्यापारियों की ओर से मुक्त दान आदि किया जाता था। शरदः शतम् में इन निकले हुए व्यापारियों की घर लौटने की और घरवालों की अपने स्वजनों के सकुशल लौटने की, और परिवार के साथ पूरे जाड़े-भर रहने की लालसा मूर्त, है न कि शरद से भय।

27. चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप, 1,1867, 77; देखें विंटरनित्ज़, हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर, 1962, 1,59 भी।
28. वैदिक माइथॉलॉजी, 1980,1,178
29. वही, 170-72
30. देखें दि लाज़ ऑफ़ मनु, सेबुईसी. 25,10.88, जहाँ आफ़त पड़ने पर वणिक् वृत्ति अपनाने पर भी क्षत्रिय और ब्राह्मण के द्वारा बेची जाने वाली वर्जित वस्तुओं में सोम का भी नाम आया है।
31. पूर्व., 325.
32. हिल्लेब्रांट द्वारा उद्धृत, सेंटपीटर्सबर्ग कोश, व बर्गेन, वही, 333
33. वही।
34. वही, 345
35. वही, 349
36. वही, 350
37. वही, 351
38. वही।
39. वही, 352
40. वही।
41. वही, 347 और आगे।
42. वही, 334
43. यह प्रवृत्ति भारतीय साहित्य में बाद तक बनी रही, जिसमें यह माना जाता था कि रस-संचार के लिए नाटक और महाकाव्य आदि के पात्रोंऔर घटनाओं का 'ख्यात' या लोक-प्रसिद्ध होना आवश्यक है। अतः इनमें भी अपने समकालीन प्रसंगों को न लेकर पुरानी और कृति के रचनाकाल तक लोक-विश्रुत घटनाओं और चरित्रों को ही चुना जाता रहा। अन्य देशों में भी प्राचीनकालों में स्थिति भिन्न नहीं थी।
44. पूर्व., 342
45. ऋ. 7.95.2.
46. उषः तं अश्यां यशसं सुवीरं दास-प्रवर्गं रयिं अश्व-बुध्यम्। ऋ 1.92.8
47. वस्तुतः जिन प्रसंगों को पणियों द्वारा गायों का अपहरण करने का अनुमान

लगाया जाता रहा है उनमें भी यह अनुमान इस कारण लगाया जाता रहा है कि वे इन 'गायों' को दबा कर या अपने कब्ज़े में करके बैठे हुए हैं। उनके द्वारा आक्रमण या छीन-झपट का कोई सीधा हवाला ऋग्वेद में नहीं आता।

48. 6.33.2; 39.9; 10.57.6, आदि पर सायण भाष्य।
49. 1.33.3; 126.10; 151.9; 4.25.7
50. इन्द्रः विश्वान् बेकनाटान् अहः-दृशः उत् कृत्वा पणीन् अभि। ऋ. 8.66.10. सायण बेकनाटान पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि इसका अर्थ सूदखोर है, वह जो कर्जखोर को एक देकर इशारे से बताता है कि इसके बदले मुझे दो चाहिए, "अनेन कुसी दिनो वृद्धिजीविनो वार्धुषिका उच्यन्ते।...एकं कीर्षापणं ऋणिकाय प्रयच्छन् द्वौ मह्यं दातव्यं...नयेन दर्शयन्ति ततो द्विशब्देन एकशब्देन नाटयन्तीति बेकनाटाः।
51. रोचक बात यह है कि जहाँ भी उनकी इस कठोरता का वर्णन आया है, सायण ने उनको या तो लोभी बनिया कहा है या स्पष्टतः सूदखोर। लोभी बनिये का आशय भी उनकी दृष्टि से सूदखोर ही है। ऋ. 6.53.5-8 में पणियों के हृदय को नरम बनाने का अनुरोध पूषा से किया गया है और इन चारों ऋचाओं में वह 'वणिजां लुब्धानां' अर्थ करते हैं। इससे पूर्व ऋ. 5.53.3 में "पणेः चित् वि म्रद मनः' का 'वणिजः अपि वार्धुषिकस्य अपि हृदयं दानार्थं मृदु कुरु।" अर्थ करते हैं। ऋ. 7.6.3 में 'नि अक्रतून् ग्रथिनः मृध्रवाचः पणीन् अश्रद्धान् अवृधान् अयज्ञान्' में भी सायण ने पणि का अर्थ वार्धुषिक ही किया है। ऋ. 6.51.14 में उनकी तुलना भेड़िये से की गयी है, "जहि नि अत्रिणं पणिं वृकः हि सः।"
52. 10.108.1
53. अयं निधिः सरमे अद्रि-बुध्नः गोभिः अश्वेभिः वसुभिः नि-ऋष्टः। ऋ. 10.108.7. अद्रिबुध्न का अर्थ सायण करते हैं, "अद्रिः बन्धको यस्य तादृशः।"
54. निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्। ऋ. 2.24.6
55. सामान्यतः जहाँ अश्व्य और गव्य धनों का उल्लेख आया है, सायण ने इसका अर्थ 'गो सम्बन्धीनि या अश्व सम्बन्धीनि धनानि' किया है और इसे ही सामान्यतः अनुवादकों ने स्वीकार किया है जो पशुचारी समाज की कल्पना को चोट नहीं पहुँचाता। पर हम गव्य और अश्व्य का अर्थ बैल, घोड़े और गधे पर लादकर ले जाया जाने वाला या प्रचुर धन अधिक उपयुक्त समझते हैं। वस्तुतः इनके साथ प्रायः प्रचुरता के संकेत भी देखे जा सकते हैं, यथा, "आ अग्ने स्थूरं रयिं पृथुं गोमन्तं अश्विनम्।" ऋ. 10.156.3
56. 5.34.7

57. 9.63.5
58. 10.65.11
59. व्रात्यों की शिनाख्त वैदिक अध्येताओं के लिए एक टेढ़ी समस्या बनी रही है जिस पर बहुत कुछ लिखा गया है और तरह-तरह के सुझाव रखे गये हैं। वेबर, बोटलिंक, त्सिमर, ब्लूमफ़ील्ड, हाप्किन्स, हिल्लेब्रांट, कार्पेंटियर, कीथ, विंटरनित्ज, राजाराम रामकृष्ण भागवत, आर. पी. चन्द, के. चट्टोपाध्याय, एन. एन. घोष, बी. एल. मुखर्जी, डी. आर. भंडारकर, ए. पी. करमारकर, आर. जी. ओझा, ए. सी. बनर्जी आदि ने इस पर विचार करते हुए जिन संभावनाओं की ओर संकेत किया है उनके परस्पर असंगत पहलुओं को दूर करना चाहें तो उक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचा जा सकता है। यह स्मरण अवश्य रखना होगा कि इसमें केवल भारत से बाहर के ही अवैदिक क्षेत्र और इसके निवासी नहीं आते और कालक्रम से इनका अभिज्ञान बदलता भी रहा है।

अध्याय-सात

आवास और नगर

मोहनजोदड़ो के नगर-विन्यास पर अपने अध्याय की भूमिका मार्शल निम्न वाक्य से आरम्भ करते हैं, "कोई भी आदमी पहली बार मोहनजोदड़ो के बीच से गुज़रते हुए इस भ्रम का शिकार हो सकता है कि वह आज के लंकाशायर जैसे किसी औद्योगिक नगर के भग्नावशेषों से घिरा हुआ है।"[1] और वैदिककालीन नगर-जीवन की ऋग्वेद के आधार पर कल्पना करते हुए उसके अनुवादक विलसन लिखते हैं, "ऋग्वेद के सूक्तकारों के लिए, ज़ाहिर है, किंचित् शानदार भवनों वाले नगर विरल नहीं रहे होंगे।"[2] इन दोनों उक्तियों में जिनमें से एक हड़प्पा के भौतिक अवशेषों पर आधारित है और दूसरी ऋग्वेद के पाठ पर, कितना साम्य है, यह दुहराने की आवश्यकता नहीं। इसके बावजूद इस बात को बार-बार दुहराया जाता रहा है कि वैदिक आर्य नगर से अपरिचित ही नहीं रहे हैं, बल्कि उनकी ग्राम बस्तियाँ भी अस्थायी प्रकृति की रही हैं और वे जिन मकानों में रहते रहे हैं वे बाँस और फूस के झोपड़े रहे हो सकते हैं; यदि कहीं इन आवासों की विशालता की बात आती भी है तो यह विशालकाय झोंपड़ों की तसवीर हो सकती है जो इनके संयुक्त कुटुम्ब के लिए बनाये जाते रहे हो सकते हैं।

वैदिक आवासों के विषय में टिप्पणी करते हुए वैदिक इंडेक्स के लेखक लिखते हैं :

"गृह—वैदिक आर्यों के 'घर' के अर्थ में इस शब्द का एकवचन अथवा अपेक्षाकृत अधिकतर बहुवचन में प्रयोग किया गया है। 'दम्' अथवा 'दम' का भी यही आशय है, जब कि 'पस्त्या' और 'हर्म्य' विशेष रूप से घर और उसके आस-पास परिवार की अन्य सम्पत्ति के भी द्योतक हैं। केवल परिवार, जो बहुत बड़ा हो सकता था, के लोग ही घर में नहीं रहते थे, वरन् रात के समय मवेशी और भेड़ भी उसी में रहते थे। जैसा कि इनके बहुवचन के प्रयोग से व्यक्त होता है, इनमें अनेक कमरे होते थे, तथा इसे सुरक्षित रूप से बन्द भी किया जा सकता था। 'द्वार्', 'द्वार' का भी अकसर उल्लेख आता है और इसी से घर को दुरोण कहते थे।

प्रत्येक घर में हर समय अग्नि प्रज्ज्वलित रखी जाती थी।"[3]

वैदिक इंडेक्स के लेखकों का सबसे बड़ा संकट यह था कि वे ऋग्वैदिक काल में सभ्यता के इतने ऊँचे स्तर की कल्पना वहाँ भी नहीं कर सकते थे जहाँ इस विषय में धनात्मक साक्ष्य उपलब्ध थे। इतने प्राचीन काल में सुव्यवस्थित नगरों का अस्तित्व रहा हो सकता है, यह उनकी समझ से बाहर था। जहाँ-तहाँ वह इस दुविधा को प्रकट भी करते हैं।[4] अतः वैदिक नगरों और आवासों के विषय में भी उन्होंने बहुत बचते हुए तथ्यों को पेश कर दिया है और जहाँ अपनी ओर से कोई सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न किया है वहाँ उनसे चूक हुई है। उदाहरण के लिए, वे मवेशियों को परिवार के सदस्यों के साथ रहने का जो प्रस्ताव करते हैं वह निराधार है। जिन ऋचाओं को उन्होंने इस विषय में उद्धृत किया है उनमें घोड़े और भेड़ का ज़िक्र तो आया है, पर इस अर्थ में नहीं कि इन्हें रिहायशी मकान में बाँधा जाता था।[5] इसी तरह वह विशाल भवनों के सन्दर्भ में यह कहते हैं कि ऋग्वैदिक काल का परिवार आकार में बहुत बड़ा होता था जब कि ऋग्वेद से इसकी कहीं पुष्टि नहीं होती। दादा, परदादा और चाचा-चाचियों से युक्त संयुक्त परिवार की कहीं चर्चा नहीं आती और स्वयं इन लेखकों के अनुसार भी "इस बात को व्यक्त करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि बड़ा हो जाने पर पुत्र साधारणतया अपने पिता के साथ ही रहता था और उसकी पत्नी उसके पिता के परिवार की सदस्या हो जाती थी, अथवा वह अपना अलग घर बना लेता था।"[6] वे आगे लिखते हैं, "हमें यह भी ज्ञात नहीं कि विवाह के बाद, अथवा अन्यथा, पुत्र को भूमि का एक विशेष अंश दे दिया जाता था, या वह केवल पिता की मृत्यु के उपरान्त ही ऐसी सम्पत्ति का अधिकारी होता था।...पिता के वृद्ध हो जाने पर या तो उसके पुत्र स्वयं ही उसकी सम्पत्ति विभाजित कर लेते थे, अथवा स्वयं पिता ही उसे पुत्रों में वितरित कर देता था, और यह भी कि जब श्वसुर वृद्ध हो जाता था तब उसे अपनी पुत्रवधू के नियन्त्रण में रहना पड़ता था।"[7] ऐसी स्थिति में लगता है, विशाल आवासों को देख कर ही धर्मसंकट के कारण तथ्यों के विपरीत तदनुरूप विशाल परिवारों की कल्पना कर ली गयी है।

विश्व-सृष्टि के प्रसंग में मैकडनेल लिखते हैं, "ऋग्वैदिक कवि विश्व की रचना की बात करते समय विविध ब्यौरे देते हुए भवन का रूपक खड़ा करते हैं। पैमायश करने का हवाला बार-बार आता है। इस तरह इन्द्र ने छहों लोकों की माप की, धरती का विपुल विस्तार और आकाश का गुम्बद खड़ा किया, विष्णु ने पृथ्वी के प्रसार को मापा और अपने आवास को ऊर्ध्व विन्दु पर स्थापित किया। जिस मानदण्ड का कभी-कभी उल्लेख आता है, वह है सूर्य, जिससे वरुण ने यह काम किया था। पितरों ने दोनों भवनों को मापा और इन्हें विस्तृत बनाया। स्वाभाविक है कि माप आगे या पूर्व की ओर से आरम्भ होती है। इस तरह इन्द्र ने

उसी तरह माप की जैसे किसी मकान को आगे से मापते हैं। इसी से जुड़ा है धरती को फैलाने का विचार, जिसका श्रेय अग्नि, इन्द्र, मरुतों, आदि को दिया जाता है। चूँकि वैदिक आवास लकड़ी के बने होते थे, इसलिए निर्माण-सामग्री के रूप में एक-दो बार लकड़ी का उल्लेख आता है। कवि पूछता है, 'वह पेड़ कौन-सा था, वह लकड़ी कौन-सी थी, जिससे उन्होंने धरती और आकाश की रचना की ?' ...धरती और द्युलोक को प्राय: स्कम्भ या स्तम्भ पर टिका हुआ दिखाया गया है, पर आकाश को बिना बल्ली के टिका हुआ बताया गया है। आश्चर्य इस बात पर प्रकट किया गया है कि यह गिरता नहीं।...कभी-कभी नींव का भी ज़िक्र आता है।...जहाँ विशेष व्यावसायिक कौशल के ब्यौरों की ज़रूरत होती है वहाँ त्वष्टा या दक्षकर्मी ऋभुओं का उल्लेख आता है। इनके आशयों के बारे में कुछ नहीं कहा गया है, पर विष्णु के विषय में यह कहा गया है कि "जैसे आदमी अपने रहने के लिए मकान बनाता है वैसे ही उन्होंने लोकों को मापा और मनुष्यों के रहने के लिए उनका विस्तार किया।"[8]

इस विवरण को ध्यान से पढ़ने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि यह एक ऐसे समाज के कवियों का विवरण है जो न केवल विशाल भवनों से परिचित थे, अपितु उन्हें नगर-योजना का भी ज्ञान था और इस तरह का ज्ञान हड़प्पा के नगरों की समस्त पूर्वापेक्षाओं की पूर्ति करता है। पैमायश आदि के बाद मकान को बनाना; आवास को ऊँचे स्थान पर स्थापित करना, जो बाढ़ आदि के अन्देशों की छाया लिये हुए है, और जिसकी पुष्टि हड़प्पा के नगरों से होती है; धरती को फैलाने की कल्पना जो नयी बस्तियों को योजनाबद्ध रूप में बसाने की झलक देता है; पूरे आकाश को ही एक विशाल छत के रूप में कल्पित करना जो अपनी सीमा में बड़े मकान बनाने और बड़ी छतें डालने की क्षमता को प्रकट करता है; यह कल्पना कि इतनी बड़ी छत के लिए बहुत-से खम्भों का होना ज़रूरी है और आश्चर्य की बात यह कि यहाँ खम्भा एक भी नहीं है, जो हड़प्पा सभ्यता के सभागारों की याद दिलाता है जिनमें बहुत-से खम्भे खड़े करके अपने समय को देखते विशाल कक्ष तैयार किया गया था; इन निर्मितियों के साथ दक्ष पेशेवर कारीगरों का उल्लेख और केवल अपने ही लिए नहीं, अपितु मनुष्यों के लिए लोकों की माप जो बहुत बड़े समुदाय के लिए एक ही उपक्रम में नगर या बस्ती बसाने का या अपने नौकरों-चाकरों के लिए भी अपने भवन के पास आवास बनाने का आभास देता है; माप की दिशा का पूर्व से आरम्भ होना जो सम्भवत: सरस्वती के क्षेत्र में पूर्व से पश्चिम की ओर जाकर बस्तियाँ बसाने का स्मृतिशेष हो सकता है; अपने समग्र दबाव से हमें वैदिक आवासों और नगरों के विषय में गम्भीरता से विचार करने को बाध्य करता है।

लकड़ी का उल्लेख देख कर यह कल्पना कर लेना कि वैदिककालीन मकान केवल लकड़ी के ही बनते थे, उचित नहीं है। देखना यह चाहिए कि हड़प्पा के

मकानों में लकड़ी का कितना उपयोग होता था। मार्शल लिखते हैं, "इसके अलावा अग्निकाण्डों के साक्ष्य से जो मोहनजोदड़ो के अनेक मकानों को अपना ग्रास बना चुके थे, हम यह जानते हैं कि इनके ऊपरी ढाँचे में लकड़ी का खुल कर उपयोग किया गया होगा।"[9] और ऋग्वैदिक आवासों की कल्पना में भी लकड़ी का उल्लेख मुख्य रूप से ऊपरी ढाँचे के सन्दर्भ में ही आया है। अतः लकड़ी के प्रचुर उपयोग से दोनों की भिन्नता नहीं, अपितु अभिन्नता का ही पता चलता है। छत के पटाव के लिए कड़ियों के रूप में बाँस का ही उपयोग हड़प्पा सभ्यता में भी होता था, इस बात को लकड़ी की चिराई के लिए प्रयुक्त औज़ार की सीमाओं को सामने रखते हुए समझा जा सकता है।

1

आवास के पर्याय

ऋग्वेद में आवास के लिए जिन पर्यायों का प्रयोग हुआ है उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं: शर्म[10], धाम[11], क्षय[12], दम[13], गुहा[14], गृह[15], दुरोण[16], अस्त[17], सदन[18], सद्म[19], वरूथ[20], वास्तु[21], गय[22], दुर्य[23], छदि[24], छर्दि[25], वसति[26], हर्म्य[27], वेश्म[28], निवेश[29], भुवन[30], पस्त्या[31], नीड़[32], कृत्ति[33], शरण[34], अज्म[35], गर्त[36] और योनि[37]। इनमें से अनेक का प्रयोग अभेदक रूप में किया जाता रहा होगा। व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से विचार करने पर इनमें से अनेक का सही रूपाकार नहीं समझा जा सकता; कारण, आवास के लिए प्रयुक्त किसी भी भाषा के शब्दों में छाया, घेरा, रहने या ठहरने की जगह, निर्मित चीज़ आदि का सरल भाव ही मूल रूप में देखने में आता है। इनमें से कुछ का प्रयोग मामूली क़िस्म के आवासों के लिए ही होता रहा होगा। कोई भी समाज केवल धनिकों का समाज नहीं होता और धनी-ग़रीब सभी अपने मकान अपनी आर्थिक हैसियत के अनुसार ही बनाते हैं और पूरे समाज को ध्यान में रखें तो अच्छे मकानों की तुलना में घटिया क़िस्म के मकानों की हमेशा अधिकता रही है, कारण, एक व्यक्ति का धनी होना अनेक की निर्धनता पर ही निर्भर करता था जिनके संचित और अपहृत श्रम और उत्पाद ही उसकी समृद्धि में प्रकट होते थे। प्रश्न यह है कि क्या इनमें से कुछ मकान उस कोटि के भी रहे हो सकते हैं जिन्हें हम हड़प्पा के नगरों में देखते हैं?

ऋग्वैदिक आवासों के रूपाकार का निश्चय करने में आवास के लिए प्रयुक्त शब्दावली कुछ अन्य कारणों से भी हमारी सहायता नहीं करती। अनेक शब्द जो आवास के लिए प्रयुक्त हुए हैं, आवास के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए, 'शर्म' का प्रयोग प्रायः सुख के लिए, 'धाम' का प्रायः प्रकाश,

स्थान, पद या कर्म के लिए और 'गय' का प्रयोग अनेक बार धन के लिए भी हुआ है। साथ ही ऋग्वैदिक कवि अपनी झक के अनुसार विभिन्न शब्दों का प्रयोग वाचिक और लाक्षणिक दोनों आशयों से करते हैं और इस तरह एक ही शब्द अपने पूर्वरूपों, रूपान्तरों, व्यंग्यार्थों आदि के साथ अपना रूढ़ अर्थ भी रखता है, जो शाब्दिक प्रयोगों पर कुछ सतर्कता से विचार करने की माँग करता है। पर इसके बावजूद हम एक सीमा तक यह अनुमान कर सकते हैं कि यदि शर्म आवास और सुख दोनों का वाचक है तो जहाँ इसका प्रयोग घर के लिए हुआ है वहाँ आशय आरामदेह मकानों से या अच्छे मकानों से हो सकता है, विशेषत: वहाँ जहाँ सन्दर्भों से इसकी पुष्टि होती लगे। इसी तरह धाम अच्छी तरह लिपे-पुते मकानों का भाव और गय सम्पन्न मकानों और, बहुत सम्भव है, अनाज आदि रखने के कोठारों का, या पशुओं आदि के लिए बने साधारण छाजनों में से किसी का सूचक हो सकता है। वैदिक आवासों के विषए में और इनमें भी अधिक भव्य आवासों के विषय में हमें अधिक सार्थक संकेत आवास-विषयक वैदिक कामनाओं में और इनकी निर्मिति के विषय में उपलब्ध क्षीण सूचनाओं में मिल सकते हैं।

2

पक्की ईंटों का प्रयोग

वैदिक जन अपने यज्ञकुण्ड की चिनाई भी ईंटों से करते थे। यह एक अकल्पनीय-सी बात है कि जो लोग यज्ञकुण्डों तक में ईंटों का प्रयोग करते थे वे इनका उपयोग मकानों या अन्य निर्मितियों — कुँआ, घाट आदि — में न करते रहे हों। ऋग्वेद में ईंटों के उल्लेख को देखकर कोसम्बी यह प्रस्ताव रखते हैं कि जिस ऋचा में यह प्रयोग आया है उसकी रचना मेसोपोटामिया में हुई हो सकती है; कारण, यायावर वैदिक आर्य भला ईंट से कैसे परिचित रहे हो सकते हैं ?[38] यह इस बात का अच्छा प्रमाण है कि यायावरी और बर्बरता की छवि को बनाये रखने के लिए विद्वान किस सीमा तक जा सकते हैं। प्रश्न यह है कि मेसोपोटामिया से भारत आने वाले आर्य वहाँ से इस ऋचा को ही लेकर चले आये थे या ईंट पकाने की कला भी ? साथ ही यह भी कि पकी ईंटों के आविष्कार और प्रयोग की दृष्टि से मेसोपोटामिया आगे पड़ता है या हड़प्पा ? यदि कोसम्बी को इस बात का यक़ीन था कि यायावर जन ईंटों से अपने यज्ञ की वेदी बना सकते थे तो उन्हें कम-से-कम इतना तो मानना ही चाहिए था कि 'भारत में आये हुए' आर्य यायावर नहीं थे और मज़बूत तथा स्थायी बस्तियाँ बसाकर रहते थे।

व्यापार और वाणिज्य के सन्दर्भ में विचार करते हुए हम यह संकेत कर आये

हैं कि अग्नि को अमरता का धाम और ऋत का धाम इसलिए कहा जाने लगा कि यह कच्ची मिट्टी के बर्तनों, ईंटों आदि को पकाकर अमर कर देते हैं।[39] धातुओं के निस्सार तत्त्वों को छाँटकर इनके सार तत्व को अलग कर देते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार ईंट का इष्टक नाम ही इसलिए पड़ा कि इसका जन्म इष्टि अर्थात् यज्ञ से हुआ। शतपथ ब्राह्मण में जिस रूपकीय शैली में इसे व्यक्त किया गया है वह इस प्रकार है :

"प्रजापति ने अग्नि के रूपों का ध्यान किया। वह उस कुमार की खोज करने लगा जो विभिन्न रूपों में प्रवेश कर गया था।...उसने विचार किया कि मैं उस रूप की खोज करूँ जिसे मैं जल पर प्लवित रहने देता हूँ। उनकी उसने खोज की और उसका जो अंश जल में प्रविद्ध हो गया था उस जल को उसने लिया और इसमें जो मिट्टी थी उसे भी एकत्र किया। जल और मिट्टी दोनों को लेकर उसने ईंट बनायी। अतः ईंट में दो चीजें होती हैं, मिट्टी और पानी। उसने फिर विचार किया, यदि मैं इस तत्व को अपने भीतर स्थापित कर लूँ तो पाप से लिप्त होने के कारण मैं मर्त्य हो जाऊँगा। 'अच्छा, तो मैं इसे आग में पकाऊँगा।' ऐसा कहकर उसने इसे आग से पकाया और इस तरह इसे अमर बना दिया, क्योंकि अग्नि में पककर हवि अमृत हो जाती है। इसलिए ईंटों को आग में पकाते हैं और उन्हें अमर बनाते हैं।"[40]

इस तरह वैदिक परम्परा के अनुसार ईंट और, सम्भव है, बर्तन पकाने की युक्ति की भी खोज यज्ञ के माध्यम से ही हुई। शतपथ ब्राह्मण में ही उखा या यज्ञ-पात्र तथा विश्वज्योति इष्टक के निर्माण का एक हवाला आता है जिससे प्रकट होता है कि विश्वज्योति इष्टक के रूप में मिट्टी की पट्टियों पर देवताओं की प्रतिकृतियाँ बनायी जाती थीं और उन पर वाणी को मूर्त करने के लिए कुछ रेखांकन किया जाता था।[41] ऐसा लगता है कि आरम्भिक अवस्थाओं में देवताओं को कल्पित किया या मूर्त रूप में गढ़ा जाता था और यज्ञ भाग ग्रहण करने के लिए इन्हें सीधे यज्ञ-कुण्ड में ही डाल दिया जाता था। इन प्रतिमाओं के पकने और इस तरह अमर होने के अनुभव ने ही सम्भवतः इस विचार को जन्म दिया कि विशेष आकार में मिट्टी को ढालकर इससे पक्के बर्तन और ईंट बनायी जा सकती है। दूसरे शब्दों में कहें तो, वैदिक आर्यों के पूर्वजों ने स्वयं अपने अनुभव से ईंटों का आविष्कार किया था और यह बात भी उन्हें हड़प्पा सभ्यता का जनक और निर्माता सिद्ध करती है।

3
आवास की कामना

वैदिक जन केवल अपने यज्ञ, कुण्डों में ही पक्की ईंटों का प्रयोग नहीं करते थे—अधिक सम्भावना तो यह है कि वे सामान्यतः इनमें कच्ची ईंटों का ही प्रयोग करते रहे हों—अपितु अपने मकानों में भी पक्की ईंटों का प्रयोग करते थे। एक स्थल पर यह अनुरोध किया गया है कि 'हे वरुण, मुझे मिट्टी के घर में न जाना (रहना) पड़े। हे सुक्षत्र, मुझसे प्रसन्न होओ।'[42] यह उल्लेख निषेधपरक है, पर यदि मिट्टी के या कच्चे मकान की कामना नहीं की गयी है तो ज़ाहिर है कि यह कामना झोपड़े की नहीं, अपितु पक्के मकान की ही हो सकती है। एक अन्य स्थल पर पुष्करिणीयुक्त, देवोपम मनोहर और परिष्कृत भवन का उल्लेख आया है।[43] ये दोनों हवाले वैदिक आवासों के विषय में प्रचलित भ्रान्तियों और हड़प्पा से इनकी भिन्नता को समाप्त कर देते हैं और अन्य विवरणों पर कुछ अधिक आश्वस्त होकर विचार करने की छूट देते हैं।

ऋग्वेद में जहाँ आम या आमा शब्द आया है, सायण ने सामान्यतः इसका अर्थ कच्चा या अपक्वा किया है।[44] 'अम्' का मूल अर्थ जल (तु. अम्बु, आम्र, अमृत, आदि) है, पर अपने आर्थी विकास में अनेक शब्द अपने विपरीतार्थी रूप में भी प्रयोग में आते दिखायी देते हैं। सम्भवतः मूलतः यह फ़र्क़ स्वराघात आदि के द्वारा व्यक्त किया जाता रहा होगा। इस तरह हम 'अम्' शब्द का प्रयोग मज़बूत के अर्थ में भी ऋग्वेद में पाते हैं और आमा या आँवा—ईंट पकाने की भट्टी, आमाशय—पक्वाशय आदि इसी की देन हैं। ऋग्वेद में प्रायः अमवत वरुथ का उल्लेख आता है।[45] सायण ने ऐसे स्थलों पर अमवत का अर्थ 'मज़बूत' या 'विस्तृत' ही किया है।[46] इसका यही आशय मोनियर विलियम्स भी ग्रहण करते हैं।[47] ज़ाहिर है, ऋग्वेद में अमवत वरुथ की कामना पक्के मकानों के लिए ही व्यक्त हुई है।[48] कोई अपनी ओर से कमज़ोर या कच्चे मकान में रहने की कामना करेगा भी क्यों?

ऋग्वेद में 'त्रिधातु शर्म' की कामना भी देखने में आती है। सायण ने इसका अर्थ 'वात-पित्त-कफ् का शमन करने वाला सुख' किया है जो स्वयं सायण को भी अटपटा लगता है, अतः वह इसकी दूसरी संगति 'पृथ्वी आदि तीन स्थानों पर अवस्थित आवास' मानते हैं।[49] पृथ्वी पर आवास की कल्पना तो ठीक है, पर कोई अपने जीते जी स्वर्ग में मकान की बात क्यों सोचेगा और अन्तरिक्ष में तो यह कल्पना और भी आयासकर प्रतीत होती है। अतः इसका एक ही विकल्प हो सकता है और वह है एकाधिक मंज़िलों वाले मकान या तीन तल्लों के मकान।

त्रिधातु शर्म के अतिरिक्त 'त्रिवरुथ शर्म'[50] का भी उल्लेख बार-बार आता है। वरूथ का शाब्दिक अर्थ है 'श्रेष्ठ आवास'।[51] सायण ने इसका अर्थ 'शीत-ताप-

वृष्टि-निवारक गृह' माना है[52], पर कहीं-कहीं वह इसे 'त्रिभूमिक' अर्थ में ग्रहण करते हैं।[53] प्रसंग और औचित्य को ध्यान में रखते हुए इसे तीन तल्लों का मकान मानना उचित लगता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वैदिककालीन आवासों में तीन तल्ले होते ही थे। इस बात की कुछ सम्भावना हो सकती है कि एक-आध मकान ऐसे भी रहे हों, पर महत्वपूर्ण बात यह है कि वे इन एकाधिक तल्लों वाले आवासों की बात अपने प्रसंग में कर रहे हैं। मार्शल ने मोहनजोदड़ो से एकाधिक तल्लों वाले भवनों का बहुत ब्यौरे से उल्लेख किया है।[54] महत्वपूर्ण बात यह है कि लकड़ी का प्रचुरता से उपयोग मकानों की छत बनाने के लिए ही नहीं किया जाता था, अपितु ऊपरी मंजिल में लकड़ी का उपयोग अधिक उदारता से किया जाता था। मार्शल के अनुसार, "ऊपरी तल्ले के निर्माण में लकड़ी का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता था, यह मलबे में पाये गये प्रचुर कोयले से स्पष्ट है और साथ ही इस तथ्य से कि जिस अग्निकाण्ड ने इस मकान को नष्ट किया था वह इतनी भयानक थी कि इसके कारण दीवार का कुछ हिस्सा पिघल गया था।"[55] इस तरह हम देखते हैं कि ऋग्वेद में भवन निर्माण के सन्दर्भ में लकड़ी के उपयोग के जिस तथ्य से हड़प्पा के आवासों से इनके आवासों की अभिन्नता सिद्ध होती है उन्हीं क उपयोग स्वयं मार्शल ने भी दोनों के बीच भिन्नता प्रमाणित करने के लिए किया।[56]

आवास के विषय में जिन अन्य आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई है वह यह कि यह बड़ा हो[57], खुला लम्बा-चौड़ा या सप्रथ हो[58], अछिद्र हो[59], मज़बूत हो[60], आदि। राजाओं के निवास के सन्दर्भ में 'ध्रुव', 'उत्तम' और 'सहस्रस्थूण'[61] या हज़ार खम्भों वाले तथा प्रशासन और न्याय के लिए प्राय: याद किये जाने वाले वरुण के विशालतम और सहस्रद्वार[62] भवन का उल्लेख आता है जो हड़प्पा के आवासों से इतना साम्य रखता है कि इससे अधिक की आशा किसी कृति से, विशेषत: ऋग्वेद जैसी किसी कृति से, करना दुराग्रहपूर्ण होगा।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के मकानों की दीवारें पाँच से सात फुट तक मोटी बतायी जाती हैं। वीड़ु या मज़बूत और अछिद्र या ऐसे मकान जिनमें आसानी से सेंध आदि न लग सके, स्वस्तिमान या सायण के शब्दों में 'अविनाशयुक्त' भवन कहें या परम्परागत अमरावतियाँ कैसे मकानों से बनी रही हो सकती हैं, इसका सही मूल्यांकन इन भवनों को देख कर ही किया जा सकता है। मकानों की विशालता के विषय में मार्शल लिखते हैं, "उच्च वर्ग के औसत मकानों का पाठकों को यथासम्भव सुस्पष्ट बोध कराने के लिए, मैंने दो नमूने तिर्यक प्रक्षेपों में तैयार कराये हैं।...इनमें पहले (फलक चौथा और पैंतालीसवाँ ए) का सामने का हिस्सा 85 फुट और गहराई (लम्बाई) 97 फुट है। इसकी बाहरी दीवारें 4 से 5 फुट

तक मोटी हैं और इनमें बाहर की ओर हलका-सा फैलाव है।[63]...जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, मोहनजोदड़ो में ऐसे अनेक भवन हैं जो ऊपर वर्णित दोनों इमारतों से बहुत अधिक विशाल हैं। इस तरह उसी वी एस क्षेत्र (खण्ड ए) में एक विशाल इमारत सं. 27 है,...और एच. आर. क्षेत्र में, खण्ड बी, ब्लाक 2 में एक बहुत बड़ा मकान सं. 5 है। मध्यवर्ती काल में इसमें उन प्रांगणों और कक्षों के अतिरिक्त जिनको श्री साहनी ने इससे सम्बद्ध माना है, दूसरे अनेक प्रांगण और कक्ष रहे प्रतीत होते है।...एक तीसरी इमारत जिसकी योजना बहुत विशाल पैमाने पर बनायी गयी थी, इसी क्षेत्र में है जो मेरी दृष्टि में पूरे ब्लाक 4 को समेटे हुई थी और इसी में सं. 19-22 तक के अनुलग्न क्वार्टर भी शामिल रहे होंगे।"[64] मार्शल ने अपनी राय को सार रूप में रखते हुए यह कहा है कि मोहनजोदड़ो के समृद्ध वर्ग के आवास महलों जैसे प्रतीत होते हैं।[65] मैकडनेल और कीथ को गृह शब्द के बहुवचन में प्रायः आने वाले प्रयोगों को देखकर जो उलझन हो रही थी उसका समाधान मार्शल द्वारा वर्णित इन भवनों से हो जाता है, जिनमें एकाधिक प्रांगण हुआ करते थे और इनकी विशालता का रहस्य यह नहीं है कि ये वैदिककालीन विशाल परिवारों के रहने के लिए बने थे, न यह कि इनमें मवेशी और मनुष्य एक साथ रहते थे। पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हड़प्पा के नगरों के इन बहुखण्डीय भवनों में अपने वाहनों को टिकाने, गायों, घोड़ों आदि को बाँधने और सेवकों के निवास का प्रबन्ध भी—स्वामी के भवन के पास ही और उसी से सटे क्वार्टरों और प्रांगणों में—रहता रहा होगा। यह स्थिति तो नगरों की है, गाँवों में किसानों के पशुओं के लिए घर उनके मकान के पास ही बने रहते हैं, इस विषय में किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

ऊपर के सादृश्यों से यदि यह भ्रम पैदा हो कि ऋग्वेद में मोहनजोदड़ो या हड़प्पा के ही मकानों का वर्णन आया है तो यह अतिकथन-सा होगा, यद्यपि यदि ये ही इस काल के सबसे उन्नत नगर रहे हों तो इनके अनुरूप भवनों की कामना ग़लत भी नहीं हो सकती। यदि कामना ही करनी है तो जो कुछ देखा-जाना है उसमें से सर्वोत्तम की ही क्यों न की जाये! हड़प्पा के नगरों में कुछ तत्व सर्वनिष्ठ हैं और ये सम्भवतः परिपक्व हड़प्पा या, कहें, सैन्धव हड़प्पा की स्थापना से पहले ही विकसित हो चुके थे, अतः इनके इतने सटीक विवरण ऋग्वेद में पाकर चौंकने की ज़रूरत भी नहीं। अब हम इन सहस्रद्वार और बहुकक्षीय भवनों पर दृष्टिपात करने के बाद उस विशेष भवन पर दृष्टि डाल सकते हैं जिसे वरुण से सम्बन्धित माना जा सकता है और जिसे सहस्रस्थूण कहा गया है।

मार्शल लिखते हैं, "मोहनजोदड़ो के वास्तु-अवशेषों के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण को समाप्त करने से पहले दो अन्य इमारतों पर ग़ौर कर लेना होगा जो इस स्थल

के पश्चिमी हिस्से में हैं, अर्थात्, एल क्षेत्र के खण्ड सी के ब्लाक 4 का खम्भों वाला विलक्षण हाल और स्तूप के पश्चिम एस डी क्षेत्र में विशाल स्नानागार। इनमें से पहला जो 90 फुट वर्ग (अर्थात् 8100 वर्गफुट) का है...इसकी योजना मूल रूप में मध्यवर्ती काल में बनी थी।...इसकी छत ईंट के 20 खम्भों पर, जो पाँच-पाँच की चार क़तारों में थे, टिकी थी, और यह बहुत विशाल था।"[66]

इस भवन या हाल को दरबार के रूप में में देखा गया है[67] और इसका विस्तृत विवरण देने वाले मैकाय और स्वयं मार्शल भी पदक्रम आदि के अनुसार लोगों के बैठने के लिए आसन आदि से इसके सजे होने की कल्पना करते हैं।

यहाँ इस बात पर बल देना जरूरी है कि ऋग्वेद में सहस्रद्वार और सहस्रस्थूण भवनों को ही राजाओं या प्रशासकों के साथ सम्बन्धित किया गया है और इन्हें पाने का नहीं, बल्कि इन तक पहुँचने का ही उल्लेख आता है। शेष आवासों के विषय में यही कामना की गयी है कि ये हमें प्राप्त हों, या ऐसे बने रहें। इसके बावजूद कुछ लेखकों का ख़याल है कि ऋग्वेद में मकान की कामना नहीं व्यक्त की गयी है। ऐसी शंकाओं को लाजवाब रहने देना ही अच्छा है।

सुन्दर और सुनियोजित भवनों का वैदिक जीवन में क्या महत्व था, इसका एक अच्छा प्रमाण यह भी है कि इनके यहाँ वास्तु का एक अलग देवता कल्पित किया गया है जिसका नाम है वास्तोष्पति। वास्तोष्पति की स्तुति में बहुत अधिक मन्त्र नहीं आये हैं, पर जो थोड़े-से मन्त्र आये हैं वे आवास के विषय में वैदिकों के गहरे सरोकार को तो प्रकट करते ही हैं। इस देवता का सम्बन्ध केवल मकान के कल्याण से ही नहीं, अपितु इसके निर्माण से भी है। एक बार उसे त्वष्टा या निर्माता के रूप में स्मरण किया गया है।[68] हमें ऐसा लगता है कि यह स्थपतियों का अपना देवता था जिसकी प्रतिष्ठा वे अपने निर्मित मकानों के मुख्य द्वार पर इस आश्वासन के साथ कर देते थे कि जब तक इस देवता का सम्मान होता रहेगा मकान में अभाव और व्याधियों का प्रवेश नहीं होगा और सम्भवत: यही देवता आज भी परम्परागत मकानों में दरवाजे के दायीं ओर बने ताखे में पिण्डी के रूप में स्थापित रहता है जिसकी पूजा गृहप्रवेश और विवाह आदि के अवसर पर गृह-देवता के रूप में की जाती है।

एक स्थल पर वास्तोष्पति से घर के खम्भों को सुदृढ़ बनाये रखने का अनुरोध किया गया है।[69] अन्यत्र उन्हें विविध वास्तुकृतियों में प्रविष्ट रोग आदि का नाशक बताया गया है।[70] एक अन्य स्थल पर स्वयं वास्तोष्पति को देवताओं द्वारा गढ़कर तैयार करने की बात की गयी है।[71] सूक्त 7.54 जो वास्तोष्पति को ही सम्बोधित है, उनको रोग-नाशक, धन-धान्य बढ़ाने वाला और योग-क्षेम में सहायक बताता है।[72]

एक कल्पना जिसका आधार सम्भवत: अग्नि का गार्हस्पत्य रूप है, यह कर ली गयी है कि वैदिक आर्यों के प्रत्येक घर में एक अग्निकुण्ड हुआ करता था। मार्शल ऐसे कुण्डों के अभाव को भी यह सिद्ध करने का आधार बनाते हैं कि मोहनजोदड़ो के भवन वैदिक आर्यों से सम्बन्धित नहीं हो सकते। वस्तुत: गार्हस्पत्य अग्नि वह अग्नि है जिसे घर के भीतर रसोई आदि बनाने के लिए उपयोग में लाया जाता है। वैदिक यज्ञ घर के बाहर हुआ करते थे और यज्ञ के समय मन्थित आग के साथ गार्हस्पत्य आग भी मिलायी जाती थी। सम्भव है, मन्थन से आग पैदा करने के कष्टसाध्य प्रयत्न को देखते हुए, क्रमश: अरणि मन्थन मात्र एक औपचारिकता ही रह गयी हो और इस औपचारिकता को कुछ समय तक चलाने के बाद असल काम गार्हस्पत्य अग्नि से ही चलाया जाता रहा हो। परन्तु दियासलाई के चलन से पहले प्रत्येक घर में आग जला कर रखी जाती थी। इसका इससे अधिक आशय लेना ठीक नहीं है। कहीं जाते समय आग को साथ लेकर चलना जरूरी था, क्योंकि खाद्य-पदार्थ और जल की ही तरह आग भी उनकी आवश्यकताओं में आती थी, पर यह बात सुदूर अभियानों पर ही लागू होती थी। आग को साथ लेकर चलने की रीति क्या थी यह कहना कठिन है, पर सम्भव है वे झझरीदार पात्र जिन्हें इंसेंसबर्नर या धूपदानी कहा गया है, आग (अर्थात् उपले सुलगा कर इनमें रख कर) ले जाने के प्रयोग में आते रहे हों। यह सुझाव इसलिए रखा जा रहा है कि इनमें आग को रखकर टाँग कर ले जाना अधिक सुकर था और नीचे के छिद्रों के कारण निरन्तर ऑक्सीजन मिलती रहने से इनमें आग बुझने का भय नहीं रहता रहा होगा।

जो भी हो, न तो यज्ञ करना वैदिक नित्यकर्म में था, न ही प्रत्येक घर में हवनकुण्ड हुआ करते थे। जो लोग अधिक धर्मपरायण थे वे भी नित्य कर्म में भजन और ध्यान को, सन्ध्या और वन्दन को ही निभाते प्रतीत होते हैं। एक स्थल पर ऋषियों की स्तुति और साधारण गृहस्थों (मनुष्यों) के यज्ञ को इन्द्र को वहन करने वाले रथ के दो घोड़ों के रूप में कल्पित किया गया है।[73] कहें, व्रतपरायण लोग भी नियमित रूप में स्तुति आदि ही करते थे और सामान्य मनुष्य विशेष अवसरों पर, विशेष कामनाओं की पूर्ति अथवा अनिष्टों और विघ्नों के निवारण के लिए यज्ञ का आयोजन करते थे जिनमें पुरोहित आदि का होना जरूरी था। वर्ष में कुछ विशेष अवसरों पर भी यज्ञ का आयोजन होता था। अत: यदि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के घरों में अग्निकुण्ड नहीं मिले तो चिन्ता की बात नहीं; हाँ, यदि उनमें रसोई ही न बनती रही हो और घर में आग ही न रखी जाती रही हो तो कुछ चिन्ता की बात अवश्य होगी, जिस विषय में मार्शल हमारी कोई सहायता नहीं करते।

4

नगर

भारत आज भी एक ग्राम-प्रधान देश है। प्राचीन काल की सभी सभ्यताओं के मेरुदण्ड उनके गाँव ही रहे हैं और हड़प्पा सभ्यता को भी हम ग्राम-प्रधान ही पाते हैं। प्रश्न यह है कि क्या वैदिक साहित्य में नगरों के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं ? गोपथ ब्राह्मण में प्राचीन काल में प्रचुर जल-सम्पदा वाली नदियों पर इन्द्र के नगर के बसे होने का ज़िक्र आता है जिसे असुरों ने घेर लिया था।[74] यह विवरण प्राचीन परम्परा पर ही आधारित हो सकता है। सृष्टि के प्रसंग में कहा जाता है कि जैसे मानदण्ड से माप कर मकान बनाया जाता है उसी तरह इन्द्र ने पहले पैमायश की और फिर नदियों को खोदा। नदियों के निर्माण के प्रसंग में पैमायश करने के बाद वज्र या यन्त्र से खुदाई करने की बात वे ही कर सकते थे, जो जल-निकास आदि के लिए सुनियोजित रूप में नालियों, नालों और नहरों का निर्माण करने का ज्ञान, कौशल और अनुभव रखते रहे हों।[75] ऋग्वेद में जिन विशाल भवनों के उल्लेख मिलते हैं वे भी नगरों में ही निर्मित हो सकते थे। सभागार की ओर रथ पर सवार होकर आने वाला अपने गाँव की बैठक में तो नहीं ही आ रहा होगा।[76] अरेणु या धूलरहित मार्गों की[77] कल्पना भी वे ही कर सकते थे जिनके अपने नगर की सड़कों की नियमित सफ़ाई और धुलाई होती रही हो। स्वल्पवृष्टि के बावजूद सिन्धु के नगरों में बनी परनालियाँ इस बात की सूचना देती हैं कि इसके पक्के मार्गों की धुलाई भी हुआ करती थी और धुलाई के लिए प्रयुक्त होने वाले मशक या दृति[78] को ऋग्वेद से ही समझा जा सकता है।

इसी तरह नागर-आचार, जिसकी झलक हड़प्पा के अवशेषों में सर्वत्र मिलती है, की दृष्टि से भी हम वैदिक परम्परा को ही अधिक आग्रहशील पाते हैं। स्वच्छता चाहे वह शरीर की हो या वस्त्रों की या परिवेश की; शील या शिष्टाचार —पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता और माता के प्रति, छात्र का गुरु के प्रति, शिक्षित और विद्वान व्यक्तियों का सामान्य जनों और सामान्य जनों का उनके प्रति, विभिन्न हैसियत के व्यक्तियों का एक-दूसरे के प्रति; नारी का पुरुष और पुरुष का नारी के प्रति क्या व्यवहार होना चाहिए, इनका आमना-सामना होने पर कैसे पेश आना चाहिए, कब और कैसे बोलना चाहिए, कहाँ बैठना चाहिए, खाद्य और पेय पदार्थों को किस तरह साफ़ रखना चाहिए और किन खाद्यों और पेयों से परहेज़ करना चाहिए, आदि के प्रतिबन्ध भी नागरिक व्यवस्था और अनुशासन की देन हैं, जिनके अभाव में हम किसी व्यक्ति को ग्राम्य, गँवार या प्राकृत जन कह दिया करते हैं। प्रातः स्नान का सम्बन्ध भी हड़प्पा और वैदिक नागर जीवन की ही देन है, जिसका सम्बन्ध शारीरिक श्रम से मुक्त 'भद्र जनों' से

है। मिट्टी-धूल में काम करने वाला काम करने के बाद नहाना पसन्द करेगा, न कि नहा कर मिट्टी-धूल में लिपटना।

5

नगर-योजना

यदि हड़प्पा की बस्तियों पर ध्यान दें तो इनसे दो बातें स्पष्ट हो कर सामने आती हैं : इनका निर्माण एक निश्चित योजना के अनुसार हुआ है और इनको वर्गाकार कल्पित किया गया है।[79] वर्ग वृत्त की तरह पूर्णता का प्रतीक है और इसकी रचना में भी मूलतः वृत्त का ही सहारा लिया गया है। अर्थात् वृत्त के व्यास के समानान्तर रेखाएँ खींच कर इसके सिरों को पुनः उसी युक्ति से मिलाकर वर्ग की रचना। वृत्त और वर्ग की इस पूर्णता का आग्रह वैदिक यज्ञ-विधान में भी बहुत स्पष्ट देखा जा सकता है। यज्ञकुण्ड और यज्ञ की वेदी की रचना में ईंटों का चयन वर्गाकृति में ही किया जाता था और आज भी इनको वर्गाकार ही बनाया जाता है। यज्ञकुण्ड को अग्नि के निवास के रूप में और वेदी को देव-समाज के आवास के रूप में कल्पित किया जाता है। यहाँ हड़प्पा की बस्तियों की योजना के पीछे काम करने वाली प्रेरणा को हम वैदिक साहित्य के सहारे ही समझ सकते हैं जो ब्राह्मणों में तो अपनी तार्किक परिणति पर पहुँची दिखायी देती है।

6

नगर-प्रशासन

हम वरुण के सन्दर्भ में इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि क्रमशः विकसित होते हुए यह देवता वैदिक काल तक दो व्यक्तियों में बँट चुका है। एक नौचालन के समय कप्तान का रूप और दूसरा उसका प्रशासनिक रूप। इस दूसरे पक्ष को ही मूल वरुण का सीधा विकास कह सकते हैं। वैदिक काल में वरुण को प्रायः राजा या सम्राट के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। वह व्यवस्था और न्याय के सर्वोच्च देवता हैं। हड़प्पा सभ्यता के नगरों की व्यवस्था को देखते हुए विद्वान इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि नगर-नियमों का कठोरता से पालन करने के लिए उस समय किसी संस्था का अस्तित्व रहा होगा।[80] ऋग्वेद में वरुण के विषय में जो सूचनाएँ मिलती हैं वे इस तरह की व्यवस्था को सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त मानी जा सकती हैं। केवल धरती का ही नहीं, समस्त सृष्टि का नियमित संचालन, सूर्य

चन्द्रमा, और नक्षत्रों की गति और नियमबद्धता—सब कुछ वरुण के शासन के अधीन है। उनका व्रत या विधान सर्वमान्य है। इनका कोई उल्लंघन नहीं हो सकता।[81] स्थापित मर्यादा का उल्लंघन करने वाले को प्राणदण्ड तक प्राप्त हो सकता है।[82] उनके पाश से मुक्ति नहीं है, या है तो उन्हीं की कृपा से।[83] वह उरुचक्षु या सब पर खुली नज़र रखने वाले हैं।[84] उनके चर अनिमिष भाव से अच्छे-बुरे कामों पर नज़र रखते हैं।[85] स्वयं वरुण लोगों के अच्छे-बुरे कर्मों का निरीक्षण करते चलते हैं।[86]

ऋण की अदायगी न कर पाना दण्डनीय है।[87] चोरी करना दण्डनीय है।[88] दूसरे की कमाई पर पलना या दूसरे की कमाई हड़पना पाप है।[89] झूठ बोलना अपराध है।[90] अभिचार करना या जादू-टोना करना अपराध है।[91] किसी स्त्री का विवाह से पूर्व सहवास करना वर्जित है।[92] हत्या, लूट आदि निश्चय ही दण्डनीय हैं। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में मानसिक या अकृत पापों या एनसों-आगसों का उल्लेख प्रायः आता है।[93] यह इस समाज की नैतिक चेतना को समझने के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है अपितु, इससे यह भी प्रकट होता है कि नियमों के कठोर परिपालन और प्रवर्तन के एक लम्बे क्रम के दौरान इन सामाजिक और नागरिक मूल्यों को जनचेतना का अंग बना दिया गया था। इसके अभाव में उस काल में इतने बड़े क्षेत्र में समान रूप से नियमितता और समस्त पुरवासियों और, संभवतः, ग्रामवासियों द्वारा नियम, व्यवस्था और स्वच्छता का परिपालन सम्भव नहीं था, जो हड़प्पा सभ्यता के पूरे प्रसार में देखने को मिलता है।[94]

7

भोगवादिता और दुर्व्यसन

नागरिक सभ्यता का अधिक मुखर रूप इस समाज की भोगवादिता में प्रकट होता है। धन और उत्तम भोगों के पीछे इसके पागलपन में इसका दर्शन होता है। वरुण के कठोर आग्रहों के बावजूद इस समाज में कम-से-कम एक वर्ग तो ऐसा है ही जो सारे बन्धनों को तोड़ कर अपने अतिरिक्त धन-संचय को शराब, जुआ और वेश्यागमन आदि पर लुटाता है।

द्यूत— वैदिक कालीन दुर्व्यसनों में से एक जुआ है, जिसके लिए सभागार या अड्डे बने प्रतीत होते हैं।[95] जुए का कुछ विस्तार के साथ उल्लेख केवल एक ही सूक्त में आया है, जिसे इतने प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है कि लगता है इसने वैदिक समाज में एक व्याधि का-सा रूप ले लिया था। यह मात्र संयोग नहीं है कि आज भी पूरे विश्व में जुए के अड्डे उन देशों में और उसी भयानक

रुग्णता के साथ देखने में आते हैं जिनमें आर्थिक विषमता बहुत अधिक है और इसके चलते एक वर्ग के मनोरंजन का साधन जुआ बन जाता है। रातोंरात सही-ग़लत किसी भी तरीके से अमीर बनने का स्वप्न इसे समाज के उन हिस्सों में भी उतार देता है जिनकी सामान्य हैसियत ऐसी नहीं होती कि वे इस दुर्व्यसन में पड़ें। वैदिक काल में जुए का चलन कितना अधिक था, इसे समझने के लिए इस सूक्त के कुछ अंशों पर दृष्टिपात करना अप्रासंगिक न होगा : यह पत्नी मेरी और मेरे बन्धुओं की विशेष सेवा-सुश्रूषा करती थी, किन्तु केवल पासे के कारण मैंने उस परम अनुरागिनी को खो दिया।[96] जो जुआरी जुआ खेलता है उसकी सास उसकी निन्दा करती है और उसकी पत्नी उसका साथ छोड़ देती है। जुआरी किसी से कुछ माँगता है तो उसे कोई कुछ नहीं देता। जैसे बूढ़े घोड़े को कोई नहीं ख़रीदता, उसी तरह जुआरी का कोई आदर नहीं करता।[97] पासे का आकर्षण बहुत कठिन है। यदि किसी के धन के प्रति उसकी लोभदृष्टि हो जाये तो पासे वाले की पत्नी व्यभिचारिणी हो जाती है। जुआरी के माता-पिता और सहोदर कहते हैं, हम इसे नहीं जानते। जुआरियो, इसे पकड़ कर ले जाओ।[98] जिस समय मैं इच्छा करता हूँ कि अब मैं जुआ नहीं खेलूँगा उस समय मैं पासे के पास से हट जाता हूँ। किन्तु नक्शे पर पीले अक्षों को चलते देख कर मुझसे ठहरा नहीं जाता। जैसे कुलटा स्त्री अपने यार के पास जाती है वैसे ही मैं जुए के अड्डे पर चला जाता हूँ।[99] कभी-कभी पासा बेहाथ हो जाता है—अंकुश के समान चुभता है, वाण के समान छेदता है, छुरे की तरह काटता है, तप्त वस्तु की तरह जलाता है। जो जुआरी जीतता है, उसके लिए पासा पुत्र-प्रसवा के समान सुखदायी होता है, मधुरता से युक्त होता है, मानो मीठे स्वर में आलाप कर रहा हो, किन्तु हारे हुए जुआरी की तो जान ही चली जाती है।[100] कोई कितना भी प्रबल क्यों न हो, पासा किसी के काबू में नहीं आता। राजा तक पासे को नमस्कार करते हैं।[101] जुआरी की स्त्री दीन-हीन वेश में यातना भोगती है, बच्चे मारे-मारे फिरते हैं, माँ उसका चलन देख कर विलखती है, कर्ज़ देने वाला सन्देह में रहता है कि उसका धन वापस मिलेगा भी या नहीं। जुआरी बेचारा दूसरों के घर रात काटता है।[102] जो जुआरी सुबह घोड़े पर सवार हो कर आता है, वही शाम को दरिद्र के समान जाड़े से बचने के लिए आग ताप रहा होता है। उसके शरीर के वस्त्र तक उतर जाते हैं।[103]

यह कहा जा सकता है कि यह सूक्त दसवें मण्डल में आया है जो नया है, पर इसके प्रचलन की पुष्टि प्राचीन मण्डलों से भी होती है।[104] उक्त सूक्त जैसा कोई उपदेशात्मक सूक्त भले ही पुराने मण्डलों में न मिले, जो उनकी प्रकृति और विषय-सीमा में भी नहीं आता, पर प्रासंगिक उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि यह इस

समाज की एक पुरानी व्याधि थी। यह हड़प्पा सभ्यता की भी एक प्रचलित बुराई दिखायी देती है।[105] वैदिक जुए का खेल शतरंज के खेल से मिलता-जुलता प्रतीत होता है और इसकी गोटियों को हड़प्पा के अवशेषों में पहचाना जा सकता है, जहाँ से एकाधिक प्रकार की गोटियाँ प्राप्त हुई हैं।[106] ऋग्वैदिक काल में जुए की गोटियों के लिए 'विभीतक' शब्द का व्यवहार देख कर यह भ्रम पैदा हो सकता है कि जुए में गोटों के स्थान पर हारीतकी की गुठली का प्रयोग होता था। परिष्कृत और मानकीकृत रूपों के लिए भी पुराने ग्राम, ग्रेन, भाष, कृष्णल आदि प्रयोग चलते आये हैं। हड़प्पा-काल के बाद फिर मौर्य-काल में ही गोटियों के दर्शन होते हैं।

स्वैराचार—अपेक्षा से अधिक लाभ और संग्रह अपने निकास के लिए जिस दूसरे रास्ते की तलाश करता है वह है स्वैराचार और वेश्यावृत्ति। जारवृत्ति वैदिक काल में इतने जोर पर दिखायी देती है कि मनुष्य ही नहीं, देवताओं को भी इसमें शामिल कर लिया जाता है।[107] देवताओं तक के प्रति किसी तरह की रियायत का न होना यह प्रकट करता है कि जुए की तरह ही यह बुराई भी एक वर्ग-विशेष में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद के कुछ अंश ऐसे हैं जिन्हें घोर अश्लील कहा जा सकता है।[108] अश्लीलता की खपत भी सम्भवतः आशातीत लाभ या धनसंचय के साथ गहरा सम्बन्ध रखती है, इसे हम आज के उदाहरणों से भी समझ सकते हैं।

नृत्य वैदिक जनों के मनोरंजनों में से एक है, पर यह नृत्य सामुदायिक उल्लास की अभिव्यक्ति नहीं है जिसमें सभी शामिल होते हैं। यहाँ नर्तकियों का एक पेशा है।[109] इन नर्तकियों का काम केवल नाचना ही नहीं है, वे इस पेशे के साथ जुड़े अन्य रूपों में भी अपने ग्राहकों का मनोरंजन करती प्रतीत होती हैं। बहुसूवरी,[110] विश्पत्नी[111], साधारणी[112], देवपत्नी[113], आदि विशेषणों का प्रयोग इनके लिए ऋग्वेद में देखने में आता है। उर्वशी की कथा तो ऋग्वेद की मार्मिक गाथाओं में से एक है ही।[114] वैदिक ऋषियों में भी कम-से-कम दो—वसिष्ठ और अगस्त्य अप्सराओं से उत्पन्न अज्ञात पितृत्व वाले देव-पुत्र हैं।

जुए की ही तरह वेश्यावृत्ति से भी घरों के तबाह होने और समृद्ध लोगों के रंक बनने की सूचना मिलती है।[115] अतः यह मानने का कोई कारण नहीं दीखता कि यौन आचरण में यह शिथिलता आदिम कबीलाई समाजों में स्त्रियों को प्राप्त छूट का द्योतक है। यह अवस्था वैदिक समाज के सुदूर अतीत के गर्भ में चली जा चुकी है। कबीलाई निर्बन्धता में स्वच्छन्द वरण का प्रश्न तो आता है, पर पैसे के लिए अपना शील बेचने का सवाल नहीं पैदा होता। यह एक प्रमुख बात है और नृशास्त्र में इसके प्रमाण भरे पड़े हैं। भावुकता और रागात्मकता से शून्य, केवल पैसे के

लिए अपने को समर्पित करने की वेश्याओं की प्रवृत्ति के कारण ही सम्भवतः स्त्रियों की उस निष्ठुरता और हृदयहीनता का मुहावरा चला है जो शृंगारिक कविताओं में आज तक चला आया है और जिसकी छाप ऋग्वेद में भी मिलती है; कारण, वेश्याएँ तब तक तो असाधारण स्नेह दिखाती हैं जब तक उन्हें सम्बन्धित व्यक्ति से उपहार और पुरस्कार मिलते रहते हैं, पर उनके कंगाल होते ही उसे पहचानतीं तक नहीं। यह मात्र संयोग नहीं है कि स्त्रियों की इस निष्ठुरता का उल्लेख स्वयं उर्वशी द्वारा किया जाता है, जो एक अप्सरा है।[116]

गणिका वृत्ति का सम्बन्ध भी नगरों से है, इसे नगरवधू, नागरी, कसबिन, आदि शब्दों में देखा जा सकता है। यदि वैदिक जन कबीले वाली स्थिति में होते तो इस प्रकार के प्रसंगों को कभी उठाया ही नहीं जा सकता था। गोंड, कोल, टोडा, इरुला आदि वनवासी जातियों के विषय में 19वीं शती की रचनाओं को उठाकर देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा।

मदिरा—जुए और गणिका-वृत्ति की ही तरह सुरापान का चलन भी वैदिक जनों में देखने में आता है। जुए और वेश्यावृत्ति को जिस तरह शहरी जीवन की बुराइयाँ माना जा सकता है, उसी तरह सुरापान को नहीं। सुरापान या किसी-न-किसी तरह के नशे का सेवन कबीलों में भी पाया जाता है। पर यहाँ हम इसके चलन को नहीं, अपितु इसके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण को शहरी जीवन का प्रमाण मान सकते हैं। कबीलों में जहाँ मादक द्रव्यों का सेवन होता है, इसमें किसी तरह की बुराई नहीं मानी जाती। पर सभ्य समाज में नशे के कारण उत्पन्न होने वाली मानसिकता—उग्रता, कलह, अपराध की प्रवृत्ति आदि को शिष्ट लोगों के लिए निन्दनीय मानने के कारण, इसकी आलोचना की जाती है। वैदिक समाज में सुरापान का चलन तो है[117], पर इसकी निन्दा की जाती है। सामान्यतः सुरापान को ही अन्य बुराइयों की जड़ भी माना जाता है। ऋग्वेद में भी सुरापान के विषय में ठीक यही दृष्टिकोण देखने को मिलता है।[118]

हड़प्पा सभ्यता में मदिरापान का चलन किस सीमा तक था, यह कहना कठिन है, पर नृत्य आदि के प्रचलन के विषय में किसी को सन्देह नहीं है। वास्तविकता यह है कि यदि हड़प्पा की कांस्य नर्तकी को सिनीवाली के पूर्व-विवरण से मिलाकर देखें तो ही यह समझा जा सकता है कि ऋग्वैदिक विश्पत्नी के सुबाहु, सु-अंगुलि, सुषूमा और ब्राह्मणों की सुकपर्दा, सुकुरीरा[119] शिनीवाली का आशय क्या है।

प्रकारान्तर से कहें तो धनतामक उपलब्धियों के मामले में ही नहीं, अपितु दोषों के मामले में भी वैदिक समाज हड़प्पा नगर सभ्यता से अद्भुत साम्य रखता है। इसकी ये सभी विशेषताएँ और दुर्गुण नगर सभ्यता, और उसके भी सम्पन्न और भोगवादी वर्ग, की विशेषताएँ और दुर्गुण हैं। ऋग्वेद के विषय में यह मत

प्राय: व्यक्त किया गया है कि इसमें आध्यात्मिकता का वह आग्रह नहीं मिलता जो उपनिषद्-काल में देखने को मिलता है।[120] यह समाज घोर भौतिकवादी है, जीवन के उल्लास और आनन्द को न केवल मुक्त रूप में स्वीकार करता और भोगता है, अपितु कुछ मामलों में इसकी यह प्रवृत्ति रुग्णता की सीमा तक पहुँच गयी है। इसके देवताओं में भी इस भोगवादिता ने वही उच्छृंखलता पैदा कर रखी है जो उसके अपने समाज में है। रीतिकालीन कवियों के कृष्ण की तरह वैदिक इन्द्र भी असाधारण रूप से रतिमय दिखायी देते हैं[121], इन्द्राणी की दर्पोक्ति तो किसी गणिका को ही शोभा दे सकती है।[122] उषा तक को अनेक बार एक वारांगना के रूप में दिखाया गया है।[124] पौराणिक इन्द्र को जिस तरह कामी के रूप में चित्रित किया जाता है और उनके सहयोगी के रूप में प्राय: चन्द्रमा (सोम) को ले लिया जाता है, वह कोई नयी बात नहीं। यह वैदिक भोगवादिता और विलासिता का खुमार है। इन्द्रलोक की कल्पना, अप्सराओं, यक्षों और किन्नरों से उनका घिरा रहना, दिन-रात विलासिता में लिप्त रहना, अपने प्रतिस्पर्धियों से आशंकित रहना और उन्हें तबाह करने के लिए शिष्ट और न्यायोचित तरीकों को छोड़ कर धूर्तता और छल तक उतर आना, ये सभी उस नगर सभ्यता और इसके सम्पन्न वर्ग की जीवन-पद्धति की छायाएँ हैं। जैसा हम कह आये हैं, इन्द्र की अमरावती को मोहन-जोदड़ो की ऊँचे नगर-प्राचीर से वेष्ठित बस्ती और इसकी सात फुट मोटी दीवारों वाली इमारतों को सामने रख कर ही समझा जा सकता है। साथ ही, इस नगरी का नाम 'अलका' नदी-तट पर बने नगर को सामने रख कर ही समझा जा सकता है। लंका का अर्थ है द्वीप या जल से चारों ओर से घिरा भूभाग और अलका का अर्थ हुआ जल के साथ स्थित, पर घिरा हुआ नहीं। यदि अलका का अर्थ अलंकृत नगरी या सुसज्जित नगरी करें, या अरंका या समृद्ध नगरी करें तो भी कोई कठिनाई नहीं होगी। है यह नगरी ही।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस वैली सिविलाइज़ेशन, 1931, 1, 15
2. विल्सन, ऋग्वेद, खण्ड 3, 1926 सं., भूमिका, पृ. 12
3. वैदिक इंडेक्स, 1, 255-56
4. देखें, 'पुर' पर टिप्पणी, वही, 614

5. देखें, ऋ. 7.56.16 और 10.106.5 पर सायण भाष्य, विल्सन और ग्रिफ़िथ आदि के अनुवाद भी। उदाहरण के लिए, 7.59.16 का अनुवाद ग्रिफ़िथ निम्न प्रकार करते हैं :

The Maruts, flee as courser, while they deck them like youths, spectators of a festal meeting.

Linger like beauteous colts about the dwelling like frisking calves, these who pour down the water.

अब यदि मकान के आस-पास कुलाँचें भरते हुए बछड़ों का आशय इतनी दूर तक खींचा जा सकता है कि इसे मनुष्यों और मवेशियों के एक ही मकान में रहने का प्रमाण बनाया जा सके तो ऋग्वेद से कुछ भी सिद्ध करना असम्भव नहीं है।

6. वैदिक इंडेक्स, 1,600
7. वही।
8. मैकडनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, 1981 सं., 11
9. मार्शल, पूर्व; 1931, 1, 15
10. 1.17.8; 46.15, आदि।
11. 7.61.4; 8.41.10, आदि।
12. 3.8.1; 5.12.6; 7.66.5, आदि।
13. 2.1.7; 8, आदि।
14. 2.4.9; 11.5; 3.1.9, आदि।
15. 1.22.4; 2.41.2; 4.49.3, आदि।
16. 1.69.2; 3.1.18; 4.2.7
17. 1.66.5; 3.53.4; 4.16.10, आदि।
18. 1.31.17; 3.30.9, आदि।
19. 3.55.14; 4.1.8, आदि।
20. 1.23.21; 2.34.14, आदि।
21. 1.54.6
22. 5.44.8; 7.18.13, आदि।
23. 1.51.14; 2.38.5, आदि।
24. 10.85.10
25. 4.53.1; 6.15.3, आदि।
26. 6.3.3; 10.97.5, आदि।
27. 5.32.5; 7.55.6, आदि।
28. 10.107.10; 146.3

29. 6.71.2; 7.19.5
30. 1.35.6
31. 1.25.10; 4.1.11, आदि।
32. 4.1.11; 12, आदि।
33. 8.90.6
34. 1.158.3; 2.3.8, आदि।
35. 1.37.8; 5.87.7, आदि।
36. 2.33.11; 5.62.5, आदि।
37. 3.29.10; 4.3.2, आदि।
38. 1.122.13. देखें, कोसम्बी, अर्ली स्टेजेज़ ऑफ़ कास्ट सिस्टम इन नार्दर्न इंडिया, जबंराएसो, 23, 1946, 35
39. शतब्रा. 6.2.1.1 व 8-9. देखें, 6.1.2.22 भी, जिसके अनुसार ईंट का नाम इसलिए इष्टक पड़ा कि यह यज्ञ से उत्पन्न हुआ, "तत् यत् इष्टात् समभवन् तस्मात् इष्टकाः, तस्मात् अग्निना इष्टकाः पचन्ति।"
40. शतब्रा. 6.5.3.1-3. इसके अतिरिक्त देखें, 6.2.3.2 भी जिसमें 'पशु इष्टक' या पशुओं की आकृतियों वाली लघु-पट्टियों के चयन का उल्लेख है। इन विवरणों को हड़प्पा की मुद्राओं को सामने रखे बिना समझा ही नहीं जा सकता।
41. मो सु वरुण मृत-मयं गृहं राजन् अहं गमम्। मृड़ सुक्षत्र मृड़य। ऋ. 7.89.1.
42. भोजस्य इदं पुष्करिणी इव वेश्म परिष्कृतं देवमाना इव चित्रम्। ऋ. 10.107.10
43. ऋ. 1.162.10; 2.35.6; 3.30.14; 4.3.9; 8.89.7, आदि।
44. शर्म नः यन्तं अमवत् वरूथम्। ऋ. 4.55.4
45. देखें, उपर्युक्त ऋचा पर सायण भाष्य।
46. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. 80
47. आमा पुरों या नौकाओं के विषय में भी यही आशय लेना ठीक है या नहीं, कहना कठिन है।
48. 'वात-पित्त-श्लेष्म-धातु-त्रय-शमन विषयक' सायण।
49. 'पृथिव्यादिषु त्रिषु स्थानेषु अवस्थितान्', वही।
50. ऋ. 4.53.6.; 5.4.8; 6.26.7.; 8.18.21, आदि।
51. दवैको., 1975, 826.
52. वस्तुतः कोई भी घर इन अल्पतम आवश्यकताओं की पूर्ति अपने ढंग से

करता ही है चाहे वह आदि मानव की गुफा ही क्यों न हो, अतः इन गुणों से युक्त आवास की कामना का कोई विशेष महत्व नहीं है।

53. ऋ. 4.53.6 में पापियों या दुष्टों से रक्षा के लिए त्रिवरूथ शर्म की कामना की गयी है, 'सः नः देवः सविता शर्म यच्छत अस्मे क्षयाय त्रि-वरूथं अंहसः।' ऋ. 6.46.9 में 'त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत' की याचना की गयी है यहाँ त्रि-धातु का अर्थ सायण 'त्रिभूमिकं' और 'स्वस्तिमत' का अर्थ 'अविनाशयुक्तं' करते हैं; पर ऋ. 6.26.7 में वह 'त्रिवरूथ' का अर्थ 'त्रीणि वरूथानि आवरकाणि भुवनानि' ही करते हैं। जो भी हो, 'स्वस्तिमत' की उनकी व्याख्या 'अविनाशयुक्त' काफ़ी महत्वपूर्ण है।

54. मार्शल, पूर्व; 1931, 1, 16-17

55. वही, 19

56. वही, 110-11

57. 'अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्तन।' ऋ. 5.55.9; 'विशे जनाय महि शर्म यच्छतम्'। ऋ. 1.93.8

58. 'वृंजे देवव्यचःतमं इन्द्राय शर्म सप्रथः।' ऋ. 1.142.5; 'छर्दिः यच्छ वीतहव्याय सप्रथः भरद्वाजाय सप्रथः।' ऋ. 6.15.3; देखें, 6.16.33; 7.82.10, आदि भी।

59. ऋ. 1.58.8; 2.3.8, आदि।

60. 'आत् अस्य आयुः ग्रभणवत् वीड़ु शर्म न सूनवे।' ऋ. 1.127.5

61. राजानौ अनभिद्रुहा ध्रुवे सदसि उत्तमे। सहस्र-स्थूण आसाते ॥
ऋ. 2.41.5

62. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगम गृहं ते ॥ ऋ. 7.88.5

63. मार्शल, पूर्व, 1931, 1,17.

64. वही, 22; देखें, ह्वीलर, दि इंडस सिविलाइज़ेशन, 1953, पृ.33 व 41, भी।

65. वही, 17

66. वही, 22

67. मैकाय, वही, अध्याय 11, 30; ह्वीलर, पूर्व, 34

68. अभि वः अर्चे पोष्यावतः नृन् वास्तोः पतिं त्वष्टारं रराणः। ऋ. 5.41.8

69. वास्तोः पते ध्रुवा स्थूणा अंसत्रं सोम्यानाम्। ऋ. 8.17.14

70. अमीवहा वास्तोः पते विश्वा रूपाणि आविशन्। सखा सुशेवः एधि नः ॥
ऋ. 7.55.1.

71. वास्तोः पते प्रति जानीहि अस्मान् सु-आवेशः अनमीवः भव नः।
यत् त्वा ईमहे प्रति तत् नः जुषस्व शं नः भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

वास्तो: पते प्रतरण: न एधि गयस्फानः गोभिः अश्वेभिः इन्दो।
अजरासः ते सख्ये स्याम पिता इव पुत्रान् प्रति नः जुषस्व ।।
वास्तो: पते शग्मया सं-सदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेमे उत् योगे वरं नः यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।। ऋ. 7.54

72. सम्भवत: आग रखकर ले जाने के लिए प्रयुक्त इस शतछिद्र पात्र का नाम 'वनी' था। देखें, सच्चिदानन्द मिश्र, 1984, 40-41

73. ऋषीणां च स्तुतीः उप यज्ञं च मानुषाणाम्। ऋ. 1.84.2

74. वसोः धाराणां ऐन्द्र नगरं तत असुराः परि अवारयन्त, ते देवाः भीताः आसन् क इमान् असुरान् अपहनिष्यति इति।...गोपब्रा. 1.23

75. सद्म इव प्राचः वि-मिमाय मानैः वज्रेण खानि अतृणत् नदीनाम्।
वृथा असृजत् पथिभिः दीर्घयाथैः सोमस्य ता मदे इन्द्रः चकार।

ऋ. 2.15.3

76. अश्वी रथी सुरूपः इत् गोमान् इत् इन्द्र ते सखा।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रः याति सभां उप ।। ऋ. 8.4.9

77. ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासः अरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।
तेभिः नः अद्य पथिभिः सुगेभिः रक्ष च नः अधि च ब्रूहि देव ।।

ऋ. 1.35.11

78. 1.191.10; 4.45.1; 3; 5.83.7; 7.89.2, आदि

79. देखें, जगतपति जोशी, 'हड़प्पा कल्चर : इमर्जेंस ऑफ़ ए न्यू पिक्चर'; 25-27 अक्तूबर, 1982, दि इंडियन आर्कियॉलॉजिकल सोसायटी और इंडियन सोसायटी ऑफ़ प्री हिस्टारिक ऐंड क्वार्टर्नरी स्टडीज़ के अवसर पर पढ़ा गया निबन्ध, साइक्लो. प्रति पृष्ठ 8, जिसमें लेखक ने 1500 : 1500, 900 : 900, 500 : 500, 400 : 400, 200 : 200 मीटर की शतरंज के बोर्ड की आकृति वाली बस्तियों का उल्लेख किया है। इन्हें शतरंज-बोर्ड की आकृति के स्थान पर यज्ञ-वेदी की आकृति की बस्तियाँ भी कहा जा सकता है।

आबादी के बढ़ने के साथ इस वर्गाकृति की रक्षा कैसे की जाती रही होगी, यह कहना कठिन है। पर भारतीय गाँवों में आज भी यह धारणा प्रचलित है कि नये मकान मूल बस्ती के उत्तर और पूर्व की ओर ही बनाये जाने चाहिए। यदि छोटे वर्ग को क्रमशः दो पार्श्वों की ओर इस तरह बढ़ाते हुए चलें तो आगे भी वर्गाकृति अप्रभावित ही रहेगी। इस मान्यता का पालन हड़प्पा-काल में कुछ अधिक नियमित और व्यवस्थित रूप में किया जाता रहा होगा।

80. बैशम, पूर्व., 27

81. 1.24.6; 10; 5.63.7; 69.4; 8.41.7; 10.36.3, आदि।
82. 1.24.11; 25.2; 2.28.5; 7.86.4, आदि।
83. 1.24.13; 25.21, आदि।
84. 1.25.5; 8.41.3, आदि।
85. 1.24.13; 7.67.5, आदि।
86. यासां राजा वरुणः याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्।
ऋ. 7.49.3
87. 2.27.4
88. 7.55.3
89. परा ऋणा सावीः अध मत्कृतानि मा अहं राजन् अन्यकृतेन भोजम्।
ऋ. 2.28.9
90. 1.23.22; 1.28.4; 105.2; 139.2, आदि।
91. 7,104.15; 16
92. 10.75.24
93. 1.179.5; 185.8; 2.27.14; 28.5; 4.3.5; 12.4; 5.3.7; 12; 85.7; 7.57.4; 86.4; 87.7; 93.7; 10.15.6, आदि।
94. ऋग्वेद में परिष्कृति, 3.28.2; 8.39.9; 9.43.3; 10.32.3; 135.7; सुकृत, 1.48.11; 117.2; 147.3; 3.31.12; 38.2; 60.3; 4.4.13; 13.1; 5.4.8; 7.35.12, आदि, के उल्लेख विविध प्रसंगों में आते हैं। ऋत का प्रयोग भी निरे सत्य के अर्थ में नहीं होता, अपितु इसमें व्यवस्था और सामाजिक दायित्व का भी एक भाव बना रहता है। ऋजुमार्ग का उल्लेख विहित आचार-पद्धति आदि के आशय को भी प्रकट करता है। ये सभी बातें इस का संकेत करती है कि सामुदायिक और नागरिक दायित्वों और नियमों के निर्वाह की चेतना बहुत व्यापक थी और व्यक्तिगत शुद्धता तथा अपने परिवेश की सफ़ाई पर विशेष ध्यान दिया जाता था। ब्राह्मणों आदि में साफ़ और सुन्दर वस्त्र पहनने के उल्लेख तो मिलते ही हैं (शतब्रा. 3.1.2.12), इस बात के भी विधान दिखायी देते हैं कि न तो मलिन वस्त्र पहनने वाले के साथ बात करनी चाहिए, न उसके साथ बैठना चाहिए। यह भेद परवर्ती काल में अस्पृश्यता को बल देता प्रतीत होता है और श्रमिकों—जो अपना वस्त्र सदा स्वच्छ नहीं रख सकते—तथा उपजीवी वर्गों के बीच फ़र्क का आधार बनता है। पर ऋग्वेद में भी सुवसन, सुरभि, सुपेश, सुवेश और परिवीत अर्थात् अच्छी तरह वेष्ठित होने (1.128.1; 3.8.4; 4.1.7; 3.2; 4.39.5; 6.51.

4;7.32.13), आदि पर विशेष बल यह जाहिर करता है कि कपड़े-लत्ते की सफ़ाई का ध्यान ऋग्वैदिक काल में पूरा रखा जाता था। देखें, वैदिक इंडेक्स,2, 'वासस्'भी।

95. 10.34.1

96. न मा मिमेथ न जिहीड़े एषा शिवा सखिभ्य: उत मह्यं आसीत्।
अक्षस्य अहं एक-परस्य हेतोः अनव्रतां अप जायां अरोधम्॥
ऋ. 10.34.2

97. द्वेष्टि श्वश्रू: अप जाया रुणद्धि न नाथितः विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्य इव जरतः वस्न्यस्य न अहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥
ऋ. 10.34.3

98. अन्ये जायां परि मृशन्ति अस्य यस्य अगृधत् वेदने वाजी अक्षः।
पिता माता भ्रातरः एनं आहुः न जानीमः नयत बद्धं एतम्॥
ऋ. 10.34.4

99. यत आदीध्ये न दविषाणि एभिः परायद्भ्यः अव हीये सखिभ्यः।
नि उप्ताः च बभ्रवः वाचं अक्रत एमि इत् एषां निष्कृतं जारिणी इव॥
ऋ. 10.34.5

100. अक्षासः इत् अंकुशिनः नितोदिनः निकृत्वानः तपनाः तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णाः जयतः पुनः हनः मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा॥
ऋ. 10.34.7

101. उग्रस्य चित् मन्यवे न नमन्ते राजा चित् एभ्यः नमः इत् कृणोति।
ऋ. 10.34.8

102. जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।
ऋणवा बिभ्यत् धनं इच्छमानः अन्येषां अस्तं उप नक्तं एति॥
ऋ. 10.34.10

102. स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं तताप अन्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून् सः अग्नेः अन्ते वृषलः पपाद॥
ऋ. 10.34.11

104. देखें, ऋ. 2.29.5; 5.85.8; 7.86.6

105. डब्ल्यू. एन. ब्राउन, 'इंडियन गेम्स ऑफ़ पचीसी, चौपड़ ऐंड चौसर, ऐंटीक्विटी 6,3, 1964,32-35; शशिप्रभा अस्थाना, पूर्व., 1979,61, आदि।

106. देखें, वही। तुलना करें ऋ. 10.34. जिनमें इसकी 53 गोटों, इसकी गति और गोटों में राजा, सेनानी आदि के उल्लेख आये हैं।

107. 1.46.4; 66.4; 69.1; 5; 117.18; 134.3; 6.55.4; 5; 7.9.1;10; 76.3; 9.32.5; 38.4; 96.23; 101.14; 10.3.3; 11.6; 111.10; 162.5, आदि।

108. 10.86.6; 15-17; 95.5, आदि।

109. 1.92.4; 130.7; 5.52.12; 6.29.3; 63.5; 8.24.9; 12; 68.7; 92.3; 10.18.3, आदि।

110. सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानां असि स्वसा।...
या सुबाहुः सु-अंगुरिः सुषूमा बहुसूवरी।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥ ऋ. 2.32.6;7

111. वही।

112. 1.168.4

113. 2.32.8; 5.46.8. वेश्याओं के लिए देवांगना, देवदासी, आदि विशेषण आज तक प्रचलित हैं।

114. ऋ. 10.95

115. ऋ. 1.115.2; 117.18; 123.11; 7.55.5 आदि।

116. न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयानि एता।
ऋ. 10.95.15

117. 1.116.7; 191.10; 8.2.12; 21.14; 10.107.9; 116.7; 131.4; 5

118. न सः स्वः दक्षः वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युः विभीदकः अचित्तिः।
अस्ति ज्यायात् कनीयसः उप अरे स्वप्नः चन इत् अनृतस्य प्रयोता ॥
ऋ. 7.86.6

119. 2.36.6-8; शतब्रा. 6.3.6.10

120. ऋग्वेद में भी यह डट कर खाने वाले, छक कर सोम पीने वाले, माया से दूसरों को छलने वाले, और मुक्त विलास करने वाले देवता हैं, देखे, ऋ. 2.15.2; 10.10.86; 119; 120.3; आदि।

121. 10.86.

122. 1.92.4

123. कस्त उषः कध प्रिये भुजे मर्त्यः अमर्त्ये। कं नक्षसे विभावरि ॥
ऋ. 1.30.20

अध्याय आठ

भाषा और भारोपीय जन

साहित्य समाज का दर्पण हो या न हो, भाषा पूरे समाज का अचूक दर्पण होती है। यह समाज की समग्र उपलब्धियों को व्यक्त करती है। यह सामाजिक व्यवहार का ही एक रूप है। अतः भाषा इतिहास के अध्ययन में उसी स्थिति में सहायक हो सकती है जब हम केवल शब्दों को नहीं, अपितु समाज-विशेष के सांस्कृतिक स्तर को सामने रख कर उस पर विचार करें। सिद्धान्ततः इस मान्यता से किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, पर जब व्यवहार की बात आती है तो हम प्रायः इस तथ्य को भूल जाया करते हैं।

सामान्यतः ऐतिहासिक दृष्टि से भाषाओं पर विचार करते समय हम भाषा-परिवारों की बात करते हैं, पर भाषा का उसी तरह कोई परिवार नहीं होता जैसे मनुष्य-समाज द्वारा विकसित किसी संस्था या माध्यम का कोई परिवार नहीं होता। इसकी एक स्थानीय प्रकृति अवश्य होती है। परिवार के साथ वंशधरता का भाव अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है।[1] भाषाओं का न तो आपस में विवाह होता है, न ही उनके बच्चे पैदा होते हैं।[2] भाषा का निर्माण और विकास परस्पर सम्पर्क में आने वाले मानव-समुदायों द्वारा, सामूहिक भागीदारी के क्रम में होता है। यदि अर्थ-व्यवस्था ऐसी है कि वह बहुत बड़े मानव-समुदाय को परस्पर निकट सम्पर्क में ला सके तो सम्पर्क में आने वाले लोग भले ही अलग-अलग बोलियाँ बोलते हों, उनकी बोलियों में से ही कोई एक शेष बोलियों के शब्द-भण्डार और अन्य विशेषताओं को आत्मसात् करती हुई सभी के सम्पर्क की भाषा बन जायेगी और इसके बाद इस समाज के तकनीकी और सांस्कृतिक विकास के अनुरूप अपने को ढालती, सँवारती और परिनिष्ठित करती, सभ्यता के अनुरूप प्रखरता और परिष्कृति प्राप्त करती चली जायेगी और इस सभ्यता के विस्तार के साथ इसका भी प्रभाव फैलता चला जायेगा। यह विकास उस समय तक जारी रहेगा जब तक इस सभ्यता का विकास जारी रहेगा। अंग्रेज़ों का व्यापार-तन्त्र उनके वैज्ञानिक

और तकनीकी विकास, उसमें प्रयुक्त होने वाली शब्दावली को अनेक देशों में 18वीं, 19वीं एवं प्रारम्भिक 20वीं शतियों में ले गया और उसने स्थानीय भाषाओं में अपना स्थान ग्रहण किया।

इसके विपरीत यदि भाषा और बोली एक ही हो, पर अर्थव्यवस्था निम्न स्तर की हो, और अविकसित अर्थव्यवस्था के कारण इसके बोलने वालों को अपने जीवन-यापन के लिए बिखरने को बाध्य होना पड़े तो उस एक ही बोली के इतने स्थानीय भेद हो जायेंगे कि किन्हीं स्थितियों में यदि मूल कबीले का कोई आदमी अपने ही कबीले के दूर पड़े लोगों के सम्पर्क में एक लम्बे अन्तराल के बाद आये तो उनकी बातों को समझने में कठिनाई अनुभव करेगा। दूसरे शब्दों में कहें तो, सम्पर्क गहन होने पर भिन्न और सर्वथा असम्बद्ध स्रोतों से निकली बोलियाँ परस्पर रच-पच कर एक सर्वग्राह्य सम्पर्कसूत्र का या उन्नत भाषा का निर्माण कर सकती हैं और सम्पर्क टूटने पर एक ही बोली अनेक उपबोलियों में बँट सकती है। बिहार की भोजपुरी मारीशस, त्रिनिदाद, फ़िजी, सूरीनाम आदि संसार के अनेक देशों में 19वीं शती में गयी—और ठीक इसी कारण आज उसके अलग-अलग रूप हो गये हैं। इस तथ्य को हम निम्न रूप में सूत्रबद्ध कर सकते हैं :

1—एक उन्नत और विकसित भाषा का नस्ल या जाति से नाममात्र का सम्बन्ध होता है। इसका निर्माण अनेक स्रोतों से ग्रहण की गयी शब्दावली और रूपावली से होता है। यह एक विशाल नदी की तरह होती है जिसकी विशालता और प्रवाह-क्षेत्र की लम्बाई इस बात पर निर्भर करती है कि इसका ग्रहण-क्षेत्र कितना व्यापक है, इसमें कितनी जलधाराएँ आकर मिलती हैं। शुद्ध और केवल एक स्रोत तक सीमित भाषा एक कपोल-कल्पना है और एक स्रोत से इसका सम्बन्ध केवल इस अर्थ में ही कोई संगति रखता है कि उस उत्सविन्दु से पीछे के ग्रहण-क्षेत्रों तक हमारी दृष्टि नहीं पहुँच पाती। सबसे बड़ी बात यह कि ऐसी कोई शुद्ध भाषा कमज़ोर, अनगढ़ और अविकसित ही रह सकती है जिसे खींच-तान कर बोली भले कह लिया जाये, भाषा नहीं कहा जा सकता।

2—भाषा का सम्बन्ध सामाजिक सम्पर्क से, विकसित भाषा का सम्बन्ध व्यापक सम्पर्क से और व्यापक सम्पर्क का सम्बन्ध उन्नत अर्थतन्त्र से है। संकल्पनाओं का विकास तकनीकी और औद्योगिक विकास से भी जुड़ा हुआ है। यदि हम किसी उन्नत और काफ़ी बड़े क्षेत्र में फैली सभ्यता को देखते हैं तो इस बात का दावा अन्य किसी साक्ष्य की अपेक्षा किये बिना कर सकते हैं कि इस पूरे क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा भी अपनी सभ्यता के अनुरूप ही उन्नत और परिष्कृत रही होगी। इसी तरह यदि हम किसी भाषा को बहुत बड़े भूभाग में फैली पाते हैं तो हम अन्य किसी बात की अपेक्षा किये बिना भी यह मान सकते हैं कि इस प्रसार से

पहले और इसके दौरान उससे सम्बद्ध सभ्यता का स्तर अपने युग को देखते हुए उसी अनुपात में उन्नत था।

3—भाषा में सभ्यता का प्रतिबिम्बन मात्र इसके शब्द-भण्डार में ही नहीं होता; इसकी अभिव्यक्ति शब्द-निर्माण की युक्तियों, व्याकरण के नियमों, वाक्य रचना, छन्द-विधान और अलंकार-योजना आदि में भी होती है। एक परिनिष्ठित भाषा सम्बन्धित जन-समाज के जीवन में भी तदनुरूप नियमबद्धता और अनुशासन-प्रियता को प्रकट करती है। इस अनुशासन की कठोरता और शिथिलता की ही अभिव्यक्ति इसके कठोर या शिथिल छन्द-विधान में भी होती है। रूढ़ियों से मुक्ति की माँग मुक्त छन्द की भी माँग बन जाती है। अलंकार योजना मात्र सौन्दर्याभिरुचि को ही नहीं प्रकट करती, अभिव्यक्ति में स्पष्टता या उलझाव को या भिन्न कारणों से एक ही समाज में मौजूद दुहरी प्रवृत्तियों को भी प्रकट करती है।

यदि भाषा के विषय में किन्हीं नियमों की बात की जा सकती है तो वे ध्वनि-परिवर्तन के नियम नहीं हैं, जिनके सैकड़ों अपवाद प्रत्येक भाषा में मिल जायेंगे, अपितु उक्त नियम ही हैं, जिनका विश्व में कोई अपवाद नहीं देखा जा सकता।

ऐसी स्थिति में यदि हम हड़प्पा सभ्यता के प्रसार-क्षेत्र और इसके विकास के स्तर पर ध्यान दें और इस बात की कल्पना करना चाहें कि इसकी सम्पर्क-भाषा कौन-सी या कैसी रही होगी तो हमारा ध्यान सहज ही संस्कृत के ही किसी रूप की ओर जायेगा। दूसरी ओर, यदि भारत से लेकर यूरोप तक फैली तथाकथित भारोपीय भाषाओं के प्रसार-क्षेत्र और स्तर को ध्यान में रखते हुए किसी सभ्यता की कल्पना करना चाहें जिसके विकास के साथ इस भाषा का जन्म और विकास हुआ होगा तो इस पूरे प्रसार-क्षेत्र में हड़प्पा सभ्यता को छोड़ कर दूसरी कोई सभ्यता या संस्कृति दिखायी नहीं देगी। हमें मूल भाषा की बात सोचते समय उस अर्थ-व्यवस्था को कदापि नहीं भूलना होगा जो इतने विशाल जन-समुदाय को, या इतने व्यापक प्रभाव-सूत्रों को एक सम्पर्क में जुड़ा रख सकती थी।

2

लुप्त भाषा की परिकल्पना

भारोपीय भाषाओं की परस्पर तुलना और ऐतिहासिक क्रम में इनके विकास का अध्ययन करने वाले आरम्भिक विद्वानों ने ऊपर के तथ्यों का ध्यान नहीं रखा। संस्कृत से परिचय होते ही उन्होंने इसके सम्भावित अभारतीय स्रोत की घोषणा कर दी। सन् 1786 में रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल के तृतीय

वार्षिक भाषण में ही सर विलियम जोन्स ने अपने उद्गार जिन शब्दों में प्रकट किये थे वे बहुत ही रोचक हैं : "संस्कृत भाषा कितनी भी पुरानी क्यों न हो, इसका गठन अद्भुत है। यह ग्रीक से अधिक निर्दोष, लातिन से अधिक समृद्ध और इनमें से किसी से भी अधिक उत्कृष्ट या सुपरिमार्जित है; इसके बावजूद धातुओं और व्याकरणिक रूपों में यह इन दोनों से इतना प्रगाढ़ सम्बन्ध रखती है जो केवल आकस्मिक नहीं हो सकता ; इतना प्रगाढ़ कि कोई भाषाविद् इनको किसी एक ही स्रोत से, जो अब शायद अस्तित्व में नहीं है, उत्पन्न माने बिना इनकी छान-बीन ही नहीं कर सकता।"[3]

दूसरे शब्दों में कहें तो, जोन्स ने पहले ही झटके में एक लुप्तप्राय आदि-भारोपीय और भारत से बाहर इस भाषा का प्रयोग करने वालों की मूल भूमि की खोज के लिए ज़मीन तैयार कर दी और यही अँटकल भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचनों की सबसे बड़ी सीमा बनी रही है। इसी के तहत भारत में आर्य भाषा और संस्कृति को लेकर आने वाले जनों की खोज होती रही है, जो आज तक जारी है।

अन्य भारोपीय भाषाओं की तुलना में संस्कृत की प्राचीनता, परिरक्षणवादिता और नियमितता तथा अन्य दृष्टियों से भारत के पक्ष में अधिक सशक्त कारणों के होते हुए भी, भारतीय मूल निवास के विषय में कभी गम्भीरता से विचार नहीं किया गया और तथ्यों के मुक़ाबले निरे काल्पनिक चित्रों को अग्रता दी जाती रही। उदाहरण के लिए, मध्येशिया स्थित अपने 'मूल-निवास' से आर्यों के बिखराव का चित्र पेश करते हुए मैक्समूलर लिखते हैं :

"पारम्परिक इतिहास की प्रत्यूष वेला में हम आर्य जनों को हिमालय की बर्फ को पार करके दक्षिण की दिशा में सप्त-सिन्धु की ओर जाते हुए देखते हैं। उस समय से ही भारत उनका निवास माना जाता रहा है।...इस विचार पर इतिहासकार अपना सिर हिला सकता है, शरीरविज्ञानी सन्देह प्रकट कर सकता है और कवि इसकी खिल्ली उड़ा सकता है, पर सभी को भाषा द्वारा पेश किये गये तथ्यों के आगे सिर झुकाना ही होगा। एक समय ऐसा था जब केल्टों, जर्मनों, स्कैंडिनेवियनों, यूनानियों और इतालवियों, पारसियों और हिन्दुओं के पूर्वज सामी और तूरानी जातियों के पूर्वजों से अलग, एक साथ, एक ही छत के नीचे रहते थे।

"यह सिद्ध करना अधिक कठिन है कि हिन्दू ने इस संयुक्त आवास को सबसे बाद में छोड़ा, कि वह अपने दूसरे सभी भाइयों को अलग होकर अस्ताचल की दिशा में जाते देखता रहा, और फिर दक्षिण और पूर्व की ओर रुख़ करके, वह अकेले एक नयी दुनिया की तलाश में चल पड़ा। पर चूँकि अपनी भाषा और अपने व्याकरण में उसने उत्तरी बोलियों में विलक्षण प्रतीत होने वाले तत्त्वों का कुछ-न-

कुछ अंश बचा रखा है, क्योंकि जहाँ दूसरी भाषाएँ जर्मन और ग्रीक से भिन्नता रखती हैं वहाँ भी वह भाषा ग्रीक और जर्मन से संगति रखती है, क्योंकि दूसरी कोई भाषा संयुक्त आर्य विरासत—चाहे धातुएँ हों, या व्याकरण, या शब्दभण्डार, या मिथक या गल्प—का उतना बड़ा हिस्सा नहीं पा सकी जितना यह, अतः यह सोचना स्वाभाविक है कि सम्भवतः सबसे बड़ा भाई होते हुए भी हिन्दू ने आर्य-परिवार के पैतृक निवास को सबसे अन्त में छोड़ा।"[4]

यह आर्यों के भारत-आगमन का एक मात्र चित्र नहीं है, ऐसे अनेकानेक जीवन्त चित्र अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग रास्ते सुझाते हुए कुछ इस आत्मविश्वास से पेश किये हैं मानो यह सब कुछ उनकी आँखों के आगे घटित हुआ हो और इसमें किसी फेर-बदल की सम्भावना ही न हो। रोचक बात यह है कि ये सारे यात्रा-विवरण भारत को या भारत की ओर को हुई यात्रा के विषय में ही इतने विश्वस-नीय रूप में पेश किये जाते रहे हैं। प्रश्न यह है कि यदि किन्हीं कारणों से दूसरे भाई उस पैतृक निवास को छोड़ कर चले ही गये थे जो इतने बड़े कुनबे का भरण-पोषण करने में समर्थ था, तो फिर अन्त में 'बड़े भाई साहब' को अपना घर उजाड़ कर चल देने की क्या लाचारी आ पड़ी थी? यदि ऐसा किसी प्राकृतिक आपदा के कारण हुआ तो उसकी प्रकृति क्या थी और इसका दौर कितने लम्बे समय तक चलता रहा? सबसे अन्त में अपना पैतृक निवास छोड़ने या बिलकुल न छोड़ने में क्या अन्तर है? सबसे बड़ा भाई कहने का एक मात्र अर्थ यह है कि उनकी भाषा और साहित्य में संयुक्त परिवार के प्राचीनतम अंश सबसे अधिक मात्रा में सुरक्षित हैं, और सबसे अन्त में इस निवास को छोड़ने का अर्थ है कि अन्य शाखाओं के अलग हो जाने के बाद भी मूल भाषा में जो परिवर्तन घटित होते रहे वे भी इसमें परि-रक्षित हैं। इन दोनों सूत्रों को मिलाने पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत भाषा और संस्कृत-भाषी जन अकेले ऐसे हैं जो अति प्राचीन काल से लेकर बाद तक अपनी जगह पर ही बने रह गये। ऐसी स्थिति में यदि किन्हीं के परिव्रजन का चित्र तैयार किया जाना चाहिए था तो वे थीं अभारतीय शाखाएँ, जिनकी ओर ध्यान न देकर उलटे भारत में इन जनों के आव्रजन की कल्पनाएँ की जाती रहीं। यदि भाषा के तथ्य सचमुच ऐसे तथ्य थे जिनकी कुछ विश्वसनीयता थी और जिनके समक्ष सभी को सिर झुकाना था तो सबसे पहले स्वयं मैक्समूलर को और अन्य भाषाशास्त्रियों को इसका पालन करना चाहिए था, जो उन्होंने नहीं किया।

जो भी हो, यदि हम भाषिक तथ्यों की अवज्ञा करके, इनसे निकलने वाले निष्कर्षों से ठीक उल्टा निष्कर्ष निकाल कर अपनी मनोगत स्थापनाओं को लादना चाहें, और इसके लिए भाषा से खिन्न होकर अन्य अनुशासनों का उपयोग करें कि शायद उनसे अपनी मान्यता को प्रमाणित करने का कोई आधार निकल ही

आये और वहाँ भी तदनुरूप कोई इच्छित प्रमाण न पाकर उन्हें भी अविश्वसनीय मान लें, तो इसमें दोष उन शाखाओं का है या अध्येताओं का? अविश्वसनीय कौन है : ये शाखाएँ या इन क्षेत्रों के पूर्वाग्रहग्रस्त विद्वान? ग्रियर्सन लिखते हैं, "आरम्भिक शोध-कर्ताओं ने अपने निष्कर्ष मुख्यतः भाषाशास्त्र के अधार पर निकाले और पहले यह आम तौर पर माना जाता रहा कि मूल-स्थान की खोज या तो काकेशस में की जानी चाहिए या हिन्दूकुश में। तब से लेकर अब तक इस समस्या के लिए दूसरे विज्ञानों का सहारा लिया गया है। इतिहास, नृतत्व, ज्योतिष, भूगोल और भूगर्भ विज्ञान, इन सभी को इस काम पर लगा दिया गया है।"[5] पर इसका नतीजा क्या निकला? हमारी शिकायत यह है कि किसी विज्ञान का कभी निष्पक्ष भाव से उपयोग किया ही नहीं गया। भाषाशास्त्र के निष्कर्ष बहुत स्पष्ट थे, पर उनको उन आरम्भिक दिनों में भी आधार नहीं बनाया गया। दूसरे विज्ञानों के लिए आँकड़े पर्याप्त तो थे ही नहीं, जो थे वे स्पष्ट नहीं हो सकते थे, अतः इनमें तोड़-मरोड़ करने और अपने आग्रहों को लादने की अधिक सम्भावना थी, पर इनसे निर्णायक प्रमाण तो अपने आग्रहों के अनुरूप नहीं ही पाया जा सकता था। निर्णायक प्रमाण केवल सचाई के होते हैं और जहाँ हम इससे विपरीत प्रमाणों की अपेक्षा करें वहाँ निराशा ही हाथ आयेगी। ऐसी स्थिति में, जैसा कि ऊपर कहा है, सारा निष्कर्ष किसी ठोस आँकड़े पर आधारित न करके अँटकलों और कल्पनाओं पर आधारित करने के प्रयत्न किये गये। टी. बरो या उन जैसे दूसरे अनेक विद्वानों की मान्यता पर ध्यान देना हमारे लिए कुछ उपयोगी होगा :

"भारोपीय जनों के मूल निवास को लेकर काफी अँटकलें लगायी जाती रही हैं। आरम्भिक दिनों में यह माना जाता था कि यह मध्येशिया में स्थित था और प्रव्रजन की एक के बाद दूसरी लहर इस परिवार के सदस्यों को यूरोप में ले आयी। इसका मुख्य कारण संस्कृत को अतिरंजित महत्व देना और आदिम आर्य जनों को...और उनसे बहुत पहले के भारोपीय जनों को भ्रमवश एक मान लेना रहा है। जैसा कि हम देख चुके हैं, अब यह काफ़ी सुनिश्चित हो गया है कि मध्येशिया से, ठीक-ठीक कहें तो आक्सस की घाटी से, भारतीय और ईरानी अपने-अपने क्षेत्र पर क़ब्ज़ा करने के लिए रवाना हुए। पर इस बात का लेश मात्र भी प्रमाण या सम्भावना नहीं है कि जर्मनों, केल्टों, यूनानियों और इस परिवार के अन्य सदस्यों के पूर्वज कभी इस इलाके के क़रीब रहे हों। परिणामतः अब आम तौर पर यह माना जाता है कि मूल निवास कहीं यूरोप में था। इसके लिए मुख्य और सीधा, किन्तु प्रभावशाली, तर्क यह है कि यूरोप में लिखित इतिहास के आरम्भ से ही इनमें सर्वाधिक भिन्नता पायी जाती है। बहुत प्राचीन काल में ही हम एशिया के विशाल भूभाग को इस परिवार की एक सदस्या, भारतीय-ईरानी के अधिकार में पाते हैं और वह भी अब तक बहुत कम भिन्नीकृत रूप में। दूसरी ओर, यूरोप में बहुत-सी भाषाओं का जमाव-

दिखायी देता है जो अपेक्षाकृत बहुत छोटे-छोटे क्षेत्रों में सिकुड़ी हुई हैं, और परस्पर बहुत अधिक भिन्नता रखती हैं। इससे यह अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय-ईरानी क्षेत्र में भारोपीय भाषा की उपस्थिति बहुत बड़े पैमाने पर हुए औपनिवेशिक विस्तार का परिणाम है, जब कि यूरोप में अभिलिखित काल के प्राचीनतम चरण से ही इतनी भिन्न-भिन्न भाषाओं का अस्तित्व वहाँ भारोपीय जनों के सुदूर अतीत काल से ही मौजूद होने को प्रकट करता है।"[6]

हम अलग-अलग विद्वानों को इस 'मुख्य, सीधे और प्रभावशाली' तर्क को अलग-अलग ढंग से दुहराते पाते हैं।[7] जब तब इसमें कुछ पूरक प्रमाण जोड़ दिये जाते हैं, जैसे यदि मूल निवास भारत होता तो पश्चिमोत्तर सीमाओं को पार करने से पहले शेष भारत को आर्य बना लिया गया होता।[8]

प्रश्न यह है कि जिन दिनों संस्कृत को अतिरंजित महत्व दिया जा रहा था उन दिनों भी मूल निवास की खोज भारत में न करके मध्येशिया में क्यों की जा रही थी? क्या संस्कृत का अस्तित्व वहीं था? क्या आज तक के भाषावैज्ञानिक अध्ययनों से संस्कृत के केन्द्रीय महत्व में कोई बुनियादी अन्तर आया है? यदि भारतीय-ईरानी क्षेत्र पर अधिकार बहुत बड़े पैमाने पर हुए उपनिवेशीकरण का परिणाम था तो फिर उन भाषा-क्षेत्रों में से किसी एक से, जो इतिहास के आरम्भ से ही बहुत छोटे-छोटे दायरों में सीमित थे, इतने विशाल भूभाग को आबाद करने के लिए अपेक्षित जमात का आविर्भाव कब और कैसे हो गया? यह भारतीय-ईरानी शाखा जिसमें नगण्य विभेदन आ पाया था किस यूरोपीय भाषा-क्षेत्र से निकल आयी कि इसमें वे सारे लक्षण एकत्र सिमट आये जो यूरोप की विभिन्न भाषाओं में पाये जाते हैं और उन मामलों में भी उन पर प्रकाश डालते हैं जिनमें वे एक दूसरे से अनमेल पड़ती हैं? और अन्ततः, जिसे 'इतिहास का आरम्भ' कहा जाता है उसकी प्राचीनता क्या है?

जैसा कि हम पहले ही सूत्रबद्ध कर आये हैं, यदि यूरोप में ज्ञात इतिहास के आरम्भ से ही भारोपीय भाषाएँ अपने भिन्न-भिन्न रूपों में बहुत छोटे-छोटे अंचलों में व्यवहार में आ रही थीं तो इसका कारण यही हो सकता है कि इससे पहले यूरोप आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था, और इसलिए, न तो कोई व्यापक सम्पर्कभाषा विकसित हो पायी थी, न ही इसका आधार विकसित हो पाया था। अतः बहुत छोटे-छोटे अंचलों में भिन्न-भिन्न बोलियाँ बोली जाती थीं और भारोपीय भाषा का प्रसार इन बोलियों वाले क्षेत्रों में हुआ। एक ही भारोपीय भाषा इन उपस्तरीय बोलियों से प्रभावित होकर अनेक रूपों में बँट गयी या बँटी दिखायी देने लगी।[9] चूँकि प्रत्यक्षतः ये सभी बोलियाँ परस्पर भिन्न थीं, अतः उनके बीच भिन्नता आगे भी बनी रह गयी और चूँकि इन सब पर संस्कृत से अनन्य निकटता रखने वाली भाषा का ही प्रभाव पड़ा, अतः संस्कृत उन मामलों में भी उन पर

रोशनी डालने में समर्थ प्रतीत होती है जहाँ ये भिन्न पड़ती हैं और इन भिन्नताओं के मामले में एक-दूसरे पर प्रकाश नहीं डाल पातीं। इस तरह जिसे सीधा, मुख्य और प्रभावशाली तर्क बताया गया है उसकी तफ़सील में जाने पर भी हम इसी निष्कर्ष की पुष्टि होते पाते हैं कि प्रभाव-विस्तार का मूल केन्द्र यूरोप में न होकर भारत में था। बरो लिखते हैं, "भारतीय-ईरानी का विकास एक समय में निश्चय ही एकनिष्ठ था, इसीलिए यह किसी प्रकार का प्रव्रजन आरम्भ होने से पहले घटित हुआ होगा।"[10] दूसरे शब्दों में कहें, तो यह एकनिष्ठता ही प्रव्रजन से पूर्व की अवस्था की सूचक है, न कि यूरोपीय भाषाओं की विविधता। ध्यान रहे कि यहाँ यही लेखक संस्कृत की इस अतिरंजित प्राचीनता को स्वयं स्वीकार कर रहा है जिससे उसे शिकायत है। इसी तरह तुख़ारी पर विचार करते समय वह इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि इसमें बहुत गहरे ध्वनि-परिवर्तन हुए हैं और इसे वह इस बात का सूचक मानते हैं कि यह अपने मूल निवास से बहुत दूर यात्रा करके आयी है।[11] जैसा कि स्वयं यूरोपीय बोलियों की कथित भिन्नताओं से प्रकट है, इनमें भी भारतीय-ईरानी की तुलना में बहुत गहरे ध्वनि-परिवर्तन हुए हैं, क्या इससे भी यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यूरोपीय भाषाएँ अपने मूल निवास से बहुत दूर चल कर उस अंचल में पहुँची हैं? आखिर एक ही तर्क को दो स्थितियों में दो तरह कैसे लागू किया जा सकता हैं? न केवल तुख़ारी अपने मूल निवास से चल कर बहुत दूर आयी है, अपितु हित्ती भी अपने मूल निवास से बहुत अधिक दूर चल कर आयी है क्योंकि इसमें भी तुख़ारी की तरह ही बहुत गहरे ध्वनि परिवर्तन हुए हैं।[12] और यही हित्ती है जिसे संस्कृत से भी प्राचीन सिद्ध करने के प्रयत्न जब-तक किये जाते हैं।

बरो यूरोप में भारोपीय भाषाओं के प्रसार का चित्र देते हुए लिखते हैं कि यूरोप में इटली और यूनानी प्रायद्वीपों में आकर बसने वाले वहाँ उत्तर की ओर से आये थे, फ्रांस और ब्रिटिश द्वीप-समूह पर 500 ई.पू. के लगभग मध्य यूरोप के लोगों ने कब्जा किया था। आइबीरियन प्रायद्वीप रोमन काल तक लगभग गैर-भारोपीय बना हुआ था।[13] इन तथ्यों से केवल यही साबित होता है कि यूरोप के अन्य भागों में भारोपीय का प्रसार मध्य यूरोप को केन्द्र बना कर हुआ था और वह भी उससे कहीं बहुत बाद में जब भारतीय-ईरानी क्षेत्र में इसकी एक प्रधान 'शाखा' अस्तित्व में थी। अतः ज्ञात इतिहास का आरम्भ काल यूरोप में काफ़ी बाद का ही है। और मध्य यूरोप में जा कर बसने वाले लोग दक्षिण-पूर्व की ओर से ही गये थे।[14]

पर यहाँ भी स्थिति कुछ उलझी दिखायी देती है। ग्रीक का केंटुम वर्ग की भाषाओं से सब से कम और संस्कृत से किसी अन्य भाषा की तुलना में अधिक गहरा सम्बन्ध दिखायी देता है।[15] हित्ती अन्य यूरोपीय भाषाओं से इतनी अनमेल पड़ती है

और संस्कृत के साथ इसका सम्बन्ध इतना गहरा है कि विद्वान इसे भारोपीय भाषाओं के सामान्य दायरे से अलग करके भारतीय-हित्ती वर्ग में रखना अधिक संगत मानते हैं।[16] हालाँकि दूसरे कुछ विद्वान जिनमें बरो स्वयं भी आते हैं, इस रुख को अतिवादी मानते हैं और भारतीय-हित्ती तथा शेष भारोपीय के दो वर्गों की अपेक्षा इसे उस अति प्राचीन अवस्था का अवशेष मानना अधिक उचित समझते हैं जब बोलियों का अलगाव नहीं हुआ था। जो कुछ सुनिश्चित रूप से हमें ज्ञात है उसके आधार पर भारतीय-आर्य भाषा और हित्ती उस अति प्राचीन अवस्था को ही प्रकट करती हैं जब बोलियों का अलगाव नहीं हुआ था और हित्ती, जिसमें बहुत गहरे ध्वनि-परिवर्तन हुए हैं, पुनः संस्कृत से बाद की ही भाषा सिद्ध होती है, अतः वस्तुपरक ढंग से देखने पर संस्कृत ही उस अविभाजित अवस्था का सबसे विश्वसनीय अवशेष सिद्ध होती है।

भारत के अतिरिक्त किसी अन्य क्षेत्र को भारोपीय भाषाओं का उत्स केन्द्र मानने वालों को हित्ती अभिलेखों से जितनी मुश्किल पेश आती है उतनी शायद संस्कृत की प्राचीनता और नियमितता तथा इसके विशद शब्द-भंडार को छोड़ कर अन्य किसी कारण पेश नहीं आती। न केवल हित्ती और मितन्नी सूत्र भारतीय देवनामों और इनके युग्मों की पुष्टि करते हैं, जो सीधे वैदिक भारत के देवता हैं,[17] अपितु ये मुख्यतः वे ही देवता हैं जिनका व्यापारिक उपक्रमों से सम्बन्ध रहा है। इन अभिलेखों में जो व्यक्तिनाम आये हैं वे भी भारतीय हैं—सुतर्न (श्रुतर्वन्), पर्शसतर (प्रशस्त्य), शोष्शतर (श्रवस्ति), अर्ददाम (ऋतधाम), अर्तशुमर (ऋतस्मर), तुशरथ (त्वेशरथ, दशरथ), मतिवाज़ (मतिवाज), आदि। इनके अतिरिक्त कुछ निजी अभिलेखों में अर्तम्न (ऋत्मन), बर्दश्व (बृहदश्व), विर्पसूर (विप्रसूरि), पुरुश (पुरु), शेमशुर (क्षेमसूरि), सतवाज़ (सातवाज), आदि नाम आये हैं। पड़ोसी प्रदेशों, सीरिया और फ़िलिस्तीन आदि में भी, जहाँ आर्य-भाषा का प्रसार नहीं था, आर्यों की उपस्थिति की सूचना मिलती है—सुबरदात (स्वर्दात), शतुआर (सध्वर), अर्तमन्य (ऋतुमन्य), वोर्यवाज़ (वीर्यवाज), इन्दरोत (इन्द्रोत), सुबुदु (सुबन्धु), आदि।[18]

3

संस्कृत का अतिरंजित महत्व

इस विषय में सन्देह नहीं कि अनेक विद्वानों ने संस्कृत के महत्व का सही मूल्यांकन करने में भूलें की हैं। यह भूल केवल संस्कृत के महत्व के अतिरंजन तक सीमित नहीं है। इसकी अभिव्यक्ति उस प्रतिक्रिया में भी हुई है जो इस अति-

रंजित महत्व से खीझ कर प्रकट की गयी है। सबसे बड़ी भूल उस आदि-भारोपीय की परिकल्पना है जिससे तथाकथित भारोपीय परिवार की सभी भाषाएँ निकली सिद्ध की जाती हैं। न तो ऐसी कोई आदि-भारोपीय भाषा थी, न ही उससे भारोपीय भाषाओं का जन्म हुआ। यदि सचमुच किसी भूल को खतरनाक भूल की संज्ञा दी जा सकती है तो वह संस्कृत की नहीं, आदि भारोपीय की अतिरंजना है।

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले, या सम्भव है उससे भी कुछ पहले, भारतीय वैयाकरणों का ध्यान अपने आस-पास बोली जाने वाली भाषाओं की ओर गया। उन्होंने देखा कि चाहे वह शुद्ध पुस्तकीय भाषा हो या बोलचाल की प्राकृत भाषाएँ, इनमें पाये जाने वाले शब्दों और इनके अर्थों में एक अद्भुत साम्य है। बहुत मामूली ध्वनिगत अन्तर रखने वाले बहुत-से शब्द ऐसे हैं जिनमें अर्थ की दृष्टि से ऐसी समानता पायी जाती है मानो इनके नियामक तत्व या धातु एक ही हों। जैसे एक धातु से हम विविध प्रयोजनों के लिए तरह-तरह के उपकरण बना लेते हैं और रूप-भेद के बावजूद तात्विक दृष्टि से उनकी धातु एक ही होती है, वैसे ही विविध प्रयोजनों के लिए किन्हीं तात्विक धातुओं से विविध शब्द गढ़ लिये गये हैं। उन्हें लगा कि उस मूल भाषा का या उस आदिम सूत्र का पुनर्निर्माण किया जा सकता है और ध्वनि के उन नियमों को सूत्रबद्ध किया जा सकता है जिनके द्वारा ये रूपगत और अर्थगत विकास घटित हुए हैं। धातुओं की खोज और शब्दावली के अर्थगत और रूपगत विकास के नियमों की स्थापना का उनका प्रयत्न किसी प्राचीन भाषा की पुनर्सर्जना का सबसे पहला और निश्चय ही बहुत साहसिक प्रयत्न कहा जा सकता है।

भविष्य में, कम-से-कम, पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में वैसी विकृति न आने पाये जैसी तब उन्हें लोक-व्यवहार की भाषाओं में दिखायी दे रही थी, भले इस भाषा का प्रयोग कितने भी व्यापक क्षेत्र में क्यों न हो, और भले ही यह अनन्त काल तक व्यवहार में क्यों न आती रहे, इसके लिए अकाट्य और सबके द्वारा पालनीय व्याकरणिक नियमों की स्थापना उनका दूसरा साहसिक प्रयत्न था। अपने सीमित अनुभव और ज्ञान के आधार पर यदि इन विद्वानों को ऐसा लग रहा था कि सभी भाषाएँ किसी एक ही मूल से निकली हैं तो इसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।[19]

संस्कृत से परिचय और लातिन तथा ग्रीक से इसके साम्य को ध्यान में रखते हुए ठीक ऐसा ही विचार आधुनिक भाषाशास्त्रियों के मन में, कम-से-कम भारोपीय परिवार की भाषाओं के विषय में, पैदा हुआ कि इन सभी का जन्म किसी एक ही मूल भाषा से हुआ है। पाणिनि का उदाहरण और अपने सीमित क्षेत्र में

उनकी सफलता ने इन्हें आत्मविश्वास से भर दिया। लातिन, ग्रीक, जर्मन, फ़ारसी और संस्कृत को तथा अन्य भारोपीय भाषाओं को सामने रख कर क्या लगभग उसी तरह ध्वनि-नियमों के आधार पर उस आदि-भाषा की ध्वनिमाला, धातु-सम्पदा आदि का निश्चय नहीं किया जा सकता जिससे संस्कृत सहित ये सभी भाषाएँ निकली हैं ?

इसके लिए पहली जरूरत थी संस्कृत के उस अतिरंजित महत्व को घटाने की, जिसके कारण भारोपीय भाषाओं का सवाल उठने पर यह सबसे प्राचीन मान ली जाती थी और इस प्राचीनता को स्वीकार करते ही उस प्राचीनतर जननी भाषा का अन्य भाषाओं का सहारा लेते हुए पुनर्निर्माण करने का तर्क और औचित्य घट जाता था। पर किसी भी एक भाषा को, चाहे वह संस्कृत हो या कल्पित आदि-भारोपीय, अन्य सभी भाषाओं का मूल मानने पर हम उसी ग़लती को दुहराते हैं जिससे बचना चाहते हैं और चाहे-अनचाहे अन्ततः संस्कृत की श्रेष्ठता की ओर ही लौटते हैं। जो भी हो, जब तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के जनक फ्रांत्स बॉप ने कहा था, "मैं नहीं मानता कि ग्रीक, लातिन और दूसरी यूरोपीय भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं।...इसकी अपेक्षा मैं यह मानना अधिक उचित समझा हूँ कि ये सभी किसी एक ही मूल भाषा के विविध रूप हैं जिसे संस्कृत ने अधिक अविकल रूप में बचा रखा है (ह्विच संस्कृत हैज़ प्रिज़र्व्ड मोर परफेक्टली)। ...जहाँ ब्राह्मणों की भाषा से ग्रीक और लातिन के आदिम रूपों का अनुमान करने में हमें अकसर सहायता मिलती है, वहाँ...कभी-कभी ये भाषाएँ भी संस्कृत व्याकरण पर प्रकाश डाल सकती हैं"[20], तब वहसंस्कृत के अतिरंजित महत्व को घटाने का प्रयत्न करते हुए भी प्रकारान्तर से इसके महत्व को ही स्वीकार कर रहे थे।

भारोपीय परिवार में गिनी जाने वाली दूसरी भाषाएँ भी कभी-कभी संस्कृत व्याकरण पर प्रकारान्तर से प्रकाश डाल सकती हैं, और इस तरह इनकी तुलना से उस लुप्तभाषा और उसकी ध्वनियों का निश्चय किया जा सकता है, इस मान्यता को ही हम आदि-भाषा की पुनर्सर्जना के प्रयत्नों की भूमिका मान सकते हैं। पुनर्सर्जना का यह प्रयत्न ध्वनि-परिवर्तन के अकाट्य नियमों की कल्पना पर आधारित था, और इस तरह जिस मूल रूप का प्रस्ताव रखा गया है उस पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इस बात पर बल देना ज़रूरी है कि जब हम किसी एक ही भाषा से समस्त भारोपीय भाषाओं के निकलने की बात करते हैं, तो भाषा के विकास और प्रसार के कतिपय सर्वमान्य नियमों की उपेक्षा कर जाते हैं, यथा :—

1—ऐसा करते समय हम एक उन्नत भाषा के विकास के उस सामान्य नियम की अवज्ञा करते हैं जिसका उल्लेख हम आरम्भ में कर आये हैं, अर्थात्

आर्थिक आधार सुदृढ़ होने के साथ विभिन्न बोलियाँ बोलने वाले लोग उस आधार से जुड़ते हुए अचेत रूप में ही एक व्यापक सम्पर्क भाषा का विकास करते चले जाते हैं और यह भाषा उनके सांस्कृतिक जीवन के अनुरूप ही विकसित होती है। इसके तत्व उन बोलियों से आये हुए होते हैं जिनके संयुक्त होने से यह बनती है। जब हम एक ही आदिम भाषा के विकसित होकर टूटने और बिखरने की बात करते हैं तो इसके साथ हमें यह भी दिखाना चाहिए कि वह आर्थिक आधार जिसके कारण यह इतनी ऊपर उठी थी, टूट गया और इसके टूटने के साथ मूल जन बिखर गये। इसे ग्राह्य बनाने के लिए आर्थिक आधार के टूटने के कारणों को भी अवश्य दिखाया जाना चाहिए।

2—भारोपीय क्षेत्र का अध्ययन करने वाले विद्वान इस बात को बार-बार दुहराते रहे हैं कि भाषा और नृजाति दोनों एक नहीं हैं।[21] वे इस बात पर खिन्न भी अनुभव करते रहे हैं कि प्रायः भाषा को जाति का पर्याय मान लिया जाता है। पर हम जिस तर्क को ले कर चल रहे हैं उसकी अनिवार्य परिणति से कैसे बच सकते हैं? जब हम यह मान लेते हैं कि मूल भाषा ही क्रमशः टूट कर अलग-अलग भाषाओं में परिणत हुई थी तो हम अपने अनजाने ही उस जातिवादी फंदे में अपना पाँव दे देते हैं जिससे बचना चाहते हैं। यदि मूलतः यह भाषा एक थी तो इसके बोलने वाले लोग किसी-न-किसी एक जाति के रहे ही होंगे। भाषा और जाति का अनिवार्य सम्बन्ध तभी टूट सकता है जब इस विषय में हमारी दृष्टि साफ़ हो, अर्थात् हम यह देख सकें कि एक उन्नत संस्कृति और भाषा अपने निर्माणकाल में ही उन अनेक जनों और बोलियों को आत्मसात करती हुई विकसित होती है जो परस्पर सम्पर्क में आती हैं और उन कारणों को पहचान सकें जिनके प्रभाव से ये परस्पर सम्पर्क में आयी थीं। एक ओर एक ही भाषा के टूटने से विभिन्न भाषाओं का जन्म, उसके बोलने वालों के संचलन या बिखराव से इसका क्षेत्र-विस्तार और प्रभाव-क्षेत्र में प्रव्रजित होने वाले जनों के अनुरूप ही इस भाषा के प्रभाव की अवधारणा और दूसरी ओर यह मान्यता कि भाषा और जाति का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं होता, एक तरह का पदव्याघात है जो इन सभी विद्वानों के लेखन में पाया जा सकता है।

3—यदि भाषा और जाति एक ही नहीं होते तो यह भी सच है कि एक भाषा बोलने वाले सभी जन एक ही कार्य-दिशा नहीं अपना लेते। जब भारत में आगमन या भारत पर आक्रमण की बात की जाती है तो एक ओर तो यह देखते हुए कि वैदिक काल में विभिन्न गण वैदिक समाज के अंग थे, आगन्तुक या आक्रामक समुदाय को बहुजातीय (अनेक बोलियाँ बोलने वाला) माना जाता है और दूसरे इन्हें किसी रहस्यमय कारण से एक ही नेतृत्व में संगठित भी मान लिया जाता है

और भारत में पहुँचा कर उस केन्द्रीय नेतृत्व को अमान्य करके इन्हें भिन्न-भिन्न कबीलों में बँटा हुआ दिखा दिया जाता है। यदि यह एक सुनियोजित अभियान या आव्रजन है तो भारत पर अधिकार के बाद भी उसका वह संगठित जीवन बना रहना चाहिए और आरम्भ से ही एक शासकीय तन्त्र को सर्वोपरि मानकर चला जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहें तो, हमें मात्र कामचलाऊ ढंग से एक सीमित चरण तक किसी प्रस्ताव को न रख कर इसे आदि से अन्त तक अविकल रूप में स्वीकार करके चलना चाहिए, जो कि नहीं किया गया है।

4—यह बात भी अकसर दुहरायी जाती है कि संस्कृत एक कृत्रिम भाषा थी जो अपने प्रचलन-काल में कभी आम बोलचाल की भाषा नहीं थी।[22] सम्भवतः आम बोलचाल की भाषा प्राकृतें थी। पर जब तुलना के लिए किसी भाषा का चुनाव किया जाता है तो प्राकृतों को नहीं, अपितु संस्कृत को ही प्रमाण माना जाता है। यदि आम बोलचाल की भाषा प्राकृत थी और संस्कृत का कृत्रिम विकास और प्रभाव-विस्तार लेखन-पूर्व के चरण से सम्बन्धित है तो आदि-भारोपीय के सूत्र प्राकृतों में ढूँढ़े जाने चाहिए। फिर यह देखा जाना चाहिए कि किन प्रभावों और दबावों में संस्कृत का विकास हुआ। और यदि भारोपीय भाषाओं के व्याकरण से लेकर धातु-रूपों तक में संस्कृत से साम्य दिखायी देता है तो यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इन प्राकृतों से संस्कृत का विकास होने के बाद ही कभी इसका प्रभाव-विस्तार अन्य क्षेत्रों में हुआ था। यही नहीं, अपितु साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि यह प्रभाव-विस्तार आम जनता के प्रव्रजन या आक्रमण के जरिये नहीं हुआ हो सकता, अपितु इसके लिए वह विशिष्ट तबका ही जिम्मेदार था जिसने अपने विशिष्ट प्रयोजनों के लिए संस्कृत को एक शिष्ट (शिक्षितों के बीच सम्पर्क की) भाषा के रूप में अपना रखा था। जाहिर है, ऐसी स्थिति में उन्हें अपनी बद्धमूल धारणाओं को उलटना भी पड़ जायेगा।

4

ध्वनि-नियम और मूल भाषा की पुनर्सजना

हम यहाँ इस बात की चर्चा नहीं करेंगे कि मूल भारोपीय की पुनर्सर्जना के पीछे कौन-से आग्रह काम कर रहे थे, पर यह बात पूरे बल के साथ कही जा सकती है कि भाषा के किसी भी पक्ष के विषय में अकाट्य नियमों की बात करना युक्ति-संगत नहीं है। यदि ऐसा होता तो व्याकरण और वर्तनी की अनेक मुश्किलें आसान हो जातीं जिनका सामना दुनिया की किसी भी भाषा को सीखते समय करना पड़ता है। ध्वनि-परिवर्तन के जिन नियमों पर अनावश्यक भरोसा रखते हुए आदि-

भारोपीय की खोज का दावा किया जाता है, वे नियम भी मात्र प्रवृत्तियों के द्योतक हैं।[23] डॉ. रामविलास शर्मा इस पक्ष का विवेचन करते हुए अन्ततः लिखते हैं, "यदि कोई भाषा-विज्ञानी ऐसे नियम बता दे जिनके अनुसार स्वयं ग्रीक भाषा समुदाय में ध्वनि-परिवर्तन होता है तो ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का मार्ग सुगम हो जाये।"[24]

जब तक हमें भाषा के पूर्ववर्ती और परवर्ती रूपों का पता न हो, हम यह नहीं कह सकते कि परवर्ती भाषा में कौन-से रूप किन पूर्वरूपों से विकसित हुए हो सकते हैं।[25] लुप्त पूर्व-रूप की तो बात ही अलग है। यदि मध्यवर्ती चरण भी लुप्त हो तो भी हम यह बात दावे के साथ नहीं कह सकते कि उसमें किन्ही शब्दों या ध्वनियों ने ठीक क्या रूप लिया रहा होगा।

भारोपीय मूल भाषा के अध्येताओं ने इस बात का भी ध्यान नहीं रखा कि जिन क्षेत्रों में तथाकथित भारोपीय का प्रसार हुआ उनकी अपनी भाषाएँ भी थीं या वे बिलकुल जनशून्य क्षेत्र थे; और यदि वहाँ पहले से कुछ बोलियाँ मौजूद थीं तो उनके सम्पर्क में आने पर विभिन्न क्षेत्रों में एक ही भाषा किन-किन रूपों में प्रभावित हुई हो सकती है? ऐसी स्थिति में सभी बोलियों को सममूल्य पर रखते हुए इनके सर्वनिष्ठ या बहुनिष्ठ ध्वनितत्व के आधार पर मूल भाषा की ध्वनियों का निश्चय करना निरापद नहीं था।

डॉ. रामविलास शर्मा ध्वनितत्व पर विचार करते हुए लिखते हैं, "किसी भी भाषा की मूल ध्वनियों का विकास एक से अधिक केन्द्रों में होता है। इन केन्द्रों के परस्पर सम्पर्क में आने के कारण ध्वनितत्व एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते हैं, और ध्वनितन्त्र की एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत संगठित होते हैं, जिससे यह आभास होने लगता है कि यह व्यवस्था आरम्भ से ही है, और इसके मूल तत्व सदा से इसी प्रकार संगठित रहे हैं।"[26] यहाँ इतना और जोड़ा जा सकता है कि ये विभिन्न केन्द्र भी सांस्कृतिक एवं आर्थिक प्रचालनों के कारण विभिन्न बोलियों के परस्पर सम्पर्क में आने के बाद भी प्रायः छिट-फुट द्वीपों की तरह एक ही भाषा के प्रसार-क्षेत्र में बने रहते हैं। साथ ही यह भी कि ध्वनितत्व में परिवर्तन केवल अलक्ष्य कारणों से नहीं होते। कभी-कभी इनके विकास में सायास हस्तक्षेप भी काम करता है। किसी भी भाषा में व्याकरण के नियमों में जो अनियमितताएँ मिलती हैं उनका भी एक प्रधान कारण यह है कि अपने वर्तमान रूप में विश्व की कोई भी भाषा ऐसी नहीं है जिसमें अनेक बोलियों का और इनके तत्वों का मिश्रण न हुआ हो। प्रमुख बोली के दवाब के बाजजूद कुछ ध्वनियाँ और रूप अपनी मूल विजातीय छाया को बनाये रखती हैं।

आदि-भारोपीय के अध्येताओं को सबसे अधिक उलझन का सामना टवर्ग तथा

सघोष महाप्राण ध्वनियों की व्याख्या करते समय करना पड़ता है। सघोष महाप्राण ध्वनियों का अस्तित्व किसी अन्य भारोपीय शाखा में तो पाया ही नहीं जाता, पड़ोस की ईरानी शाखा में भी नहीं पाया जाता। द्रविड़ भाषाओं में तो सघोष महाप्राण के अतिरिक्त अघोष महाप्राण और सघोष अल्पप्राण ध्वनियों का भी अभाव है। आर्य-भाषा के अतिरिक्त भारत की किसी अन्य बोली में भी सघोष महाप्राण ध्वनियाँ नहीं पायी जातीं। इसके बावजूद इस ध्वनि की कल्पना मूल भारोपीय भाषा में की गयी है। डॉ. शर्मा लिखते हैं, "द्रविड़, कोल, नाग, इन तीनों परिवारों की भाषाएँ बोलने वाले भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से रहते आये हैं। कहा जाता है कि आर्यों ने द्रविड़ों को परास्त किया और उन्हें अपना दास बनाया। न्यूनाधिक मात्रा में उन्होंने यही व्यवहार कोल और नाग जनों के साथ किया। यदि यह बात सही है तो मानना होगा कि मुट्ठी-भर आर्य आक्रमणकारी ऐसे देश में आ गये थे जहाँ की बहुसंख्यक जनता का भाषाई परिवेश घ्, ध्, भ् जैसी ध्वनियों के प्रतिकूल था। इस विरोधी परिवेश में दो-चार पीढ़ियों तक भी इन ध्वनियों का सुरक्षित रहना कठिन था। पर वैदिक काल से लेकर अब तक, कम-से-कम चार हज़ार साल तक, इन ध्वनियों का अविच्छिन्न व्यवहार भारत में होता आया है। नाग-कोल-द्रविड़ भाषाओं के समुद्र में इन ध्वनियों को डूब कर लुप्त हो जाना चाहिए था। यूरोप में इस तरह के विरोधी भाषाई परिवेश का प्रमाण नहीं मिलता। वहाँ तो इनका लोप हो गया और भारत जैसे विरोधी परिवेश में ये ध्वनियाँ कायम रहीं। इसका कारण क्या है?[27]

इसका कारण डॉ. शर्मा के शब्दों में यह है कि, "महाप्राणता और सघोष महाप्राणता दोनों के प्रसार का मुख्य केन्द्र उत्तर भारतीय क्षेत्र—ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त अथवा मध्यदेश—है। यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि महाप्राणता और सघोष महाप्राणता के जो लक्षण इस उत्तर भारतीय केन्द्र से दक्षिण-पूर्वी एशिया में फैलते दिखायी देते हैं, वे मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया और इसकी सीमान्त भूमि यूरोप में भी प्रसारित हुए होंगे।"[28]

प्रकारान्तर से कहें तो, यदि भाषाविज्ञान से हम कोई नतीजा निकाल सकते हैं तो वह भी इस बात की ही पुष्टि करता है कि मूल भाषा, जिसका प्रसार अन्य भारोपीय क्षेत्रों में हुआ, भारत में ही विकसित हुई थी और भारोपीय अध्ययन में संस्कृत का तथाकथित अतिरंजित महत्व आज तक बना रह गया है। लीमान ने अपनी पुस्तक हिस्टॉरिकल लिंग्विस्टिक्स में श्लीख़र द्वारा कल्पित भारोपीय भाषाओं के वंशवृक्ष को उद्धृत किया है[29]' जो निम्न प्रकार है :

उक्त लेखक ने ही स्मिट द्वारा तरंग सिद्धान्त के रूप में एक अन्य रेखांकन प्रस्तुत किया है।[30] जो निम्न प्रकार है :

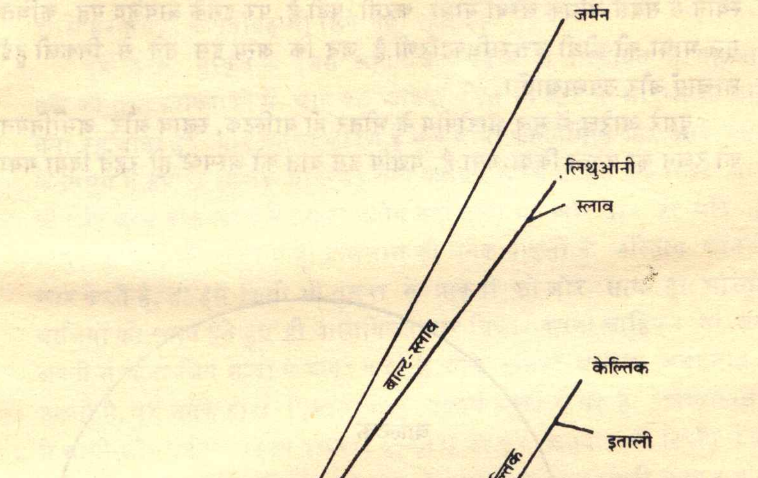

श्लीखर द्वारा प्रस्तुत भारतीय-यूरोपी का वंशवृक्ष

इन दोनों आरेखों से ठीक वही चित्र उभर कर आता है जिसे तुलनात्मक अध्ययन के आरम्भिक दिनों में विद्वानों ने पेश किया था और जिसके विषय में यह शिकायत की जाती रही है कि उनके द्वारा संस्कृत को अतिरंजित महत्व दिया जा

रहा था। पहले वंशवृक्ष में यद्यपि आदि-भारोपीय को भारतीय आर्य-भाषा से सबसे दूर रखा गया है और सरसरी तौर पर इससे लगेगा कि आर्य-भाषा को अपने मूल स्थान से सबसे अधिक लम्बी यात्रा करनी पड़ी है, पर इसके बावजूद यह कथित मूल भाषा की सीधी उत्तराधिकारिणी है जब कि अन्य इस तने से निकली हुई शाखाएँ और उपशाखाएँ।

दूसरे आरेख में मूल भारोपीय के भीतर ही बाल्टिक, स्लाव और अर्मीनियन को रखने का प्रयत्न किया गया है, यद्यपि इस बात को अस्पष्ट ही रहने दिया गया

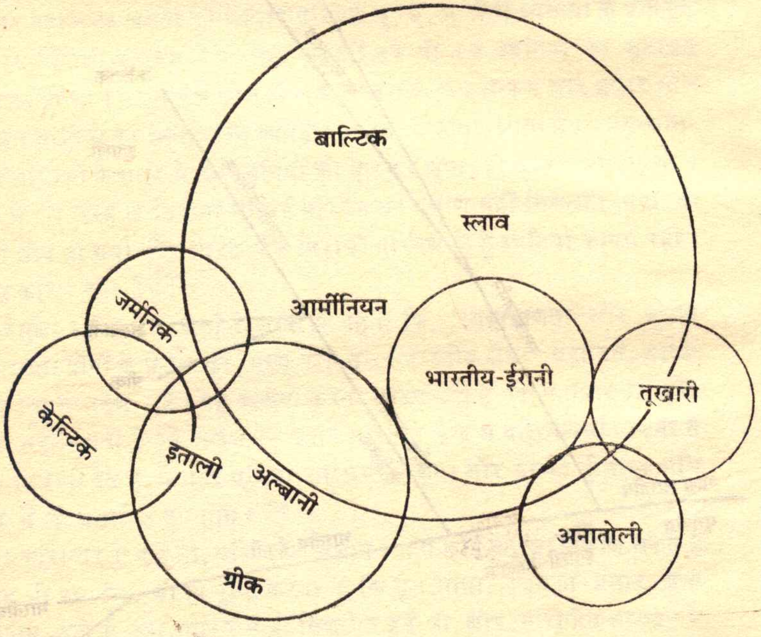

लेमैन द्वारा प्रस्तावित आद्य-भारतीय-यूरोपीय का सम्बन्ध सूत्र

है कि इनकी ठीक स्थिति क्या है। भारतीय-ईरानी शाखा को यहाँ भी नाभिकीय महत्व प्राप्त है जब कि जर्मनिक, केल्टिक, इतालवी, ग्रीक, अल्बानियन, अनातोलियन और तूख़ारी को पार्श्विक स्थान दिया गया है, हालाँकि इन दोनों आरेखों में इनके प्रस्तावकों के पूर्वाग्रह भी छिपे नहीं रहते।

इस तरह संस्कृत के जिस अतिरंजित महत्व से शिकायत है, वह आज तक की सभी व्याख्याओं में, चाहे यह व्याख्या जिस भी सिरे से आरम्भ की जाये, बना रह जाता है[31] और इसका कारण है मूल भाषा की निर्मिति और इसके प्रसार के विषय में हमारी भ्रामक धारणा। यदि यह सच है कि संस्कृत एक शिष्ट भाषा थी और आम बोल-चाल में इसका प्रयोग नहीं होता था और साथ ही यदि हम वैदिक काल में भी भारत में ही बोलचाल की अनेक प्राकृतों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, तो हमें किसी भी तुलना में प्राकृतों को और साथ ही भारतीय बोलियों को स्थान देते हुए ही वास्तविकता पर विचार करना चाहिए। डॉ. शर्मा अपनी मान्यता जिन शब्दों में व्यक्त करते हैं उनसे हमारी आंशिक असहमति हो सकती है, पर उनके द्वारा निकाला गया निष्कर्ष काफ़ी रोचक है, "भाषाविज्ञान में सामी और इंडोयूरोपियन परिवार दो छोरों पर पूरे अलगाव की स्थिति में हैं। तुर्क-मंगोल और फ़िनो-उग्रियन एक जगह हैं, सामी परिवार दूसरी जगह। आर्य-द्रविड़-कोल-नाग समुदायों से सामी और इंडोयूरोपियन समुदायों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इंडोयूरोपियन परिवार की भारतीय पृष्ठभूमि की तरह सामी-तुर्क-मंगोल परिवार की भी भारतीय पृष्ठभूमि है। प्राचीन काल में इन परिवारों की भाषाएँ बोलने वाले निकट सम्पर्क में रहे हैं। यह स्वाभाविक है कि उनमें भाषा-तत्वों का आदान-प्रदान हुआ हो। इस सारी प्रक्रिया की केन्द्र-भूमि है भारत। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की प्रगति के लिए भारतीय भाषाओं का अध्ययन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।"[32]

डॉ. शर्मा के उक्त निष्कर्षों को पढ़ने पर एक बार के लिए त्रांबेत्ती की याद ताज़ा हो आयेगी। कुछ विद्वान सम्भवतः इस पर मुस्करा कर चुप रह जाना पसन्द करेंगे। पर यहाँ स्थिति की जटिलता का एक ऐसा पहलू उजागर होता है जिस पर गम्भीरता से विचार करना ज़रूरी है। कुछ विद्वान जो आर्यों को आक्रामक के रूप में भारत तक लाने के पक्षपाती रहे हैं, इसी तरह द्रविड़ों को भी आक्रामक के रूप में उसी क्षेत्र से लाने के समर्थक हैं और मुण्डा का यूराल-अल्टाई से साम्य देखते हुए वे इसे भी उसी क्षेत्र से उससे भी कुछ पहले लाने का प्रयत्न करते हैं।[33] इसके विपरीत पूर्वेशियाई और प्रशान्त सागरीय द्वीपों की भाषाएँ कुछ भिन्न कहानी कहती प्रतीत होती हैं।[34] ऐसी स्थिति में यदि रामविलास शर्मा को केन्द्र बदला हुआ दिखायी देता है तो इसके पीछे किसी संकीर्ण आग्रह को तलाशने की जगह एक

बदले हुए नज़रिये से विचार किया जाना चाहिए—जिसके लिए पर्याप्त कारण मौजूद हैं।

5

अर्थ-विकास

भारोपीय भाषाओं के अन्तःसम्बन्ध को और मूल भारोपीय निवास को निश्चित करने के लिए, ब्रैंडेस्टाइन के विश्लेषण का उल्लेख प्रायः किया जाता है। ब्रैंडेस्टाइन ने अर्थविकासकी दृष्टि से भारोपीय भाषाओं का विश्लेषण करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि 'भारतीय-ईरानी शाखा' अर्थविकास की दृष्टि से अधिक प्राचीन स्तरों को प्रकट करती है।[35] इस तुलना को यदि भारतीय और ईरानी पर घटित करें तो पता चलेगा कि भारतीय 'शाखा' मूल अर्थों और संकल्पनाओं को अपेक्षाकृत ईरानी से भी अधिक विश्वसनीय रूप में बनाये रही है। इस विशेषता को केवल संस्कृत तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। भारतीय बोलियों में भी आदिम संकल्पना आज तक अनेकानेक मामलों में सुरक्षित पायी जा सकती है। प्रस्तुत लेखक ने शब्द-निर्माण और अर्थ-विकास की इस प्रक्रिया का उल्लेख अन्यत्र किया है।[36] भारतीय वैयाकरणों का यह दृष्टिकोण रहा है कि शब्द का अपना कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। सन्दर्भ से ही वह सुनिश्चित अर्थ ग्रहण करता है।[37] आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों का क्षेत्र-सिद्धान्त भी इसी मान्यता की पुष्टि करता है।[38] भाषा के शब्दों में अनेकार्थता का बीज उस प्राचीन अवस्था में ही मौजूद था जब विभिन्न परिवेशीय ध्वनियों को कुछ सुनिश्चित ध्वनियों से व्यक्त करने के कारण अनेक वस्तुएँ, उनके कार्य आदि उस ध्वनि से ही अभिहित होने आरम्भ हुए थे और इनके क्रम-विकास से एक ही ध्वनि से सैकड़ों शब्द मामूली ध्वनि-परिवर्तन से निर्मित होते चले गये थे और इनसे धातु, क्रियारूप, संज्ञा, विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि भी विकसित होते चले गये और आगे चल कर इन्होंने सूक्ष्म संकल्पनाओं को जन्म दिया।[39] वस्तुतः भारतीय भाषाएँ—केवल आर्य और द्रविड़ भाषाएँ ही नहीं, अपितु संताली आदि भी—भाषा के आदिम निर्माण और अर्थ-विकास के इस क्रम को जितने विश्वसनीय रूप में पेश करती हैं, उतने विश्वसनीय रूप में अन्य कोई भाषा यदि प्रकट करती हो तो इसकी हमें जानकारी नहीं है।

ब्रैंडेस्टाइन ने भारतीय और ईरानी के उक्त वैशिष्ट्य को ठीक उसी तरह उलट कर पेश किया जैसे अन्य मामलों में इन्हें पेश किया जाता रहा है। अर्थात् जहाँ सहज निष्कर्ष यह निकलता है कि चूँकि भारतीय-ईरानी में अर्थ-विकास की दृष्टि से अधिक प्राचीन अवस्था का परिचय मिलता है, अतः यदि भारोपीय

भाषाओं का उत्स केन्द्र कहीं हो सकता है तो इन भाषाओं के प्रसार-क्षेत्र के भीतर ही, वहाँ ब्रैंडेस्टाइन ने यह सुझाया कि मूल निवास से सबसे पहले अलग होने वाली शाखा भारतीय-ईरानी ही थी। परन्तु यदि हम नाभिकीय अर्थ और उन परिवेशीय ध्वनियों पर ध्यान दें जिनसे इस शब्दावली का विकास हुआ तो पता चलता है कि यह एक जल-बहुल, गर्म प्रदेश था। इस दृष्टि से भारत से बाहर का अन्य कोई क्षेत्र उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।[40]

6
प्राकृतिक परिवेश

भारोपीय भाषाओं के उद्गम का निर्णय करने के लिए एक और तरीका काम में लाया गया। यह विभिन्न भारोपीय भाषाओं में प्राकृतिक परिवेश को व्यक्त करने वाली शब्दाबली में साम्यों का अध्ययन था। इसके अनुसार, "हाथी, गैंडा, शेर, बन्दर, घड़ियाल, तोता, चावल, बरगद, बाँस, ताड़, आदि के लिए भारोपीय भाषाओं में मिलते-जुलते शब्द नहीं हैं, पर बर्फ़ और पाले के लिए, ओक, बीच, पाइन, बर्च, विलो, भालू, भेड़िया, ऊदबिलाव, बनबिलाव, पोलकैट, मार्टेन, लकड़बग्घा, हिरन, खरगोश, चूहा, घोड़ा, बैल, भेड़, बकरी, सूअर, कुत्ता, ईगल, बाज, उल्लू, नीलकण्ठ, जंगली बतख़, डक, पैट्रिज/फीजैंट, साँप, केंकड़ा, चीटी, मक्खी, मधुमक्खी आदि के लिए कम या अधिक मिलते-जुलते शब्द पाये जाते हैं।" और इससे यह ज़ाहिर होता है कि मूल निवास कहीं शीतोष्ण कटिबन्ध में था, न कि ऊष्ण कटिबन्ध में।[41]

यदि इन तर्कों की कुछ बारीकी से जाँच करें तो पायेंगे कि इनका लक्ष्य मूल निवास का निर्णय करना नहीं था, अपितु भारत को सम्भावित मूल क्षेत्र से काटने के लिए दलीलें तैयार करना था। उदाहरण के लिए, ब्लूमफ़ील्ड लिखते हैं, "हम नहीं जानते कि आदिम भारोपीय कहाँ बोली जाती थी, न ही यह कि यह किस तरह के लोगों द्वारा बोली जाती थी; हम आदिम भारोपीय बोलियों को किसी विशेष प्रकार की प्रागैतिहासिक वस्तुओं के साथ भी नहीं जोड़ सकते। भारोपीय भाषाओं में 'स्नो' संज्ञा और क्रिया-रूपों में इतना प्रचलित है कि हम भारत को भारोपीय समाज के आदिम निवास से बाहर रख सकते हैं।[42] चाहे वह स्नो हो या सालमन या समुद्र, इस जटिल समस्या का समाधान प्रायः एकल शब्दों के एकांगी प्रस्तुतीकरण के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया है।

यह लँगड़ा तर्क एक समय में बहुत लोकप्रिय था और इस पर आवश्यकता से अधिक भरोसा किया जाने लगा था। पर जल्द ही इसकी सीमाएँ स्पष्ट हो गयीं

और इसकी विश्वसनीयता ख़त्म हो गयी। पहली बात तो यह कि जब कोई जन-समाज अपना स्थान बदलता है और ऐसे परिवेश में पहुँच जाता है जहाँ उसकी पूर्व-परिचित वस्तुओं का अभाव हो तो उसकी भाषा से उन वस्तुओं को व्यक्त करने वाले शब्द प्रयोग में न आने के कारण मर जाते हैं। इक्के-दुक्के मामलों में पुराने परिवेश की परिचित वस्तुओं का नाम उनसे मिलती-जुलती ऐसी वस्तुओं को दे दिया जाता है जो नये परिवेश में उपलब्ध होती हैं। इसके बावजूद यदि अन्य भारोपीय भाषाओं में ऋग्वेद जैसा कोई अतिप्राचीन साहित्य अपने अविकल रूप में उपलब्ध होता तो भी यह जानने में कुछ सहायता मिल सकती थी कि भारतीय परिवेश की सूचना देने वाले कुछ शब्द उस समय अन्य भाषाओं में पहुँचे भी थे या नहीं। जहाँ तक ऋग्वेद की बात है, इसमें कोई ऐसा शब्द नहीं आया है जिसका भारत में अभाव हो और जो किसी अभारतीय मूल की सूचना देता हो। तीसरी बात यह कि अनेक ऐसी चीजें हैं जिनसे मूल भारोपीय जन असन्दिग्ध रूप से परिचित थे, पर उनसे सम्बन्धित समान शब्दावली का अभाव देखने में आता है। जैसा कि शीयर्ड ने लिखा है, "हमारे पास हाथ के लिए कोई समान शब्द नहीं है; क्या हम यह दलील दे सकते हैं कि जब-तक ये लोग छोटे-छोटे जत्थों में नहीं बँट गये तब तक उनके हाथ नहीं निकले थे? दूध के लिए भी कोई समान शब्द नहीं है, फिर भी हम जानते हैं कि उनके पास ढोर और रेवड़ थे।"[43]

परिवेश का निर्धारण करने का कोई औचित्य तब हो जब हम यह सुनिश्चित रूप से जानते हों कि सचमुच भारोपीय जनों का किसी बड़े पैमाने पर प्रव्रजन हुआ भी था। पर जैसा कि इमेनो और कीथ आदि ने स्वीकार किया है, इस विषय में हम बिलकुल अन्धकार में हैं।[44] ठीक यही निष्कर्ष पुरातत्व की खोजों से भी निकलता है। श्री बालकृष्ण थापड़[45] और डॉ० स्वराज्यप्रकाश गुप्त ने इसका विशद् निरूपण किया है।[46] यदि ऋणात्मक प्रमाणों का कोई अर्थ होता है तो सबसे पहले इनको इस विन्दु पर ही अमल में लाया जाना चाहिए कि चूँकि हमें प्रव्रजन के विषय में इतनी सारी ऊहापोह के बावजूद एक भी प्रमाण नहीं मिला है अतः प्रव्रजन की बात सर्वथा सन्दिग्ध है। सारा मामला भाषा और सांस्कृतिक तत्वों के प्रसार का है और निश्चय इस बात का किया जाना चाहिए कि बड़ी संख्या में जन-संचलन के बिना भी क्या भाषा और संस्कृति का प्रसार हो सकता है? और यदि हाँ, तो किन रूपों में? और फिर यह तय किया जाना चाहिए कि प्रस्तुत मामले में इनमें से कौन-सा कारण इसके लिए उत्तरदायी रहा हो सकता है?

एक और तरीका तुलना के लिए अपनाया जाना चाहिए था। वह था ऋणात्मक के स्थान पर धनात्मक साक्ष्यों का। चूँकि नये परिवेश में अनुपयुक्त शब्द मर जाते हैं, अतः यह देखना अधिक उचित था कि जो शब्द दोनों परिवेशों में जीवित

हैं उनके आर्थी स्रोत किस मूल परिवेश की सूचना देते हैं। उदाहरण के लिए, 'स्नो' शब्द को लिया जा सकता है, जिस पर ब्लूमफ़ील्ड ने आवश्यकता से अधिक भरोसा कर लिया है। भारत के लिए बर्फ़ कोई अजूबा नहीं है। प्राचीनतम काल से ही भारतीय हिमालय से परिचित रहे हैं और हड़प्पावासियों को पहाड़ों का बहुत निकट से परिचय प्राप्त था। उनके लिपि-चिह्नों में से एक पहाड़ का ही सूचक माना जाता है। वैदिक साहित्य में भी हिमालय से परिचय का संकेत मिलता है।[47] भारत में बर्फ के लिए हिम शब्द प्रचलित रहा है। ला. 'हिएम्स' और प्रा. स्ला. 'ज़िम' आदि में यह शब्द सुरक्षित पाया जा सकता है। यदि इसके लिए अधिक प्रचलित शब्द 'स्नो'—जेंद 'स्निज्ल', गॉ, 'स्नेइव्स', लिप्त, स्निग्-ति' आदि—था तो भारतीय शाखा में यह लुप्त क्यों हो गया? 'स्नो' प्रवाही जल 'स्न-/स्न-' सं. स्नेह, स्नान, सर-सल् से व्युत्पन्न है। इसके गति या प्रवाह का मूल भाव अं. स्नेक सर्पेंट, सर्कल आदि में सुरक्षित है। मूलतः प्रवाही जल के लिए प्रयुक्त शब्द का ही बर्फ़ के लिए प्रयोग क्या इस बात का सूचक नहीं है कि पहले इन लोगों का परिचय जमे हुए जल की तुलना में प्रवाहशील जल से अधिक था? इसी तरह फा. 'बर्फ़' संस्कृत 'वृष्/ वर्षा' से अभिन्न सादृश्य रखता है। हम अन्यत्र देवत्व पर विचार करते हुए यह देख आये हैं कि यूरोपीय भाषाओं और देवशास्त्रों में भी जहाँ मुख्यतः बर्फ़ पड़ती है, हिम का कोई देवता नहीं है, अपितु वर्षा का ही देवता पाया जाता है।

कहा यह जाता है कि मूल जन समुद्र से भी परिचित नहीं थे; कारण, इसके लिए शब्दावली में समानता नहीं पायी जाती। संस्कृत 'सार' और अंग्रेज़ी 'साल्ट' का यदि कोई अर्थ निकल सकता है तो यही कि इसे सलिल या सर, अर्थात् जल से प्राप्त किया जाता था जो समुद्र से परिचय का सूचक है। ऋग्वेद में भूख या 'क्षुधा' की तुलना में 'तृषा', 'तृष्णा' आदि का विविध रूपों में चारगुने से अधिक बार प्रयोग हुआ है जो इस बात का सूचक है कि वैदिक जनों को प्रायः किन्हीं ऐसी परिस्थितियों में रहना पड़ता था जिनमें पेय जल का अभाव हो जाता था। पानी का इन स्थितियों में अभाव कितना भयानक और यन्त्रणापूर्ण हो सकता था, इसे 'त्रास' शब्द से समझा जा सकता है। हमने इन परिस्थितियों को समुद्र यात्राओं के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है। यह एक रोचक बात है कि क्षुधा नहीं, अपितु 'तृषा' के लिए विभिन्न भारोपीय भाषाओं में प्रयुक्त शब्दावली—ईरानी 'तरसना', ग्रीक 'तर्सस्थेह', ला. 'तोरेरे', प्राउज. 'डर्स्ट', अंग्रेज़ी 'थर्स्ट'—में गहरा साम्य पाया जाता है। इसी तरह सं, 'स्वेद', अं. 'स्वेट,' ला. 'सुदोर', प्राउज. 'स्वेहज़' आदि का साम्य भी रोचक है। 'स्नो', 'स्वेट', 'साल्ट' और 'थर्स्ट' को यदि सही सन्दर्भ दें तो इन सभी से किसी ठण्डे देश

की नहीं, अपितु गर्म देश और वह भी भारत की सम्भावना बढ़ती दिखायी देगी। श्रेडर जो स्वयं भी भारोपीय मूल निवास के रूप में उत्तरी यूरोप के ही पक्षधर रहे हैं, यह स्वीकार करते हैं कि भारोपीय भाषाओं में कम-से-कम दो शब्द ऐसे हैं जो मूल क्षेत्र में नौचालन के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं।[48] वह यह भी स्वीकार करते हैं कि मूल जन अनसिले और खुले वस्त्र पहनते थे।[49] वे ऊनी ही नहीं, सूती कपड़ों से भी परिचित थे।[50] जंगल से उनका कुछ ऐसा खास लगाव था कि अनेक यूरोपीय भाषाओं में मन्दिर और वृक्ष पर्याय-से बन गये थे और यूनान में तो देवताओं की[51] मूर्तियाँ या तो पेड़ पर टाँग दी जाती थीं या इनके नीचे ही स्थापित की जाती थीं और अवेस्ता के अनुसार आर्यों के मूल निवास ऐरन वेजा में सदा ग्रीष्म ऋतु रहती थी जो अग्रमैन्यु द्वारा नष्ट कर दी गयी, क्योंकि वह लोगों को खुश नहीं देखना चाहता था।[52]

अनेक विद्वान आज भी अपनी व्याख्याओं में आदिम भारोपीय के परिकल्पित रूपों का और वनस्पतियों तथा प्राणियों की तुलनाओं का सहारा लेते हैं। उदाहरण के लिए, मूल भारोपीय क्षेत्र का निश्चय करने के लिए पाल फ्रीड्रिक ने पुन: उसी पद्धति को अपनाया है। उन्होंने इसके लिए पुरावानस्पतिकी (पराग विश्लेषण) को आधार बनाया है। उनके मत से 18 वनस्पतियों के लिए विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त शब्दावली में साम्य पाया जाता है, जिससे पता चलता है कि भारोपीय मूल निवास में ये पौधे पाये जाते थे। इनमें से 12 को उन्होंने प्रधान माना है।

उक्त लेखक ने जिन समानताओं पर बल दिया है उनमें से कुछ ऐसी हैं जिनसे मिलते-जुलते शब्द भारतीय भाषाओं में नहीं पाये जाते। ऐसी वनस्पतियों पर विचार करने का कोई औचित्य नहीं है। हम यहाँ केवल उन वनस्पतियों के विषय में विचार करेंगे जिनसे मिलते-जुलते नाम भारत में पाये जाते हैं। फ्रीड्रिक ने अपनी व्याख्या के लिए विचारणीय काल को तीन भागों में बाँटा है: बोरियल—7000=5500 ई. पू.; अटलांटिक=5500=3000 ई. पू. और कांटीनेंटल—3000=800 ई. पू.। उन्होंने विशेष बल अटलांटिक काल पर दिया है जिसे वह भारोपीय एकता का काल मानते हैं।[53] हम उनके द्वारा प्रस्तुत वनस्पतियों में से कुछ पर यह देखने के लिए विचार करेंगे कि यदि इस प्रकार के शब्द-भण्डार के भी विवेचन में उतरें तो भी यूरोपीय या मध्येशियाई मूल निवासों की ओर वहाँ से इन जनों के प्रसार की कल्पना सतही अँटकलबाज़ियों पर आधारित सिद्ध होती है।

बर्च—सं. भूर्ज, प्रा. प्र. 'बेर्ज', 'रूसी' 'बेरेज़ा', ईरानी 'बार्ज' में इसकी छाया दिखायी देती है। इसका मूल भारोपीय रूप 'भेर्‌ह-ग्'—कल्पित किया गया है।[54] यह वृक्ष बोरियल काल में लेखक द्वारा प्रस्तावित मूल निवास में प्रचुरता ले पाया जाता था। पर अटलांटिक काल में इसकी संख्या घट गयी और तब से यह वृक्ष

विरल रूप में ही मध्य यूरोप, जिसमें रूसी यूरोप भी आता है, में पाया जाता है।

यह वृक्ष भारत में हिमालय क्षेत्र में अति प्राचीन काल से पाया जाता है और यहाँ के बहुत महत्वपूर्ण वृक्षों में से एक रहा है, क्योंकि इसकी छाल से भूर्ज-पत्र प्राप्त होता था जो लेखन-सामग्री के रूप में उपयोग में लाया जाता रहा है। बर्च के साथ यदि बार्क - पेड़ का छिलका—शब्द पर ध्यान दिया जाये तो पता चलेगा कि लेखन के लिए भले वहाँ भूर्जपत्र का प्रयोग न हो सका हो, पर इस वृक्ष के नामकरण के पीछे छिल्के का हाथ है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बिखराव के लिए परिकल्पित काल में यह वृक्ष प्रस्तावित भारोपीय क्षेत्र में नहीं के बराबर ही पाया जाता था और यही स्थिति तब से लेकर लगभग आज तक बनी चली आयी है। यह मृतप्राय पौधा, जिसके आर्थिक उपयोग के विषय में भी वहाँ कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती है, क्यों बिखरने वाले जनों की स्मृति में चिपका रह गया और भारत तक चला आया, यह स्पष्ट नहीं किया गया है। इसके विपरीत भारतीय पृष्ठभूमि को सामने रखने पर इसकी उपस्थिति, उपयोगिता और महत्व के बिषय में कोई भ्रम नहीं रह जाता, अतः यदि यह नाम इस वृक्ष के लिए अनेक यूरोपीय भाषाओं में भी प्रयोग में आता है तो यह भारत से ही गया प्रतीत होता है।

स्काच पाइन—इसके लिए भारोपीय मूल रूप 'प्यत् (व)' कल्पित किया गया है। यही अल्बा. 'पिशे' है, जो मीयर के अनुसार 'पीत्-सिया' और संस्कृत 'पीतदारु' में प्रतिम्बिबित है। इसका एक अन्य प्राचीन रूप कल्पित किया गया है जिसमें 'क्' जुड़ा हुआ माना गया है। इसकी पुष्टि लिथु. पुशिस, प्राउज. फिउहता और मआ. ओक्टाक से होती है। लेखक के अनुसार इन विभिन्न शब्दों का प्रयोग पाइन, फ़र, स्प्रूस के पौधों के लिए और इनके विशिष्ट उत्पाद—गोंद—के लिए किया जाता रहा है। लेखक ने शंकु वृक्षों के लिए भेदक शब्दावली के अभाव को एक समस्या माना है। इसका समाधान उसने इस रूप में सोचा है कि अटलांटिक काल में भारोपीय निवास में फ़र नहीं पाया जाता था। अटलांटिक काल के अन्तिम दौर में यह अर्मीनिया और प्राइपेट डेस्ना के समीपवर्ती क्षेत्रों में रहा हो सकता है। इन वृक्षों में सबसे प्रधान है स्काच पाइन जो बोरियल काल में तो अस्तित्व में था, पर अटलांटिक काल में अधिक सख्तजान वृक्षों ने इसे उजाड़ दिया। दूसरे शब्दों में कहें तो, प्रस्तावित काल में उक्त लेखक द्वारा प्रस्तावित क्षेत्र में यह वृक्ष नहीं था और बाद में भी यह कभी प्रमुख वृक्ष नहीं बन पाया।

ऐस्पेंस और पोप्लर—फ्रीड्रिक लिखते हैं, "वानस्पतिक दृष्टि से 'पोपुलस' की प्रजातियाँ विगत हिम-काल से ही मौजूद रहीं और...अटलांटिक काल में ये एक अल्पसंख्यक सदस्य के रूप में ही जीवित रही हैं।"

ऐपेंस का मूल रूप 'अस्प' कल्पित किया गया है। लेखक के कथनानुसार कुछ अध्येता इसे संस्कृत के 'स्फ्य' से जोड़ते हैं जो लकड़ी का बना एक याजिकीय उपकरण था। 'अस्प'—की छाया मूल बाल्टिक, जर्मनिक, स्लाविक, प्रास्ला, आदि में प्रचलित 'ओप्स' में देखी जा सकती है। यूराल-अल्टाई भाषाओं में 'अप्सक' और 'अस्पक' में भी इसका प्रभाव दिखाई देता है, अतः लेखक ने इसे भाषा विशेष का शब्द न मान कर क्षेत्रीय शब्द माना है। क्षेत्रीय शब्द क्या होता है इसे लेखक ने स्पष्ट नहीं किया। कोई शब्द चाहे जिस भी क्षेत्र में हो, होगा तो किसी न किसी भाषा का ही। जो भी हो, "पोप्लर" की एक किस्म 'पोप्लर ट्रेमुला या झूमने वाला पोप्लर है।

यह बात कुछ अजीब सी है कि पण्डितों का ध्यान 'स्फ्य की ओर तो गया पर उनका ध्यान 'अश्वत्थ' की ओर नहीं गया जो 'अस्प'—से अधिक निकटता रखता है। उनका ध्यान पोप्लर और पीपल के साम्य की ओर भी नहीं गया। अपनी बनावट में पोप्लर पीपल से इतनी निकटता रखता है कि इसका हिन्दी पर्याय कामिल बुल्के ने अपने कोश में वन-पिप्पल किया है। इसका 'अश्वत्थ' नाम इसकी पत्तियों की चंचलता के कारण पड़ा है। इसी चंचलता के कारण बिजली या चंचला का एक पर्याय 'अश्वजनी' है। 'पोप्लर ट्रेमुलस' में भी इस चंचलता की अर्थ-छाया शेष है।

ऐसी स्थिति में जिन लोगों ने पोप्लर को यह नाम दिया वे पीपल से और इसके अन्य पर्याय 'अश्वत्थ' से भी परिचित थे। रूपसाम्य को देखते हुए उनका ऐसा करना अस्वाविक नहीं था। इस तर्क को उलट कर यह भी कहा जा सकता है कि पोप्लर से पहले से परिचित लोगों ने भारत में आने के बाद पीपल को ये नाम दिये। पर एक तो पोप्लर कभी अपने क्षेत्र का प्रधान वृक्ष था भी तो हिम युग से पहले ही। विचारणीय काल में वह एक विरल पौधा ही था। इसका ऐसा कोई उपयोग भी नहीं था जिससे वहाँ इसकी कोई विशेष प्रतिष्ठा मानी जाए। पर पीपल नाम 'पिप्यु' से निकला है जिसका अर्थ 'खाद्य'। ऋग्वेद में 'पिप्युषी,[55] 'सुपिपल्ला[56] आदि प्रयोग देखने में आते हैं और आगे चल कर तो 'पैप्पलाद शाखा' का अस्तित्व भी देखने में आता है। ऐसा लगता है कि आहार संचय के दिनों में पीपल का गोदा मनुष्य के खाद्य पदार्थों में था और इसको सुखाकर अभाव के दिनों के लिए भी रखा जा सकता था। गोदा शब्द स्वतः भी—'गुद' आनन्द लेना तृप्त होना—खाद्यपरक अर्थ रखता है। यही कारण है भारतीय समाज में पीपल एक पवित्र और समादृत वृक्ष माना जाता रहा है। हड़प्पा के भाण्डों आदि पर भी पीपल की पत्ती के आशय चित्रित हैं और मेहरगढ़, मुंडीगाक आदि स्थलों से प्राप्त ठीकरों आदि पर इसके आशय को लक्ष्य किया तथा प्रसार की दिक्षा को पहचाना जा सकता है। अतः पोप्लर को उसका यह नाम ऐसे लोगों द्वारा ही दिया गया

हो सकता है जो पीपल से पहले से परिचित थे।

विलो—इसके आदि भारोपीय 'स्/व्—व्ल्यक' रूपों की कल्पना इस आधार पर की गयी है कि इसके दो समानान्तर रूप यूरोपीय भाषाओं में देखने में आते हैं। ला. 'सैलिक्स, प्रा. आय. 'सेलेक', ग्रीक 'हेलिकोन' और प्राउज. 'सलह' एक श्रेणी में आते हैं और ग्रीक 'वेलिकोन', जर्मनिक 'विल्ज' दूसरे वर्ग में आते हैं। पहले वर्ग के आदि में 'स—' है और दूसरे वर्ग के आदि में 'व्—'। हित्ती में 'युएल्लु'—चरागाह और 'युएल्कु' घास के अर्थ में प्रयोग में आता था। 'स्/व्—व्ल्यक' के विषय में कल्पना यह की गयी है कि ये 'सेल्क-' बटना, ऐंठना और 'व्यट्-', मूल धातु 'व्य-' झुकना, मुड़ना से निकले हैं। विलो का पौधा इन दो नामों से कैसे पुकारा जाने लगा, इसका स्पष्टीकरण यह है कि 'दोनों मूलों वाले शब्द किसी न किसी तरह इस आर्द्रता-प्रेमी और सर्वाधिक व्यापक प्रजाति के दो प्रभेदों के लिए प्रयोग में आते रहे होंगे।' यह पौधा झाड़ी और वृक्ष दोनो रूपों में पाया जाता है और ख़ास कर नदियों के किनारे उगता है। वाइन या 'विनी' को ध्यान में रखते हुए अनुस्वरांत 'व्यं' की सम्भावना भी मानी गयी है।

ध्वनिविशारदों द्वारा कल्पित मूल रूप कितने प्रामाणिक या अप्रामाणिक हैं इस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं, पर 'सेल्क' और सं. 'शर' 'व्यट्'और 'वेतस्' न केवल परस्पर ध्वनि-साम्य रखते हैं अपितु इनसे सम्दर्भित पौधों और इनके आर्थी स्रोतों पर भी प्रकाश पड़ता है। ये अन्य बातों के अतिरिक्त इस मामले में भी समानता रखते हैं कि आर्द्रता से और नदियों के किनारे की नम ज़मीन से इन दोनों का भी सम्बन्ध है। शर में कुश और कास से लेकर सरकण्डा तक और वेतस् में पतले बेंत से लेकर बाँस जैसे मोटे बेंत तक आते हैं। वेतस् अर्थात् 'व्-ए-तस' का 'ए' अय-अइ, आई और घिस कर 'इ' बन सकता है और 'वाइन' 'विनी' बन सकता है। 'सेल्क' में उच्चारण स्थान अग्रवर्ती होकर अ-ए में, श—स में और र—ल में परिवर्तित होगा, जो सर्वथा नियमानुसार है।

ऐपल—इसके लिए प्रयुक्त केल्टिक 'एल्बु' प्रा. बा. ऐबोल में मध्यस्थ /-ब्-/-ल्-/ के उच्चारण की अनिश्चितता के कारण अधिकांश भारोपीय विशेषज्ञ उलझन महसूस करते हैं। और इसके पूर्वरूप, 'ऐब्ब्ल—को ग़ैर-भारोपीय मानना अधिक पसन्द करते हैं। कुछ का ख्याल है कि यह शब्द कभी केल्टिक में उधार लिया गया था और फिर जर्मनिक, बाल्टिक, स्लाव, और इतालवी में पहुँचा।"

ऐपल का एक अन्य पर्याय ग्रीक 'मेलोन', ला. 'मालम्'—में पाया जाता है और तूखारी 'मला', ग्राल तथा हित्ती 'मह्ल'—अंगूर की याद दिलाता है, पर इसे भरोसे का नहीं माना जाता। लेखक ने दोनों शब्द रूपों को ग़ैर भारोपीय स्रोत का माना है और ग्रीक, तूखारी तथा हित्ती शब्दों के बीच पाये जाने वाले

ध्वनिसाम्य को ध्यान में रखते हुए इनके बीच अर्थगत सम्बन्ध में स्वीकार किया है। जो भी हो, यदि इसे अभारोपीय मूल का माना जाता है और साथ ही यह भी स्वीकार किया जाए कि यह पौधा तथाकथित मूल भारोपीय क्षेत्र का है तो इससे यही सिद्ध होगा कि जिसे मूल भारोपीय क्षेत्र कहा जा रहा है वह प्रभाव विस्तार का गौण केन्द्र हुआ, जहाँ की स्थानीय बोलियों में से किसी से यह शब्द यूरोपीय तथा अन्य बोलियों में पहुँचा था।

मैपल, नट और ओक— मैपल के लिए ग्रीक में 'अक्स्तोस्' शब्द व्यवहार में आता है। इसकी तुलना सं. 'अक्ष'—बहेड़ा से की जा सकती है। यह स्मरणीय है कि मैपल के बीज के मनके भी बनते रहे हैं और मनके का एक पर्याय अक्ष भी है। अक्ष का प्रयोग बहेड़े के बीज के लिए भी होता रहा है। ग्रीक में मैपल के लिए एक अन्य शब्द 'एकॉर्न' है। ओक के लिए हित्ती 'तरु', तूखा. 'दोर्' तथा लगभग बारह शाखाओं में 'द्रेव' 'दोर्व' और 'देर्व आदि रूप पाये जाते हैं। ये सभी शब्द सं. 'तरु' 'दारु' से इतना निकट साम्य रखते हैं कि इनके बीच किसी सम्बन्ध की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। मूलतः यह शब्द वृक्ष मात्र के लिए प्रयोग में आता था, यह अंग्रेजी 'ट्री' में स्पष्ट देखा जा सकता है। ओक के लिए ही दूसरा पर्याय प्रा. नार्स फ्ज्योर्नयन्' तथा प्राउज. 'फरेह-ईह' है जिसे लेखक ने संस्कृत 'पर्जन्य' से सम्बद्ध माना है। वृष्टिप्रेमी या बरसात में विकास वाले पौधों के लिए संस्कृत में पर्जन्यवृद्ध और वृष्टिजनी शब्दों का प्रयोग देखने में आता है।

इन वृक्षों के लिए प्रयुक्त समान शब्दावली पर विचार करते समय जो तथ्य उभरकर आते हैं वे काफ़ी रोचक हैं। अनेक वृक्ष प्रस्तावित भारोपीय निवास में प्रस्तावित प्रसार-काल में या उसके बाद मृतप्राय से दिखाई देते हैं। इस काल के जो प्रधानवृक्ष थे उनके लिए प्रयुक्त शब्दावली में पूरे भोरपीय क्षेत्र में अपेक्षाकृत सादृश्य का अभावहै और जो मरणासन्न वृक्ष हैं उनकी शब्दावली में समानता दिखाई देती है और इस शब्दावली की व्याख्या कल्पित भारोपीय रूपों की तुलना में संस्कृत प्रतिरूपों से अधिक आसानी से होती है। यूरोप में इन वृक्षों की कोई आर्थिक उपादेयता या सांस्कृतिक अर्थवत्ता भी नहीं दिखाई देती, पर भारतीय भूमि में इनका महत्व स्पष्ट है। यूरोपीय भाषाओं में इनके नाम एकल और रूढ़ प्रतीत होते हैं, भारतीय भू भाग में ये जातीय शब्द प्रतीत होते हैं। जल और पर्जन्य-से सम्बन्ध जलवायु के सम्बन्ध में भी कुछ संकेत देता है। इस तरह वानस्पतिक जगत से भी लगभग वैसा ही चित्र उभरता है जैसा भाषिक विश्लेषण के अन्य पक्षों से उभरता है।

उपसंहार

इस तरह हम पाते हैं कि हम जिस भी दृष्टि से विचार करें मूल भारोपीय भाषा का उदय भारत में ही हुआ दिखाई देता है। भारोपीय जनों के विषय में जो कहानियाँ गढ़ी गयी हैं वे निराधार सिद्ध होती हैं। उनके पक्ष में कोई ठोस प्रमाण किसी ओर से आता नज़र नहीं आता। पर भाषा और संस्कृति का सादृश्य एक कठोर वास्तविकता है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता और जिसके विषय में इससे अधिक किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि यह इस पूरे क्षेत्र में सबसे प्रभावशाली दाय के रूप में आज तक मौजूद है। यह सच है कि भाषा का अर्थ नृजाति नहीं होता और इनके बीच अनिवार्य सम्बन्ध भी नहीं होता। यही बात संस्कृति के विषय में भी कही जा सकती है। इस बात को कुछ और बल देकर कहें तो भाषा के प्रसार और प्रभाव के लिए न तो आक्रमण ज़रूरी है, न ही बड़े पैमाने पर प्रव्रजन। आक्रमण और प्रव्रजन की तुलना में मनुष्य की आर्थिक गतिविधियों, विशेषकर वाणिज्य, का भाषा और संस्कृति के प्रसार में अधिक योगदान हुआ करता है और भारतीय प्रभाव विस्तार भी इसी तरह का हो सकता है। जैसा कि हमने आरम्भ में कहा है, यद्यपि आज तक हड़प्पा की लिपि पढ़ी नहीं जा सकी है, हड़प्पा सभ्यता की भाषा का विकास जिस स्तर का होना चाहिए वह स्तर संस्कृत में वैदिक काल से ही दिखाई देता है और ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों की भाषा भी इतनी सशक्त है कि इससे प्रकट होता हैं कि ऋग्वेद की रचना आरम्भ होने से पहले ही इसने असाधारण विकास कर लिया था। इसके विपरीत वैदिक भाषा जिस सभ्यता का पूर्वानुमान जगाती है वह पूरे भारोपीय क्षेत्र में केवल भारत और वह भी हड़प्पा सभ्यता में ही चरितार्थ होती दिखाई देती है। अतः हड़प्पा की लिपि पढ़ी गयी है या नहीं, कभी पढ़ी जा भी सकेगी या नहीं, पर वैदिक भाषा और हड़प्पा सभ्यता, वैदिक साहित्य और हड़प्पा का जीवन दोनों एक दूसरे की अपरिहार्यता को सिद्ध करते हैं। इसके बावजूद इस बात की पूरी सम्भावना हो सकती है कि हड़प्पा के अभिलेखों की भाषा वैदिक संस्कृत न होकर वैदिक प्राकृत ही हो जो ही आम व्यवहार में काम में लायी जाती रही हो। पर इस प्राकृत का रूप निश्चय ही परवर्ती कालों की पालि और प्राकृतों जैसा रहा होगा, इसमें सन्देह है। यह भी जरूरी नहीं कि समूचे हड़प्पा क्षेत्र में अन्य भारतीय बोलियों के छिट फुट-द्वीप न रहे हों। बल्कि इसकी सम्भावना निश्चय ही अधिक दिखाई देती है। प्रकारान्तर से कहें तो यदि प्रसार हुआ तो वह केवल संस्कृत या प्राकृतों का ही नही अपितु द्रविड़ और आस्ट्रिक तत्वों का भी हुआ और यह प्रसार विशिष्ट अंचलों से जाने वाले व्यापारियों की संख्या पर निर्भर करता दिखाई देता है। जो भी हो, भारत से बाहर से वैदिक या आर्य भाषा के आने का कोई प्रमाण

दिखाई नहीं देता जब कि हड़प्पा के व्यापारियों के साथ इस प्रभाव के बाहर फैलने की हर सम्भावना दिखाई देती है। इस दृष्टि से इस प्रभाव विस्तार के दो चरण मानने होंगे—प्राथमिक प्रसार जो भारत से हड़प्पा के व्यापारियों के जरिए उन क्षेत्रों तक हुआ जहाँ से इनके व्यापारिक सम्पर्क थे ओर जहाँ अपने व्यापारिक हितों के कारण इन्होंने सम्भवत: स्थायी बस्तियाँ भी बसा ली थीं जैसा कि पुरातत्व ने हाल ही में प्रमाणित किया है; वक्षु (आक्सस) नदी पर बसी शोर्तुगाई हड़प्पा वासियों की एक ऐसी ही स्थायी बस्ती थी। दूसरा, परवर्ती प्रसार जोइन केन्द्रों से आगे की ओर हुआ लगता है। पहले चरण में भारतीय मूल के व्यापारियों का योग-दान इस प्रसार कार्य में ज़रूरी था पर दूसरे चरण के लिए यह कदापि ज़रूरी नहीं। आगे का काम उनके द्वारा पैदा किया प्रभाव कर सकता था। इस प्रसार को रिले दौड़ के रूप में ही समझा जा सकता है। यूरोपीय भाषाओं में परस्पर पायी जाने वाली ऐसी समानताएँ जिनको हम भारतीय क्षेत्र में नहीं पाते और जिनका सन्तोषजनक समाधान भारोपीय या वैदिक भाषा-तत्वों से नहीं हो पाता, इन उपकेन्द्रों से, वहाँ की स्थानीय बोलियों से लिए गये हो सकते हैं।

बैक्ट्रिया, तूरान, सीस्तान या रूसी तुर्कमीनिया की संस्कृतियों के कतिपय तत्व जो भारत के साथ कुछ साम्य प्रकट करते हैं इन प्रभावों की ही देन हो सकते हैं। यद्यपि इस बात का ध्यान रखना होगा कि कुर्गन, त्रिपोली आदि के अनेक साम्य सतही और भ्रामक हैं।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. ह्वाटमो, लैंग्वेज : ए माडर्न सिंथीसिस, 1956, 12
2. वही, 13.
3. विलियम जोन्स, एशियाटिक रिसर्चेज, 1788, 422-23.
4. मैक्समूलर, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1867, 1, 63-65.
5. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया, 1967, 1, 1, 8, 95.
6. टी. बरो, संस्कृत लैंग्वेज़ 1955, 9-10.
7. गाइल्स, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, 1, 1921 (1962 सं०); 1959, 262-64, बी. के. घोष, 'दि आर्यन प्राब्लम' दि वैदिक एज, 1965, 206 गुड एनफ, इंडोयूरोपियन ओरिजिन्स', 1970, 255, 261; 'दि इवोल्यूशन ऑफ़ पैस्टोरलिज्म ऐंड चाटुर्ज्या, बाल्टस ऐंड आर्यन्स..., 1968,

जिम्बुतास, दि बाल्ट्स 1963; ,प्रोटो इंडो-यूरोपियन कल्चर...' 1970 आदि,

8. बी. के. घोष, 'दि ओरिजिन आफ़ दि इंडो-आर्यन्स', कहेइं, 1958, 138
9. देखें, येस्पर्सन, लेंग्वेज इट्स नेचर, ओरिजिन, ऐंड डवलपमेंट 1954, 191-210 येस्पर्सन ने बताया है कि नये क्षेत्र में पहुँचने वाली भाषा किन-किन स्थितियों में किन रूपों में पहुँचती है, और उसमें प्रत्येक स्थिति में क्या परिवर्तन होते हैं।
10. पूर्व, 12 तु. करें मैक्समूलर के 'बड़े भाई' और सबसे अन्त में मूल निवास छोड़ने की कल्पना से।
11. वही, 10.
12. वही।
13. वही।
14. मारिजा जिम्बुतास, 1970, 178-75.
15. बरो, पूर्व, 15.
16. वही, 17.
17. वही, 27; ब्लाख़, इंडो आर्यन 1962, 11.
18. बरो, वही।
19. किसी एक ही मूल भाषा से संसार की अन्य भाषाओं की उत्पत्ति की सम्भावना कुछ विद्वानों को उन्नीसवीं शताब्दी तक आकर्षक लगती रही। उदारण के लिए ऐल्फ्रेड त्रांबेत्ती ने अत्यन्त व्यापक और विशद अध्ययन के आधार पर भाषाओं के विशद और विशदतर परिवारों की कल्पना करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि संरचनापरक शब्द अपने रूप में अधिक पुरातनवादी होते हैं और इन्हें आसानी से एक भाषा से दूसरी में उधार नहीं लिया जा सकता। उन्होंने सूडानी की बांतू और आस्ट्रो-एशियाटिक की ख्मेर में संख्यावाचियों की समानता, हैमिटिक—सामी, द्रविड़, मुंडा और पोलीनेशियन के बीच सर्वनामों की समानता, डकोटा (अमेरिकन इंडियन) और जार्जियन (काकेशियन क्षेत्र) की क्रियाओं की समानता का विवेचन करते हुए यह नतीजा निकाला कि सबसे अधिक समानताएँ भारतीय केन्द्र को घेर कर फैली हैं और परस्पर दूरस्थ भाषाओं में पायी जाती हैं, अतः भारत ही वह मूल निवास है जहाँ से सभी जातियाँ और भाषाएँ अलग-अलग दिशाओं में पहुँची हैं। मार्गरेट श्लाफ गिफ्ट ऑफ़ टंग्स 1949, 73-74.

श्लीगल ने 1808 में यह दावा किया था कि सभी भारोपीय भाषाएँ संस्कृत से ही निकली है। कर्जन ने 'ऑन दि ओरिजिनल एक्सटेंशन ऑफ़ लैंग्वेज ओवर सर्टेन पोर्शन्स ऑफ़ एशिया ऐंड यूरोप', जर्नल ऑफ़ रायल

एशियाटिक सोसाइटी, 16, 1856, 172; लगभग यही विचार प्रकट किए थे। इस तरह के विचार उन्नीसवीं शताब्दी में ही अपनी लोकप्रियता खो चुके थे।

20. येस्पर्सन, 1954, 48; लॉकवुड, इंडोयूरोपियन फिलॉलॉजी, 1969, 23-24 आदि द्वारा अद्धृत। भाषा में सर्वत्र समान गति और रीति से परिवर्तन नहीं हुआ करते और परिवर्तन को रोकने का चाहे जितना भी प्रयत्न हो इसे पूरी तरह रोका नहीं जा सकता। अत: किसी भी क्षेत्र से अन्यत्र फैली भाषाओं में अनेक प्राचीन रूप बने रह जाते हैं जो मूल क्षेत्र की भाषा में बदल चुके होते हैं। यह एक सामान्य नियम है।

21. मैक्समूलर ने इस पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा था, 'जो नृत्तवशास्त्री आर्य जाति, आर्य रक्त, आर्य आँख और केश की बात करता है वह मेरी नज़र में उसी तरह गुहनगार है जैसे कोई भाषाविद जो लघु कपालशब्द-कोश या दीर्घकपाल व्याकरण की बात करे। यह भाषाओं के बेबीलोनी घालमेल से भी बदतर है—यह सरासर चोरी है।" बायग्राफीज़ ऑफ़ वर्ड्स ऐंड दि होम ऑफ़ दि आर्यन्स, 1888, 120

22. ग्रियर्सन, 1967, 1, 357 और आगे; बाकरनैगल, आल्तिन्दिशे ग्रामातीक 1, 18वां; माइकेल्सन, जएओसो, 33, 145-9; कीथ, एतरेय आरण्यक 180, 196; दि एज ऑफ दि ऋग्वेद, 1921, 97-98; इमेनो, 1966 आदि।

23. रामविलास शर्मा, भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी 1979, 1, 38

24. वही, 2, 1980, 14

25. येस्पर्सन, 1954, 44.

26. रामविलास शर्मा, 1980, 13-14.

27. वही, 17.

28. वही, 26.

29. विन्फ्रेड लेमन, हिस्टॉरिकल लिंग्विस्टिक्स, 1966, 139.

30. लेमैन, 141.

31. कीथ लिखते हैं, "The Language is of the highest interest, as it reveals to us an Indo. European speech with a singular clarity of structnre and wealth of inflection, even if we admit that the first discoveries of its importance from the point of view of Comparative philology exaggerated in

some degree these characteristics ." कीथ, 1921, 97

32. वही, 1980, 378.
33. देखें, काल्डवेल, 1915; चटर्जी, ब्लाख, प्रित्स्लुस्की आदि '1929; टी. बरो,' 1955; राहुल, 1964; आदि। प्रित्स्लुस्की आस्ट्रिक प्रभाव केवल संस्कृत पर ही नहीं, अपितु इसकी छाया ईरानी पर और यहाँ तक कि मैसोपोटामिया की ज़बान पर भी देखते प्रतीत होते हैं। देखें, चटर्जी, 1965, 155.
34. देखें, इनसाइडर डायन,' बैकग्राउंड 'व्वाएज' ऑर 'इविडेंस' इन कंपेरेटिव लिंग्विस्टिक्स : दि केस ऑफ़ आस्ट्रोनेशियन-इंडोयूरोपियन हाइपोथेसिस इंडोयूरोपियन ऐंड इंडोयूरोपिन्वस, 1970, 431-440। लेखक ने आस्ट्रोनेशियन भाषाओं से अनेक ऐसे सादृश्यों की ओर ध्यान दिलाया है जो प्रचलित मान्यता में संशोधन की माँग करते हैं।
35. बी. के. घोष, 'दि आर्यन प्राब्लम' 'दि वैदिक एज, 1965, 215 में उद्धृत।
36. भगवानसिंह, आर्य द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता, 1873, 153 और आगे।
37. डा. कपिलदेव द्विवेदी, 1951, 150 और आगे।
38. राबर्ट लार्ड, 1966, 241 और आगे।
39. भगवान सिंह, 1973, 154 और आगे।
40. वही, 31 और आगे।
41. बेंडर, दि होम ऑफ़ दि इंडोयूरोपियन्स, 1922, शीयर्ड द्वारा उद्धृत, 1954, 117-18; देखें, श्रेडर, श्रीहिस्टारिक एंटीक्विटीज ऑफ़ दि आर्यरन पीपुल्स, 1890, अं. अनु. राजेन्द्र शर्मा, 1972, भी।
42. एल. ब्लूमफील्ड, लैंग्वेज 1965, 319
43. शीयर्ड, पूर्व., 112; देखें, लक्ष्मीधर कल्ल, 1930 भी
44. इमेनो, 'दि डायलेक्ट्स ऑफ ओल्ड इंडो आर्यन', ऐंशंट इंडो यूरोपियन डायलेक्ट्स, 1966, 132; कीथ, 'दि एज ऑफ दि ऋग्वेद', दि कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1962 सं०, 1, 70.
45. थापर, 'दि आर्यन्यस : ए रीऐप्रेजल ऑफ़ दि प्राब्लम', 1970, 147-64
46. एस. पी. गुप्ता, आर्कियालोजी ऑफ़ सोवियत सेंट्रल एशिया ऐंड दि इंडियन बार्डरलैंड्स, 2, 1976, 318.
47. नदियों के उद्गम स्थल, सोम के प्राप्ति के स्थान, रुद्र के निवास आदि के रूप में पर्वत के उल्लेख देखे जा सकते हैं।
48. ओ. श्रेडर, पृ. 353.

49. वही, 331-35.
50. वही, 333.
51. वही, 278 व 302.
52. हर्जफील्ड, 1947, 2,688-703; अवेस्ता, सैबुईसी, 5
53. पाल फ्रीड्रिक ; प्रोटो इंडोयूरोपियन ट्रीज, इंडोयूरोपियन ऐंड इंडीयूरोपियंस 1970, 11-34.
54. लेमैन, 1957, 53.
55. 2.13.1; 16.8; 5.73.8; 8.14.3; 9.16,7 आदि।
56. 7.101.5.

अध्याय नौ

समाज

वैदिक समाज एक संश्लिष्ट समाज था। इसका निर्माण जिन गणों से हुआ था उनमें कभी भिन्न-भिन्न भाषाएँ, सामाजिक रीति-नीति और विश्वास प्रचलित थे। वाणिज्य पर आधारित आर्थिक प्रचालनों ने क्रमशः इनके बीच जो निकट सम्पर्क और फिर सामंजस्य पैदा किया उसी का परिणाम थी वह उन्नत भाषा, व्यापक सांस्कृतिक और नैतिक चेतना तथा विश्वासों की वह कमोबेश समानता जो ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित हुई है। पर यह भिन्नता सम्पर्क की प्रकृति और मात्रा के अनुरूप उस काल में भी मौजूद थी और आगे भी बनी रही। अनेकता में एकता की जो बात भारत के विषय में प्रायः दुहरायी जाती है वह हड़प्पा-वैदिक काल में भी मौजूद थी। अपनी मान्यताओं और विश्वासों के प्रसार के लिए बौद्धिक और यदा-कदा भौतिक संघर्ष, जो कभी-कभी भिन्न मान्यताओं और विश्वासों की आलोचना तक ही सीमित न रह कर कटु निन्दा और घृणा के प्रचार का भी रूप ले लेते थे, और दूसरी ओर उनसे जुड़े लोगों को अपने भीतर समेटने के लिए उनके कतिपय अंशों को आत्मसात् करते जाने का क्रम, हड़प्पा-वैदिक काल से पहले से ही आरम्भ हो गया था, जिसका प्रमाण अब पुरातत्व दे रहा है, विशेष रूप से कोट दीजी संस्कृति द्वारा। इसके बावजूद न तो यह भिन्नता कभी पूरी तरह समाप्त हुई, न ही इसने कभी इतना उग्र रूप लिया कि सामाजिक सम्पर्क को पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दे। यह बात पूरी तरह हड़प्पा के नगरों की योजना और उनसे प्राप्त मुहरों, मृद्भाण्डों आदि से भी प्रमाणित होती है।

इस भिन्नता के तत्व भारत में जाने कितने लम्बे समय से मौजूद थे और इस सामंजस्य के लिए आर्थिक विकास भी वैदिक काल से बहुत पहले आरम्भ हो चुका था। प्रायः 7000 ई. पू. में इसका प्रमाग बोलन नदी पर बसे मेहरगढ़ से मिलता है। जो विद्वान सामाजिक-आर्थिक तनाव और जुड़ाव के इन दोनों पक्षों की ओर ध्यान नहीं दे पाते और भिन्नता का अर्थ जिनके लिए आदिम कबीलाई स्तर

का प्रखर अलगाव तथा एकता का अर्थ जिनके लिए विविध रसायनों के रचपच कर एक होने, या किसी एक शक्तिशाली द्वारा शेष को खा-चबाकर हज़म कर लेने का पर्याय दिखायी देता है, वे ही अपनी इस यान्त्रिक दृष्टि के कारण ऋग्वैदिक और उत्तर-वैदिक सामाजिक, रीतिगत और भाषाई रंगतों को आर्य-आव्रजन या आक्रमण से जोड़ कर देख सकते हैं।

पर जब ऐसे इतिहासकार भी हड़प्पा सभ्यता के विषय में विचार करते हैं और उसमें सम्मिलित जनों, प्रचलित विश्वासों और आर्थिक उपक्रमों की भिन्नताओं से उनका सामना होता है तो इनका निषेध करने का उनका साहस नहीं हो पाता। हड़प्पा से प्राप्त कंकालों से किसी नर-हत्या की पुष्टि भले ही न हो, पर इस बात की पुष्टि तो होती ही है कि इसका निर्माण जिन जनों से हुआ था उनमें से कोई चपटनास नहीं था[1] और इनमें अनेक नृजातीय तत्व विद्यमान थे, जो आज भी उस क्षेत्र में विद्यमान हैं।[2] इस तथ्य को स्वीकार कर लेने के बाद वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित वैविध्यों को समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है कि वैदिक समाज एकपिण्डीय नहीं था।[3] इसमें अनेक गण सम्मिलित थे। ऋग्वेद में यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, पक्थ, भलान, अलि, शिव, पुरु, कुरु, शिग्रु आदि गण-नामों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।[4] ये उल्लेख विशेष सन्दर्भों से सम्बन्ध रखते हैं, अतः उक्त गणों को अपने समय की पूरी वास्तविकता का सूचक नहीं माना जाना चाहिए। इनमें से कुछ नामों को टोटेम से जुड़ा हुआ माना गया है।[5] यदि टोटेम के तर्क को मान कर चलें तो इन गणों के उद्भव-क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति की भी कुछ झलक मिल जायेगी, क्योंकि कौशिक, काश्यप, अलिन, मत्स्य, अज, ऋषभ, ऐल, वेन, मातंग आदि अनेकानेक प्राचीन नाम हैं जिनमें जीवों-जन्तुओं के नाम ढूंढ़े जा सकते हैं। यह क्रम वैदिक काल तक ही सीमित नहीं रहता। महाभारत-काल में नकुल, शिखण्डी, शकुनि आदि नामों में भी इस तरह की छाया देखी जा सकती है। इनको टोटेम मानना कहाँ तक ठीक है, यह कहना कठिन है, पर इनको आधार बनाकर यह नतीजा निकालना कि वैदिक समाज वैदिक काल में भी कबीलाई स्तर पर जी रहा था, कुछ ज्यादती है। ये और इस तरह के अन्य नाम बौद्ध और उत्तर-बौद्ध काल तक जीवित रहते हैं और गौतम, काश्यप, कौशिक आदि गोत्र-नाम तो आज भी प्रचलित हैं।

जो भी हो, वैदिक समाज की रचना जिन गणों से हुई थी उनमें रीति और विश्वासों की भिन्नता थी। यदुओं और तुर्वशों को तो स्पष्टतः 'अस्नाता' या उपनयन से वंचित भी कहा गया है।[6] पुरुओं को तो असुर तक कहा गया है।[7] इन्द्र की श्रेष्ठता के विषय में सन्देह का स्वर वैदिक साहित्य में देखा जा सकता है[8] और आगे चलकर तो यह विवाद किंचित् और ज़ोर पकड़ता है। इसके साथ केवल वरुण की ही नहीं, इन्द्र की भी प्रतिष्ठा घटती है।[9] वैदिक अध्येताओं ने इस बात पर तो

ग़ौर किया है कि वरुण एक प्राचीन और प्रभावशाली देवता थे और नये मण्डलों में इनकी प्रतिष्ठा ह्रास पर दिखायी देती है, पर वे यह भूल जाते हैं कि वैदिक काल के इसी चरण में इन्द्र की मर्यादा भी घटती है[10] और वैदिक समाज आगे अपना ही नहीं, अपने देवताओं का भी नये सिरे से समायोजन करता दिखायी देता है।

2
विवाह

सामाजिक घटकों की विविधता की पुष्टि अन्त्येष्ठि और विवाह की प्रचलित रीतियों से भी होती है। मनु ने आठ प्रकार की विवाह-रीतियों का उल्लेख किया है।[11] ये हैं ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस और पैशाच। ब्राह्म विवाह में वर को बुलाकर लड़की को यथाशक्ति अलंकृत करके दे दिया जाता था।[12] देव विवाह में कन्या यज्ञ के पुरोहित को दी जाती थी।[13] आर्ष विवाह में कन्या के साथ वर को गायों की दो जोड़ी दी जाती थीं।[14] प्राजापत्य में कन्या का पिता बिना किसी आपत्ति के या स्वेच्छा से कन्या को उसके पति को सौंप देता था कि वे सुख-सद्भाव से रह सकें।[15] आसुर विवाह में कन्या का क्रय होता था।[16] गन्धर्व विवाह में प्रेम और वरण ही पर्याप्त था। इसके लिए विवाह की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं होती थी।[17] अपहरण करके विवाह करने को राक्षस[18] और आपराधिक बलात्कार को वैध रूप देने को पैशाच[19] विवाह की संज्ञा दी गयी है।

ये सभी विवरण बाद के हैं और इनकी पुष्टि वैदिक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक काल के अनेक विवाहों से भी होती है, पर इन सभी के साथ सामाजिक मर्यादा की चेतना देखी जा सकती है। इनमें आर्ष और आसुर विवाह पशुचारण की अवस्था के और राक्षस आहार-संग्रह और आखेट की अवस्था के अवशेष हो सकते हैं, पर सबसे अधम पैशाच विवाह से जुड़ी अपराधवृत्ति, लड़की या उसके स्वजनों की इच्छा के विपरीत, पर शीलभंग हो जाने के बाद सामाजिक मर्यादा के कारण इसे विवाह में परिणत करना, निश्चय ही उन्नत समाज के धूमिल पक्ष को उजागर करता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक ही समाज में एक समय में नयी-पुरानी अनेक विवाह-रीतियाँ प्रचलित हो सकती हैं और ये सामाजिक वर्गों और आर्थिक स्तरों से तो कुछ सम्बन्ध रखती हैं, पर नृतात्विक भिन्नता की कसौटी नहीं हैं।

विवाह की ये विभिन्न रीतियाँ वैदिक काल में प्रचलित रही हो सकती हैं, पर ऋग्वेद से विवाह के विषय में बहुत कम जानकारी मिलती है। इसका कुछ विस्तृत

उल्लेख सूर्या के विवाह के प्रसंग में मिलता है जो अब तक प्रचलित वैवाहिक रीतियों से काफ़ी साम्य रखता है । इसमें कन्या को सविता द्वारा सोम को, सोम द्वारा गन्धर्व को, गन्धर्व द्वारा अग्नि को और अन्ततः अग्नि द्वारा मानव-पति को दिये जाने को[20] कुछ इतिहासकारों द्वारा इस बात का सूचक माना गया है कि एक स्त्री प्राचीन काल में एक पति को छोड़ती हुई दूसरे, तीसरे या चौथे पति का वरण कर सकती थी ।[21] इसमें सच्चाई हो सकती है । अनेक जातियों में इस तरह की छूट आज भी पायी जाती है । पर प्रस्तुत मामले में यह विवाह के समय अनेक देवताओं को साक्षी बनाने का द्योतक है ।

महत्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक और उत्तर-वैदिक कृतियों में उस समाज में जो वैदिक काल में कठोर व्यवस्था से बँधा था किसी सुदूर प्राचीन काल में विवाह संस्था के अभाव का[22], स्त्रियों को प्राप्त पूर्ण निर्बन्धता का[23] भी उल्लेख मिलता है । बहू द्वारा वर की माता के लिए और वर द्वारा वधू की माँ के लिए प्रयुक्त सम्बोधन 'सास' से भी यह प्रकट होता है कि किसी पूर्ववर्ती चरण में यह समाज पितृसत्ताक न हो कर मातृ-प्रधान था, अर्थात् परिवार की शासिका माँ हुआ करती थी ।[24] उससे विकास करके यह वैदिक काल से काफ़ी पहले ही पितृ-प्रधान हो चुका था और भारोपीय समाज सर्वत्र पितृप्रधान दिखायी देता है । इसका सीधा अर्थ यह है कि भारोपीय प्रभाव का विस्तार इस परिवर्तन के घटित होने से बहुत बाद की घटना है और इसके पूर्ववृत्त इन जनों के सम्बन्ध में केवल भारत में ही उपलब्ध होते हैं ।

3
अन्त्येष्ठि

विवाह की विभिन्न रीतियों के ही समान अन्त्येष्ठि की भी अनेक रीतियाँ वैदिक समाज में प्रचलित थीं । 'अग्निदग्ध' पर टिप्पणी करते हुए वैदिक इंडेक्स के लेखक लिखते हैं कि वैदिक काल में अन्त्येष्ठि की मुख्यतः दो रीतियाँ प्रचलित थीं : शवदाह और समाधि । इसकी पुष्टि में उन्होंने 'अग्निदग्ध' और 'अनग्निदग्ध' शब्दों की ओर संकेत किया है । अथर्ववेद में 'परोप्त' और 'उद्धित' को वे कुछ सन्दिग्ध आशय का मानते हैं[25], पर त्सिमर के अनुसार 'परोप्त' ईरानियों की तरह शव को जानवरों के खाने के लिए छोड़ देने का सूचक है और 'उद्धित' को ऐसी पद्धति माना जा सकता है जिसमें निस्सहाय बूढ़ों को निराश्रित मरने के लिए छोड़ दिया जाता था ।[26] ह्विटने ने 'उद्धित' प्रथा को मृतक को किसी ऊँचे चबूतरे पर छोड़ देने की पद्धति माना है ।[27]

ऋग्वेदकालीन प्रचलन पर टिप्पणी करते हुए वह लिखते हैं, "गाड़ने की विधि ऋग्वैदिक काल में दुर्लभ नहीं थी, एक सम्पूर्ण सूक्त इससे सम्बन्धित संस्कारों का वर्णन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृत अपने सम्पूर्ण परिधान के साथ गाड़ा जाता था। उसका धनुष उसके हाथ में रहता था और सम्भवतः जंगली जातियों में प्रचलित प्रथा के अनुसार एक बार उसकी पत्नी भी मृतक के साथ जाने को विवश थी। परन्तु वैदिक काल में दोनों प्रथाएँ एक परिष्कृत रूप में प्रकट होती हैं : मृतक के हाथ से उसका पुत्र धनुष ले लेता है और विधवा अपने पति के शव के पास से उसके भाई अथवा अन्य किसी निकट सम्बन्धी द्वारा अलग हटायी जाती है। मृत और जीवित व्यक्तियों को अलग करने के लिए उनके बीच एक पत्थर गाड़ दिया जाता था। ऋग्वेद में नहीं, तो अथर्ववेद में शव रखने के एक बाक्स, 'वृक्ष' का भी उल्लेख है। दोनों संहिताओं में 'धरती के घर', भूमि-गृह के अन्य संकेत भी मिलते हैं।"[28]

वह आगे लिखते हैं, "तथापि जलाना उतना ही परिचित था और क्रमशः इसके प्रसार में वृद्धि होती गयी, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद में मृतक के शरीर को परलोक प्राप्त कराने के लिए दही (आमिक्षा) और वस्त्रालंकारों से सजाने को सदोष और त्रुटिपूर्ण माना गया है, तथा वाजसनेयि संहिता के अन्त्येष्ठि सम्बन्धी मन्त्रों का आशय भी केवल जलाना ही है। इस स्थान पर जो पद गाड़ने का उल्लेख करते हैं उनका आशय वास्तव में गाड़ने के स्थान (श्मशान) पर राख या अस्थियाँ गाड़ना है। जैसा कि ऋग्वेद के अन्त्येष्ठि सूक्त से प्रकट होता है, शव में तेल का लेप कर दिया जाता था तथा परलोक में उसका पथ-प्रदर्शन करने के लिए सम्भवतः एक बकरा उसके साथ जला दिया जाता था...।"[29]

संक्षेप में कहें तो, इस बात के पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि जिन जनों से वैदिक समाज की रचना हुई थी उनमें बहुत पहले कुछ अलग-अलग अन्त्येष्ठि संस्कार प्रचलित थे,जिनका क्रमशः लम्बे सम्पर्क के दौरान परस्पर समन्वय भी होता आया था। प्राचीनतर रीतियों में कुछ अपेक्षाकृत अधिक असंस्कृत रही हो सकती हैं, पर वैदिक काल तक इनमें एक मार्जन और परिष्कार दिखायी देता है, जैसे पति के साथ पत्नी के दाह के स्थान पर उसका आत्मदाह के लिए तैयार होना और किसी सम्बन्धी द्वारा उठा लिया जाना।

डॉ. गुप्त ने इस मान्यता को गलत ठहराया है कि एक संस्कृति के साथ एक ही अन्त्येष्ठि की रीति प्रचलित होती है।[30] उनकी यह राय बहुत ठीक लगती है, पर इसके साथ ही इस बात का भी ध्यान में रखना होगा कि एक संस्कृति का अर्थ एक नृजाति या जनजाति नहीं होता, और यह भी कि एक नृजाति में भी एक ही अन्त्येष्ठि या अन्य रीतियाँ प्रचलित होना जरूरी नहीं। सभ्यता का विकास कितने भी छोटे कालखण्ड तक सीमित क्यों न माना जाये, आदमी का जीना-मरना आदि

काल से ही लगा रहा है और इस पूरे दौर में भी विभिन्न जनों का कभी प्रगाढ़ और कभी शिथिल सम्पर्क बना रहा है और आदिम समाजों की समस्त रूढ़िवादिता के बावजूद यत्किंचित लेन-देन होता रहा है। अतः आदिम भाषाओं और संस्कृतियों को भी सर्वथा शुद्ध और प्रभाव-शून्य नहीं माना जाना चाहिए। उच्चतर सांस्कृतिक विकास के साथ सम्पर्क अधिक गहन होते ही हैं। अतः न तो हम यह कह सकते हैं कि कोई संस्कृति किसी एक ही जनजाति से निर्मित हुई थी, न ही यह कि उसमें प्रचलित कोई भी रीति इकहरी और एक-जातीय रही है।

जो भी हो, वैदिक अन्त्येष्ठि रीतियों में से अधिकांश को हम किसी-न-किसी रूप में आज तक प्रचलित पाते हैं। यद्यपि, जैसा कि वैदिक इंडेक्स के लेखकों का विचार है, दाहसंस्कार उत्तर-वैदिक काल में अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया और आज यह सबसे प्रचलित अन्त्येष्ठि-रीति है, पर समाधि देने की प्रथा कुछ मतों के लोगों में आज तक प्रचलित पायी जा सकती है। त्सिमर ने 'उद्धित' को समझने में कुछ ग़लती की है, इसे 'उद्-हित' या जल-प्रवाह की रीति माना जाना चाहिए। शिशुओं और कुछ व्याधियों से ग्रस्त व्यक्तियों को आज भी जल प्रवाह देने का चलन है। अस्थिकलश और अस्थि-विसर्जन की रीतियाँ आज तक चली आयी हैं। कलश में भस्मावशेष को रख कर समाधि देने का चलन बौद्ध काल तक तो प्रचलित था ही। मृत शरीर भी व्यर्थ न जाये, कम-से-कम शवभक्षी पशुओं-प्राणियों के ही काम आ जाए, यह मान्यता एक विशेष जीवन-दृष्टि से सम्बन्धित है और जैन विचारधारा के अधिक अनुरूप है। शवदाह के समय कुछ लोग इस बात का ध्यान रखते हैं कि यह पूरी तरह जल कर भस्म न हो जाये, अपितु कुछ अंश जलचर प्राणियों के लिए बचा रह जाये।

ऐसा लगता है कि जीवन-दृष्टि में परिवर्तन ने भी अन्त्येष्ठि-रीतियों को प्रायः प्रभावित किया गया है, जैसे कि परजीव-कातरता के दृष्टिकोण ने और इसके साथ पर्यावरण की शुद्धता आदि के विचारों ने भी इन रीतियों को संशोधित किया है। अग्नि को अमृत का धाम कहा गया है और ऐसा लगता है कि दाह-संस्कार के प्रचलन का इससे गहरा सम्बन्ध है। जैसे आग धातुओं आदि के निस्सार तत्वों को जलाकर उनके अमर या शुद्ध अंशों को बचा लेती है और 'अमर' बना देती है, वैसे ही वह मृत व्यक्ति की काया के नश्वर तत्वों को जला कर अमर तत्वों को या आत्मा को दीप्त और शुद्ध कर देती है।[31] यह मात्र एक अनुमान ही है, पर आत्मा के सन्दर्भ में इसके शुद्ध ज्योति रह जाने या अंगुष्ठ मात्र शरीर के रह जाने की अवधारणा से इसका मेल दिखायी देता है। ऐसा सोचने का एक कारण यह भी है कि ऐसी बालिका जिसका कर्णवेध न हुआ हो या बालक जिसका चूड़ा-संस्कार न हुआ हो, उसे जलाया नहीं जाता रहा है। अतः कर्णवेधन और चूड़ाकर्म से वंचित शिशुओं के प्रवाह की आज जो रीति है वह इस बात की सम्भावना प्रकट

करती है कि दाहकर्म का चलन वैदिक विश्वासों के क्रमशः ज़ोर पकड़ने के साथ और स्नातों के लिए ही आरम्भ हुआ था।

हड़प्पा और वैदिक रीतियों में कुछ साम्यों को स्पष्ट लक्ष्य किया जा सकता है। पहली बात तो मृत व्यक्ति को सुलाने की रीति ही है।[32] हड़प्पा के शवों के पाँव भी दक्षिण की ओर रखे जाते थे। यह चलन आज तक पाया जाता है। दक्षिण दिशा को वैदिक साहित्य में पितरों की दिशा कहा गया है।[33] दूसरी समानता मृत शरीर को अनावश्यक रूप से अलंकृत न करने आदि की मानी जा सकती है, जिसकी ओर हड़प्पा के अध्येताओं ने प्रायः ध्यान दिया है[34], और जिसके विषय में वैदिक मान्यता छांदोग्य उपनिषद् की वर्जना में देखी जा सकती है।[35] तीसरी समानता, इस सादगी के बावजूद, मृतकों के प्रति यथोचित सम्मान और अन्त्येष्ठि के किंचित् विस्तृत रीति-विधान की है[36] जिसमें मिट्टी के सादे नये भाण्डों का विशेष महत्व रहा है जो आज तक जीवित है। मृत व्यक्ति को भी भूख प्यास लग सकती है और जल तर्पण तथा घटबन्ध से उनकी भूख-प्यास मिटाने की रीति सम्भवतः समाधि पद्धति का नयी परिस्थितियों में रूपान्तरण है जिसमें कुछ खान-पान के सामान मिट्टी के पात्रों में शव के साथ रख दिये जाते थे।[37] सधवा स्त्रियों के मरने पर उनको सजाने का आज तक चलन है और इसकी भी पुष्टि हड़प्पा की समाधियों से होती है।[38] शिशुओं को जल-प्रवाह देने की रीति को भी हड़प्पा की प्रचलित रीति माना गया है।[39] और अन्ततः जिसे डॉ. गुप्त ने "हड़प्पा की अन्त्येष्ठि रीतियों की आधारभूत एकरूपता और साथ ही क्षेत्रीय प्रकार-भिन्नता" कहा है उसे भी इन दोनों के बीच समानता का ही सूचक मानना होगा।

4
वर्ण-विभाग

यदि उत्पादन का स्तर उठेगा तो उसके ही अनुसार विशेषज्ञता का भी प्रश्न आयेगा और विशेषज्ञता का प्रश्न तदनुरूप शिक्षा या प्रशिक्षण की अपेक्षा रखेगा। कौशलों के प्रशिक्षण सामान्यतः पिता-पुत्र क्रम से चलते रहे हैं, या कहें बच्चा छोटी उम्र से ही अपने माता-पिता के काम में हाथ बँटाते हुए उनके कौशल में प्रशिक्षित होता रहा है। अतः प्राचीन समाजों में व्यवसाय सामाजिक हैसियत और ऊँच-नीच की भावना का जनन करता रहा हो या नहीं, इसमें आनुवंशिक क्रम से चलने की और जाति का रूप लेने की प्रवृत्ति बहुत आरम्भ से ही रही है। पर कौशल के आनुवंशिक हस्तान्तरण और उस कौशल या व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य किसी विकल्प का अभाव, सामाजिक प्रतिबन्धों द्वारा व्यक्ति को उसके आनुवंशिक

पेशे में जकड़ दिया जाना, दोनों अलग चीज़ें हैं।

ऋग्वैदिक काल में विभिन्न व्यवसायों में दक्षता का एक सराहनीय स्तर प्राप्त हो चुका था और इसका उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। भारत में वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था स्थापित करने की ज़िम्मेदारी आर्यों की मानी जाती है। इसके लिए उन्हें कोसा भी जाता है और जब-तब तत्कालीन स्थिति को देखते हुए इनकी हिमायत भी की जाती है। जो भी हो, इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि वर्ण-व्यवस्था मूलतः गुण-कर्म-विभाग के अनुसार की गयी थी। दूसरे शब्दों में कहें, तो इसका सीधा सम्बन्ध उत्पादन से था और आगे चलकर इसने सामाजिक हैसियत और जन्म से ही उस हैसियत से जुड़ाव का रूप ले लिया।

हम यहाँ इस ब्यौरे में नहीं जायेंगे कि वर्ण-व्यवस्था कब आरम्भ हुई और कब इसने जाति का रूप लिया। प्रश्न यह है कि जब हम हड़प्पा सभ्यता की कलात्मक उपलब्धियों को देखते हैं तो क्या एक क्षण के लिए भी यह सोच सकते हैं कि ये काम तकनीकी दक्षता और तदनुकूल प्रशिक्षण के बिना ही पूरे किये जा सकते थे? क्या यह सम्भव है कि कार्य-विभाजन के बिना ही वह सभ्यता उस स्तर तक पहुँची हो? ऐसा सम्भव नहीं था, और लगभग सभी विद्वान इस बात पर एकमत हैं कि हड़प्पा-काल में कार्य-विभाजन था।[40] फिर यदि आर्य जन भिन्न थे तो इस विभाजन के रहते उन्हें नये सिरे से यह विभाजन करने की क्या आवश्यकता थी? यह तो पहले से विद्यमान था। पर वैदिक रचनाएँ, समूची परवर्ती परम्परा और भारतीय समाज का अब तक का ढाँचा सभी इस बात की असन्दिग्ध पुष्टि करते हैं कि यह विभाजन स्वयं वैदिकों ने किया था। वसिष्ठ और अगस्त्य जैसे अज्ञात-कुलशील व्यक्तियों का समाज के उच्चतम वर्ण में ससम्मान स्वीकार किया जाना ही इस इस बात का अच्छा प्रमाण है कि आरम्भ में यह व्यवस्था उतनी कठोर नहीं थी जितनी कठोर बाद में बन गयी। पर इस कठोरता का कारण तुर्कों के आगमन को मानना इतिहास की अनदेखी करना है।[41]

वर्ण-व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख पुरुष-सूक्त में मिलता है जो नवीन माने जाने वाले दसवें मण्डल में आता है।[42] इससे प्रायः यह समझ लिया जाता है कि वर्ण-व्यवस्था का अस्तित्व प्राचीन सूक्तों के रचना-काल में नहीं था।[43] इसकी पुष्टि में यह भी सुझाया जाता है कि नवम् मण्डल के एक सूक्त में एक ही परिवार के अलग-अलग लोगों द्वारा अलग-अलग पेशे अपनाये जाने के संकेत मिलते हैं।[44] पर यह मण्डल भी उन्हीं नये मण्डलों में शामिल है। इसके अतिरिक्त पुरुष-सूक्त में वर्ण-व्यवस्था को दैवी सृष्टि माना गया है। जैसा कि हम अन्यत्र भी देखते हैं, दैवी उत्पत्ति उन संस्थाओं की ही मानी गयी है जिनका विकास क्रमशः इतने लम्बे समय के दौरान हुआ था कि उनकी उत्पत्ति के विषय में जातीय स्मृति भी किसी का साथ नहीं दे पाती थी। इससे यह लगता है कि पुरुष-सूक्त के रचना-काल तक

वर्ण-व्यवस्था इतनी पुरानी हो चुकी थी कि लगता था, यह भी सृष्टि के आदि से ही अस्तित्व में है।[45] जहाँ तक नवें मण्डल के एक मन्त्र का प्रश्न है, उसमें कवि के पिता को भिषग और माँ को उपलप्रक्षिणी बताया गया है। चिकित्सक का पेशा भी अन्य बौद्धिक गति-विधियों की ही भाँति वर्ण-विशेष से ही जुड़ा रहा है। सायण ने उपलप्रक्षिणी को भूना भूनने वाली[46] माना है। यह पहले महिलाओं का सामान्य कार्य रहा लगता है। जो भी हो, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वर्ण-व्यवस्था उक्त काल में अस्तित्व में नहीं थी।

ऐसा मानने का एक कारण यह भी है कि पुराने सूक्तों में भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों के उल्लेख किन्हीं विशेष गुणों और कार्यभारों से युक्त व्यक्तियों के रूप में आते हैं।[47] यही बात शिल्पियों के विषय में कही जा सकती है। श्रेष्ठता और कनिष्ठता का आधार भी जन्म को माना गया है।[48] सुजात और सुजाति के उल्लेख इसके विलोम का भी आभास देते हैं।[49] अतः यह मानना अधिक उचित प्रतीत होता है कि कार्य-विभाजन स्तरीभूत होकर जाति का रूप लेने लगा था, पर असाधारण प्रतिभा या प्रयास से कोई व्यक्ति अपने को अपने से ऊँचे वर्ण में स्थापित करा सकता था। ऊँचे वर्ण या जाति में प्रवेश करने के लिए यह संघर्ष या प्रयत्न किसी-न-किसी रूप में वैदिक काल से लेकर बाद के कालों में। कहें, ब्राह्मणों, उपनिषदों, महाकाव्यों में और आगे के कालों में भी बना रहा है।[50]

धर्मशास्त्रों में वर्ण-धर्म के जो विवरण मिलते हैं वे मात्र संकेतपरक हैं। उनके रचनाकाल के सामाजिक सम्बन्धों का, जातियों और उपजातियों का, उनमें कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता। लगता है जैसे स्मृतिकार प्राचीन ग्रंथों में इस विषय में लिखी हुई बातों या विधानों को ही दुहराते चले जा रहे हैं। यह सम्भवतः उस वैदिक स्थिति का ही सूचक है जब वर्ण-विभाजन को सामाजिक आवश्यकता से जोड़ कर रखा गया था और प्रत्येक वर्ण के लोग अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार कोई पेशा अपना सकते थे। उदाहरण के लिए, एक ब्राह्मण या क्षत्रिय चिकित्सक, अध्यापक, सैनिक, पुरोहित आदि हो सकता था। कहें, सैनिक होने के बावजूद ब्राह्मण अपना ब्राह्मणत्व कायम रख सकता था और पौरोहित्य करने के बाद भी क्षत्रिय क्षत्रिय बना रह सकता था। यही बात आर्थिक उपक्रमों के विषय में भी कही जा सकती है। लगता है क्षेत्रीय और सुदूर व्यापार, दोनों में ही वैश्यों के अतिरिक्त क्षत्रिय और ब्राह्मण भी जुटे हुए थे, या यदि यह माना जाये कि धनार्जन केवल वैश्यों के हाथ में था, भले वह कृषि हो या व्यापार, तो मानना होगा कि इस काल के वैश्य ही सर्वोपरि थे, क्षत्रिय मात्र उनके रक्षक और ब्राह्मण उनके उपजीवी पुरोहित की हैसियत रखते थे और प्राचीन वैदिक राजाओं में से अधिकांश वैश्य ही थे। उनमें व्यावसायिक चतुरता तो थी ही, शौर्य का भी अभाव नहीं था और सामरिक नेतृत्वों में भी वे सम्मानजनक स्थान रखते रहे होंगे। इसी तरह

शूद्रों का सम्बन्ध केवल श्रम और सेवा से नहीं था। कौशलों से जुड़े लोग भी इनमें परिगणित थे, गो इनमें व्यवसाय के कारण ऊँच-नीच की भावना नहीं पायी जाती थी।

वर्ण-व्यवस्था को प्रायः गोरे-काले के भेद के रूप में पेश कर दिया जाता रहा है। जैसा कि रोमिला थापर ने कहा है, यह एक जटिल समस्या को अतिसरलीकृत रूप में पेश करने का द्योतक है।[51] वर्ण आरम्भ से ही चार कल्पित किये गये हैं और गोरे-काले का यह भेद इसका समाधान नहीं है। इसके बावजूद अँधेरे में सक्रिय होने वाले—तमोवृद्ध—अपराध-कर्मियों, और जंगली कबीलों के लिए प्रयुक्त होने वाला असुर शब्द रंग से भी जोड़ लिया गया था। यह ध्यान में रखना होगा कि सुविधाजीवी, आरामतलब, सम्पन्न आदमी जो खुली धूप में आम श्रमिकों की तरह काम नहीं कर रहा है, श्रमिकों की तुलना में कुछ हलके रंग का होता ही है और गोरे आदमी को भी धूप में काम करना पड़े तो कुछ ही समय में गोरा रंग ताँबई होने लगता है। यह अन्तर तो कुछ सालों के भीतर ही आ जाता है। कई पीढ़ियों में इससे कुछ अधिक अन्तर आ सकता है। पर वासिष्ठों का अपने को गोरा कहना और इस पर गर्व करना,[52] उसी स्थिति में सम्भव हो सकता था जब कि यह गौरांगता बहुत विरल रही हो। कृष्ण आंगिरस, श्याव काण्व जैसे नामों से भी प्रकट होता है कि उच्च वर्णों के लोगों में भी सभी लोग भारतीय गौरांगता के मापदण्ड से भी गोरे नहीं थे। प्रसंगवश वसिष्ठ उन लोगों में माने जाते हैं जिन्हें कुछ इतिहासकारों ने हड़प्पा के पुरोहितों से सम्बन्धित माना है।[53] अतः गोरे-काले का फ़र्क़ आरम्भिक स्थिति का सूचक नहीं है, यह स्वतः सम्पन्नता के साथ विकसित हुआ है। इस बात को कभी भुलाया नहीं जाना चाहिए कि भारतीय सन्दर्भ में गोरे और साँवले का अर्थ वही नहीं होता जो यूरोपीय सन्दर्भ में।[54]

जो भी हो, कार्य-विभाजन का सम्बन्ध रुचि और दक्षता से था और इस बात की प्रत्येक व्यक्ति से अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने वर्ण के अनुरूप योग्यता प्राप्त करे और सम्भवतः अयोग्य व्यक्ति को तिरस्कृत और कभी-कभी जाति-बहिष्कृत भी होना पड़ता रहा होगा। ऋग्वैदिक काल में जाति ने अपनी जड़ें जमाना आरम्भ कर दिया था। इसके पुराने मोटे विभाग वैश्य और शूद्र थे। वैश्य का पशुधन पर और भूसम्पदा पर सीधा अधिकार था और वाणिज्य उसके हाथ में था, पर उत्पादन में श्रम के लिए वह शूद्रों पर ही निर्भर करता था। अतः स्वामी के रूप में 'वार्ता' वैश्य का धर्म है और सेवक के रूप में शूद्र का। अविकसित औजारों से किसी चीज का निर्माण करना भी आसान नहीं है, और यह बात नये युग में शक्ति के नये साधनों का आविष्कार होने से पहले तक बनी हुई थी। अतः तकनीकी काम —पेड़ों की कटाई, चिराई, ढुलाई, वस्त्र-निर्माण, चमड़े के काम,

पत्थर, धातु और लकड़ी के काम—इन शूद्रों के हाथ में ही थे।[53] जब हम यह सोचते हैं कि आर्य-भाषा और संस्कृति का प्रभाव इसलिए फैला होगा कि आर्य तकनीकी दृष्टि से आगे बढ़े हुए थे और इसलिए अपनी अल्प संख्या के बावजूद अपना प्रभाव कायम करने में सफल हो गये[56] तब हम तकनीक और कौशल को पूरे अर्थतन्त्र के अविभाज्य अंग के रूप में न देख कर इन दोनों को अलग कर देते हैं। प्रभाव तकनीकी ज्ञान और उत्पादन से नहीं, अपितु उस उत्पादन पर अधिकार से जुड़ा हुआ है। इस पहलू पर ध्यान न देने पर यह बात एक पहेली बन कर रह जायेगी कि भारत में सारा तकनीकी कर्म और कौशल एक ओर है और इसके सिद्धान्तपक्ष का ज्ञान बीच में और उसका लाभ दूसरी ओर। तकनीकी दृष्टि से आगे बढ़े लोगों को ही हम भारतीय समाज में शूद्रों के रूप में पाते हैं। सम्भवत: दूसरी सभ्यताओं की भी स्थिति इससे बहुत अधिक भिन्न नहीं थी। श्रम और कौशल से जुड़े इन लोगों को केवल अभाव में रख कर और इनके सैद्धान्तिक और सामाजिक ज्ञान को कुण्ठित करके, इनके लिए आचरण के आदर्श बना कर और इन्हें उनका क़ायल बना कर, और सबसे बड़ी बात, शस्त्र-बल से इनको नियन्त्रित करके और इनके विद्रोहों को कुचल कर ही सवर्ण समाज ने अपना प्रभाव और सामाजिक श्रेष्ठता कायम की थी। तन्त्र को बनाये रखने में इसकी भूमिका किसी से कम नहीं है। जो काम क्षत्रिय हथियार से करता था, पुरोहित अन्धविश्वासों और सामाजिक मूल्यों की सृष्टि करके उसी काम को मनोवैज्ञानिक स्तर पर करता रहा है। उसके द्वारा प्रचारित भ्रमों के अभाव में आर्थिक विषमता से ग्रस्त इतने बड़े समाज को केवल हथियारों के बल पर काबू में नहीं रखा जा सकता था। अतः यदि उन्हें इस व्यवस्था में ऊँचा स्थान मिला था तो स्वाभाविक ही था।

पर सामाजिक प्रतिष्ठा को आर्थिक स्थिति का सूचक नहीं माना जा सकता। ब्राह्मणों की आर्थिक स्थिति क्षत्रियों और वैश्यों से निश्चित रूप से ख़राब दिखायी देती है। दान की अतिरंजित महिमा इस वर्ग की समृद्धि नहीं, अपितु विपन्नता को ही प्रकट करती है।[57] क्षुधा से मुक्ति की कामना सम्भवतः उसके अपने अनुभवों की देन है।[58] इसके विपरीत कारीगरों की आर्थिक स्थिति उतनी बुरी नहीं दिखायी देती। इसका एक कारण यह है कि ये कारीगर ही देसी तथा विदेशी व्यापार के मेरुदण्ड हैं। प्राचीन कृतियों में प्रायः जब असुर माया की चर्चा आती है तो यह भ्रम होता है मानो यह वैदिक सभ्यता के समकक्ष ही एक अन्य सभ्यता का वर्णन है जो तकनीकी दृष्टि से इससे भी आगे बढ़ी हुई थी। पर वास्तव में ये वैदिकों के अपने ऋभुगण, रुद्रगण, अश्विनीकुमार, त्वष्टा, विश्वकर्मा और विश्वरूपा हैं। ये उनके अपने कुम्हार, बढ़ई, लोहार, सोनार, मणिकार, थवई, जुलाहे, निषाद, चर्मकार, सूत, मागध और कुशीलव हैं। यदि इनको सुनहरे हार पहन कर, गर्व से अकड़ कर चलते हुए दिखाया जाता है, एक कनिष्ठ के रूप में ही

सही, सोमपान में भागी होते दिखाया जाता है, तो यह इस बात का सूचक है कि उनके शिल्प से व्यापारी खूब लाभान्वित हो रहे थे और इन्हें भी इसी के अनुरूप पुरस्कृत कर रहे थे। जब तक व्यापारिक गतिविधियों में सरगर्मी बनी रहती है, इनको समुचित प्रोत्साहन और पुरस्कार मिलता है। अर्थव्यवस्था डगमगाने के बाद इनकी पहले से प्राप्त सुविधाओं पर भी चोट होती है। हिस्से के लिए कलह भी होता है, इनका दमन भी किया जाता है और इस तरह गिरावट की पूर्णाहुति हो जाती है।[59]

हमारे लिए यह बात अधिक महत्त्व रखती है कि वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध मूलतः कर्म से था और हड़प्पा सभ्यता में व्यापारी वर्ग, उनके रक्षक, पुरोहित और श्रमिक तथा कलाकार थे जो इन चारों वर्णों के अस्तित्व की पुष्टि करता है।

5
स्त्रियों की स्थिति

सुदूर अतीत में स्त्रियों की स्थिति भले अच्छी रही हो, पर वैदिक काल तक स्त्रियों की स्थिति परवर्ती कालों से अच्छी नहीं रह गयी थी। अन्य अनेक बातों की तरह नारी जाति पर प्रतिबन्ध और सामाजिक उत्पादन से उसे अलग करके केवल सन्तान पैदा करने और पुरुष की विलासिता का साधन बनाने का तथ्य भी आर्थिक विषमता को प्रकट करता है। वैदिक काल में एक आदर्श पत्नी की स्थिति एक आज्ञाकारिणी दासी जैसी रह गयी है।[60] दुहिता शब्द से यह समझ लेना कि स्त्रियों का घर की चारदीवारी से बाहर के आर्थिक उपक्रमों में भी हाथ रहा हो सकता है, एक तरह का अतिवाद है। 'दुहिता' का अर्थ यदि स्त्री होता तो ऐसा मानना सर्वथा उचित था। पर ऐसा नहीं है। लड़कियों को पिता के घर में अपेक्षाकृत अधिक छूट हमेशा रही है। प्रश्न उसके विवाह के बाद की स्थिति का है। दुहिता का सम्बन्ध भी घर के दरवाज़े तक के कारोबार से ही लगता है। वह दुहिता तो है पर गोपिका या गोचारिका नही। ऋगवैदिक विवरणों के अनुसार स्त्री का मन चंचल होता है और बुद्धि भी छोटी होती है।[61] उसका विश्वास नहीं किया जा सकता[62], पति युक्त नारी ही अनिन्दनीय होती है[63], सन्तान के रूप में केवल पुत्र की ही इच्छा व्यक्त की गयी है।[64] पिता का प्रेम पुत्र के प्रति ही व्यक्त होता है।[65] विवाह के बाद स्त्री के पाँव घर में पड़ने के जल्द बाद यदि कोई अनिष्ट घटित हो जाता तो उसका दोष भी उसी को दिया जाता था।[66] उससे परदा रखने

की भी अपेक्षा की जाती थी।[67] उसकी कार्यदक्षता का शायद ही कहीं उल्लेख आता हो—यदि आता है तो कूटने[68], भूनने-पीसने[69], आदि श्रम-कार्यों और घरेलू उपयोग के लिए कताई-बुनाई का[70]; पर शृंगार-बनाव[71], कामुकता[72] और सुन्दरता[73] का जिक्र बार-बार आता है। सुन्दर स्त्री को देख कर केवल यही विचार आता है कि जाने कौन इसका भोग करेगा।[74] उसके भरण-पोषण का भार पुरुष पर है और यदि पति नालायक निकल जाये तो पत्नी कुलटा हो सकती है।[75] स्त्री पुरुष के लिए एक खेत के समान है जिसमें पुरुष बीज वपन करता है।[76] और इसलिए, ज़ाहिर है, उस खेत से उत्पन्न सन्तान पर भी मुख्यतः पुरुष का ही अधिकार है। एक पुरुष अनेक पत्नियाँ रख सकता था और सपत्नियों के बीच कलह के उल्लेख प्रायः आते हैं।[77] बहुविवाह का, कहें एकाधिक स्त्रियों को अपनी विलासिता के लिए रखने और उन्हें गुलामी के मूल्यों में बाँधने का, उन्हें परदे में रखने से अनिवार्य सम्बन्ध है और यह स्थिति वैदिक काल तक आ चुकी थी। यदि मनु के विधानों की तुलना वैदिक सन्दर्भों से की जाये तो वैदिक-कालीन स्त्री की स्थिति तनिक भी भिन्न दिखायी नहीं देती। मनु का यह दावा कि स्मृति के विधान वेद-सम्मत हैं, दोनों में कोई द्वन्द्व नहीं है, ग़लत नहीं लगता।[78]

हड़प्पा के नगरों से जिनमें खिड़कियों का लगभग अभाव-सा है या यदि खिड़की है तो इतनी सँकरी कि बाहर से भीतर नज़र न जा सके तथा मकानों के निकास गलियों में हैं न कि मुख्य मार्ग पर, साथ ही कुछ मकानों में अनेक प्रांगण हैं जो बाद के अन्तःपुरों की याद दिलाते हैं, परदा-प्रथा के अस्तित्त्व की भी सूचना मिलती है।[79]

जैसे वेद तक केवल सवर्णों की पहुँच रही है वैसे ही इन वैदिक विधानों का प्रसार भी केवल सवर्णों तक ही सीमित था। यदि ये वर्ण स्वयं भी शारीरिक श्रम से जुड़े होते तो अपनी स्त्रियों को भी इसमें शामिल किये बिना न रहते। श्रमिक-वर्ग की स्त्रियों पर न तो उस तरह के प्रतिबन्ध रह सकते हैं, न रहे हैं, जो वैदिक महिलाओं पर दिखायी देते हैं। जहाँ तक कुल श्रम-भार का प्रश्न है, चक्की चलाने से लेकर दूसरे घरेलू कामों में उनकी स्त्रियों का बोझ किसी भृत्य से कम नहीं था। इस श्रम पर एक दुहरी पीड़ा घर की सीमा की और बहु-विवाह की स्थिति में एक पत्नी के रूप में भी अपने सीमित अधिकारों के अधिकाधिक परिसीमन और यदा-कदा नारकीय उपेक्षा की थी, जो नारी की स्थिति को शूद्रों से भी बदतर बनाती रही है। इस तरह हम पाते हैं कि यह एक भ्रम मात्र है कि इस काल में स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी का दर्जा प्राप्त था। जहाँ ऋषिकाओं के रूप में किन्हीं महिलाओं का उल्लेख आया है वहाँ वे वस्तुतः उन सूक्तों की रचयिता न हो कर उन उक्तियों या संवादों के पात्रों के रूप में आती हैं और ऋषिका शब्द से अधिक ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिए कि उनसे कहलाया क्या गया है और यह उनकी उक्त

छवि से अननेल पड़ता है, या नहीं।

6
नैतिक आदर्श

वैदिक समाज के नैतिक मूल्य और अपराध की चेतना से एक ऐसे समाज की छवि सामने आती है जिसमें नागरिक दायित्वों और सभ्य आचार को व्यक्ति की अन्तश्चेतना का अंग बना दिया गया था। इस क्रम में कितना लम्बा समय लगा होगा, यह केवल अनुमान का ही विषय है। इसके लिए कठोर प्रशासन के साथ-साथ कुकर्म से अनिष्ट की सम्भावना और मरणोत्तर जीवन में दण्ड की सम्भावना को एक हथियार के रूप में काम में लाया गया था। जो कर्म किसी को नहीं दिखायी देते उन्हें भी देवता देख लेते हैं। मन से भी अकृत्य की बात सोचना पाप है, क्योंकि देवताओं से यह भी छिपा नहीं रह सकता।[81] उनके चर बिना पलक झपकाये हर चीज़ को देखते हुए घूमते रहते हैं।[80]

वैदिक जन अपने शत्रुओं को द्वेषधत्त, निन्दक, गृध्नु, तायु, तस्कर, अतिमानी, अनृत, असत्य, पाप्मान, उब्ज, सन्देहवादी, शिश्नदेव आदि कह कर उनकी आलोचना या निन्दा करते हैं। प्रकारान्तर से कहें तो ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा, लोभ, चोरी, लूट, दम्भ, उपद्रव, सामाजिक मान्यताओं पर आपत्ति या सन्देह, लम्पटता आदि को इस समाज में निन्दनीय माना जाता था। किसी समाज के नैतिक आदर्शों का उस समाज के सभी सदस्यों द्वारा पालन ही किया जाता हो, यह ज़रूरी नहीं, पर इतना तो सच है ही कि कोई समाज अपने लिए ऐसे आदर्श ही चुनता है जिस पर उस समाज का अस्तित्व टिका होता है।[82] यदि वैदिक जनों का अस्तित्व लूट-पाट पर टिका हुआ था तो कम से कम लूटपाट को निन्दनीय नहीं होना चाहिए था। ये आदर्श, जिन्हें ही आगे स्मृतियों में और बाद की सभी वैदिक अवैदिक परम्पराओं में दुहराया जाता है, एक शिष्ट और मर्यादित समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं जो तदनुरूप आर्थिक प्रगति के साथ ही सम्भव है। एक बार इन आदर्शों के स्थापित हो जाने के बाद ये स्वतः एक शक्ति बन जाते हैं।

वैदिक समाज के आदर्श और व्यवहार में अन्तर ढूँढ़ना कठिन नहीं है। आर्थिक समृद्धि ने समाज के एक हिस्से को निश्चय ही उच्छृंखल बना दिया था और रीतिकालीन कवियों की तरह इन उच्छृंखल जनों को रास आने वाली रचनाएँ भी उस समय हो रही थीं। पर सर्वमान्य मूल्यों के रूप में ये नैतिक मान ही निन्दा और प्रशंसा के आधार थे। यहाँ तक कि सर्वोपरि देवता इन्द्र, जिसे रीतिकालीन कृष्ण की तरह विलासियों की छवि में उतार दिया गया था, इस चेतना के कारण

ही अपने पद से स्खलित हो जाता है, यद्यपि इसका एक कारण हड़प्पा के वाणिज्यिक आधार में गिरावट और वैश्य वर्ग की तदनुरूप अधोगति के साथ-ही-साथ इसके प्रतिरूप देवता की प्रतिष्ठा में गिरावट को भी मानना होगा।

यदि मैंने कभी कोई अपराध अनजाने भी किया हो, यदि किसी से द्वेष किया हो, झूठ बोला हो, तो यह जल उसे प्रच्छालित कर दे।[83] मित्र और वरुण झूठ से मुक्तकरें, सत्य या सदभाव से भर दें। किसी कुटिल व्यक्ति से ऋण न लेना पड़े। किसी शत्रु या मित्र का दिया हुआ न खाना पड़े।[84] न तो स्वयं किसी के धन पर जीना पड़े, न ही पुत्र-पौत्रादि को।[85] इन उक्तियों के स्वर पर और इनसे जुड़े हुए मनोभाव पर ध्यान देने पर ये पाखण्डपूर्ण उक्तियाँ नहीं लगेंगी और जिस समाज की मनोकामनाएँ इस प्रकार की हों उसे लुटेरा और बर्बर कहना ठीक नहीं है।

7
खान-पान

मार्शल ने हड़प्पा सभ्यता को वैदिक सभ्यता से भिन्न प्रमाणित करने के लिए इस बात पर भी बल दिया था कि "वैदिक आर्य-जन मांसभक्षी थे, जिनके मन में, लगता है, मछली के लिए एक आम वितृष्णा पायी जाती थी, क्योंकि वेदों में मछली के शिकार का कोई सीधा उल्लेख नहीं है। सैन्धव जनों के मामले में मछली आहार की एक आम-सी चीज़ थी और यही बात केंकड़े, झिंगे, कछुए और अन्य जलीय प्राणियों पर लागू होती है।"[86] जब तक हड़प्पा सभ्यता से तुलना की विवशता नहीं पैदा हुई थी तब तक यही तर्क वैदिक जनों को समुद्र से अपरिचित सिद्ध करने के लिए दिया जाता था, मानो समुद्र तक की यात्रा का प्रधान लक्ष्य मछली मारना ही हो सकता है। हम देख आये हैं कि मछली के अलावा खाद्यान्नों के विषय में भी इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि ऋग्वेद में केवल यव का उल्लेख है, गेहूँ और चावल का नहीं जब कि हड़प्पा-वासियों के आहार में ये अनाज शामिल थे।

ऋग्वेद में खान-पान के सन्दर्भ में केवल भोजन का और कुछ विशेष पकवानों का उल्लेख मिलता है। भोजन के मामले में सुन्दर भोजन[87], सभी प्रकार का भोजन,[88] प्रिय भोजन,[89] चित्र या विविध प्रकार का भोजन[90], श्रेष्ठ भोजन[91], आर्द्र और शुष्क या सम्भवतः तरल और ठोस मधुर भोजन[92] आदि का उल्लेख तो आता है, जिससे यह प्रकट होता है कि उनकी खाने-पीने की रुचि और पाक-विधि काफ़ी विकसित थी, पर इन विविध व्यंजनों वाले भोजन में ठीक क्या चीज़ें शामिल थीं, यह निश्चित करना कठिन है। कुछ चीज़ों के विषय में हम आश्वस्त हो सकते हैं कि उनके भोजन में ये अवश्य शामिल रही होंगी, पर इनकी संख्या बहुत कम है।

इनमें से एक था चावल और खीर या ओदन और क्षीर-पाक-ओदन[93], जो इस भ्रम के निवारण के लिए पर्याप्त है कि वे चावल का सेवन नहीं करते थे। दूसरा है अपूप[94] या पुआ जो बाद के कालों में भी घृतपक्व भोजन के प्रति प्रेम में जारी रहता है। इसके अतिरिक्त सत्तू[95] और धाना[96] या लाजा उनके आहार का अंग था जो शुष्क भोजन की कोटि में आता है और जो यात्राओं के दौरान काफ़ी उपयोगी सिद्ध होता रहा होगा। सत्तू को दही में मिलाकर खाया जाता था।[97] मांस का आहार वे करते थे और बलि-पशुओं को ध्यान में रखते हुए यह सोचा जा सकता है कि मांस के रूप में गोमांस और बकरे, भेड़, घोड़े[98] आदि का मांस खाया जाता रहा होगा। मांस को मछली आदि से श्रेष्ठ माना जाता है और देवताओं को श्रेष्ठ पदार्थ ही अर्पित किये जाते हैं, अतः इससे उनके मांसाहार का पूरा परिचय नहीं मिल सकता। शिकार के पशुओं में हिरन, सूअर, खरगोश, गवल तथा कुछ पक्षियों का मांस भी खाया जाता रहा होगा। मछली का शिकार जाल से किया जाता था[99] और इसका उल्लेख उपमा के रूप में आया है। उपमा उसी वस्तु या कार्य की दी जाती है जो सर्वविदित हो, अतः मछली पकड़ने के लिए जाल के प्रयोग और उपमा के रूप में इसके उल्लेख से यह प्रकट है कि मछली मारना बहुत आम था, और इसके लिए अपने समय की सबसे उन्नत विधि काम में लायी जा रही थी। यह इस भ्रम के निवारण के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि वैदिक जन मछली नहीं खाते थे। हमें यह मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वे मछलियाँ फँसा कर उन्हें फिर पानी में छोड़ नहीं देते रहे होंगे। पानी के साथ इतना गहरा परिचय रखने वाले और पानी में शिकार करने वाले केंकड़े, झिंगे और कछुए से भी परिचित रहे होंगे और जब तक इनके विषय में निषेधपरक विधान न हों तब तक यह मान लेने में कोई हरज नहीं कि वे इनको खाते भी रहे होंगे।

ऋग्वैदिक काल की सामाजिक मान्यताओं को परवर्ती काल के विवरणों के सहारे पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। अपनी गतिशीलता के कारण बाद के उन कालों की अपेक्षा जब इसकी अर्थव्यवस्था उजड़ चुकी थी और एक कट्टरवादिता इस समाज में घर करने लगी थी, ऋग्वैदिक काल कहीं अधिक ओजस्वी और उदार था। अस्पृश्यता का कोई प्रमाण वैदिक साहित्य से नहीं मिलता और ब्राह्मण-काल तक भी शूद्र खाना बना सकता था। वैदिक काल में पेय पदार्थों को रखने के लिए चमड़े के पात्रों का प्रयोग हो सकता था।[100] यह चलन भी कुछ बाद तक बना रहा। यज्ञ के समय पुरोहित स्वयं पशु-बलि दे सकता था। गोमांस खाने पर कोई रोक नहीं थी, अतः बाद में चर्मकारों को जिस तरह अस्पृश्य माना जाने लगा उस तरह की अस्पृश्यता का न तो भौतिक कारण था, न मनोवैज्ञानिक।

परन्तु रक्षा और रखवाली में कुत्तों के महत्व के कारण कुत्ते का मांस खाना

वर्जित नहीं था। ऐसा करने वालों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। दूसरे शब्दों में कहें तो, चर्मकार तो नहीं, पर श्वपच शब्द ऋग्वैदिक काल में भी गर्हित शब्द था और कुत्ते का मांस खाने वाला पतित तक हो सकता था।[101] इस बात की जाँच कर ली जानी चाहिए कि हड़प्पावासी कुत्ते का मांस खाते थे या नहीं, क्योंकि यह इन दोनों समाजों की पृथकता सिद्ध करने वाला निर्णायक प्रमाण अवश्य बन सकता है।

वैदिक काल में ही कुछ और पशुओं के मांस को, वस्तुतः इनके वध को, वर्ज्य बनाया जाने लगा था और इस दिशा में किये जाने वाले प्रयासों को अभी पूरी सफलता नहीं मिल पायी थी, पर लगता है इनके पक्ष में जनमत तैयार होने लगा था। इन्हीं में एक था गो-वध, जिस पर हम धर्म और विश्वास के अन्तर्गत कुछ अधिक विस्तार में विचार करेंगे। परवर्ती कालों में हम इसी तरह की वर्जना ऐसे पशुओं और प्राणियों के विषय में पाते हैं जो पंचनख होने के कारण मनुष्य के निकट पड़ते थे, और इसलिए इनमें आने वाले कछुए का मांस भी निषिद्ध हो गया था। पर इस वर्जना से ही इस बात का आभास मिलता है कि पहले इनका मांस खाया जाता था।

इस तरह हम पाते हैं कि वैदिक खान-पान का स्तर काफ़ी सराहनीय था और हड़प्पा सभ्यता में प्रचलित खान-पान से इसकी किसी मामले में भिन्नता नहीं थी। इसकी कुछ पाबन्दियाँ भी नागरिक सभ्यता, और इसमें भी एक सराहनीय आदर्शों वाली नागरिक सभ्यता, के अनुरूप थीं। उदाहरण के लिए, सुरा-पान को इसलिए निन्दनीय माना जाता था कि इसके बाद मनुष्य उद्दण्ड हो जाता है और झगड़े तथा कलह पर उतारू हो जाता है तथा चोरी आदि भी करने के लिए तैयार हो जाता है।[102] अपने मादक प्रभाव के बावजूद बहुत हलके किस्म के खुमार के कारण सोमपान पर किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं था और इसमें भी ज़रूरी नहीं कि इसे हमेशा ख़मीर पैदा करके (तीव्र करके) ही पिया जाता रहा हो। अतः इसे पेट भर कर पीने के उल्लेख आते हैं।[103]

अनाजों में यद्यपि मुख्य रूप से यव का ही उल्लेख आता है, पर यह एकमात्र ऐसा अन्न नहीं था जिससे वैदिक किसान परिचित रहे हों। यव का अर्थ सर्वत्र यव है भी नहीं।[104] यव केवल भारत ही नहीं, अपितु दुनिया की ऐसी सभी पुरानी सभ्यताओं का जिन्हें हड़प्पा के समकक्ष रखा जा सकता है, सबसे प्रधान अनाज था और इस विषय में तो किसी सन्देह की आवश्यकता ही नहीं कि यह मानव-उपयोग में आने वाले सबसे पुराने अनाजों में से एक है। पर गेहूँ, धान और अन्य अनाजों से तथा कुछ दलहनों और तिलहनों से वैदिक जन वैदिक काल से पहले से परिचित हो चुके थे, इसकी चर्चा हमने अन्यत्र की है।

8
वेश-भूषा

हड़प्पावासियों के वेश-विन्यास के विषय में हमें इसके अवशेषों से बहुत अधिक सहायता नहीं मिलती। कारण, ऐसी मूर्तियाँ बहुत थोड़ी हैं जिनको किसी तरह के वस्त्र के साथ दिखाया गया है, और इनका भी अधोभाग ग़ायब है। समस्या इस कारण भी कुछ जटिल हो जाती है कि इनको भी अपने समाज के विशेष हैसियत के व्यक्तियों के रूप में कल्पित किया गया है, जो सच भी है। अतः इस बात का निश्चय करना कुछ कठिन हो जाता है कि इस काल के सामान्य स्त्री-पुरुष किस तरह की पोशाक पहनते रहे हो सकते हैं। वस्त्रों की तुलना में अलंकरणों की स्थिति काफ़ी सन्तोषजनक है।

इसके बावजूद हड़प्पावासियों की वेश-भूषा के विषय में कुछ अनुमान आश्वस्त होकर लगाये जा सकते हैं। इनमें से पहली बात तो यह कि वे मौसम के अनुसार सूती और ऊनी वस्त्रों का उपयोग करते थे। दूसरे, उनके वस्त्र खुले और अनसिले वस्त्रखण्ड हुआ करते थे। ऊनी वस्त्रखण्ड बाँधने-ओढ़ने की दृष्टि से कुछ असुविधाजनक होता है और नित्य स्नान करने के चलन के साथ भी इनका मेल नहीं खाता, अतः यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि उनके वसन अर्थात् पहनने के वस्त्र ऊनी नहीं होते रहे होंगे। जाड़े के दिनों में सूती वस्त्र के ऊपर ही ऊनी शाल या कम्बल ओढ़ लिया जाता रहा होगा। कुछ अंचलों में इन शालों और कम्बलों का भी विकल्प रुई-भरे या सुजनी आदि रहे हो सकते हैं।

हड़प्पावासी पुरुष एक उत्तरीय से अपने धड़ से ऊपर के हिस्से को ठीक उसी तरह अर्ध-आवृत रखते थे जैसे आजकल उत्तरीय का उपयोग करने वाले। इसके अतिरिक्त वे एक तरह की पगड़ी भी पहनते थे। इन दो के अतिरिक्त ऊपर का पूरा हिस्सा नंगा रहता था। उत्तरीय दायीं भुजा के नीचे से होकर आता और बायें कन्धे को ढँकता हुआ पीछे चला जाता था। इस तरह दायाँ हाथ पूरी तरह खुला रहता था और दायें कन्धे से नीचे की ओर लटकता हुआ हिस्सा विशेष स्थितियों में केहुनी के मोड़ पर सँभाल लिया जाता था। अपनी हैसियत के अनुसार व्यक्ति उत्तरीय पर उत्तम कढ़ाई आदि भी करवाता था या, कहें, सम्पन्न व्यक्ति ऐसे उत्तरीय का उपयोग कर सकता था। पर भारत के बाद के कालों के उदाहरण को सामने रखते हुए यह सोचा जा सकता है कि उत्तरीय केवल अभिजात वर्ग के लोग ही प्रयोग में लाते रहे होंगे। यही बात पगड़ी के विषय में कही जा सकती है। काम करने वाले मज़दूर इस मामले में इन दोनों से वंचित ही रहे हो सकते हैं, पर उनमें भी कुछ प्रमुख व्यक्ति पगड़ी आदि का प्रयोग करते रहे हों तो आश्चर्य नहीं। कारीगरों की स्थिति अच्छी दिखायी देती है और इनके विषय में यही कहा जा सकता है कि

यदि उत्तरीय आदि से इनको परहेज़ रहा होगा तो इसके काम-काज में असुविधाजनक होने के कारण ही।

नीचे की ओर उसी तरह धोती पहनी जाती थी जिस तरह पुराने किस्म के लोगों द्वारा आज पहनी जाती है। यह बात कतिपय सीलों पर अंकित मानव आकृतियों से और दायमाबाद से प्राप्त रथ के नमूने (खिलौने) से तो स्पष्ट है ही, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सामान्य श्रमिकों का कमर से ऊपर का हिस्सा, बिलकुल नंगा ही रहता था।

स्त्रियों के वस्त्र के विषय में कोई सुस्पष्ट सूचना नहीं मिलती। अनुमानतः वे भी खुला और अनसिला वस्त्रखण्ड या साड़ी ही पहनती रही हो सकती है, पर कुछ मामलों में लहँगे, चोली और ओढ़नी का चलन रहा हो सकता है।

स्त्री-पुरुष दोनों लम्बे केश रखते थे और वेणियाँ बनाते थे। जैसा कि नर्तकी की मूर्ति से लगता है, केश-सज्जा या जूड़ा बाँधने का भी चलन था। केश-सज्जा के लिए कुछ विशेष युक्तियों का भी सहारा लिया जाता था। कुछ मामलों में पुरुष भी जूड़ा बाँधते थे। दाढ़ी के बाल कटे-छँटे होते थे और मूँछ सफ़ाचट करने का भी रिवाज़ था, पर इन दोनों बातों को सभी मामलों में अनिवार्य मानना ठीक नहीं है।

अलंकरण की प्रवृत्ति स्त्री-पुरुष सभी में पायी जाती थी। पुरुष कान की बाली, भुजबन्ध और शिरोबन्ध का प्रयोग करते थे और गले में मालाएँ पहनते थे। कुछ मामलों में हाथों में कड़ों की और एकाधिक मालाओं की पसन्द भी रही हो सकती है। गले की मालाओं में कई प्रकार के हार प्रचलित थे। आभूषण अपनी हैसियत के अनुसार सोने, चाँदी, मणियों, रत्नों, पत्थरों, हाथी दाँत, सीप आदि के विविध प्रकार के हो सकते थे। जड़ाई का या नग लगाने का भी चलन था। पाँवों में भी कड़े डाले जाते थे। ये कड़े खुले, मुड़े और बन्द सिरों वाले कई तरह के हुआ करते थे। सम्भवतः वेणियों में भी मालाएँ पिरोने का चलन था।

ऋग्वैदिक वेश-भूषा का सवाल आने पर सबसे पहली आपत्ति तो इस बात को लेकर ही उठायी जाती रही है कि वैदिक आर्य सूती वस्त्रों से परिचित नहीं थे और उनके वस्त्र केवल ऊन के ही बने होते थे, क्योंकि ऋग्वेद में कहीं कपास का या कपास के वस्त्र का स्पष्ट उल्लेख नहीं आया है। सामान्य बोध के तकाज़े से यह सवाल उन लोगों को भी नहीं उठाना चाहिए था जो इस दलील के बल पर आर्यों को भारत में उत्तर से आया सिद्ध करना चाहते रहे हैं, क्योंकि उनकी अपनी मान्यता के अनुसार आर्यों का भारत में आगमन लगभग 1500 ई. पू. में हुआ और वेदों की रचना 1200-1000 ई. पू. के बीच हुई है। अतः यह एक कल्पनातीत बात थी कि इन तीन से पाँच सौ वर्षों के दौरान भी आर्य जन हड़प्पा सभ्यता के वंशधरों को सूती वस्त्र पहनते देख कर और इस वस्त्र को भारतीय जलवायु के

इतने उपयुक्त पाकर भी इसे ग्रहण करने से परहेज़ करते। हम यह तो कदापि नहीं मान सकते कि 'आर्यों के आते ही' भारत के तत्कालीन निवासी उनकी नकल पर सूती कपड़ा छोड़कर सिर्फ़ ऊनी कपड़ा पहनने लगे होंगे, न ही यह कि उनको झाँसा देने के लिए उन्होंने अपने सारे कपड़े उतार दिये होंगे और नंगे रहने लगे होंगे कि कहीं आगन्तुक उनकी पोशाक की नकल न कर लें। इस समस्या का एक उतना ही बेढब जवाब सेठना ने दिया है जो यह मानते हैं कि चूँकि कार्पास शब्द का प्रयोग पहली बार कल्पसूत्रों में हुआ है, अतः कल्पसूत्रों से पहले का सारा साहित्य हड़प्पा सभ्यता से पहले का है और कल्पसूत्रों का रचनाकाल हड़प्पाकाल है।[105] इस उत्तर पर हँसने की ज़रूरत नहीं। ठोस और निर्भ्रान्त उल्लेखों के बिना किसी बात को इनकार करते रहने वालों को जिस तर्क से सन्तोष हो सकता है वह यही है। यद्यपि सेठना अपनी बात पूरी गम्भीरता से कहते हैं, पर उनकी मान्यता उन लोगों के आग्रह से कम हास्यास्पद है जो यह मानते चले आ रहे थे कि वैदिक रचनाकाल में आर्य जनों को सूती वस्त्र का परिचय नहीं मिला था।

हमारे पास इस विषय में और वैदिक जनों की वेशभूषा के विषय में कुछ अधिक रोचक जानकारी गैर-भारतीय क्षेत्रों से मिलती है। श्रेडर, जिनका उल्लेख हम पहले भी कर आये हैं, लिखते हैं, "अतः मैं समझता हूँ कि हमें यह सोचने का अधिकार है कि वस्त्र (जिसके सादृश्यपरक शब्दों में से अनेकानेक का हम उल्लेख कर आये हैं) के लिए जिन सामग्रियों का उपयोग होता था उनमें क्षौम (लिनन) और ऊन दोनों ही आते थे। कम-से-कम यूरोपीय शाखा के मामले में तो ऐसा था ही।[106]

जिन सादृश्यमूलक शब्दों पर श्रेडर ने विचार किया है उनसे सचमुच क्षौम या रेशों से बने कपड़े से यूरापीय शाखा के परिचित होने का पता चलता हो, पर कपास के बने कपड़े का नहीं,ऐसी बात नहीं है। उनका निष्कर्ष इस बात पर आधारित है कि आदि भारोपीय चरण में भी कताई-बुनाई की दिशा में काफ़ी प्रगति हो चुकी थी और प्राचीन कालों में ऊनी वस्त्र बुन कर नहीं अपितु, गूँथ कर (प्लेटिंग से) बनाये जाते थे और इन दोनों के लिए भेदक शब्दावली पायी जाती है। वह भारोपीय मूल स्थान में एक ऐसे चरखे की कल्पना भी करते हैं जो खड़ा हो कर चलाया जाता था।[107] वास्तव में यह सूत कातने की पुरानी भारतीय पद्धति है जो चरखे से पूर्ववर्ती चरण की है जिसमें स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुष भी तकली चलाते थे। स्त्रियाँ तकली के नीचे एक पत्थर की उथली प्याली रखती थीं और तकली उसी के भीतर चलती रहती थी और पुरुष चलते-फिरते हुए भी जहाँ अवकाश मिला रुक कर सूत कात लिया करते थे। स्त्रियाँ तकुए को अपनी चिटकी में दबा कर घुमाती थीं और पुरुष तकली की उपरी डण्डी को जाँघ पर रख कर हथेली से रगड़ते हुए उसे चक्कर देते थे और इसे नाचती छोड़ कर सूत को एक झटके में आदम-

कद लम्बाई तक निकालने में समर्थ होते थे। यही खड़ा हो कर की जाने वाली वह कताई है जिसे श्रेडर ने केवल भाषिक साक्ष्यों पर ध्यान रखने के कारण कताई का ऐसा चरखा मान लिया है जिसे खड़ा हो कर चलाया जाता था। अन्यथा अपनी समस्त सरलता के बावजूद चरखा सम्भवत: उस प्राचीन काल में तैयार नहीं हो सका था। हड़प्पावासी भी सूत कातने के लिए तकली का ही प्रयोग करते थे और जनेऊ के लिए सूत कातने के लिए ब्राह्मण चरखे का आविष्कार हो जाने के बाद भी उसी पुरानी रीति से तकली से ही सूत काता करते थे जो चरखे के सूत से अधिक बारीक भी होता था।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्रेडर इस तथ्य के बावजूद कि यूरोप में ऊनी कपड़ों का ही प्रयोग होता है, भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्यों से इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कम-से-कम यूरोपीय शाखा तो क्षौम वस्त्रों का उपयोग करती ही थी। मुमकिन है, गर्म क्षेत्रों की ओर आने वाली शाखा ने ऊन को लिनन से अधिक उपयोगी पाया हो और ठण्डे देशों के निवासियों ने ऊन की सुलभता के बावजूद पहले लिनन पर ध्यान दिया हो और फिर उनकी नजर ऊन पर गयी हो और उन्होंने क्रमश: लिनन को त्याग दिया हो। भारोपीय क्षेत्र उलटबाँसियों का क्षेत्र तो है ही।

वस्त्र की बनावट के विषय में वह लिखते हैं कि यह अनसिला होता था और स्त्री-पुरुष दोनों ही एक तरह का ही वस्त्र पहनते थे, जिसे शरीर पर लपेट लिया जाता था और नीचे कौपीन की तरह लपेटा जाने वाला वस्त्रखण्ड एक काँटे के सहारे खोंस लिया जाता था। ट्यूटनों के विषय में उनकी जानकारी टैसिटस के विवरण पर आधारित है और यूनानियों के विषय में जानकारी का आधार कुछ व्यापक है। पर यूनानी क्षेत्र के चलन से यह प्रकट नहीं होता कि स्त्री-पुरुष दोनों के पहनावे एक थे। इनके लिए पृथक नाम थे और दोनों में कुछ भेद अवश्य रहा होगा। इसके बावजूद मुख्य मामलों में इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। दोनों ऊन के बने हुए सादे वस्त्रखण्ड हुआ करते थे जिन्हें बुनाई के आदिम किस्म के यन्त्रों से तैयार किया जाता था; कटाई और सिलाई तो कतई होती ही नहीं थी; इनको सिर्फ़ शरीर के चारों ओर लपेट कर ही पहनावे का रूप दिया जाता था और इसे एक काँटे में फँसा लिया जाता था।[108] यह आदिम चलन ऐतिहासिक कालों में भी यूनान में था।

श्रेडर लिखते हैं, ''यह प्रचलन ऐतिहासिक कालों में स्पार्टन लड़कियों की पोशाक में जारी रहा। आवरक लिबास ऐड़ी तक लटका रहता था और इसे बायें से दायें की ओर शरीर से लपेटते हुए गले के पास घुमा कर फँसा दिया जाता था। इस तरह शरीर का बायाँ हिस्सा ढँका तो रहता था, पर इस तरह कि बायें हाथ के लिए अवकाश बना रहता था;दायीं ओर वस्त्र के दोनों सिरे नीचे लटके तो रहते थे, पर परस्पर जुड़ते नहीं थे।''[109]

इस विषय में किसी सन्देह की आवश्यकता नहीं कि यूरोपीय शाखा के लोग भी ठीक वही वस्त्र ठीक उसी तरह पहनते थे जो भारत में हड़प्पा सभ्यता में पहना जाता था। जलवायु की दृष्टि से अनुकूल न होने के बावजूद वे लम्बे समय तक खुले और अनसिले वस्त्रों का उपयोग करते रहे और ऊनी के स्थान पर ग़ैर-ऊनी वस्त्रों को अपनाये रहे। ग़ैर-ऊनी वस्त्रों को अपने नये परिवेश में असुविधा-जनक पाने के बाद जब उन्होंने ऊनी वस्त्रों को अपनाया तो भी वे लम्बे समय तक इन्हें भारतीय ढंग से ही पहनने की कोशिश करते रहे, यद्यपि ऊनी वस्त्रों को इस तरह लपेटना और बाँधना बहुत असुविधाजनक था और इन्हें कटिबन्ध आदि में उस तरह लपेट कर भी नहीं रखा जा सकता था जैसे सूती या ग़ैर-ऊनी वस्त्रों को और इसलिए इसमें जगह-जगह काँटे आदि लगा कर फँसाने की कोशिश करते रहे। उनके अपने मामले में काँटों से ऊनी कपड़े को फँसाना ही आगे चल कर कटाई और सिलाई आदि का जनक बना लगता है। इससे पहले इन अंचलों के मूल निवासी सम्भवतः ऊनी कपड़े बनाने से भी परिचित नहीं थे और जानवरों की खाल को उनके ही स्नायुओं और फीतों से कस-बाँध कर अपना काम चला लिया करते थे। इन शीत कटिबन्धीय क्षेत्रों में भी ग़ैर-ऊनी वस्त्रों का प्रवेश तथाकथित आर्यों के मूल स्थान का निश्चय करने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वेद में वस्त्रों के सन्दर्भ में एक बार भी ऊनी या सूती का भेदक प्रयोग देखने में नहीं आता है। ऊर्ण का उल्लेख एक बार भी किसी वस्त्र के सन्दर्भ में नहीं दिखायी देता। इसका शब्दिक अर्थ सायण 'आच्छादित करनेवाला' करते हैं और इसी भाव का कुछ विस्तार नदियों के सन्दर्भ में सम्भवतः उफनने वाली, बाढ़वाली आदि के रूप में आया है। ऊर्ण के क्रियारूप—ऊर्णुषे, ऊर्णुष्व, ऊर्णुहि, ऊर्णोति आदि—भी सायण की व्याख्या को अधिक तर्कसंगत सिद्ध करते हैं। इस तरह यह एक भ्रम मात्र है कि वैदिक काल में सूती वस्त्र नहीं पहने जाते थे। वास्तविकता यह है कि न तो वैदिक समाज ऊनी वस्त्र पहनता था, न हड़प्पा के अवशेषों से इसकी पुष्टि होती है। उस प्राचीन काल में ऊनी वस्त्र बहुत अच्छे नहीं बन सकते थे। इसके लिए उपयुक्त तकनीकी विकास अभी हो नहीं पाया था। अतः ऊनी कपड़े के नाम पर मुख्य रूप से कम्बल और शाल आदि ही बुने जाते थे और इसे बुनाई उस व्यापक अर्थ में ही कहा जा सकता है जिसके भीतर कालीन से स्वेटर तक के लिए भी बुनाई शब्द का प्रयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें, तो इसके लिए करघे का प्रयोग होता नहीं था।

बुनाई के सन्दर्भ में करघे का प्रयोग इस बात का निश्चय करने के लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण है कि यहाँ सन्दर्भ सूती वस्त्र का ही है। जैसा कि श्रेडर ने सुझाया है, ऊनी बुनाई गुँथाई करते हुए की जाती थी। करघे में सूत को तानने, उठाने-दबाने और इसके बीच से फिरकी के घूमने और दाबी के एक ही झटके में पूरे सूत

को दबा कर बुनावट को सघन बनाने के लिए जिन दो बातों की आवश्यकता होती है उनका ऊनी धागों में अभाव था। ये दो गुण थे मज़बूती और चिकनापन। ऊनी धागे में अधिक ऐंठन देने पर धागे में बल पड़ जाता है और कम ऐंठन पर इसके लम्बे तार खुल कर टूट जाते हैं, अतः इसे थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते हुए ही बुनने का चलन अभी नयी प्रविधियों के विकास से पहले तक था। इसके विपरीत सूती धागे के साथ सामान्यतः इस तरह की कोई समस्या पैदा नहीं होती। इसके अतिरिक्त फिरकी के घूमने और तारों को कसने के लिए इनका चिकना होना ज़रुरी है और इसके लिए सूती धागों में भी माँड़ी लगा कर इनको चिकना किया जाता है जो ऊनी धागों के मामले में सम्भव नहीं था। हड़प्पा में वस्त्र बनने के लिए करघे का प्रयोग किया जाता था, यह सर्व विदित है।[110]

ऋग्वेद में करघे से कपड़ा बुनने का उल्लेख स्पष्ट रूप में एक बार और सांकेतिक रूप में—जहाँ तारों को बुनाई के लिए तानने आदि के हवाले हैं—प्रायः आता है। यहाँ वासोवाय या बुनकर का एक अलग पेशा ही दिखायी देता है।

ऋग्वेद में वेश-भूषा का वर्णन लगभग उतने ही अस्पष्ट रूप में आया है जितने अस्पष्ट रूप में खाने-पीने की वस्तुओं का। उदाहरण के लिए 'सुवेश';अच्छी पोशाक में होने की चर्चा तो आती है, पर सुवेश ठीक क्या है इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। वस्त्र से अच्छी तरह लिपटी हुई (सुः अभि) वधू का हवाला तो आता है, जिससे प्रकट होता है कि स्त्रियों की पोशाक कुछ ऐसी थी जिससे वे सिर से पाँव तक अपने शरीर को ढँके रह सकें, पर इसमें परवर्ती कालों की अवगुंठनवती स्त्री का भी भाव था या नहीं, यह पता नहीं चलता, यद्यपि इसके लिए प्रयुक्त शब्द अधिवस्त्रा अवगुंठनवती से अर्थ की दृष्टि से बहुत दूर नहीं है। स्त्री को अपनी पिण्डलियों को अच्छी तरह ढँक कर रखना होता था, ऐसा अवश्य लगता है।

वस्त्र सादे और रंगीन दोनों तरह के होते थे और सम्भवतः नये वस्त्रों को हल्दी में रंगने का भी चलन रहा हो। बुनाई में भी-कम-से कम धारीदार या चारखाने वाले कपड़े तैयार किये जाते थे, पर सजावट के लिए क़सीदे का चलन ही अधिक लोकप्रिय लगता है। सुनहली पोशाक यदि सचमुच हल्दी में रंगे कपड़ों का ही सूचक नहीं है तो यह सोचा जा सकता है कि ज़रीदार कपड़ों का भी चलन था, जिसे वैभवशाली परिवारों के लोग उपयोग में लाते रहे हो सकते हैं।

'वासस्' शब्द पर टिप्पणी करते हुए वैदिक इंडेक्स के लेखक लिखते हैं, कि यह ऋग्वेद और बाद में 'वस्त्रों' के लिए प्रयुक्त सर्वाधिक प्रचलित शब्द है। कपड़े अकसर भेड़ की ऊन से बिने जाते थे। पूषन् देवता को 'वस्त्रों का बुननेवाला' (वासोवाय) कहा गया है, क्योंकि इनका आकृतियाँ निर्माण करने के साथ सम्बन्ध है। धारण किये जाने वाले परिधान अकसर कढ़े (तु. की. पेशस्) होते थे, और मरुतों को स्वर्ण से अलंकृत परिधान धारण किये हुए बताया गया है। जहाँ अश्वों तथा

स्वर्ण का दान करने वालों के साथ 'वस्त्रों का दान करने वालों' का उल्लेख है, वहाँ सम्भवतः कढ़े हुए वस्त्रों का ही तात्पर्य है। भारतीयों के अलंकार-प्रेम के ऋग्वेद में अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिसकी मेगास्थनीज़ ने भी अपने समय में पुष्टि की है। ऋग्वेद में 'सु-वसन' और 'सु-रभि' जैसी उपाधियाँ भी मिलती हैं, जिनसे वस्त्रों के अच्छे लगने अथवा शरीर के ठीक नाप से सिले होने का तात्पर्य है।

अकसर ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक तीन वस्त्र धारण करते थे—एक भीतरी वस्त्र (तु. की. नीवि), एक परिधान, और एक ऊपरी परिधान (तु. की. अधीवास), जो सम्भवतः चोगा होता था और जिसके लिए 'अत्क' और 'द्रापि' का भी प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। यही शतपथ ब्राह्मण में दिये हुए यज्ञीय परिधानों के उस वर्णन के भी अनुकूल है जिसके अन्तर्गत सम्भवतः एक 'रेशमी भीतरी वस्त्र' अथवा 'तार्प्य', बिना रँगा हुआ ऊनी परिधान, और सम्भवतः एक चोगा आता था। यह अन्तिम उल्लेख सामान्य जीवन का कदाचित ही प्रचलित प्रयोग रहा होगा, 'किन्तु संस्कार का एक विशेष कृत्य अवश्य प्रतीत होता है। ठीक-ठीक यह दिखाने के लिए कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि स्त्रियों और पुरुषों की वेशभूषा में क्या अन्तर था, और न यही स्पष्ट है कि इन दोनों के वस्त्रों का ठीक-ठीक क्या स्वरूप था।

"यह उल्लेखनीय है कि प्रत्यक्षतः वैदिक भारतीय ऐसा मानते थे कि मुनियों के अतिरिक्त सभी सभ्य व्क्तियों को किसी प्रकार का वस्त्र धारण करना चाहिए।"[111]

मोटे तौर पर कहें तो, वैदिक इंडेक्स का उक्त विवरण वास्तविकता के काफ़ी निकट है, पर कुछ पहलुओं को समझने में भूल की गयी है। उदाहरण के लिए, वस्त्र केवल ऊन के बनते थे, यह, जैसा कि हम देख आये हैं, ठीक नहीं है। नीवी को वस्त्र मानना भी ठीक नहीं है। वास्तव में धोती या साड़ी बाँधते समय इसके बीच के ऊपरी छोर पर कमर की लपेट भर के हिस्से को लेकर एक गाँठ-सी लगायी जाती है और इसे सूत की मेखला से, 'जिसे स्त्री पुरुष दोनों धारण करते थे, लपेट दिया जाता है और स्त्रियाँ शेष दो हिस्सों में से एक को चुन्नट बनाकर इसे इजारबन्द या मेखला के भीतर खोंस लेती हैं और दूसरे को उससे आगे बढ़ाकर कमर से ऊपर ले जा कर अपने ऊपरी हिस्से को एक लपेट से ढँकती हुई कन्धे पर ले जाती हैं, जहाँ से सिर को ढँकता हुआ यह सिरा पुनः कमर से कुछ नीचे तक आ कर लटकता रहता है। पुरुष गाँठ को बीच में न बाँध कर एक ओर को बाँधते हैं, उसे मेखला में लपेटते हैं, या कहें जब इसका चलन आम था तब लपेटते थे, और लटके हिस्से को पीछे ले जाकर खोंस लेते हैं और बाकी हिस्से को या तो चुन कर इसके छोर को भी पछोटे के रूप में बाँधते हैं या इसे कमर में लपेट कर इसके बन्ध को अधिक मज़बूत कर लेते हैं। धोती और साड़ी के इस लपेट को ही नीवी

कहते हैं जो कभी केवल उस गाँठ के लिए भी प्रयोग में आता रहा है जो बाँधते समय लगायी जाती है और कभी उस चुन्नट की गाँठ के लिए जिसे पहले महिलाएँ एक इजारबन्द से बाँधती थीं। अथर्ववेद के जिन दो स्थलों[112] का हवाला वैदिक इंडेक्स में दिया गया है, उनमें भी वासस् के साथ नीवी बनाने का ज़िक्र है जो भी इसी की पुष्टि करता है। जहाँ तक 'ताप्यं' का प्रश्न है, कात्यायन और सायण आदि परम्परागत व्याख्याकार इसके विषय में खासी उलझन में पड़े दिखायी देते हैं।[113] हमें इस विषय में सन्देह है कि वैदिक काल में रेशम के वस्त्र,और वह भी भारत में, प्रचलित हो चुके थे, पर इस विषय में सन्देह की पूरी सम्भावना है कि यह किसी तरह का 'भीतरी वस्त्र' होता था।[114] शतपथ ब्राह्मण में केवल यह उल्लेख है कि "पुरोहित राजा को (अभिषेक के इस अवसर पर) वस्त्र पहनाता है। यह ताप्यं होता है...। फिर पाण्डु (बस्त्र) पहनाता है...।"[115] कहें, ताप्यं से न तो स्पष्ट रेशम का भाव प्रकट होता है, न सिले हुए भीतरी कपड़े का, न ही पाण्डु से ऊनी का। पाण्डु का अर्थ केवल सफ़ेद है और यह अनरंगे कपड़े का द्योतक है। जो भी हो, ये बाद के विवरण हैं और इनकी तफ़सील में जाना हमारे लिए उपयोगी नहीं है।

ऋग्वेद में जिन वस्त्रों का वर्णन है उनमें वास[116],अधिवास[117] और शिप्रा[118] या, कहें, शिर की पगड़ी आती है। ऊष्णीष, जिसका प्रयोग पगड़ी के लिए बाद में आता है,से लगता है कि इसका मुख्य प्रयोजन सिर को गर्मी या, कहें, धूप से बचाना था। वास को साड़ी और धोती का सूचक माना जा सकता है, अधिवास को पुरुषों के मामले में उत्तरीय या शाल का और स्त्रियों के मामले में चादर या ओढ़नी का; वह भी तब जब यह मान लें कि पुरुषों के ही सामानान्तर स्त्रियों का भी एक वसन अवश्य होता था। शिप्रा[119] और ओपस[120] क्रमशः पुरुषों के मामले में पगड़ी और स्त्रियों के मामले में वह सज्जा होती है जो हड़प्पा की कुछ मूर्तियों से व्यक्त होती है। कुरीर लकड़ी या सींग का कुछ विशेष शैलियों के लिए बना यन्त्र है जिसके सहारे कुछ अतिशय आडम्बरपूर्ण केश-सज्जा की जाती प्रतीत होती है। इसे हड़प्पा की प्रतिमाओं में आसानी से लक्ष्य किया जा सकता है।

ऋग्वैदिक समाज में केश-सज्जा की अनेक रीतियों के आभास मिलते हैं। केश रखने का चलन स्त्रियों और पुरुषों में समान रूप से पाया जाता था। बालों की वेणियाँ गूँथने का और वेणियों को विभिन्न रूपों में सँवारने का चलन दिखायी देता है।[121] वसिष्टों को एक स्थल पर 'दक्षिणतः कपर्द'[122] कहा गया है और अन्यत्र चार वेणियाँ रखने वाली लड़की का ज़िक्र आता है जिसके लिए चतुष्कपर्दा[123] प्रयोग में आया है। चौड़ा जूड़ा बाँधने वाली या पृथुष्टुका[124] और बालों को मुक्त रखने वाली 'विषितष्टुका[125] का उल्लेख भी पाया जाता है। सिनीवाली के लिए तो सुकुरीरा, सु-ओपशा, सुकपर्दा आदि विशेषण आते ही हैं।[126]

अलंकारों के प्रति प्रेम भी स्त्रियों और पुरुषों में समान रूप से पाया जाता था। हाथों और पाँवों में खादि या कंगन, जिनको हड़प्पा के अवशेषों से ही पहचाना जा सकता है, स्त्रियों और पुरुषों में समान रूप से प्रचलित दिखायी देते हैं।[127] इनको चूड़ियों की तरह, एक हाथ में अनेक, पहना जा सकता था जो कि खादि के बहुवचन प्रयोगों[128] से और हड़प्पा की नर्तकी और रुद्र की प्रतिकृति में भी देखा जा सकता है। कानों का आभूषण[129] भी ठीक उसी तरह प्रचलित है जैसा हड़प्पा के अवशेषों में दिखायी देता है। गले के आभूषणों के उल्लेख मणिग्रीव[130], निष्कग्रीव[131], स्रक्[132] आदि के प्रयोगों में स्पष्ट हैं और इन्हीं से यह भी स्पष्ट होता है कि ये आभूषण सोने, चाँदी, मणि, रत्न आदि के बनते थे। आभूषण का प्रयोग और इसके लिए चाव कितना गहरा था, यह आभूषेण्य[133] जैसे प्रयोगों में भी स्पष्ट है और एक स्थल पर तो पुष्करस्रज[134] से फूलों की माला पहनने का भी पता चलता है।

जहाँ हिरण्ययी द्रापी और शिप्रा[135] के उल्लेख आये हैं वहाँ हम वस्त्र के ज़रीदार होने की कल्पना कर सकते हैं। सत्ता के प्रतीक के रूप में सुनहली ज़री या स्वर्णखण्ड-युक्त पगड़ी की बात तो स्पष्ट है ही। हड़प्पा की उस विशेष प्रतिमा को सामने रखते हुए जिसे पुजारी शासक की प्रतिमा माना गया है, वरुण के वेश का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

सूर्या के विवाह के प्रकरण में तथा अन्यत्र अंजन, गन्धलेप या उपलेप का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। अंजन और उपलेप का चलन हड़प्पा के अवशेषों से भी प्रमाणित होता है और इसका निर्यात सम्भवतः पश्चिमी देशों को भी किया जाता था।[136] इस तरह हम वेश-भूषा के मामले में भी वैदिक विवरणों और हड़प्पा के साक्ष्यों में पूर्ण संगति पाते हैं।

9

राजसत्ता व प्रशासन

हड़प्पा सभ्यता के समूचे प्रसार-क्षेत्र में मामूली आंचलिक भेदों के बावजूद नीचे से ऊपर तक ऐसी एकरूपता और व्यवस्था पायी जाती है जो एक लोकप्रिय प्रशासन की देन प्रतीत होती है। इसके बावजूद शासन-व्यवस्था का रूप ठीक-ठीक क्या था और इस पूरे प्रसार-क्षेत्र में कितने राज्य थे, इस विषय में कोई स्पष्ट जानकारी न तो इसके मूक अवशेषों से मिल सकती है, न ही इसकी आशा की जानी चाहिए। इस विषय में विद्वानों ने अँटकलों से ही काम लिया है। कुछ की दृष्टि में पूरा हड़प्पा क्षेत्र एक विशाल साम्राज्य का अंग था, तो कुछ दूसरों की

दृष्टि में उत्तर और दक्षिण के दो प्रधान केन्द्रों से प्रशासित साम्राज्य था और कुछ के अनुसार मोहनजोदड़ो से प्राप्त मूर्ति पुरोहित शासक की है और प्रत्येक नगर का शासन इसके मन्दिर से ही होता था, यद्यपि हड़प्पा या मोहनजोदड़ो से ऐसी कोई इमारत नहीं मिली है जिसे मन्दिर कहा जा सके। वास्तव में प्रशासकीय ढाँचे की व्याख्या के लिए विद्वान पश्चिम के नमूनों को सामने रख कर ही विचार करते रहे हैं, चाहे वह रोमन साम्राज्य का नमूना हो या मेसोपोटामिया का या कुषाण साम्राज्य का।

वैदिक-कालीन शासन-व्यवस्था के विषय में भी उलझन कम नहीं रही है। एक ओर तो वैदिक साहित्य पर काम करने वाले अधिकारी विद्वान इस विषय में एकमत रहे हैं कि वैदिक काल में राजतन्त्र था तो दूसरी ओर इन विद्वानों की रचनाओं और अनुवादों व व्याख्याओं में से अपनेप्र योजन के लिए कुछ शब्दों को अलग छाँट कर कुछ दूसरे विद्वान आदिम कबीलों के सादृश्य पर वैदिक राजा को कबीले का सरदार सिद्ध करते रहे हैं।[137] राजसत्ता को स्वीकार करने वाले भी यह निश्चय करने में कठिनाई अनुभव करते रहे हैं कि इसका स्वरूप वंशागत था या निर्वाचन पर आधारित। उदाहरण के लिए, वैदिक इंडेक्स के अनुसार, "यह सर्वथा स्पष्ट है कि आरम्भिक भारत में यद्यपि सार्वभौम रूप से तो नहीं, तथापि सामान्यतया सरकार का रूप राज-सत्तात्मक ही था।...त्सिमर का विचार है कि जहाँ वैदिक राजसत्ता वंशानुगत होती थी, जैसा कि उन अनेक स्थितियों में व्यक्त होता है जिनमें बंशानुक्रम देखा जा सकता है[138], वहीं अन्य दशाओं में राजसत्ता चुनाव पर आधारित थी, यद्यपि यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि जनता द्वारा केवल राज-परिवार के सदस्यों में से ही किसी एक को राजा चुनना पड़ता था अथवा सभी श्रेष्ठ जातियों के सदस्यों में से। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि चुनाव पर आधारित राजसत्ता के पक्ष में प्रमाण बहुत शक्तिशाली नहीं हैं। जैसा कि गेल्डनर तर्क उपस्थित करते हैं, सभी उद्धृत स्थलों पर विशों द्वारा चुनाव नहीं वरन् प्रजा द्वारा राजा को स्वीकृति प्रदान करने का सन्दर्भ है; यही अपेक्षाकृत सम्भव आशय प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे राजसत्ता की चुनावात्मक प्रकृति के विरुद्ध प्रमाण नहीं मिलता।"[139]

इन अध्येताओं को राजसत्ता के स्वरूप के विषय में कितना भी अनिश्चय क्यों न हो, इसके अस्तित्व के विषय में किसी प्रकार का सन्देह इसलिए भी नहीं है कि ऋग्वेद में राजसत्ता के अस्तित्व के सूचक राजा[140], सम्राट्[141], एकराट[142], अधिराट[143], विराट[144], स्वराट[145] आदि अनेक शब्द पाये जाते हैं जिनसे प्रकट होता है कि इन सभी प्रकार के राज्यों और राजाओं का उस काल में भले अस्तित्व न रहा हो, पर छोटे राज्यों में से लेकर विशाल राज्यों की कल्पना का ठोस भौतिक आधार अवश्य था। यदि प्रश्न केवल राजा शब्द के प्रयोग का होता तो इसकी

तुलना कबीलाई सरदार से करना कुछ सार्थकता रखता भी (राजा शब्द का प्रयोग वस्तुतः उन कालों में भी जब राज्य-सत्ता का असन्दिग्ध अस्तित्व था, गणों के प्रधानों के लिए भी होता रहा है), पर जहाँ तुलनात्मक रूप में छोटे-बड़े अनेक आकारों के राज्यों और पदों का उल्लेख मिलता हो, इसे इतने सतही ढंग से नहीं निबटाया जा सकता।

ऋग्वेद में केवल इन विभिन्न प्रकार के राज्यों का ही आभास नहीं मिलता, अपितु अमात्य[146], मित्र[147] या सचिव[148], सेनानी[149], अधिवक्ता[150], उप-वक्ता[151], दूत[152], चर या स्पश[153], आदि पदों के भी आभास मिलते हैं जो अपनी समग्रता में इस बात की अकाट्य पुष्टि करते हैं कि इस काल में एक व्यवस्थित राजतन्त्र और पद-क्रम विद्यमान था। दूसरी ओर ग्रामणी[154], विश्पति[155], नाय[156], नर, नेता[157], गणपति[158], आदि शब्दों का प्रयोग अधिकार और संगठन के एक भिन्न रूप को प्रकट करता है जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक दृष्टि से एक या अनेक अधिकार-क्षेत्रों में आने वाले भूभाग में सामाजिक या आर्थिक आधारों पर गठित और संचालित संगठनों से हो सकता है और इसका पहले वर्ग से स्पष्ट अन्तर है। नियमित सेना से अलग जहाँ मात्र कबीलों या गणों के आक्रमण या दल के संकेत मिलते हैं वहाँ इसके लिए दासी—दास वर्ग का जत्था, देवी—स्वामिवर्ग का या धनिक वर्ग का समूह आदि शब्दों के भेदक प्रयोग मिलते हैं। अतः इस विषय में भ्रम की अधिक सम्भावना नहीं रह जाती। इन विभिन्न तथ्यों को सामने रख कर ही हम वैदिककालीन प्रशासन के विषय में संक्षेप में विचार कर सकते हैं।

सबसे पहले इस बात को पुनः दुहराना आवश्यक है कि ऋग्वेद के रचनाकारों के संरक्षक राजा नहीं, अपितु वैश्य थे और इसलिए उन स्थलों पर भी जहाँ राजा शब्द का प्रयोग विशेष व्यक्तियों के लिए हुआ है, इस बात की सम्भावना अधिक है कि ये प्रशासक राजा न होकर प्रधान व्यापारी रहे हों। ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि वास्तविक राजाओं के विवरण ऋग्वेद में नहीं मिलते, यद्यपि इनके अस्तित्व, कार्यभार, योग्यता और प्रभाव आदि के विषय में निर्भ्रान्त सूचना व्याज रूप में प्राप्त हो जाती है। जैसा कि हम सुझा आये हैं, यदि प्रशासकीय सत्ता भी इन प्रधान सेठों के हाथ में रही हो, या यदि राजा की ओर से भी व्यापारिक गतिविधियों में हिस्सा लिया जाता रहा हो, तो बात ही भिन्न है।

इस विषय में दूसरे अध्येताओं के मतामत की छानबीन करने या प्रत्येक मामले में तफ़सील में जाने के लोभ को रोकते हुए वस्तु-स्थिति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है। व्यापारिक सार्थों के प्रस्थान के समय पूरी यात्रा के दौरान सार्थ के नियन्त्रण और संचालन तथा आपातिक स्थितियों में दस्युओं आदि का सामना करने में अग्रणी भूमिका के लिए सार्थ के व्यापारी सदस्यों या विश द्वारा एक व्यक्ति को नेता चुना जाता था, जिसके लिए भी राजा शब्द का प्रयोग किया जाता

था। कारण, जहाँ तक इस दल का प्रश्न है, इसे उसी प्रकार का अधिकार प्राप्त था जो अपने राज्य में किसी राजा को प्राप्त होता है। इसका चुनाव शौर्य और सम्पन्नता दोनों के आधार पर किया जाता था और, ज़ाहिर है, इसके उपयुक्त कोई तरुण ही हो सकता था। इस राजा के प्रतीक इन्द्र हैं जिन्हें युवा, नेता, नर, जेता, अपराजित, अप्रतिष्कृत आदि विशेषणों के साथ याद किया गया है। सार्थ के सदस्य व्यापारियों के प्रतीक मरुद्गण हैं जो इन्द्र के सखा हैं, सहायक हैं, परस्पर समान स्थिति रखने वाले हैं, सुजात हैं, शौर्य के मामले में भी इन्द्र से कम नहीं हैं और इनका अपना वैभव इनकी सुनहली पगड़ी, गले के कीमती हारों, कानों की सुनहली बालियों आदि से प्रकट होता है और प्रकट होता है विनोद और विलास के कतिपय उल्लेखों से जो प्रकृतितः इन्द्र से भिन्न नहीं है। इन्हीं को विश्वदेव या समग्र देवों के रूप में भी याद किया गया है। सार्थ के सभी व्यापारी ही विश् के रूप में याद किये गये हैं, यद्यपि जहाँ भूसम्पदा का प्रश्न आता है विश् और मरुद्गण किसानों के लिए प्रयुक्त हैं; कारण, भूसम्पदा, पशुसम्पदा और वाणिज्य तीनों पर आरम्भ में वैश्यों का ही अधिकार था, या, कहें, जिनका अधिकार था उन्हें विश् या आर्य कहा जाता था। अतः यात्रा के सन्दर्भों में विश्पति और राजा ही नहीं, अपितु ग्रामणी, चर्षणीधृत और 'वृजनस्य राजा' भी सार्थ के नेता के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। विश् और चर्षणी में अन्तर केवल यह है कि सार्थ के सदस्य व्यापारी, जिनको हर दृष्टि से समान स्तर का माना जाता था, विश् या मरुत् कहे जाते थे जो सजाति, सबन्धु, अज्येष्ठ, अकनिष्ठ, और अमध्यम थे, यद्यपि ये सभी इन्द्रज्येष्ठ थे या, कहें, निर्वाचन के बाद सार्थ के नेता की श्रेष्ठता को स्वीकार करने को बाध्य थे। इसके विपरीत भृत्यों, रक्षकों सहित पूरे सार्थ को ग्राम, चर्षणी और एक दो स्थलों पर प्रजा कहा गया है। तत्कालीन व्यापारिक गतिविधियों की गुरुता आदि के विषय में असावधानी के कारण परम्परागत टीकाकारों से लेकर आधुनिक अध्येताओं तक से इन विविध शब्दों का आशय समझने में चूक हुई है, परन्तु यदि प्रत्येक मामले में समग्र स्थिति को ध्यान में रख कर विचार किया जाये तो किसी तरह की उलझन पेश नहीं आयेगी।

यात्रा के दौरान इन तरुण उत्साही वणिकों के दल को नियन्त्रित करने के लिए एक अनुभवी और अपेक्षाकृत प्रौढ़, यद्यपि वृद्ध नहीं, परामर्शदाता की आवश्यकता थी और इसी प्रयोजन से हम कतिपय ऋषियों को इन सार्थों के साथ जाते देखते हैं। इस परामर्शदाता और अनुभवशील व्यक्ति को विषम स्थितियों में ही अपनी भूमिका नहीं निभानी होती थी, अपितु सार्थ या, कहें, पूरी चर्षणी के भीतर नियम और अनुशासन आदि का भार और इसके लिए कोई भी दण्ड देने का अधिकार उसे प्राप्त था। इसके निर्णय विवादास्पद स्थितियों में सार्थ के सदस्यों सहित इसके नेता तक पर लागू होते थे और स्वयं अपने आचरण में भी वह उन

पाबन्दियों का कठोरता से पालन करता था। यही वरुण का वरुणत्व है और इन्द्र के सन्दर्भ में उनका महत्व या अमहत्व है, यही उनका साम्राज्य है।

यात्राओं के दौरान किन्हीं समस्याओं पर विचार करने की आवश्यकता होने पर विश् के सभी सदस्य मिलकर विचार करते थे और सभी को अपना मत प्रकट करने का अधिकार था। इसमें वरुण की स्थिति मात्र परामर्शदाता की ही थी। अन्तिम निर्णय दल के नेता या राजा (इन्द्र) को ही करना था। अनेक स्थलों पर समिति का सम्बन्ध इन बैठकों से ही है[159] और बाद की परम्पराओं में इन्द्र की परिषद् में हज़ार ऋषियों या परामर्शदाताओं के जो हवाले आते हैं उनका सम्बन्ध इन सार्थ-समितियों से ही है।

दूसरे शब्दों में कहें तो, राजा शब्द का एक व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है जिसमें इसका ऐश्वर्य या अधिकार-पक्ष ही प्रधान है और जिसके पास यह अधिकार या क्षत्र है वह राजा है, चाहे वह सार्थ का नेता हो या परामर्शदाता, प्रशासक राजा हो या मन्त्री। अतः राजा शब्द का प्रयोग इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि और सोम के लिए हुआ है।

दूसरी ओर, राजा का प्रशासकीय रूप है जिसका सम्बन्ध किसी विशेष दल या समूह पर प्रभुत्व से नहीं है, अपितु एक निश्चित भूभाग में आने वाले सभी तरह के लोगों, सम्पदाओं और सभी प्रकार की गतिविधियों पर किसी एक व्यक्ति के प्रभुत्व से है। जहाँ सार्थ का नेता या राजा निर्वाचित होता था वहाँ इस प्रशासनिक राजा को सत्ता वंशानुगत रूप में मिलती थी, यद्यपि इस मामले में सन्देह है कि जिन-जिन वंशों को लैनमैन और त्सिमर आदि राजवंश मानते हैं वे सचमुच के राजवंश थे या श्रेष्ठिकुल। जो भी हो, यहाँ हमें भुवन के राजा[160]; लोक हितकारी राजा[161]; दिव्य, पार्थिव, और क्षम्य या भूगर्भीय सम्पदा के स्वामी राजा[162]; पूरे जगत के एकमात्र राजा[163]; चर्षणी, कृष्टी और मानुषी या व्यापारी, कृषिजीवी, तथा इतर समस्त जनों के राजा[164]; पर्वत, नदी, स्थल सभी के राजा[165]; सार्थ के राजा की तरह से विश के सदस्यों के सखा या भ्राता राजा नहीं, अपितु दूसरों से बिलकुल अलग कोटि का—असमः जनानां—राजा;[166] ऋतजात या ऊँचे कुल में उत्पन्न राजा[167] आदि के विवरण मिलते हैं जो पहले से इसकी भिन्नता को प्रकट करने के लिए पर्याप्त हैं। यह राजा राज श्रेष्ठियों की तरह धन लुटाने वाला नहीं अपितु कर उगाहने वाला या जनन्भक्ष है।

एक राजा को जिन गुणों और शक्तियों से युक्त माना गया है, जरूरी नहीं कि वैदिक राजा इन सब पर खरे उतरते रहे हों, पर इस विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता कि वैदिक जन एक आदर्श राजा को इन विशेषताओं के अनुरूप देखना चाहते थे और साथ ही यह भी कि अधिकांश राजा इन कसौटियों पर खरा उतरने का प्रयत्न करते रहे होंगे। राजा के साथ एक विशाल भूभाग के शासनाधि-

कार का भाव प्रायः जुड़ा दिखायी देता है।[168] इस विशाल क्षेत्र के शासन के लिए ज़रूरी है कि वह इसकी जानकारी रखे, विद्वान और विचारशील हो।[169] उसका पालन-पोषण और शिक्षा आदि तो विधिवत हो ही, वह राजकुल में ही उत्पन्न हो।[170] वह किसी के अधीन न हो।[171] युद्ध के समय नेतृत्व सँभाल सकता हो।[172] समस्त लोग उसकी अधीनता स्वीकार करते हों और उसके सामने झुकते हों।[173] वह उदार हो[174] और नियमों का स्वयं भी पालन करता हो।[175] राजा के लिए ज़रूरी है कि वह शत्रुओं को जीत कर राज्य-विस्तार करे अथवा उन्हें अधीन करके तथा स्वजनों से कर वसूली करके कोष को भरा-पूरा रखे।[176] उसको निष्पक्ष भाव से न्याय करना और नियम तोड़ने वालों को दण्ड देना चाहिए।[177] राजा के अनुपम वेश[178], वैभव[179], आवास[180], ऊँचे आसन[181] और सुसज्जित रथ का[182] उल्लेख भी आता है। इन विभिन्न योग्यताओं को ध्यान में रखें तो पायेंगे कि वैदिककालीन राजाओं से जो अपेक्षाएँ की गयी हैं, उनका जो चित्र तैयार किया गया है, वह ऐतिहासिक कालों के राजाओं से तनिक भी भिन्न नहीं है।

अन्य पदों के साथ भी अपेक्षित योग्यताएँ पदों के अनुरूप ही दिखायी देती हैं। उदाहरण के लिए, अग्नि को जहाँ दूत के रूप में कल्पित किया गया है वहाँ उन्हें प्रायः विद्वान, कवि आदि कहा गया है।[183] उपवक्ता या राजा के पास जनता की ओर से जाकर फ़रियाद करने वाले के लिए सुवेश और सुरूप होना ज़रूरी है।[184] उपमाओं में भी राजा की तरह त्वेषयुक्त[185], राजा की तरह अमवान या शक्तिशाली[186], राजा की तरह विजयी[187], राजा की तरह प्रतापी[188], राजा की तरह सुव्रत[189], आदि विवरण इस चित्र को इतना स्पष्ट कर देते हैं कि इस तरह के एक स्थायी, सर्वमान्य और न्यायिक तथा प्रशासनिक शक्तियों से युक्त पद के विषय में कोई दुविधा नहीं रह जाती।

हम प्रशासन के अन्य पहलुओं—सभा, समिति और इसके गठन और राज-शक्ति की सीमाओं और जनता के अपने अधिकारों आदि के ब्यौरे में जाना उचित नहीं समझते।[190] यहाँ इतना संकेत ही पर्याप्त है कि इनका किसी प्रकार का सरलीकृत अर्थ लेना, चाहे वह जनतान्त्रिक परिषदों के रूप में हो या व्यापारिक जत्थों या आदिम समाजों की पंचायतों या बैठकों के रूप में, निरापद नहीं है।[191] कुछ विरल मामलों में ही इनका सम्बन्ध प्रशासनिक संस्थाओं से हो सकता है, जिन्हें समझना ज़रूरी है। इसी तरह वलि और शुल्क को लूट का माल मानना भी तर्कसंगत नहीं है। हाँ, इस बात की पूरी सम्भावना है कि दूसरों की अपेक्षा बड़े भूखण्ड का शासक अपने को सम्राट आदि विशेषणों से अलंकृत करता रहा हो, जब कि परवर्ती कालों के विशाल साम्राज्यों की तुलना में उसका राज्य एक प्रान्त के बराबर भी सिद्ध न हो। पर साथ ही यह भी याद रखना

होगा कि सभ्यता के विकास और जनजीवन की खुशहाली का बहुत बड़े क्षेत्र के एक केन्द्र से शासित होने से कोई सीधा सम्बन्ध नही है और अनेक बार तो यह जनता की हालत को अधिक कष्टकर और व्यापार-वाणिज्य के लिए अनिष्टकर भी सिद्ध हो सकता है। बहुत बड़े क्षेत्र पर अधिकार के ठीक बाद ही हम प्रत्येक साम्राज्य का पतन आरम्भ होते देखते हैं। इसके विनाश के बीज उसी के भीतर पैदा होने लगते हैं।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. ऋग्वेद में केवल एक बार प्रयुक्त (5.29.10) इस शब्द को कुछ इस तरह तूल दिया जाता रहा है मानो यह आर्य-अनार्य का भेद स्पष्ट करने वाला सबसे प्रबल साक्ष्य हो, जब कि कम-से-कम हड़प्पा के साक्ष्यों को और भारतीय जनजातीय चित्र को सामने रखते हुए बिना किसी बहस के विद्वानों को यह स्वीकार कर लेना चाहिए था कि इस शब्द का अर्थ करने में उनसे कहीं-न-कहीं कोई भूल हो रही है। पर एक बार तथ्य के रूप में प्रचारित झूठ या भ्रम भी प्रकट वास्तविकता से कितना प्रबल हो जाता है, इसे देखने के लिए धर्म और पुराण कल्पनाओं को देखना ही ज़रूरी नहीं है। इसके प्रमाण आधुनिक विचारकों की रचनाओं में भी मिल जायेंगे और इनकी पकड़ में ऐसे विद्वान भी आ सकते हैं जिनकी जानकारी और विश्लेषण क्षमता के लिए अन्य मामलों में उनकी सराहना की जा सकती है। देखें, कोसम्बी, 1965, 79; डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, 1954, 39, आदि।

   अनास शब्द को मनचाहे ढंग से अ-नास पढ़ने के स्थान पर अन्-आस पढ़ा जाना चाहिए। सायण इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, 'अनासः आस्यर-हितान्। आस्य शब्देन शब्दो लक्ष्यते। अशब्दान् मूकान्।' (ऋ. 5.29.10 पर भाष्य)। अर्थात् अनास का अर्थ है आस या मुख रहित। आस शब्द का लाक्षणिक अर्थ है शब्द और इसलिए अनास का अर्थ है मूक। दवैको. में इसका वाचिक अर्थ ही रख दिया गया है, 'अविद्यमान आस्यान्।' तुलसी ने 'कोउ मुखहीन...' में मुखहीन शब्द अनास के लिए ही रखा है, ऐसा लगता है। पर सायण की व्याख्या अधिक सही है। अपने से भिन्न भाषा बोलने वालों के लिए प्रायः 'गूँगा' शब्द का प्रयोग होता है, जिसका भी अर्थ है 'गूँ-गां करने वाला' या अस्पष्ट बोलने वाला। इनके लिए अन्य प्रयोग 'मृध्रवाच', 'वध्रिवाच'

भी इसी आशय में प्रयुक्त हुए हैं जो इस प्रयोग की संगति को प्रकट करता है। तुलना करें अवेस्ता में विदेशी या भिन्न भाषा बोलने वाले के लिए प्रयोग 'वाचं न्रश असूरह्य', हर्जफील्ड, 1947, 1, 155, अर्थात् बेजबान भी।

2. हड़प्पा सभ्यता के निर्माताओं के विषय में जो उपलब्ध जानकारी है वह इस मान्यता का निषेध करती है कि नये सांस्कृतिक तत्वों को लेकर भारत में किसी भी अन्य क्षेत्र से किन्हीं जनों का प्रवेश हुआ था (डी. के. सेन, 'ऐंश्येंट रेसेज़ ऑफ़ इंडिया ऐंड पाकिस्तान', ऐंश्येंट इंडिया 1964-65, 104-5 या कि पंजाब, बलूचिस्तान सिन्ध और गुजरात में उस काल में बसे हुए लोग, इन क्षेत्रों में आज बसे लोगों से किसी अर्थ में भिन्न थे, (डी. के. सेन, 1964-65, 178-205; शशांक शेखर सरकार 'रेस मूवमेंट ऐंड रेसेज इन इंडिया', कहेइं, 1958; ऐंश्येंट रेसेज़ ऑफ़ बलूचिस्तान, पंजाब, ऐंड सिन्ध, 1964; केनेडी 'स्कल्स आर्यन्स, फ्लोइंड ड्रेन्स...' हसि. 1982, आदि)। वास्तव में जैसा कि एस. एल. बाशबर्न ('थिंकिंग एबाउट रेस' सरकार द्वारा उद्धृत, 1958, 17) ने सुझाया था, भारत दुनिया का सबसे अधिक, और बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे, रक्त मिश्रण का देश है जहाँ, जाति के आधार पर आबादी का वर्गीकरण असम्भव है। नेस्फ़ील्ड ने (रिज़ली, 'एथनॉलॉजी ऐंड कास्ट', 1909, द्वारा उद्धृत) बहुत पहले ही यह सुझाया था कि भारत के सवर्णों और असवर्णों को नृतात्विक आधार पर अलग किया ही नहीं जा सकता। सरकार (दि ऐबोरिजिनल रेसेज़ ऑफ़ इंडिया, 1954) बक्स्टन (रेशियल एफ़िनिटीज़ ऑफ़ दि पीपुल्स ऑफ़ इंडिया, सेंसस ऑफ़ इंडिया 1931, 1, 3), बी. एस. गुहा (रेशियल एफ़िनिटीज़ ऑफ़ दि पीपुल्स ऑफ़ इंडिया, सेंसस ऑफ़ इंडिया, 1931, 1, 3), कीथ (1936, मैन, लंदन, 29, सरकार (1958) द्वारा उद्धृत), आदि ने भी यही विचार प्रकट किये हैं। कीथ के अनुसार तो इस बात की पूरी सम्भावना है कि भारत की वर्तमान जनसंख्या का विकास यहाँ के ही मूल निवासियों से हुआ हो और उनमें जो मामूली अन्तर पाये जाते हैं वे विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारणों की देन हों। बोएज़ हैडन, चाटुर्ज्या, कोसम्बी तथा ऐडम्स के विचारों का उल्लेख हमने अन्यत्र किया है जो नृतत्व को जातीय वर्गीकरण की दृष्टि से लगभग बेकार मानते हैं। भारतीय सन्दर्भ में यह याद रखना होगा कि विभिन्न नृजातीय लक्षणों का समांगीकरण हड़प्पा-काल में भी हो चुका था (सेन, 1964-65) और वस्तुतः द्रविड़, आर्य और मुण्डा-भाषियों में नृतात्विक दृष्टि से कोई प्रधान भिन्नता नहीं पायी जाती (सरकार, 1958, 22)।

3. कीथ, 1921, 74; सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, 1954, 55-56; कोसम्बी, 1965, 73; आर. एस. शर्मा, 1979, 12-13, आदि।
4. ऋ. 7.18. 6-7, इस दृष्टि से विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।
5. कोसम्बी, 1955, 84; 93; 104; 109, 139; दि बेसिस ऑफ़ ऐंश्येंट इंडियन हिस्ट्री', जर्नल ऑफ़ अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी, 75,1, 1955, 41; डी. पी. चट्टोपाध्याय, लोकायत, 1959, 88-91; कीथ, 1921 (1962 सं.), 74.
6. ऋ. 4.30.17.
7. 'पुरुओं' के विषय में देखें, शतब्रा. 6.8-1,14; सैबुईसी 41, 292 भी।
8. ऋ. 10.86.1 और आगे।
9. देखें, म. म. पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, शकाब्द 1881, 190 और आगे।
10. मैकडनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, 1980, 65-66.
11. ब्राह्मः दैवस्तथेत्यार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ।। मनु. 3.21.
12. ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृता। मनु. 27.2; याज्ञ. 1.58.
13. यज्ञस्य ऋत्विजे देवः। याज्ञ. 1.59
14. आहार्य आर्षस्तु गो द्वयम्। मनु. 1.196; याज्ञ. 1.59.
15. सह उभौ चरतां धर्मं इति वाचा अनुभाष्य च। कन्या प्रदानं अभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ।। मनु. 3.30.
16. आसुरः द्रविणादानात्। मनु. 3.31; 1.61.
17. कथमपि बान्धव कृता स्नेह-प्रवृत्तिः। शाकु. 4.16.
18. राक्षसः युद्ध-हरणात्। मनु. 3.33; याज्ञ. 1.61.
19. सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहः यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठः विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ।। मनु. 3.34.
20. सोमः प्रथमः विविदे गन्धर्वः विविदे उत्तरः। तृतीयः अग्निः ते पतिः तुरीयः ते मनुष्यजाः। सोमः ददत गन्धर्वाय गन्धर्वः ददत् अग्नये।
रयिं च पुत्रान् च अदात् अग्निः मह्यं अथो इमाम् ।। ऋ. 10.85.40-41.
21. डांगे, 1972, 71, और आगे।
22. वही।
23. अनावृताः किल पुरा स्त्रियः आसन् वरानने।
कामारण्य विहारिण्यः स्वतन्त्रा कल हासिनी। महाभारत, 1.113.4.
24. कुछ विद्वानों ने माता शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए माना है कि यह उस अवस्था का सूचक है जब वितरण का काम माँ के हाथ में होता था। देखें डांगे,

1972, 69, पर इस इस तरह का व्युत्पादन आवश्यकता से अधिक सुथरा लगता है। जो भी हो, इससे इस बात की पुष्टि तो होती ही है कि आखेट और आहार-संग्रह की अवस्था में यह समाज मातृप्रधान था।

25. वैदिक इंडेक्स, 1962 सं., 1, 9-10.

26. वही, 10.

27. अथर्ववेद का अनुवाद, 841, मैकडनेल और कीथ द्वारा उद्धृत, 1962, 1, 10.

28. वही।

29. वही, 10-11.

30. एस.पी. गुप्त, 1972,78; ठीक ऐसे ही विचार ऐडम्स(1968, 194-125) के भी हैं। जैसा कि हम विवाह-रीतियों के सन्दर्भ में देख आये हैं, एकाधिक अन्त्येष्ठि-रीतियों का एक ही समाज में प्रचलन अन्य कारणों से हो सकता है। अन्त्येष्ठि-रीतियाँ जातीय भिन्नता का प्रमाण नहीं हैं।

31. इसके ठीक विपरीत मान्यता पारसियों में विकसित हो गयी थी जिनके अनुसार जो भी तत्व मृत व्यक्ति या शव के सम्पर्क में आता है वह दूषित हो जाता है, अतः शव-दाह से अग्नि को, प्रवाह से जल को या समाधि से धरती को दूषित करना अक्षम्य अपराध था और इन सबसे बचने के लिए किसी ऊँचे, एकान्त स्थल पर शव को खुला छोड़ देने की प्रथा आरम्भ हुई थी जहाँ शवभक्षी पक्षी इसे खाकर तुष्ट हो सकते थे।

32. एस. पी. गुप्त, 1972, 54, 60, 68, 75; ह्वीलर, 'हड़प्पा 1946 : दि. डिफेंसेज़ ऐंड सिमेटरी आर. 37', ऐंश्येंट इंडिया, 3, 1947, 86; एस. आर. राव, 'फ़र्दर एक्सकैवेशन्स ऐट लोथल', ललित कला, 11, 1962, 29.

33. शतब्रा. 9.3.4.11. तु. करें ऋ. 10.14.2 और 7 से।

34. एस. पी. गुप्त, 1972, 76; छांदोग्य उप. 8.8.5.

35. ऊपर, ऋ. 10.14; मानव श्रौतसूत्र, 8.20 व 21.

36. वही 8.20 व 21.

37. एस.पी. गुप्त, 1972, 77.

38. वही।

39. वही, 76.

40. रोमिला थापर, (1978, 220) लिखती हैं, "यह एक अजीब-सी बात है कि यद्यपि जाति-व्यवस्था को प्रायः आर्यों से जोड़ा जाता है, पर यह केवल भारत में ही पायी जाती है, दूसरे समाजों में, जिन्हें भी आर्य संस्कृति मिली थी, यह नहीं पायी जाती। अतः यह आर्यों के आने से पहले की व्यवस्था रही होगी, जिसका किंचित् पुनर्गठन किया गया और उत्तर-वैदिक साहित्य में

विवेचन किया गया।...जातिपरक समाज के आवश्यक तत्वों में से पहला है असगोत्र और सवर्ण विवाह और पैतृक व्यवसाय (जाति); दूसरा, कार्य-विभाजन का पैतृक प्रणाली से जुड़ाव, जो अन्ततोगत्वा सेवक-सेव्य सम्बन्धों का रूप ले लेता है; तीसरा, अपवित्रता की धारणा जिसमें कुछ समूहों को रीतितः शुद्ध, दूसरों को कुछ कम शुद्ध और शेष को अशुद्ध या दूषित मान लिया जाता है; और अन्तिम है, जातियों को विशेष भौगोलिक अंचलों से जोड़ देना। ये सभी तत्व हड़प्पा सभ्यता में मौजूद रहे हो सकते हैं जिसमें कम-से-कम सामाजिक स्तरीकरण का अनुमान तो लगाया ही जा सकता है।" देखें, टिप्पणी, 35, पृष्ठ 236 भी, जिसमें रोमिला थापर ने इस बात की ओर संकेत किया है कि शुद्धता-अशुद्धता की धारणाएँ कबीलाई जमातों में भी पायी जाती हैं और विवाह आदि की संकीर्णता भी देखी जाती है। जो भी हो, उन्होंने कार्य-विभाजन के साथ इसके आर्थिक पक्ष की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त इस बात पर भी ध्यान देना ज़रूरी था कि चारों वर्णों का और सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से जातियों और उपजातियों का अस्तित्व केवल उस क्षेत्र तक और ठीक उसी अनुपात में दिखायी देता है जिस क्षेत्र तक और जिस अनुपात में वैदिक प्रभाव। यहाँ तक कि द्रविड़ क्षेत्र में भी ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर दो ही वर्ण हैं जिनमें से ब्राह्मण उत्तर भारत से गये हुए हैं।

41. देखें, चाटुर्ज्या, 1958, 44; प्राचीन स्मृतियों के विधानों, गुप्तकाल में कठोर जाति-व्यवस्था तथा अस्पृश्यता के प्रचलन आदि को देखते हुए इस प्रकार के सुझावों को बेबुनियाद माना जा सकता है। तुर्कों के या इस्लाम के प्रवेश से जाति-प्रथा पर प्रहार हुए, जिसका साक्षी सन्त आन्दोलन है।

42. ब्राह्मणः अस्य मुखं आसीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तत् अस्य यत् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रः अजायत्॥ ऋ. 10.90.12, अर्थात् ब्राह्मण उस पुरुष का मुख था, क्षत्रिय उसकी भुजा, वैश्य उसकी जाँघ और शूद्र उसके पाँव से उत्पन्न हुआ। प्रकारान्तर से कहें तो इन वर्णों की उत्पत्ति उस पुरुष के इन अंगों से हुई।

43. काणे, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, 1, 111; अल्तेकर, 1958, 225 आदि।

44. कारुः अहं ततः भिषक् उपल-प्रक्षिणी नना।
नाना-धियः वसू-यवः अनु गाः इव तस्थिम...॥ ऋ. 9.112.3.

45. वैदिक कवि के अनुसार जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति कितनी पुरानी हो सकती है? सम्भवतः उतनी ही पुरानी जितनी चाँद और सूर्य आदि की उत्पत्ति; कारण :

चन्द्रमा मनसः जातः चक्षोः सूर्यः अजायत।
मुखात् इन्द्रः च अग्निः च प्राणात् वायुः अजायत ॥ ऋ. 10.90.13.

46. 'उपलेषु वालुकासु प्रक्षिणोति यवान् हिनस्ति भृंजति इति। यत् वा। दृषादिषु उपलेषु भृष्टान् यवान् हिनस्ति चूर्णयति इति। अथवा धाना-सक्तु-करम्भादीनां कारिका वा।' अर्थात् बालू से अन्न भूनने वाली, पत्थर के पात्र में भूने जव को कूटनेवाली, या धाना-सत्तू और करम्भ आदि बनाने वाली।

47. 'मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य', ऋ. 4.42.1; 'वावृधानौ अमति : क्षत्रियस्य अनु व्रतं रक्षमाणो अजुर्यम्।' ऋ. 5.69.1; तुलना करें 'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दः भुवनेषु रूढ़ः' रघुवंश 2.53; 'उद्गाता इव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि...। ऋ. 2.43.2, आदि। देखें, बैशम, 1967 सं., 35; चाटुर्ज्या, 1958, 84.

48. ते अज्येष्ठाः अकनिष्ठासः उद्भिदः अमध्यमासः महसा विवावृधुः। ऋ. 5.59.6.

49. ऋ. 2.1.15; 6.2; 3.15.2, आदि।

50. सत्यकाम जाबाल, पाण्डव कुल के विवाह सम्बन्ध आदि इस दृष्टि से रोचक हैं। (शक) शाकद्वीपी ब्राह्मणों, और राजसत्ता कायम करने के बाद अनेक जातियों का क्षत्रियों में शामिल होना, जिनमें मौर्यवंश तक शामिल है, इसके उदाहरण माने जा सकते हैं। आज भी यह प्रयास बन्द नहीं हुआ है। देखें, कोसम्बी, जबंराएसो. 1946; अल्तेकर, वैदिक सोसायटी, कहेइं., 1958, 226; सी. कुन्हराज, 'वैदिक कल्चर कहेइं. 1, 1958, 200.

51. रोमिला थापर, 1978, 220.

52. 7.33.1.

53. कोसम्बी, 1946, 34; 1953, 200; आर.एस. शर्मा, 1983.

54. ऋग्वेद में वर्ण वर्ग-विभाजन या आर्थिक स्तरभेद का सूचक है: आर्यवर्ण-स्वामि वर्ग और दास वर्ण-सेवक वर्ग। जहाँ तक शरीर के रंग का प्रश्न है—कृष्ण आंगिरस, श्याव काण्व जैसे नाम सूचित करते हैं कि वैदिक ब्राह्मणों का रंग भी साँवला हो सकता था। कासं 11.6 में वैश्यों का रंग गोरा और क्षत्रियों का रंग धूम वर्ण या साँवला बताया गया है, "यत् शुक्लानां आदित्येभ्यः निर्वपति तस्मात् शुक्ल इव वैश्यः जायते, यत् कृष्णानां वारुणं तस्मात् धूम इव राजन्यः।" अब यदि इन्हीं क्षत्रियों के आक्रमण के रूप में भारत पर आर्य आक्रमण को कल्पित किया जाता रहा है तो इसकी असलियत यहाँ पहचानी जा सकती है।

55. वैश्य का वर्ण-धर्म चाणक्य के अनुसार 'अध्ययनं यजनं दानं वृद्धि पशुपाल्ये

वाणिज्या च' और शूद्र का 'द्विजाति-शुश्रूषा वार्ता कारु-कुशीलवकर्म च।" अर्थ. 1. 1. 3.; और वार्ता की परिभाषा करते हुए चाणक्य लिखते हैं, 'कृषि पाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता।' 1. 1. 4. इससे स्पष्ट है कि अर्थ-व्यवस्था पहले पूरी तरह वैश्यों के हाथ में थी, पर इसका श्रम-भार शूद्रों पर ही था, जिसमें शिल्प या तकनीकी काम भी शामिल था।

56. रोमिला थापर, 1978, 217. यह स्मरणीय है कि प्राचीनतम वैदिक उल्लेखों से लेकर आधुनिक काल तक उच्चवर्णों को कभी तकनीकी दृष्टि से आगे बढ़ा तो दूर, सक्रिय तक नहीं पाया जाता। इसके बावजूद सदा वे ही प्रभावशाली रहे हैं।

57. देखें, 10. 117.

58. कोसम्बी ने ब्राह्मणों की आर्थिक स्थिति की कुछ छानबीन, (अर्ली स्टेजेज़ ऑफ़ कास्ट सिस्टम' जभरासो., 22, 1946, 36 और आगे) की है, जिससे मोटे तौर पर असहमत नहीं हुआ जा सकता।

59. समुद्र-मन्थन और इसके बाद रत्नों के बँटवारे को लेकर हुए कलह और इसके बाद असुरों को छल से वंचित ही नहीं, अपितु उन्हें निश्शेष करने के प्रयत्न में इसी की छाया है।

60. राजा मे वीर तन्वः तत् आसीः। ऋ. 10. 95. 5.

61. इन्द्रः चित् घ तत् अब्रवीत् स्त्रियाः अशास्यं मनः। उतो अह क्रतुं रघुम्।।
ऋ. 8.33. 17.

62. न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयानि एता। ऋ. 10. 95. 15

63. अनवद्या पतिजुष्टा इव नारी। ऋ. 1. 73. 3.

64. इमां त्वं इन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दश अस्यां पुत्रान् आ धेहि...।
ऋ. 10. 85. 45.

65. ऋ. 1. 164. 16; 10. 22. 3; 25. 3, आदि।

66. अदुर्मंगलीः पतिलोकं आविश शं नः भव द्विपदे शं चतुष्पदे।
ऋ. 10. 85. 43.

67. अधः पश्यस्व मा उपरि सन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।। ऋ. 8. 33. 19.

68. ऋ. 1. 28

69. ऋ. 9.112. 3.

70. ऋ. 5. 47. 6.

71. ऋ. 10. 27. 12.

72. ऋ. 10. 86.6.

73. ऋ. 10. 86.8.
74. ऋ. 1. 30. 20.
75. ऋ. 10. 34. 10.
76. ऋ. 10. 85. 37.
77. ऋ. 10. 159. 5 व 6.
78. ऋ. 2. 6. 10. तुलना करें, कुह्न राजा, 1958, 214; अल्तेकर, 1958, 222-23, आदि।
79. देखें मार्शल, 1931, 1, 16-22.
80. त आदित्यासः उरवः गभीरा अदब्धासः दिप्सन्तः भूरि अक्षाः। अन्तः पश्यन्ति वृजिन उत साधुः सर्वं राजभ्यः परम आ चित् अन्ति ॥ ऋ. 2.27.3.
81. न तिष्ठन्ति न निमिषन्ति एते देवाना स्पश इह ये चरन्ति। ऋ. 10.10.8.
82. वास्तव में किसी समाज में आदर्श और आचरण के बीच अन्तर की प्रखरता स्वतः इस बात का प्रमाण है कि यह समाज आर्थिक और सामाजिक विषमताओं से तदनुरूप ग्रस्त है। आदिम कबीलों की साम्यवादी व्यवस्था में कथनी और करनी का यह अन्तर नहीं पाया जाता। अतः यदि यह मान लें कि अपने नैतिक आदर्शों का पालन वैदिक समाज के सदस्य स्वयं भी नहीं करते रहे हो सकते हैं तो इससे भी इस बात का ही पता चलता है कि वे 'सभ्यता' के सराहनीय स्तर पर पहुँच चुके थे।
83. इदं आपः प्रवहत यत् किं च दुरितं मयि। यत् वा अहं अभिदुद्रोह यत् वा शेप उत् अनृतम् ॥ ऋ. 1.23.22
84. मा कस्य यक्षं सदं इत् हुरः गाः मा वेशस्य प्रमिनतः मा आपेः।
मा भ्रातुः अग्ने अनृजोः ऋणं वेः मा सख्युः दक्षं रिपोः भुजेम ॥ ऋ. 4.3.13.
85. मा कस्य अद्भुत-ऋत यक्षं भुजेम तनूभिः। मा शेषसा मा तनसा ॥ ऋ. 5.70.4. इन उक्तियों की तुलना वैदिकों की 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' से करना और उद्योग और अध्यवसाय पर उनके बल पर ध्यान देना उपयोगी होगा।
86. मार्शल 1931, 1.110.
87. 7.92.3.
88. 'विश्वस्य अमृत भोजन', ऋ. 1.44.5.
89. 'चित्रं ह यद् वां भोखनं नु अस्ति', ऋ. 7.68.5; 'युवं चित्रं ददथुः भोजनं नरा,' ऋ. 7.79.2.
90. 'मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोषीः, ऋ. 1.104.8.
91. 'अयं भोजन,' ऋ. 8.1.34.

92. यः भोजनं च दयसे च वर्धनं आर्द्रात् आशुष्कं मधुमत् दुदोहिथ।' ऋ. 2.13.6.

93. ऋ. 8.69.14; 77.6; 10.

94. ऋ. 3.52.1; 7; 8.91.2; 10.45.9.

95. ऋ. 10.71.2.

96. ऋ. 1.16.2; 3.35.3; 7; 52.5-8; 4.24.7; 6.29.4; 10.28.91.

97. दही औ सत्तू को करम्भ कहते थे। देखें, ऋ.1.187.10; 3.52.7; 6.57.2; 8.91.2' आदि।

98. 'यस्मिन् अश्वासः ऋषभाषः उक्षणः वशाः मेषाः अवसृष्टासः आहुताः।' ऋ. 10.91.14. यहाँ यह उल्लेख करना ज़रूरी है कि बछड़े आदि का वध और आहार तो होता था और गाय की भी बलि दी जाती और इसका मांस खाया जाता था, पर क्रमशः इस विषय में जागरूकता बढ़ने के साथ केवल वन्ध्या गाय ही वध्य रह गयी थी।

99. 'पुरोड़ा इत् तुर्वशः यक्षुः आसीत् राये मत्स्यासः निशिता अपि इव।' ऋ. 7.18.6; ऋ. 10.68.8 में सूखते हुए पानी में विकल मछलियों का दृष्टान्त दिया गया है।

100. ऋ. 1.191.10; 4.45.1; 3; 5.83.7; 6.48.18; 7.89.2; 8.5.19; 9.1.8.

101. ऋ. 4.18.13.

102. सुरा के उल्लेख नये मण्डलों में ही आते हैं, जिससे दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—पहला यह कि सुरापान का प्रचलन अन्य देशों के प्रभाव से परिपक्व हड़प्पा-काल में हुआ; दूसरा यह कि यह पहले से प्रचलित तो था, पर इस काल में इसने एक गम्भीर समस्या का रूप ले लिया और इसलिए इसको वर्जित करार दिया जाने लगा। देखें, ऋ. 1.116.7; 191.10; 8.2.12; 8.21.14; 10.107.9.

103. आ इन्द्र याहि मत्स्व चित्रेण देव राधसा। सरः न प्रासि उदरं सपीतिभिः आ सोमेभिः उरु स्फिरम्॥ ऋ. 8.1.23; इदं वसो सुतं अन्धः पिब सुपूर्णं ऊदरम्। ऋ. 8.2.1 क्रत्वः इत् पूर्णं उदरं तुरस्य अस्ति विधतः। वृत्रघ्नः सोम-पाव्नः। ऋ. 8.78.7

104. देखें, कीथ, 1921 (1962 सं.) 89; अल्तेकर, 1958, 228.

105. सेठना, कार्पास इन इंडिया, 1982, 39.

106. ओटो श्रेडर, पूर्व., 330.

107. वही, 329-31.

108. वही, 335.

109. वही ।
110. देखें, व्हीलर, 1953, 69.
111. वैदिक इंडेक्स, हिंदी अनु. रामकुमार राय, 1962, 2, 326-27.
112. यत् ते वासं परिधानं या नीविं कृणुते त्वम् । अथर्व. 8.2.16; नीविं कृणुष्व...अथ. 14.2.50.
113. देखें, सेबुईसी., 41.86 पर एगलिंग की पाद-टिप्पणी; सेठना, 1982, 31.
114. भीतरी वस्त्र की कल्पना एक साथ दो वस्त्रों के उल्लेख को देखकर कर ली गयी है ।
115. अथ एनं वासांसि परिधापयति । तत् ताप्यँ इति वासः भवति...अथ एनं पाण्ड्वं परिधापयति । शतब्रा. 5.3.5.20 व 21
116. वास के लिए अधिक उपयुक्त शब्द परिधान है, जिसका शाब्दिक अर्थ है शरीर को चारों ओर से लपेटने वाला । इसका प्रयोग वास के लिए बाद में आता है । देखें, ऋ. 1.115.4; 162.16; 7.77.2; 8.3.24, आदि ।
117. 1.140.9; 162.16; 10.5.4; देखें, अधिवस्त्रा ऋ. 8.26.13भी ।
118. ऋ. 5.54.11;8. 7.25.
119. ऋ. 1.173.6; 8.14.5, आदि ।
120. ऋ. 10.85.8.
121. देखें, वैदिक इंडेक्स, 1,51.
122. ऋ. 7.33.1.
123. ऋ. 10.114.3.
124. ऋ. 10.86.8.
125. ऋ. 1.167.5.
126. सिनीवाली का यह चित्रण पहली बार यजु. 11.56 में आता है ।
127. ऋ. 1.68.3; 5.58.2, आदि ।
128. 1.166.9; 5.54.11; 7.56.13; 10.38.1, आदि ।
129. ऋ. 8.78.3; 1.122.14.
130. ऋ. 1.122.14.
131. ऋ. 5.19.3.
132. 4.38.6; 8.47.15. एक साथ अनेक हार पहनने की सूचना बहु. व. के प्रयोगों से मिलती है, ऋ. 5.53.4
133. ऋ.5.55.4.
134. ऋ. 10.184.2.
135. ऋ. 1.25.13; 5.54.11;8.7.25, आदि ।

136. ह्वीलर, 1953,73; बैशम, 1963 सं, 14, आदि।
137. बैशम, 1967 सं., 34-35; डी. पी. चटोपाध्याय, 1959, 585; आर. एस. शर्मा, 1983, 83.
138. त्सिमर ने अनेक राजवंशों के शासकों के नामों की सूची गिनायी है। वैदिक इंडेक्स, 2, 235, पाद-टिप्पणी, 6.
138. वैदिक इंडेक्स, 2, 234-35; देखें 241 तक।
140. ऋग्वेद में राजा का प्रयोग प्रथमा एकवचन में ही सौ बार से अधिक हुआ है।
141. ऋ. 1.100.1; 3.55.7; 4.19.2; 6.27.8, आदि।
142. ऋ. 8.37.3.
143, ऋ. 10.128.9.
144. ऋ. 1.188.4-6; 10.90.50.
145. ऋ. 1.61.9; 3.45.5; 7.82.2; 8.46.28, आदि।
146. ऋ. 7.15.3.
147. ऋग्वेद में मित्र का सूर्य, वायु, सर्वहितकारी और नियमनकारी आदि अर्थों में 200 से अधिक बार प्रयोग हुआ है। परवर्ती काल में मित्र स्पष्टतः मंत्री के लिए भी प्रयोग में आता रहा है।
148. वस्तुतः सचिविद, 10.71.6; सखा, 1.4.10; 2.1.9, आदि।
149. ऋ. 7.20.5; 9.96.1; 10.34.12; 84.2, आदि।
150 ऋ. 1.100.19;102.11; 2.23.8; 8.96.20, आदि।
151. ऋ. 4.9.5; 6.71.5; 9.95.5, आदि।
152. ऋ. 1.36.5; 2.6.7; 3.3.2; 4.1.8, आदि।
153. ऋ. 1.25.93; 33.8; 4.4.3; 6.67.5, आदि।
154. ऋ. 10.62.11;107.5, आदि।
155. ऋ. 1.26.7; 2.1.8; 3.40.3; 5.4.3; 6.1.8, आदि।
156. ऋ. 6.24.10; 46.11.
157. ऋ. 2.12.7; 3.6.5, आदि।
158. ऋ. 2.23.1; 10.112.9, आदि।
159. राजा न सत्यः समितीः इयानः। ऋ. 9.92.6
160. 'विश्वस्य भुवनस्य राजा', ऋ. 5.85.3; 9.93.56; 10.168.2, आदि।
161. 'हितमित्रः न राजा', ऋ. 1.73.3; 3.55.21 आदि।
162. अध्वर्यवः यः दिव्यस्य वस्वः यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा।' ऋ. 2.14.11

163. एक: विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान्। ऋ. 3. 46.2.

164. 'राजा कृष्टीणां असि मानुषीणाम्', ऋ. 1.59.5; 'इन्द्रः राजा जगतः चर्षणीनां अधि क्षमि विषुरूपं यत् अस्ति।' ऋ. 2.27.3; 'भुवः जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतः त्वेष संदृक्।' ऋ. 6.22.9.

165. आ सूर्ये न रश्मयः ध्रुवासः वैश्वानरे दधिरे अग्ना वसूनि। या पर्वतेषु ओषधीषु अप्सु या मानुषेषु असि तस्य राजा। ऋ. 1.59.3.

166. पतिः बभूव असमः जनानां एकः विश्वस्य भुवनस्य राजा। ऋ. 6.36.;4. 'महित्वा एक इत् राजा जगतः बभूव। यः ईशे अस्य द्विपदः चतुष्पदः... ऋ. 10.121.3.

167. ऋतेन यः ऋतजातः वि वावृधे राजा देव ऋतं बृहत्। ऋ. 9.108.8; वैश्वानरः जायमानः न राजा। ऋ. 6.9.1.

168. ऋ. 7.27.3; 6.36.4; 2.27.10; 8.95.3; 6. 22.9; 1.14.11, आदि।

169. एक विश्वविद् पवेत मनीषी सोमः विश्वस्य भुवनस्य राजा। ऋ. 9.97. 56.

170. ऋतेन यः ऋत-जातः वि-बवृधे राजा देवः ऋतं बृहत्। ऋ. 9.108.8.

171. ऋ. 2.9.6; 6.7.7, आदि।

172. ऋ. 2 9.6; 3.46.2, आदि।

173. तस्मै विशः स्वयमेव नमंत यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्वं एति। ऋ. 4.50.8

174. ऋ. 8.21.18; 7.27.3; 2.1.4.

175. वरुण आदि देवता जिन्हें प्रायः राजा के रूप में कल्पित किया जाता है, प्रायः धृत-व्रत, 1.15.6; 25.6; 8; 2.1.4; 29.1; 4.43.4; 6.19.5, आदि कहे जाते हैं।

176. अप्रतीतः जयति सं धनानि प्रतिजन्यानि उत या सजन्या। ऋ. 4.50.9.

177. ऋ.1.24.15; 174.1, आदि।

178. ऋ. 1.25.13, आदि।

179. ऋ. 8.21.18, आदि।

180. ऋ. 2.41.5; 3.1.18, 7.88.5, आदि।

181. देखें शतब्रा. 12.8.3.4; हिल्लेब्रांट, 1980, I 210

182. ऋ. 2.18.4-6; 6.29.2, आदि।

183. ऋ. 1.56.3; 2.6.7; 3.5.2, आदि।

184. ऋ. 6.71.5; 9.95.5

185. ऋ. 1.85.8.

186. ऋ. 4.4.1.
187. ऋ. 6.4.4.
188. ऋ. 7.18.2.
189. ऋ. 9.20.5.
190. देखें, जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी 1924; मजूमदार, कार्पोरेट लाइफ इन ऐंश्येंट इंडिया, 1916 (1966 हिन्दी सं.), आदि। आप्टे, 'सोशल ऐंड इकॉनॉमिक कंडीशन्स' दि वेदिक एज 1965, 444; आर. एस. शर्मा, 1983, 36 और आगे।
191. बैशम, 1967, 35; चट्टोपाध्याय, 1959, 585; आप्टे, 1965, 444; आर. एस. शर्मा, 1983, 36.

अध्याय दस

लेखन और शिक्षा

वैदिक काल में लेखन का प्रचलन था या नहीं, इसका निर्णय तीन प्रश्नों को सामने रखते हुए किया जा सकता है :

1. क्या वैदिक सभ्यता का स्तर ऐसा था जो लेखन के अभाव में न तो हासिल किया जा सकता था, न ही इसे क़ायम रखा जा सकता था ?
2. क्या वैदिक साहित्य का परिमाण और स्तर ऐसा है जो लेखन के अभाव में रचा और परिरक्षित नहीं किया जा सकता था ?
3. क्या लेखन के प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं ?

जैसा कि हम देख आये हैं, वैदिक सभ्यता के स्तर के विषय में दो परस्पर विरोधी रुख़ आधुनिक काल में वैदिक साहित्य का अध्ययन आरम्भ होने के समय से ही अपनाये गये थे। एक था आरम्भिक प्राच्यविदों का दृष्टिकोण, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति को गहराई से समझना चाहते थे और जिनको प्राचीन भारत सभ्यता के एक सराहनीय स्तर पर पहुँचा हुआ दिखायी दे रहा था; और दूसरा था ईसाई मिशनरियों का दृष्टिकोण, जिन्हें अपने सद्धर्म के प्रचार के लिए वह सिद्ध करना ज़रूरी था कि भारत चिर काल से ही बर्बरता और जड़ता की गिरफ़्त में रहा है, और अपनी सत्ता मज़बूत करने के बाद यही दृष्टिकोण अंग्रेज़ प्रशासकों द्वारा और ईसाइयत के प्रचार से भारत का उद्धार करने के उत्सुक मिशनरी और ग़ैर-मिशनरी विद्वानों द्वारा अपनाया जाता रहा। मैक्समूलर, जिन्होंने पहली बार बड़े ज़ोरदार ढंग से इस बात का प्रतिपादन किया था कि पाणिनि के समय तक भारत में लेखन का प्रचार नहीं था, इसी मत के समर्थक थे और अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ़ ऐंश्येंट संस्कृत लिटरेचर सो फ़ॉर इट इलस्ट्रेट्स दि प्रिमिटिव रिलिजन ऑफ़ दि ब्राह्मणज़' में उन्होंने अपने पूर्वाग्रह को अकादमिक शालीनता की भी परवाह न करते हुए खुल कर व्यक्त कर दिया था। इसके बावजूद विद्वानों का एक ऐसा वर्ग रहा है जो ज़ोरदार ढंग से उन 'कदाशयतापूर्ण'

प्रयत्नों का प्रतिरोध करता रहा जिनमें भारत की अतीत उपलब्धियों को हेय सिद्ध करने के लिए हर चीज़ का हीनार्थ ग्रहण किया जाता रहा और तथ्यों को सन्दर्भों से काटकर और एकपक्षीय रूप में पेश किया जाता रहा। पहले दृष्टिकोण के अनुसार जहाँ इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि सभ्यता के इतने ऊँचे स्तर पर पहुँचा हुआ कोई समाज लेखन से अपरिचित रह सकता था[1], वहीं दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार बर्बर, अर्धयायावर, लुटेरे और नगर-सभ्यता से अपरिचित ही नहीं, अपितु इसके प्रति द्रोह-भाव रखने वाले वैदिक आर्यों के लेखन से परिचित होने का प्रश्न ही नहीं उठता था।[2]

अपनी छानबीन में हम अब तक देख आये हैं कि वैदिक समाज सभ्यता के एक ऐसे ऊँचे स्तर पर पहुँचा हुआ था जिसका ठीक-ठीक अनुमान उन विद्वानों के लिए भी सम्भव नहीं था जो इसकी सभ्यता को सराहनीय स्तर का मानते थे, और इस तरह परिस्थितिजन्य साक्ष्य वैदिक काल में लेखन के प्रचलन की अकाट्य पुष्टि करता है।

दूसरे प्रश्न के दो उपखण्ड हो जाते हैं : एक परिमाण से सम्बन्धित और दूसरा साहित्य के स्तर से सम्बन्धित। पहले के विषय में किसी प्रकार के सन्देह का प्रश्न नहीं था; कारण, यह अपने अवशिष्ट रूप में भी जितना विराट था वह समूचे ग्रीक और रोमन साहित्य से कुछ भारी पड़ता था और यह लेखन के अस्तित्व को नकारने वालों के लिए मुश्किल पेश करता था। परिमाण को घटाना तो सम्भव नहीं था, पर गुणता या स्तर का अवमूल्यन तो सम्भव था ही और इसका यथा-सम्भव प्रयत्न मैक्समूलर ने किया और यह नतीजा निकाला कि "वैदिक सूक्तों में से अधिक सूक्त नितान्त बचकाने, दुरूह, हेय और मामूली किस्म के हैं।"[3] उन्होंने ऐसे सूक्तों का उदाहरण नहीं दिया; दिया होता तो इनका समकालीन, और बाद की भी, धार्मिक रचनाओं से मिलान करके यह देख पाना आसान होता कि इनमें अधिक बचकाने दुरूह, हेय और मामूली किस्म के अंशों का अनुपात कितना कम या अधिक है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि कुछ थोड़े-से सूक्तों को छोड़कर जिनमें जादू-टोने के प्रसंग आते हैं ऋग्वेद के समस्त सूक्त भाषा, छन्द, अन्तर्वस्तु, और कुछ एक तो काव्यसौष्ठव और वैचारिक गहनता—निश्चय ही अपने समय को देखते हुए—की दृष्टि से भी, बेजोड़ हैं और इनकी रचना निरक्षर व्यक्तियों द्वारा सम्भव ही नहीं थी।

पर थोड़ी देर को मान लें, हलके स्तर के सूक्तों की संख्या काफ़ी है, तो भी बाकी सूक्तों का स्तर? जो भी हो, न तो मैक्समूलर एक निष्पक्ष अध्येता के रूप में इस सामग्री का अध्ययन कर रहे थे, न ही इसकी तफ़सील में जाकर हम उनसे उत्तर देने की अपेक्षा कर सकते थे। उन्होंने समस्या के एक पहलू को इस तरह निबटा लिया, पर परिमाण का प्रश्न फिर भी मुसीबत पैदा करने वाला था।

इसका समाधान करते हुए उन्होंने बहुत लम्बी दलीलें तैयार कीं, जैसे कि वेदों को श्रुति कहा जाता रहा है, जिसका अर्थ है कि इनका प्रसार और हस्तान्तरण श्रुत परम्परा से ही होता रहा है और यह इस बात का सूचक है कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन नहीं था। रोचक बात यह है कि मैक्समूलर की मान्यता के अनुसार ऋग्वेद ही नहीं, आरण्यकों,ब्राह्मणों और उपनिषदों तक के काल में, यहाँ तक कि पाणिनि के समय में भी लेखन का चलन नहीं था, फिर उनके उक्त तर्क के अनुसार तो इन सबका प्रसार और हस्तान्तरण श्रुत परम्परा से ही होता रहा था, अतः इन सबका नाम श्रुति ही होना चाहिए। ऐसा क्यों नहीं है? यदि वह इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ते तो निश्चय ही उनको श्रुति नाम के पीछे कोई अन्य कारण दिखायी देता। मैक्समूलर अपने उत्साह में बहुत-से अनर्गल और परस्पर विरोधी तर्क देते जाते हैं, जैसे यह कि भारतीय ब्राह्मणों को लेखन की सबसे अधिक आवश्यकता अपने पुनीत ग्रन्थों, वेदों, को परिरक्षित करने की चिन्ता के कारण थी और उन्होंने पश्चिम से लेखन का ज्ञान अर्जित करके इसे नये रूप में ढालकर सबसे पहला काम वेद के संकलन और सम्पादन का ही किया और इसके समानान्तर यह भी कि जब लेखन निश्चित रूप से प्रचलित था और इसका प्रयोग अन्य ग्रन्थों को लिपिबद्ध करने के लिए किया जा रहा था उस समय भी वेदों को लिपिबद्ध करने की मनाही थी? कि गृहसूत्रों आदि में छात्रों के लिए बहुत लम्बे अध्ययन-काल का—जब तक तो अड़तालीस वर्ष तक का—विधान है और इतना लम्बा समय वेदों आदि को कण्ठस्थ करने में ही लगता रहा होगा। वह यह भूल जाते हैं कि इतने लम्बे समय का अध्ययन-काल ग्रन्थों, कहें ग्रन्थालयों, के अभाव में सम्भव ही नहीं है। कारण, यदि इतना समय केवल कृतियों को कण्ठस्थ करने में ही लग जाये तो इनको कण्ठस्थ कराने के लिए भी इतना ही समय लगेगा और इस तरह उपनयन के लिए नियत काल, कण्ठस्थ करने के लिए अपेक्षित अड़तालीसवर्ष के काल और कण्ठस्थ सामग्री यदि अविकल याद भी रह जाये तो, कम-से-कम शिष्यों की एक पीढ़ी को पूरी सामग्री कण्ठस्थ कराने के लिए अपेक्षित इतने ही काल को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक आचार्य का कम-से-कम 106 वर्ष तक न केवल जीवित रहना ज़रूरी था, अपितु उसकी स्मृति का निर्धूम स्वच्छ रहना भी ज़रूरी था, जो एक असम्भव सी चीज है। अतः यह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि इतना लम्बा अध्ययन-काल केवल कुछ ऐसे व्यक्तियों का ही हो सकता था जिन्होंने किसी विषय को अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया हो और उनका यह अध्ययन पुस्तकों का अच्छा-खासा संग्रह मौजूद होने की दशा में ही सम्भव था, जिसकी पुष्टि उनके द्वारा अपनी कृतियों में अपने विषय के प्राचीन आचार्यों के मतों के उल्लेख और उनकी आलोचना आदि से भी होती है।[4]

इस तरह हम पाते हैं कि दूसरे प्रश्न का निष्पक्षता से उत्तर तलाशते हुए

भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन अवश्य था।

मैक्समूलर को अन्तिम प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक ही देना था; कारण, यदि वैदिक भारत लेखन से परिचित सिद्ध हो जाता तो इनके द्वारा गढ़ी गयी आदिमता की तसवीर और लेखन के प्रचलन के विरुद्ध जुटायी गयी सारी दलील खुद ही धूमिल पड़ जाती। अतः वह ऐसे प्रत्येक साक्ष्य की, जिससे लेखन के प्रचलन की पुष्टि हो सकती थी, इतनी 'बारीकी' से जाँच करते चले गये कि स्वयं पाणिनि भी उनको निरक्षर दिखायी देने लगे। यदि इतनी 'बारीकी' से काम लें तो अंग्रेज़ी के 'बुक', 'पेन', 'राइट', 'रीड' किसी से केवल भाषिक आधार पर लेखन और पठन की पुष्टि नहीं हो सकती।

हम अपने आगे के विवेचन में देखेंगे कि न केवल वैदिक काल में लेखन के प्रचलन के प्रमाणों का अभाव नहीं है, अपितु इनमें से अनेक तत्कालीन लिपि की प्रकृति पर भी कुछ प्रकाश डालते हैं। इनमें से अनेक की ओर इससे पहले दूसरे विद्वानों ने भी संकेत किये थे, यद्यपि कुछ निर्णायक महत्त्व के साक्ष्यों की ओर उनका भी ध्यान नहीं जा सका था।

2

हड़प्पा लिपि और भाषा

हड़प्पा सभ्यता की खोज से पहले तक अशोक के समय से पुराने पुरातात्विक साक्ष्य नहीं थे, अतः सारी बहस का केन्द्र साहित्य ही था। पर इसके बाद समस्या ने एक नया मोड़ लिया। एक ओर तो अशोक के समय से लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष पहले भारत में एक ऐसी लिपि का प्रमाण मिला जो अपने समय की अन्य लिपियों की तुलना में उसी तरह अधिक व्यवस्थित और विकसित होने का आभास दे रही थी जैसे ब्राह्मी अपने समय की अन्य लिपियों की तुलना में। दूसरी ओर, आर्य आक्रमण की मान्यता के चलते हड़प्पा सभ्यता को अवैदिक और मुख्यतः द्रविड़ सभ्यता घोषित किया जाने लगा और ब्राह्मी तथा हड़प्पा-लिपि के बीच एक व्यवधान मान लिया गया। दोनों कालों के पुरातात्विक साक्ष्यों के बीच पाये जाने वाले अन्तराल को ध्यान में रखते हुए यह सुझाया जाने लगा कि हड़प्पा लिपि सम्भवतः इस सभ्यता के विनाश के साथ ही नष्ट हो गयी और ब्राह्मणों को अपने उपयोग के लिए पश्चिमी एशिया की प्रेरणा से ही ब्राह्मी का विकास करना पड़ा, अतः ब्राह्मी और हड़प्पा-लिपि में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस तरह इस समस्या पर विचार करने वाले विद्वानों के बीच खासा मतभेद उभर आया। हाल की खोजों ने इस मिथक को भी तोड़ दिया है कि हड़प्पा सभ्यता एक झटके में ही समाप्त हो गयी थी और अब यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि इसका

ह्रास क्रमिक था[5], अतः इसके साथ हड़प्पा-लिपि के लुप्त होने की बात निरर्थक है।

इसमें एक ओर तो वे विद्वान रहे हैं जो हड़प्पा सभ्यता को द्रविड़ सभ्यता मान कर इसकी लिपि के माध्यम से आद्य द्रविड़ पढ़ने की कोशिश में लगे रहे हैं। इनमें मुख्य रूप से हेरास[6], स्कैंडिनेवियाई पार्पोला दल[7], (रूसी) क्नोरोज़ोव दल[8] और इरावदम् महादेवन[9] का उल्लेख किया जा सकता है। इनकी इस मान्यता का सीधा आधार यह रहा है कि हड़प्पा सभ्यता भारत में आर्यों के प्रवेश से पहले की अनार्य सभ्यता है, अतः इसकी एक सम्भावना यह है कि यह द्रविड़ सभ्यता रही होगी। ये अध्येता लिपि को चित्र-लिपि या शब्द-रेखी (लोगोग्रैफ़िक) मानकर चले हैं और कुछ ने इसे शब्दाक्षरी (लोगोसिलैबिक) माना है।[10] इस तरह के पाठ में आसानी यह रहती है कि आप किसी चिह्न के पीछे छिपी उस मूल वस्तु का अनुमान लगायें और जिस भी भाषा को पढ़ना चाहें उसमें इसके लिए प्रयुक्त शब्द को इसमें पढ़ लें। इसके बावजूद इनमें से कोई भी अध्येता कुछ आरम्भिक अटकलबाज़ियों से आगे सफल नहीं हो सका[11], कारण; यदि चिह्न अनेक हों और उनको अलग-अलग क्रमों में पाया जाये तो इनको जो भी शब्द-मूल्य क्यों न दिया जाये, सर्वत्र इसमें संगति और प्रत्येक इबारत में इसका कोई बुद्धिग्राह्य अर्थ तो होना ही चाहिए।

हड़प्पा की भाषा आर्य भाषा नहीं होनी चाहिए, इसको हंटर भी मान कर चले थे, परन्तु उनके द्वारा लिपि का किया गया बिश्लेषण ऐतिहासिक महत्व का है। उनके कुछ निष्कर्ष तो बहुत ही विचारोत्तेजक हैं : "आप देखेंगे कि मैं फीनीशियन चिह्नों के साथ बूलर के कुछ समीकरणों को स्वीकार करता हूँ। पर ये ठीक वे ही मामले हैं जिनमें लगता है कि सम्भवतः फीनीशियन चिह्न खुद आद्य-भारतीय लिपि से व्युत्पन्न हैं और यह भी याद रखना होगा कि हमें जो लिपि उपलब्ध है वह सारी-की-सारी उत्खचित (मान्युमेंटल)—मुद्राएँ, मुद्रांक और सिक्के—है। बहुत सम्भव है कि इसके समानान्तर ही सामान्य उपयोग की कोई लिपि भी प्रचलित रही हो, जो एरण के सिक्के और अशोक के अभिलेखों से अधिक निकटता रखती रही हो।"[12] हड़प्पा लिपि और ब्राह्मी लिपि के सम्बन्धों पर वह लिखते हैं, "इस लिपि के खुले या व्यंजनान्त अक्षरों (ओपन सिलेबल) से ब्राह्मी की अर्धाक्षरी लिपि और सबाइयन का काफ़ी बड़ा अंश निकला है; कि इस बात की ख़ासी सम्भावना है कि फीनीशिया और साइप्रस की लिपियाँ भी इसी तरह आद्य-भारतीय की ही परिष्कृतियाँ हों।"[13]

हड़प्पा की भाषा को वैदिक मान कर पढ़ने का प्रयास करने वालों में प्राणनाथ,[14] स्वामी शंकरानन्द[15] व कृष्णराव[16] आदि के नाम आते हैं। हाल ही में एस. आर. राव ने अपनी पड़ताल के बाद यह नतीजा निकाला है कि इसकी

भाषा वैदिक से प्राचीन थी और यह भारोपीय की एक भिन्न शाखा रही हो सकती है, जिसकी भारतीय-ईरानी से निकटता रही हो सकती है।[17] ग़रज़ कि आर्य आक्रमण या आव्रजन की छाया इतनी गहरी है कि यह लेखक के अपने निष्कर्षों को भी बदलने की शक्ति रखती है।

हड़प्पा लिपि और ब्राह्मी के चिन्ह्नों में सादृश्य की खोज करने का एक प्रयत्न सुधांशुकमार राय द्वारा किया गया[18], जिसे स्वीकार्य नहीं पाया गया। डिरिंजर[19] और दानी[20] दोनों के बीच इसलिए कोई सम्बन्ध नहीं मानते कि प्राचीन भारतीय साहित्य में लेखन का कोई उल्लेख नहीं है। डिरिंजर[21] और दानी[22] दोनों मामूली हेर-फेर के साथ बूलर[23] की ही तरह ब्राह्मी को सामी लिपि से व्युत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं, जिसकी सीमाओं की ओर डॉ. एस. आर. राव ने अपनी पुस्तक में संकेत किया है। डॉ. राव ने हंटर के तर्क को फिर दुहराया है कि सामी लिपियों के कुछ वर्णों के साथ ब्राह्मी का साम्य इस कारण है कि सामी लिपियाँ स्वयं हड़प्पा लिपि से प्रभावित हैं और जिन मामलों में सामी और ब्राह्मी वर्णों में समानता पायी जाती है उनमें से अधिकांश चिह्न हड़प्पा की लिपि में हैं। इसके बावजूद वह इस बात की कुछ सम्भावना मानते हैं कि ब्राह्मी और खरोष्ठी पर कुछ सामी प्रभाव भी पड़ा हो सकता है और इस पर खोज की जानी चाहिए।[24]

ब्राह्मी को हड़प्पा लिपि से व्युत्पन्न मानने वालों में केवल हंटर, राय, और राव ही नहीं आते। ओझा[25], लैंगडन[26], स्मिथ[27], डी. सी. सरकार[28], राजबली पाण्डे[29], आदि भी इसी मत के हैं। पर डॉ. राव ने पहली बार इस बात को कुछ व्यवस्थित रूप में पेश किया है कि 2000 ई. पू. से 450 ई. पू. तक के दौर में भारत में लेखन के पुरातात्विक प्रमाणों का वैसा अभाव नहीं है जैसा कि सामान्यतः माना या बताया जाता है।[30] इसके बावजूद उन्होंने इन लिपि-चिह्नों को ब्राह्मी से जोड़ कर रखने के प्रलोभन से अपने को बचाया है और इसके लिए आगे शोध पर ज़ोर दिया है।

हमारे लिए यहाँ दो बातें महत्वपूर्ण हैं : पहली यह कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन था या नहीं और दूसरी बात यह कि हड़प्पा-काल से लेकर या, कहें, ऋग्वैदिक काल से लेकर अशोक के समय तक लेखन की परम्परा अक्षुण्ण रही है या नहीं ? क्योंकि जब तक हड़प्पा लिपि का सर्वमान्य पाठ नहीं हो जाता तब तक हड़प्पा लिपि को ब्राह्मी से जोड़ने का और हड़प्पा सभ्यता की अविच्छिन्नता को साबित करने का यही उपाय है।

हड़प्पा की अभिलिखित सामग्री क्षुद्र लेखों की है जिनका प्रयोजन भी सीमित था, पर इसके प्रसार-क्षेत्र में हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल, चान्हूदड़ो, कालीबंगाँ, कोटदीजी, निंदोवाड़ी, झूकर, अमरी, बालाकोट, देसालपुर, लोहुमजोदड़ो, सूरकोटडा, आलमगीरपुर, रोपड़, मीठाथाल, राखीगढ़ी, बनवाली, चंडीगढ़,

ढोलावीरा तथा भारत से बाहर के स्थलों में ऊर, किश, उम्मा, गिरसू, तेल अस्मर, तेपे गवरा, सूसा, बहरीन, फाइलका, हामा आदि आते हैं। सर्वत्र अभिलिखित सामग्री बहुत छोटी—1.25 : 1 से 5 : 5 सें.मी.—है। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं : पहला यह कि जहाँ लेखन का उपयोग मुहरों आदि के रूप में होता था और इन मुहरों का उपयोग माल की शिनाख्त और मुहरबन्दी आदि के लिए होता था[31] वहाँ लेखन यहीं तक सीमित नहीं रहा हो सकता। वस्तुत: मात्र शिनाख्त और मुहरबन्दी के लिए लेखन ज़रूरी भी नहीं था। यह काम चिह्नों से या उन आकृतियों से भी लिया जा सकता था जो इन मुहरों पर अंकित हैं। अत: सामान्य लेखन के लिए निश्चित रूप से क्षयिष्णु सामग्री का उपयोग होता था। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि हड़प्पा के अवशेषों में एक स्याही की दावात भी पायी गयी है।[32] दूसरी यह कि लिपि और लेखन का जो चलन भारतीय भूभाग में इतने व्यापक क्षेत्र में दिखायी देता है वह विकास की अगली मंज़िलों की ओर बढ़ कर अपना कलेवर तो बदल सकता है, पर लुप्त नहीं हो सकता। विद्या नगर और किला नहीं है जिसे आक्रामकों ने दख़ल कर लिया और वह हाथ से चली गयी। अत: यदि हड़प्पा-काल से अशोक के काल तक किसी चीज़ का अभाव है तो वह लेखन का नहीं, अपितु उन मुहरों आदि का और उन विशेष प्रयोजनों का है जिनके लिए इन मुहरों आदि का प्रयोग होता था और इसकी खोज हड़प्पा की अर्थव्यवस्था और वाणिज्य में आयी गिरावट में की जानी चाहिए। इसी के साथ इस तथ्य को भी जोड़ा जाना चाहिए कि मृद्भाण्डों आदि पर प्राप्त चिह्न लेखन होकर विशिष्ट चिह्न या लिपि-चिह्नों की अनुकृतिमात्र हैं जिनके पीछे कर्मकाण्डीय या धार्मिक तकाज़ों का भी हाथ रहा हो सकता है। कड़ों और अन्य उपकरणों के चिन्ह भी मुद्रिका आदि के चिन्हों के समान हैं जो लिपि में परिवर्तन के साथ समाप्त हो जाते हैं।

हड़प्पा लिपि में जो भाषा लिखी गयी है वह द्रविड़ नहीं हो सकती। कारण, शब्दरेखी या शब्दाक्षरी लिपि की दृष्टि से हड़प्पा के लिपि-चिह्नों की संख्या बहुत कम है और आक्षरिक लिपि मानी जाने पर, जो ही एक मात्र विकल्प है, इसकी संख्या संस्कृत के लिए भी समस्या पैदा करती है, फिर तमिल को ध्यान में रखते हुए द्रविड़ मूल की भाषा के लिए तो असाध्य हो जायेगी जिसमें वर्गों के घोष और महाप्राण वर्णों का अभाव अपेक्षित संख्या को बहुत घटा देता है। दूसरे, हड़प्पा लिपि के अनेक चिह्नों में असवर्ण संयोग बिलकुल स्पष्ट है, जब कि तमिल में असवर्ण संयोग होता ही नहीं। यही बाध्यताएँ रही हैं जिनके कारण हड़प्पा लिपि की भाषा को आद्य-द्रविड़ मानकर पढ़ने का प्रयत्न करने वाले विद्वानों का साहस इसे आक्षरिक या अर्धाक्षरी मानकर पढ़ने का नहीं हुआ है और शब्दाक्षरी मानने पर उनकी कठिनाइयाँ दोनों ओर से बढ़ जाती हैं—विकारी चिह्नों के लिए उन्हें कोई औचित्य नहीं दिखायी देता और वे पाठ में एक चिह्न पर अटकल लगाने

की खुली छूट लेते हैं, पर आगे बढ़ते ही लड़खड़ा जाते हैं। इसके विपरीत गैड, हंटर, लैंग्डन, राव आदि सभी ठोस कारणों से इसको अर्धाक्षरी मानते हैं।

एक रोचक बात यह है कि जिन विद्वानों ने भाषा को द्रविड़ माना है उन्हें भी दबे स्वर में वैदिक भाषा और वैदिक साहित्य का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरण के लिए, मुद्राओं पर अंकित आशयों की व्याख्या करते समय बोलचोक को निरन्तर वैदिक साहित्य का हवाला देना पड़ता है।[33] पार्पोला को हड़प्पा लिपि में ऊँ (ँ) और स्वस्ति के चिह्न। (卐) का दर्शन होता है[34], जिसे वैदिक परम्परा से अलग हट कर समझा ही नहीं जा सकता। महादेवन को हड़प्पा के एकशृंग वृषभ में तो सोम की छाया दिखायी देती ही है, उन्हें इसके पात्रों में भी वैदिक पात्र और लिपि-चिह्नों में भी सोम के विषय में उपलब्ध वैदिक विवरणों का असर दिखायी देता है।[35]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हड़प्पा लिपि के विषय में भले डॉ. राव के वाचन को स्वीकार किया जाये या नहीं, इसकी भाषा किसी भी दृष्टि से विचार करने पर वैदिक सिद्ध होती है और इस लिपि की परम्परा ब्राह्मणी तक आती प्रतीत होती है। डॉ. पाठक के अनुसार बेट द्वारका के निकट चल रही खुदाइयों से मिलने वाले लेखों में प्रयुक्त लिपि हड़प्पा और ब्राह्मी के अन्तर्वर्ती चरण या संक्रमण-काल की लिपि को स्पष्ट करते हुए इस कड़ी को पूरा करने का काम कर रहे हैं।[36]

संक्षेप में कहें तो, हड़प्पा लिपि आक्षरिक थी जिसमें कुछ शब्दाक्षरी चिह्न, जो इसके पूर्ववर्ती चरणों के अवशेष प्रतीत होते हैं, प्रचलित थे। यह ध्यान में रखना होगा कि हम आज भी एक पूरे विचार या शब्द के लिए एक संकेत चिह्न का प्रयोग करते हैं, जैसे गणित आदि के चिह्न। इस तरह वर्णिक या अर्धाक्षरी लिपियों की तुलना में इसके संकेत-चिह्नों की संख्या बहुत अधिक थी और इसके बावजूद यह वाणी को यथातथ्य प्रस्तुत करने की दृष्टि से निर्दोष नहीं थी और लिखित वाक्यों का सही उच्चारण करने में किसी गुरु के सान्निध्य में रह कर इसका अभ्यास ज़रूरी था और ज़रूरी था कण्ठस्थ पाठ पर अपेक्षाकृत अधिक भरोसा। कहें, लेखन स्मृति में सहायक तो था, पर अकेले लेखन के आधार पर किसी कृति का निर्दोष पाठ सम्भव नहीं था। परन्तु एक सीमित रूप में ही सही, क्या अरबी, हिब्रू आदि वर्णिक लिपियों तक पर यही बात आज तक लागू नहीं होती?

3

भारत की जातीय परम्परा में लेखन के प्रमाण

भारतीय साहित्य में और भारतीय परम्परा में लेखन के प्रमाणों का अभाव

नहीं है, इनका सही मूल्यांकन करने में अवश्य भूल की गयी है। विविध स्रोतों से उपलब्ध इन साक्ष्यों को हम निम्न रूप पाते हैं :

1—कुछ पर्वों और अवसरों पर, यथा—करवा चौथ, गोबर्धन पूजा, कोहबर, आज भी हड़प्पा-काल से भी बहुत पुरानी चित्रलिपि या चित्रकथन की शैली के अवशेष देखे जा सकते हैं। इनमें एक पूरी कथा या वृत्त को एक फलक बना कर उसके भीतर चित्रों के माध्यम से प्रकट किया जाता है। यह कथा इन चित्रों के सहारे किसी महिला द्वारा बनायी जाती है और इसे रैखिक संकेत और मौखिक विवरण के दुहरे माध्यमों का एक साथ उपयोग करते हुए हस्तान्तरित किया जाता है। यह पद्धति केवल महिलाओं तक क्यों सीमित रह गयी, इसका कारण यह है कि शिक्षा से वंचित होने के कारण महिलाएँ भावाभिव्यक्ति की उस प्राचीन शैली से ही चिपकी रह गयीं जब कि पुरुष-समाज लिपि में निरन्तर होते रहने वाले परिवर्तनों और संशोधनों से लाभान्वित होता हुआ, इस पुराने और दोषपूर्ण माध्यम को छोड़कर आगे बढ़ गया। महिलाओं के बीच भी इसका निरन्तर स्खलन ही होता गया है।

2—भारत के कुछ गुह्य सम्प्रदायों, जैसे तान्त्रिकों, में एक गूढ़ संकेत-लिपि का प्रचलन आज तक बना हुआ है जिसे भी हड़प्पा-काल से भी पहले से चले आ रहे शब्दरेखन का अवशेष मानना होगा। इस तरह के बहुत-से संकेत—जैसे स्वस्तिक, ऊँ—इन सम्प्रदायों से बाहर भी प्रयोग में आते हैं। हड़प्पा लिपि में भी इनके अवशेष विद्यमान हैं।

3—ऊपर के इन चिह्नों में से कुछ का क्रमशः अक्षरीकरण हो गया था। इनको बीजाक्षर कहा जाता रहा है और इनके संकेतों को समझने के लिए सूत्रों का सहारा लेना पड़ता था। इनकी एक सीमा यह थी कि एक ही चिह्न अनेक अक्षरों या ध्वनियों का सूचक हो सकता था और एक ही ध्वनि के लिए अनेक चिह्नों का उपयोग हो सकता था। किसी ज्ञान को गुह्य रखने के लिए यह एक अनूठा तरीका था जिसमें एक साधारण-सी बात को समझने के लिए ख़ासी माथापच्ची करनी पड़ सकती थी और इसके बावजूद मतभेद की गुंजायश बनी रह सकती थी। इसे विहित सूत्रों के सहारे पढ़ने के बाद गुरु की सहायता से ही अर्थ और उच्चारण को सुनिश्चित किया जा सकता था। स्वामी शंकरानन्द ने इस शैली का बहुत सुन्दरता से प्रतिपादन किया है और उनका ख़याल है इनमें से कुछ चिह्न हड़प्पा-काल में प्रचलित थे[37], भले इनका ध्वनिमूल्य कुछ भिन्न रहा हो।

4—भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मा जन्म से पहले ही व्यक्ति का भाग्य उसके भालपट्ट पर एक गूढ़ लिपि में टाँकी से लिख देते हैं। व्यक्ति के कर्मों का हिसाब यमराज के महाभिलेखाधिकारी चित्रगुप्त लिखते रहते हैं जिनका नाम—चित्र-गुप्त—बहुत रोचक है। यह हड़प्पा-काल से भी पहले से चित्र-लिपि में लेखन

के प्रचलन और इसके गूढ़ होने का भाव अपने भीतर जिलाए हुए है। इन दोनों तथ्यों से लेखन के आविर्भाव और इसके स्वरूप के विषय में निम्न सूत्र हासिल होते हैं : 1—लेखन-सामग्री के रूप में कभी पट्टियों का प्रयोग भी होता था; 2—स्थायी प्रकृति के लेखन में यन्त्र के रूप में छैनी का भी प्रयोग होता था, क्योंकि ब्रह्मा भाग्य लिखते नहीं, टाँकते या टाँकी से उकेरते हैं; 3—उक्त लेखन चित्रलिपि या गूढ़ लिपि में था जिसे सभी नहीं पढ़ सकते; और, 4—लेखन का विकास हिसाब-किताब रखने की बाध्यता से किया गया था, न कि वेदों को सुरक्षित बनाने के लिए। इसका नाम उस काल में भी ब्राह्मी ही था, यह भारत की जातीय स्मृति में ब्रह्मा के लेख की कल्पना के रूप में आज तक सुरक्षित है। लिपि के जिन चरणों की एक-एक विशेषता याद रह गयी है वह एकाएक लुप्त हो गयी, यह अकल्पनीय है। इसका निरन्तर विकास होता रहा और इसी ने भारतीय लिपियों को जन्म दिया, यही एक मात्र निष्कर्ष इन सबसे उभर कर आता है। इसे पुनः संक्षिप्त रूप में रखें तो, ब्राह्मी सम्भवतः ब्राह्म की लिपि या टंकलिपि के लिए प्रयुक्त शब्द था और आगे भी हम इसे अशोककालीन टंकलिपि में ही पाते हैं। सामान्य लेखन में प्रयुक्त लिपि इससे किंचित भिन्न रही हो सकती है।

इस सामान्य स्थिति के स्पष्ट हो जाने के बाद अब हम वैदिक साहित्य में पाये जाने वाले साक्ष्यों पर विचार कर सकते हैं।

4

वैदिक साहित्य में लेखन के प्रमाण

मैक्समूलर के इस कथन का प्रतिबाद करते हुए कि वैदिक सूक्तों में स्याही या कलम आदि का उल्लेख नहीं है, गोल्डश्टकर ने लिखा था, "वैदिक सूक्तों का उद्देश्य यह बताना नहीं है कि आर्यों को कलम और स्याही का ज्ञान था; इसलिए यह मात्र एक संयोग की ही बात हो सकती है कि इस तरह के किसी नीरस उपादान का इनमें उल्लेख आ जाये।"[38] और फिर उन्होंने उस अकादमिक ग़ैरईमानदारी की चर्चा की थी जिसके चलते मैक्समूलर एक ओर तो पटल शब्द को लेखन का सूचक मानते हैं क्योंकि इसका उल्लेख सूत्रों में आया है, पर काण्ड जो लिखित वस्तु के उपखण्डों का द्योतक है और ग्रन्थ को जो मान्य रूप में पुस्तक के लिए ही प्रयोग में आता रहा है और आया है, लिखित ग्रन्थों के अस्तित्व का सूचक नहीं मानते। श्रुति शब्द पर तो इतना बल देते हैं कि इसके आधार पर यह मान लेते हैं कि यह इस बात का द्योतक है कि वेदों को श्रुत परम्परा से ही हस्तान्तरित किया जाता था, पर वेदों में ही वाणी को देखने के जो उल्लेख आये हैं उनको

लेखन का सूचक न मान कर सुझाते हैं कि 'देखना' समझने के अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है।[39] वास्तविकता यह है कि लेखन और पठन तथा लेखन-सामग्री के लिए आज तक प्रयुक्त कोई शब्द ऐसा नहीं है जिसका वाचिक अर्थ करते हुए उसको लेखन का असन्दिग्धप्रमाण मानने से इनकार न किया जा सके। अत: प्रश्न प्रयोगों का नहीं, अपितु समग्रता का और इनके साथ जुड़ी मानसिकता का है। वैदिक साहित्य में लेखन के प्रचलन के निम्न प्रमाण देखे जा सकते हैं :

—ब्राह्मण ग्रन्थों का विभाग करते हुए काण्ड, प्रपाठक और अध्याय तथा खण्डों[40] का उल्लेख आता है। यदि यह मान भी लें कि अध्याय का अर्थ 'चैप्टर' नहीं था और इसका प्रयोग एक दिन के अध्ययन के लिए निर्धारित सामग्री से था तो भी खण्ड, काण्ड, प्रपाठक का अर्थ इतना खींच-तान कर नहीं लिया जा सकता। ये लिखित ग्रन्थों के ही विभाग और उपविभाग हो सकते हैं। अन्य किसी भी रीति से इन नामों का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। मौखिक रूप में भी एक दिन का पाठ विभिन्न शिक्षकों, पाठशालाओं और पीढ़ियों में वही बना रहे और वह भी तब जब इनका आकार भी भिन्न हो, लिखित रचना के अभाव में असम्भव था।

2—शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर तीन चित्तियों वाले साही के काँटे को तीनों विद्याओं या तीनों वेदों का रूप माना गया है।[41] साही का काँटा कलम के रूप में प्रयोग में आता रहा है और इसका यह प्रयोग न तो केवल प्राचीन काल तक सीमित था, न ही प्रसार केवल भारत तक। यह निर्विवाद रूप से उस समय प्रयोग में आने वाली लेखनी का सूचक है। अन्यथा केश-वपन के समय ताँबे के उस्तरे के साथ साही के काँटे का और मुड़े हुए सिर पर इसके स्पर्श से तीनों विद्याओं से मुंडित व्यक्ति को सम्पन्न करने का कोई अर्थ नहीं।[42]

3—शतपथ ब्राह्मण और काठक संहिता आदि में वाणी को लिपिबद्ध करने के स्पष्ट उल्लेख हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अषाढ़ेष्टिका निर्माण में उखा बनाने के बाद यजमान विश्वज्योति इष्टकों का, अर्थात् अग्नि, आदित्य और वायु की इष्टकों का निर्माण करता है। इनका निर्माण वह उसी मिट्टी से करता है जिससे उखा या यज्ञ पात्र बनाया है और इस तरह वह इसी दुनिया से इन देवताओं को पैदा करता है। इनको त्रिलिखित करता है। विश्वज्योति इष्टका वाणी है। त्रिलिखित करने के बाद वह वाणी को महिषी (महिमावान) बना देता है, आदि।[43] एगलिंग को या उनके समय के किसी अध्येता को इन इष्टकों का, इन पर बनने वाली देवाकृतियों का, इन पर लिखी जाने वाली वाणी का कोई अर्थ समझ में नहीं आ सकता था, पर अब हड़प्पा की मुहरों को, विशेषत: मिट्टी की बनी मुहरों को सामने रखने पर स्थिति स्पष्ट हो जायेगी और शायद इसी से कुछ भाण्डों पर, जैसे उखा पर हुए रेखांकनों का अभिप्राय भी समझ में आ जायेगा। आप पूरे विश्वास

से इन मुहरों के कम-से-कम एक उपयोग का निश्चय कर सकते हैं और यह भी समझ सकते हैं कि इनको मुद्रा न कहकर इष्टक कहा जाता था, विश्वज्योति इष्टक —या ज्ञान-प्रकाशक इष्टक। डॉ. विश्वम्भरशरण पाठक ने इस विषय में कुछ बहु-मूल्य सुझाव दिये हैं और उनके अनुसार सामान्य मुद्राओं को रिप्र कहा जाता था।[44]

यहाँ प्रश्न कालक्रम का उठाया जायेगा। पर यह ध्यान में रखना होगा कि शतपथ ब्राह्मण ताम्रकालीन रचना है। इसके यजमान का केश-वपन ताँबे के छुरे से किया जा रहा है और यदि लोहे का व्यापक प्रचलन उस काल तक हो चुका होता तो कम-से-कम केश-वपन के लिए प्रयुक्त छुरा अवश्य लोहे का ही होता। इसके अतिरिक्त कुछ अध्येता बहुत आग्रहपूर्वक और कतिपय ठोस तर्कों के आधार पर यह सुझाते रहे हैं कि शतपथ ब्राह्मण तथा कल्प सूत्रों में से कुछ का रचना-काल आज विद्वानों को मान्य काल से कम-से-कम एक हज़ार वर्ष पीछे जाता है।

4—काठक संहिता में तो स्पष्टतः ऋग्वेद की तीन ऋचाओं को लिखने का उल्लेख यज्ञ के प्रसंग में आया है।[45] लिखने का अर्थ अनुवादक रेखा बनाना करते रहे हैं, पर जहाँ गायत्री और अनुष्टुप आदि छन्दों में ऋग्वेद की निश्चित ऋचाओं को विशेष प्रयोजन से लिखने का प्रश्न आये या जहाँ, जैसा कि शतपथ के ऊपर लिखे ब्राह्मण में वाणी को ठीक हड़प्पा जैसी इष्टकाओं पर देवाकृतियाँ बना कर लिखने की बात आये वहाँ लिखने का तात्पर्य क्या हो सकता है, इसके विषय में किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। काठक संहिता में सरस्वती के प्रति भक्ति-वान होने और उसे प्रमा और प्रतिमा आदि द्वारा ग्रहण करने का भी उल्लेख है।[46] यह पुनः हड़प्पा की मुहरों की देवाकृतियों को समझने की दृष्टि से एक सार्थक संकेत है।

5—अथर्ववेद में एक स्थल पर, यद्यपि इसे सम्भवतः इसी कारण से कुछ विद्वानों ने बाद का माना है, कोश या पेटिका से निकाल कर वेद का पाठ करने और फिर इसे सँभाल कर रखने का ज़िक्र आया है।[47] कोश अर्थात् पेटिका में बड़े आकार के ग्रन्थों को सँभाल कर रखने का प्रचलन पुराना है और इसी कारण पिटक और कोश विशाल आकार के ग्रन्थों के पर्याय बन गये। संहिता शब्द भी मोटे तौर पर यही अर्थ रखता है और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद की संहिताएँ एकत्र संचित करके रखी गयी पुस्तकों की द्योतक हैं। कहें, लिखित रूप में आये बिना इनके लिए संहिता शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता था।

5
ऋग्वेद में लेखन के प्रमाण

ऋग्वेद में पाये जाने वाले लेखन के प्रमाणों को तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है : परिस्थितिजन्य, सम्भावनापरक और निर्णायक। परन्तु पहले यह देखना ज़रूरी है कि 'श्रुति' शब्द का क्या अर्थ है, जिसके कारण यह माना जाता रहा है कि वैदिक साहित्य का हस्तान्तरण श्रुत परम्परा से ही होता रहा है। वेद को श्रुति मानने के पीछे जो सम्भावित कारण हो सकते हैं वे निम्न हैं :

1— वेदों की रचना जिस सामग्री के आधार पर हुई थी वह श्रुत परम्परा से वैदिक कवियों को प्राप्त थी। वेदों में स्वयं प्राचीन काल से चली आ रही इन श्रुतियों[48] का उल्लेख है और साथ ही गाथाओं और पुराणों का भी उल्लेख है।[49] ऋग्वेद में ऐसी अनेक कथाओं और घटनाओं के नितान्त सांकेतिक हवाले आये हैं जिनको पुराणों आदि में कुछ विस्तार से बताया गया है।[50] बाद की परम्परा भी यह मानती है कि इनिहास और पुराणों से ही वेदों का सम्यक विवेचन हो सकता है, जो भी इस बात का सूचक है कि वैदिक रचनाकाल में पहले से चली आ रही इन कथाओं का प्रचलन तो था ही—और प्रचलन भी इस सीमा तक था कि किसी रचना में आये संकेत मात्र से पाठक पूरी कथा को समझ सकता था—बाद में भी ये रचनाएं या कथाएँ स्वतन्त्र रूप में, सम्भवतः कुछ विकृत और रूपान्तरित होती हुई चलती रहीं और इसलिए ऋग्वेद के इन संकेतों को समझने के लिए इन कथाओं या पुराणवृत्तों से परिचित होना ज़रूरी माना गया था। ब्लूमफ़ील्ड के अनुसार ऋग्वेद के प्राचीनतम अंश भी बहुत प्राचीन काल से चली आ रही अपने ढंग की रचनाओं की अन्तिम अभिव्यक्ति हैं।[51] अतः ऋग्वेद के श्रुत और लिखित रूपों में फ़र्क कर लेना उचित है।

2—ऋग्वैदिक काल की लेखन-प्रणाली उस पूर्णता को नहीं पहुँची थी कि यह भाषा को अविकल और निर्दोष रूप में प्रस्तुत कर सकती। ऋग्वैदिक भाषा जिसको मन्त्र का-सा महत्व प्राप्त था, जिसकी ऋचाओं को अस्त्र के रूप में प्रयोग में लाते हुए इष्टसिद्धि की जा सकती थी और उच्चारण में स्वर, वर्ण-प्रयोग आदि की दृष्टि से कहीं भी चूक होने पर अनिष्ट हो सकता था, एक इतनी विकसित और निर्दोष लिपि की माँग करती थी जैसी कोई लिपि आज तक न तो बन सकी, न ही शायद सम्भव है। अतः इसका सम्यक बोध केवल लिपि के माध्यम से सम्भव नहीं था और इसलिए लिपि मात्र स्मृति में सहायता का काम करती थी, वास्तविक पाठ गुरु के सान्निध्य में सही और शुद्ध उच्चारण के द्वारा ही सीखा जा सकता था। काठक संहिता में ऋग्वेद के मन्त्रों को लिखने का उल्लेख इस बात के खण्डन के लिए पर्याप्त है कि वेद लिखा ही नहीं जाता था, यद्यपि धार्मिक उत्साह में सामान्य

व्यक्तियों द्वारा इसके लेखन पर प्रतिबन्ध लगा रहा होगा। वास्तव में महाभारत आदि में वेद को लिपिबद्ध करने को पाप बताने से भी वेद का लेखन प्रमाणित होता है। जिसका प्रचलन ही न हो उसका निषेध कैसे हो सकता है ? इसके अतिरिक्त वेद-विक्रयी को महाभारत में 'निरयगामी' नरकगामी कह कर कोसा गया है जो वेद के लेखन का ही नहीं, लिखित पुस्तकों के विक्रय को भी प्रकट करता है।

अब हम ऋग्वेद में उपलब्ध प्रमाणों पर विचार कर सकते हैं :

परिस्थितिजन्य—1—ऋग्वेद का साहित्य जितना विशाल है और इसे जितने अविकल रूप में सुरक्षित रखा जा सका है वह लेखन के अभाव में असम्भव है।

2—एक ही ऋचा को जब-तब कई बार अनेक सूक्तों में अन्त में दुहराया गया है। पाण्डुलिपि के अभाव में केवल स्मृति पर निर्भर रहने पर इनको—प्रथम सम्पादकों द्वारा या कण्ठस्थ करने वालों द्वारा किसी एक स्थल या एक सूक्त से सम्बन्धित मान कर शेष से हटा दिया गया होता। लिखित रूप में परिरक्षित होने पर ही सम्बन्धित रचनाकार की अपनी योजना के अनुसार उसकी समस्त रचनाओं के अन्त में इनको रखा जा सकता था। यह आवर्तिता एक कवि की अपनी रचनाओं तक सीमित नहीं है, अपितु पूरे कवि समाज में प्रयोग रूढ़ियों, काव्य रूढ़ियों और मुहावरों तथा पद्यांशों के प्रचलन के कारण ग्राह्य और मान्य है।[52]

3—ब्राह्मणों आदि में ऋग्वेद की जिन ऋचाओं के उद्धरण आते हैं उनमें सूक्तों का क्रम नहीं निभाया जाता। विभिन्न क्रमों में प्रयोग में आते रहने वाले अंशों का एक और अविकल क्रम किसी पुस्तक में लेखन के अभाव में नहीं बना रह सकता था।

4—मौखिक क्रम से चलती रहने वाली रचनाओं में वह कसाव और भाषा का निखार नहीं पाया जाता जो ऋग्वैदिक रचनाओं में पाया जाता है।

5—विषयवस्तु की दृष्टि से मौखिक रचनाएँ भावप्रधान अथवा वर्णनात्मक होती हैं। उनमें वैसी सघन वैचारिकता नहीं पायी जाती जो ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों में पायी जाती है। कभी-कभी तो एक-पर-एक अनेक ऋचाएँ और पूरे-के-पूरे सूक्त मात्र विशेषणों, क्रियाओं या पर्यायों से ही पूरे हो जाते हैं। कथा-सूत्र जहाँ आते भी हैं वहाँ मात्र एक संकेत दे कर गुजर जाते हैं, जो मौखिक रचनाओं की नहीं अपितु लिखित रचनाओं की विशेषता है। ऐसी रचना दूसरे किसी को तो दूर स्वयं रचनाकार को भी रचना के क्षण के तुरन्त बाद लिख न ली जाने पर भूल जायेगी। किसी दूसरे को तो कोई तब कण्ठस्थ कराये जब रचनाकार को वह स्वतः केवल स्मृति के बल पर कण्ठस्थ रह सके।

6—वैदिक भारतीयों का बहुत निकट सम्पर्क प्राचीन तुर्की—हित्ती व

मितन्नी के अभिजातवर्ग और राजकुलों—से था और बोगाज़कुई आदि से प्राप्त अभिलेख पूरे भारोपीय परिवार में यदि किसी की भाषा और साहित्य से इसका अनन्य सम्बन्ध प्रकट करते हैं तो वह भारतीय ही हैं, जिसके कारण यह माना जाता रहा है कि या तो भारत्त में आने वाली शाखा तुर्की से आयी थी (गाइल्स, ग्रियर्सन चाटुर्ज्या) या भारत में आने वाले आर्यों में से कुछ को यहाँ से पराजित हो कर या अन्य किसी कारण से लौट कर उक्त क्षेत्र में जाना पड़ा (कोसम्बी), यद्यपि इस मान्यता के दूरागत आशयों को ध्यान में रख कर कुछ विद्वान किसी तीसरी सम्भावना का सुझाव रखते हैं। यदि भारतीय शाखा तुर्की से आयी थी तो वह निरक्षर नहीं रह सकती थी, क्योंकि वहाँ लेखन का प्रचलन था और इसके सबसे-परम्परासजग और प्रबुद्ध लोग भारत में ही दिखायी देते हैं। यदि वे भारत से वहाँ पहुँचे थे (याकोबी) तो भी उनका लिपि और लेखन से अपरिचय सम्भव नहीं था, क्योंकि इस काल तक भारत में हड़प्पा लिपि का व्यापक प्रचार था जिसकी इन मेधावियों को आवश्यकता थी ही।

7—कुछ विद्वानों ने, जैसा कि हम पहले देख आये हैं, तथाकथित आर्य-आगमन का मार्ग सुमेरिया, बेबीलोनिया आदि से होते हुए कल्पित किया है और वे यह भी मानते हैं कि आर्यजन अत्यन्त संवेदनप्रवण थे और किसी भी समाज से उसका सर्वोत्तम ग्रहण करने की दृष्टि से खुले हुए थे। ऐसी स्थिति में भी वे वहाँ प्रचलित लेखन से अनभिज्ञ नहीं रह सकते थे।

8—ईरान में, जिधर से उनके आने की एक अन्य सम्भावना मानी जाती रही है, हर्जफील्ड के अनुसार स्वर्ग में मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्मों का लेखा रखने का ठीक वैसा ही विश्वास रहा है[52] जैसे भारत में यमराज के यहाँ चित्रगुप्त द्वारा। स्वर्गीय लेख को, हर्जफील्ड ने प्राचीन ईरानियों के बीच लेखन के प्रचलन का प्रमाण माना है। ग़रज़ कि आर्यों को ईरान से भारत में आया हुआ मानने या भारत से ईरान पहुँचने के दोनों विकल्पों में से किसी को मान कर चलने पर भी भारतीय आर्यों को लेखन से अपरिचित मानने का कोई तुक नहीं था।

इस तरह हम पाते हैं कि परिस्थितिगत साक्ष्य अपने समग्र दबाव से स्वयं वैदिक भारत में लेखन के प्रचलन का अकाट्य प्रमाण बन जाते थे, पर इनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सम्भावनापरक प्रमाण—इस कोटि में उन प्रमाणों को रखा जा सकता है, जिनसेइस बात का किंचित् आभास मिलता है कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन था। दूसरे शब्दों में कहें तो, जो लेखन की सूचना तो देते हैं, पर जिन्हें अभी निर्विवाद और निर्णायक नहीं माना जा सकता। ये निम्न प्रकार हैं :

1—ऋषि मन्त्र-द्रष्टा हैं। वे मन्त्रों का साक्षात्कार कर सकते थे। दूसरे शब्दों में कहें तो, वे पढ़-लिख सकते थे। वेद तो सृष्टि के आदि से या जातीय स्मृति के

आदि से श्रुत परम्परा से चले आ रहे थे। उन्हें लिपिबद्ध करने और पढ़ सकने और इस आधार पर स्वयं रचना कर सकने वाले कवियों को ऋषि कहा गया।

2—ऋग्वेद में प्रयुक्त पर्यायों का जो संकलन यास्क ने किया है उसमें वाणी के 57 पर्याय दिये गये हैं।[53] इनमें अधिकांश वाचिक भाषा से सम्बन्धित हैं। पर कुछ का नामकरण लेखन के लिए प्रयुक्त साधनों के आधार पर किया गया लगता है, जैसे वाण, वाणीची, वाणी, वाशी, सर, नाड़ी, कशा, पवि और सुपर्णी। लिखने का एक साधन सरकण्डा रहा है जिसके लिए नाड़, सर, वाण आदि शब्दों का प्रयोग होता रहा है। सरकण्डे से ही तीर बनाया जाता था, इसलिए उसके लिए भी वाण और सर का प्रयोग हुआ है। इसी के लेखन-यन्त्र या लेखनी के लिए प्रयोग में आने के कारण सम्भवतः वाक् के पर्यायों में वाण, वाणीची, नाड़ी, वाणी, सर आदि का प्रयोग मूलतः लिखित और बाद में वाणीमात्र के लिए होने लगा। इसी सर से सरस्वती या वीणा-पुस्तकधारिणी वाग्देवी का विकास हुआ लगता है, जो अपने नाम की नदी के नाम से वैदिक काल में ही अभेद कायम कर चुकी है। इसी तरह वाशी भी एक यन्त्र का नाम है, जिसके आकार-प्रकार के बारे में कुछ स्पष्ट पता नहीं चलता। पर यह पत्थर और लोहे दोनों की बनी होती थी। भाषा के लिए वाशी का प्रयोग भी सम्भवतः इस यंत्र का लेखन में, वस्तुतः टंक-लेखन में, प्रयोग होने के कारण सम्भव लगता है। इसी तरह वाक का एक पर्याय कशा है। कशा की व्युत्पत्ति देते हुए यास्क कुछ विकल्प सुझाते हैं जिनमें से एक है 'कृष्यतेः वा अणूभावात्' और पाणिनि के अनुसार कृष् का अर्थ है विलेखन। 'पवि' का वाणी के लिए प्रयोग 'सुपर्णी' की तरह लेखन-सामग्री—पत्थर और भोजपत्र—के कारण प्रचलित हुआ लगता है।

निर्णायक प्रमाण—ऋग्वेद में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे लेखन के प्रचलन की अकाट्य पुष्टि होती है। इनमें से कुछ की ओर विद्वानों ने इससे पहले भी ध्यान आकृष्ट किया था, पर इन्हें बद्धमूल आग्रहों के कारण खारिज किया जाता रहा। कुछ की ओर पहले समुचित ध्यान नहीं दिया जा सका। ये निम्न प्रकार हैं :

1—ऋग्वेद 3.53.15 व 16 में विश्वामित्र द्वारा जमदग्नि से ससर्परी वाक प्राप्त करने का उल्लेख आया है।[54] इससे इसके जिन कुछ लक्षणों का पता चलता है वे हैं, अज्ञान को दूर करने की इसकी क्षमता, इसके द्वारा देवताओं की कीर्ति को अमर बनाने की सम्भावना, इसका सूर्य की दुहिता या व्यक्त रूप में होना, इसका सर्पणशील होना, इसके द्वारा शीघ्र ही ज्ञान-भण्डार का बढ़ना, इसका पक्ष्या (या पक्ष द्वारा-लिखित) होना, इसके माध्यम से वाणी का नयी आयु प्राप्त करना या उसकी अतिजीविता का बढ़ जाना, या जैसा कि पहली ऋचा से व्यक्त है, वाणी का अजर-अमर हो जाना, और इसका व्यक्ति-विशेष के माध्यम से अर्जित किया जाना। लेखन का इससे अधिक निर्णायक प्रमाण क्या हो सकता है? ससर्परी शब्द की

व्याख्या करते हुए सायण इसे 'सर्वत्र शब्द-रूप-तया सर्पणशीला वाक्' और 'सर्वत्र गद्य-पद्यात्मकत्वेन सर्पणशीला वाग्देवता' बताते हैं। शौनक ने ससर्परी को स्पष्टत: ब्राह्मी कहा है।[55]

2 – ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर पूषा से इस बात का अनुरोध किया गया है कि वह पापियों के वज्र कठोर हृदय पर आरा या धातु की नोक वाले लेखन-यन्त्र से प्रेम-भाव लिख कर उनको सदाशय और प्रेमयुक्त बना दें।[56]

3—ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर वाणी को देखने का, या अज्ञान और निरक्षरता के कारण देखते हुए भी न देख पाने के विवरण आते हैं। इनमें लेखन की या लिपिबद्ध साहित्य के अस्तित्व की अकाट्य पुष्टि होती है।[57]

4—अनेक स्थलों पर गुहा या गूढ़ संकेतों में नाम आदि को धारण करने वाले अग्नि या ज्ञान के देवता का ज़िक्र आता है और यह लिपि की प्रकृति को व्यक्त करता है।[58]

5—एक स्थल पर कपोत को निर्ऋति का दूत कहा गया है।[59] कपोत जैसे निरीह पक्षी के विषय में इस प्रकार की उक्ति क्यों? जन-सामान्य में आज तक यह विश्वास क्यों कि घर में कबूतर का बोलना अशुभ होता है? इसका एक ही समाधान दिखायी देता है कि कबूतर प्राचीन काल में सन्देश भेजने के लिए उपयोग में आते रहे हैं। इनका सहारा निश्चय ही आपात-कालीन स्थितियों में ही लिया जाता रहा होगा। संचार के त्वरित माध्यमों के प्रति इस प्रकार की आशंका इस शताब्दी तक बनी रही है और गाँवों में तार को आज भी किसी अशुभ समाचार का ही सूचक माना जाता है। अत: कपोत के विषय में इस वैदिक धारणा के पीछे केवल यही बात हो सकती है कि वैदिक काल में भी कबूतरों के माध्यम से संवाद भेजे जाते थे। पर कबूतर का इस रूप में तभी उपयोग हो सकता था जब कि लेखन के लिए सुवाही सामग्री का उपयोग किया जाता रहा हो, ताकि समाचार को लिख कर सन्देशवाहक कबूतर के गले या टखने में बाँधने के बावजूद इसके उड़ने में किसी तरह की रुकावट न पैदा हो।

अब यदि ऊपर के विवरणों के आधार पर हम वैदिक काल में लेखन के प्रचलन और लिपि के स्वरूप तथा लेखन-सामग्री आदि के विषय में उपलब्ध सूचनाओं को सूत्रबद्ध करना चाहें और इसको हड़प्पा सभ्यता की लिपि और लेखन को समझने के लिए निर्देशक संकेत मानना चाहें तो हम पायेंगे कि ये दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं और एक के अभाव में दूसरे का सही मूल्यांकन असम्भव है। दूसरे शब्दों में कहें तो, ऋग्वैदिक काल में लेखन का सन्तोषजनक प्रचार था, पर इसके बावजूद साक्षरता की दर बहुत ऊँची नहीं थी और ज्ञानार्जन का प्रमुख साधन—सम्भवत: पुस्तकों की स्वल्पता आदि के कारण— मौखिक परम्परा ही थी। जैसा कि विश्वामित्र के प्रसंग में जमदग्नि से प्राप्त अक्षर-ज्ञान की कथा से प्रकट होता है, बहुत

सम्भव है, इसे एक गुप्त विद्या बना रखा गया था जिसे विशेष मामलों में योग्य और प्रिय शिष्यों को ही सिखाया जाता था। लेखन पत्थरों या कठोर लेखन-सामग्री के ऊपर नुकीले और ख़ास तौर से धातु की नोक वाली लेखनी से किया जाता था। पर लेखन के लिए सामान्य रूप में व्यवहृत होने वाली सामग्री ताड़पत्र, भोजपत्र और चमड़ा आदि ही था, जिन पर साही के कांटे से या सरकण्डे की कलम से या पक्षियों के पंख के मूल से लिखा जाता था। लिपि बाद के कालों की भाँति सुव्यवस्थित नहीं थी या, कहें, एक प्रकार की गूढ़ लिपि थी जिसके संकेतों में विकारी चिह्नों का भी प्रयोग होता था। लेखन के लिए कर्षण और रेखन शब्दों का व्यवहार होता था। लेखनी के लिए प्रयुक्त शब्द थे—आरा, वाण, वाणी, सर, सलली आदि। याज्ञिकीय प्रयोजनों से रक्षा और इष्टसिद्धि के लिए इष्टकाओं का उपयोग होता था, जिन पर देवताओं के प्रतीकों का अंकन होता था और साथ ही ऋग्वेद की कुछ विशेष महत्व की ऋचाओं के आरम्भिक या संगत अंश अंकित किये जाते थे और इन्हें यज्ञ के अवसर पर यज्ञकुण्ड में भी पकाया जाता था। सम्भवतः याज्ञिकीय पात्रों पर भी इसी तरह कुछ रेखांकन होते थे। लेखन की यह परम्परा अकुण्ठित रूप में वैदिक काल से लेकर बाद तक जारी रही। इसकी सुस्थिर वर्ण-माला का निर्धारण वैदिक काल के अन्तिम चरणों में कभी किया गया और उसी समय स्वर-व्यंजन आदि के भेद और वर्णों के क्रम का निर्धारण किया गया। इस बात की सम्भावना दिखायी देती है कि सामान्य लेखन में उस टंक-लिपि के किसी अधिक आशुलेख्य रूप का व्यवहार होता था और खरोष्ठी के विकास में इसका हाथ रहा लगता है। टंक-लिपि को ब्राह्मी और लेख्य लिपि को सौरी या सर्परी कहा जाता था।

6
शिक्षा

वैदिक काल में किसी देवता या व्यक्ति के जिस पक्ष पर बहुत अधिक बल दिया जाता है वह उसका शौर्य और सम्पन्नता नहीं, अपितु उसका बौद्धिक उत्कर्ष या विचक्षणता है। समाज में अपने को बौद्धिक दृष्टि से सबसे श्रेष्ठ मानने वाले वर्ग द्वारा रचे साहित्य में यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। पर इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि उस समाज में ज्ञान और अध्ययन का महत्त्व बहुत अधिक था, अन्यथा इन पक्षों पर बल देकर भी वह न तो इन देवताओं और व्यक्तियों की श्रेष्ठता प्रमाणित कर सकता था, न ही अपने को सर्वोपरि सिद्ध कर सकता था। यास्क वैदिक साहित्य में प्रयुक्त मेधावियों के जिन पर्यायों का उल्लेख करते हैं वे हैं, विप्र, विग्र, गृत्स, धीर, वेन, वेधा, कण्व, ऋभु, नवेदा, कवि, मनीषी, मन्धाता,

विधाता, विप, मनश्चित्, विपश्चित, विपन्यव, आकेनिप, उशिज, कीस्तास, उद्धाति, मती, मतुथ।[60] बौद्धिक उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए इनके अतिरिक्त कुछ और विशेषणों का भी प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, यथा – विद्वान, पुरन्धि, विश्वमन, विश्वदर्शी, दक्ष, प्रचेतस्, अक्षण्वान्, श्रुधी, ऋतुविद्, इत्यादि। प्रश्न केवल इन पर्यायों का नहीं है, अपितु इनकी आवर्तिता का भी है जो भी बहुत प्रभावशाली है। यदि हम लोक-गीतों आदि में जननेताओं और प्राचीन नायकों के विषय में प्रचलित गाथाओं पर ध्यान दें और इनकी तुलना करें तो पायेंगे कि उनके बौद्धिक पक्ष पर अपेक्षाकृत कम बल दिया जाता है। प्रायः दूरदर्शिता के अभाव को भी शौर्य और साहसिकता की अतिरंजित उक्तियों से ढक दिया जाता है। यह गुण या दोष वीरगाथाकाल के काव्यों आदि में भी पाया जा सकता है। वैदिक देवताओं में यह शूरवीरता नहीं है। वे वीर हैं, पर शूर नहीं। समझ से काम लेते हैं और आवश्यकता के अनुसार बल की अपेक्षा कौशल से अधिक काम लेते हैं। इन्द्र तो अपनी माया के लिए प्रसिद्ध ही हैं और मायावियों को माया से ही पराजित करते हैं। शौर्य और बौद्धिक उत्कर्ष तथा दूरदर्शिता के बीच का यह अन्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है। युक्ति से काम लेना और भौतिक टकराव से बचना उनका तरीका है और युद्ध अन्तिम विकल्प।

परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण है शिक्षा-संस्थाओं का अस्तित्व। जिनको शिक्षा की यह सुविधा प्राप्त है वे अपने बच्चों को अपने से बहुत दूर इन पाठशालाओं में, अधिकारी आचार्यों के पास पढ़ने को भेजते हैं। इन शिक्षा-संस्थाओं के जो विवरण दिये जाते रहे हैं वे किंचित् एकांगी हैं और पुरोहिती परम्परा ने इसके जिस पक्ष को अधिक बढ़ा कर पेश किया, उसी को आधार बना कर इनकी रूप-रेखा तैयार की जाती है। हम इस पक्ष पर पहले भी बल देते आये हैं कि ऐसे प्रश्नों का निर्णय हर मामले में इनको आर्थिक आधार से जोड़ते हुए ही, वास्तविकता से इनका सामंजस्य बैठाते हुए ही किया जाना चाहिए। किसी भी समाज में प्रचलित शिक्षा उस समाज के युवकों को अपने वास्तविक जीवन की समस्याओं का सामना करने के लिए तैयारी की व्यवस्था है। एक आखेटजीवी समाज भी अपने बच्चों को शिक्षित करता था और निशानेबाज़ी से लेकर तैराकी, और दौड़ आदि के मामले में उसमें अपेक्षित गुणों का विकास करता था, गो इसकी सरल प्रकृति के कारण उसे इसके लिए अलग पाठशालाएँ खोलने की आवश्यकता नहीं होती थी।

7
शिक्षा के विषय

सामान्यतः यह सुझाया जाता है कि वैदिक पाठशालाओं में केवल वेद कण्ठस्थ

कराया जाता था, कि उपनयन तो उसी क़बीलाई रीति को प्रकट करता है जिसके द्वारा किसी सदस्य को वयस्क होने पर समुदाय का विधिवत और मान्य सदस्य बनाया जाता था।[61] यह सच है कि सभ्य समाज की अनेक रीतियों का इतिहास बहुत लम्बा है और इनमें कबीलाई जीवन के अवशेष तलाशे जा सकते हैं, पर वैदिक समाज में उपनयन और शिक्षा का रूप किसी भी दृष्टि से आदिम या अविकसित नहीं प्रतीत होता। इसमें शिक्षण और परीक्षण का रूप बहुत व्यवस्थित और विकसित दिखायी देता है।

परीक्षा की पद्धति आज के समान नहीं रही लगती, पर अपने लिए नियत पाठ पर अधिकार करने के बाद ही छात्र अगले पाठों की ओर बढ़ सकता था और इस तरह पूरा अध्ययन या अपने लिए नियत पाठ्यक्रम सिद्ध कर लेने के बाद वह तीर्ण माना जाता था। पाठ्यक्रम के लम्बे और कठिन विस्तार को पार कर जाने वाले तीर्थ और इस तरह एक साथ पार होने वाले ही सतीर्थ होते थे। सतीर्थ सहपाठी का नहीं, गुरुबन्धु का भी नहीं, बल्कि साथ उत्तीर्ण होने वाले या स्नात होने वाले का ही सूचक है। ऋग्वेद में अनुपनीत और उपनीत का नहीं, अपितु स्नाता और अस्नाता का ही भेद देखने में आता है।

वैदिक काल के पाठ्य विषय क्या थे, इसके विषय में हमें वैदिक साहित्य से कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती। शिक्षा का स्तर क्या था, यह भी बहुत स्पष्ट नहीं है। यदि हम पूरे समाज को या कम-से-कम उन तीन वर्णों को जिनके लिए औपचारिक शिक्षा का विधान था, पुरोहितों की एक जमात में बदलने के उद्देश्य को ही शिक्षा से न जोड़ते हों तो हमें यह भी मानना होगा कि कुछ सामान्य विषयों के अलावा जिन्हें सभी के लिए अनिवार्य बना दिया गया था, सभी को उनकी आवश्यकताओं, रुचियों और योग्यताओं के अनुरूप ही शिक्षा दी जाती रही होगी। वेदों के कुछ चुने हुए अंश निश्चय ही सभी को पढ़ने पड़ते रहे होंगे। इस विषय में स्थिति स्पष्ट भी है। पर यह कुछ वैसा ही रहा लगता है जैसे चर्च के स्कूलों में छात्रों को अनिवार्य रूप से बाइबिल पढ़ाया और याद कराया जाता है। चर्च-स्कूल हों या वैदिक आश्रम, यदि इनकी शिक्षा केवल वेद या बाइबिल तक ही सीमित रहे तो कोई मूर्ख पिता भी अपने बच्चों को इतना कष्ट सहकर उनमें पढ़ने को न भेजे। यह शिक्षा उनके लिए अवश्य उपयोगी हो सकती थी जिनको पुरोहित बनना था; कारण, पुरोहित बन जाने से उनकी अपनी सभी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं, पर शेष के लिए नहीं।

अतः यदि ऋग्वेद शिक्षा के विषयों और अपेक्षित स्तर के विषय में कोई सूचना नहीं देता तो वैदिक कालीन गतिविधियों और इनके स्तर को ध्यान में रखते हुए हम इस विषय में एक सही राय कायम कर सकते हैं।

ज्यामिति

ऋग्वैदिक काल के तकनीकी विकास और आर्थिक उपक्रमों को ध्यान में रखते

हुए ही हम शिक्षा-संस्थाओं की गतिविधियों को समझ सकते हैं। अभी तक इस दिशा में ठोस काम नहीं हुआ है और इसलिए हमारी समझ भी इसके विषय में काफ़ी धुँधली है। उदाहरण के लिए, कहा जाता है कि ज्योतिष, ज्यामिति और गणित का विकास यज्ञवेदी के निर्माण से जुड़ा हुआ है और इस प्रसंग में कल्पसूत्रों में आये शुल्बसूत्रों का प्रायः हवाला दिया जाता है।[62] प्रश्न यह है कि पहिये का निर्माण करने वाले ज्यामिति से परिचित थे या नहीं? भारतीय अल्पनाओं में एक लोकप्रिय अल्पना—पूर्णिम—वृत्त से सम्बन्धित है। इसका सम्बन्ध वृत्त बनाने, इसे बारह समान भागों में बाँटने और इस प्रकार पहिया बनाने से रहा है। यह अल्पना निम्न प्रकार है :

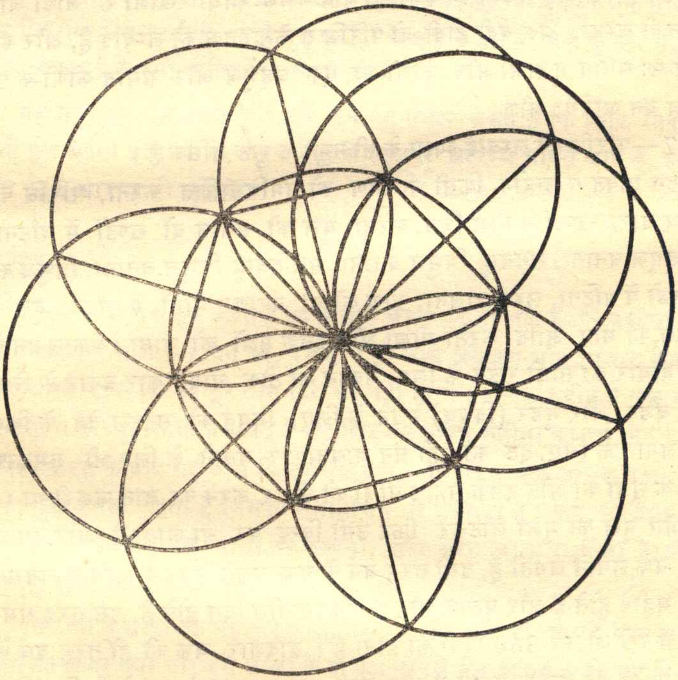

इसको ज्यामिति की निम्न उपपत्तियों का मूल माना जा सकता है :

1—किसी बिन्दु से एक ही अर्ध-व्यास से खींची जाने वाली वृत्तरेखा अन्ततः अपने आदि-विन्दु पर आ मिलती है ;

2—यदि किसी वृत्त की परिधि के किसी विन्दु से केन्द्र को स्पर्श करती हुई सीधी रेखा खींचें तो यह वृत्त को दो समान भागों में विभाजित करेगी;

3—यदि वृत्त की परिधि के किसी विन्दु को केन्द्र मान कर उसी के अर्ध-व्यास से वृत्त बनायें और यह वृत्त जिन विन्दुओं पर परिधि को काटे उन्हें केन्द्र बनाकर वृत्त खींचते चले जायें तो परिधि छह समान भागों में विभाजित हो जायेगी।

4—परिधि के किसी विन्दु को केन्द्र मानकर खींचे गये वृत्त जिन विन्दुओं पर मिलते हैं इनसे पहले वृत्त के केन्द्र को मिलाने वाली सीधी रेखाओं से जो कोण बनेंगे वे समान होंगे;

5—परिधि के केन्द्रों से खींचे गये वृत्त इस परिधि के बाहर जहाँ मिलते हैं, वहाँ से पहले केन्द्र को मिलाने वाली रेखाएँ पुन: इसे छ: भागों में और ऊपर क्रम सं. 4 के कोणों को समान कोणों में विभाजित करेंगी और इस प्रकार मूल केन्द्र को बारह समान भागों में विभाजित किया जा सकता है;

6—परिधि के कटाव-विन्दुओं को यदि क्रमश: सीधी रेखाओं से जोड़ा जाये तो इनकी लम्बाई ठीक वही होगी जो परिधि से केन्द्र तक की लम्बाई है, और इस प्रकार छ: समान भुजाओं और कोणों का एक षड्भुज और समान कोणों के छ: त्रिभुज बन जायेंगे; और

7—परिधि की लम्बाई व्यास के तीनगुने से कुछ अधिक है।

इस युक्ति से उन्होंने किसी भी कोण को समविभाजित करना, परिधि को बराबर बारह खण्डों में विभाजित करना, वृत्त को समान दो खण्डों में बाँटना, समषड्भुज बनाना, समबाहु त्रिभुज बनाना, समद्विबाहु त्रिभुज बनाना, त्रिभुज को दो खण्डों में बाँटना, लम्ब डालना, कोण को दो बराबर भागों में बाँटना, वृत्त के क्षेत्रफल की माप आदि करना सीखा और इनके सूत्रों को जाना। मकान बनाते समय दीवार को सीधी रखने के लिए, मकान को ठीक आयताकार बनाने के लिए धरन, बँडेर, और मुंडेर (बिषुव) रखने के लिए, बिषुव को सहारा देने के लिए स्थूण लगाने के लिए, ईंट को सही घन आयताकार बनाने के लिए भी समकोण बनाने के सूत्रों का और इसके सहारे साँचों को तैयार करने का ज्ञान जरूरी था।

जैसे वृत्त की भुजा लौटकर फिर उसी विन्दु पर आ जाती है और इसका दूसरा चक्र लगाने लगती है, इसी तरह वर्ष के चक्र चलते रहते हैं। वर्ष में लगभग बारह महीने होते हैं और प्रत्येक माह में लगभग तीस दिन होते है, इस तरह सम-संख्या में रखें तो वर्ष 360 दिनों का होता है। द्वादशार चक्र की ही तरह वर्ष के बारह महीने हैं। प्रत्येक महीने में तीस दिन; इस तरह बारह भागों में विभाजित वृत्त का प्रत्येक खण्ड वर्षचक्र में एक महीने के बराबर है और महीने के तीस दिनों को तीस अंश का या कहें प्रत्येक दिन को एक अंश या अंशु (तु. उपांशु) का माना जा सकता है। आख़िर सूर्य भी अंशुमान ही तो है—अंश का मान। इस प्रकार वर्ष के तीन सौ साठ अंशों या वृत्त के किसी विन्दु पर तीन सौ साठ अंशों की कल्पना, एक रेखा पर 180 अंश की कल्पना, समकोण या 90 अंश की कल्पना मात्र दिमाग़ की उपज नहीं, अपितु भौतिक गतिविधियों से प्राप्त ज्ञान और अनुभव का सारसूत्र थी। इन परिकल्पनाओं में से कुछ को प्राय: यूनानी गणितज्ञों की स्वयंसिद्धियों के रूप में किताबों में पढ़ाया जाता है। स्वयंसिद्ध कुछ नहीं होता। ये सभी भौतिक उपक्रमों

से सिद्ध किये गये सूत्र हैं। जिन्हें ये सिद्ध मिले उनके लिए स्वयं-सिद्धियाँ बन गये, जिन लोगों या जिस समाज ने सिद्ध किया उनके यहाँ यह पूरी परम्परा बच्चों के खेल में भी उतर गयी। पिता अपने औजार और सामान बनाने के लिए रेखांकन कर रहा है, बच्चे उन्हीं का खेल खेल रहे हैं, पिता मूर्ति बना रहा है तो बच्चे खिलौने, पिता चक्र बना रहा है तो बच्चे मिट्टी पर छोटे रूप में उसी की नकल कर रहे हैं—अल्पवयस्कों का यह रेखांकन किसी के लिए महत्व रखता हो या नहीं उनकी माताओं के लिए अवश्य रखता है, जो उनकी भूलों को भी शायद सुधार रही हैं। अल्पों की यह रचना ही सम्भवतः महिलाओं की अल्पना बनकर एक सांस्कृतिक विरासत बन जाती है, चाहे वह घरौंदों के रूप में हो, या चक्र के रूप में, या उनकी सजावट के रंगों-रोलियों के रूप में हो।

यह मात्र एक उदाहरण है जिससे हम यह समझ सकते हैं कि अनेक विकास जिन्हें हम अपनी सीमाओं के कारण बाद के काल में आरम्भ मानते आये हैं, इससे बहुत पहले आरम्भ हो चुके थे।

ज्योतिष

वैदिक काल तक हम देखते हैं कि ये सारे चरण पूरे हो चुके हैं।[63] चन्द्रमा की गति के अनुसार मास 30 दिन का, पर साथ ही लम्बे अवेक्षण और मिलान केबाद यह बोध भी जागा कि यह पूरे तीस दिन का नहीं होता। प्रत्येक महीने में कुछ बच रहता है, ये बारहों महीने प्रजावत हैं।[64] फिर इन बारह महीनों का वर्ष, पर साथ ही लम्बे अरसे के बाद यह बोध कि वर्षचक्र बारह महीनों से कुछ अधिक पड़ता है, इसका कुछ बचता रहता है जिसका समायोजन भी अपेक्षित है। कहें, उपजात की अवधारणा और प्रजावत मासों की कल्पना, सौर और चान्द्र पद्धतियों के बीच तालमेल बैठाने का अकाट्य प्रमाण है।

इससे भी कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि वर्ष को विषुव सम्पात से विभाजित किया गया था; जैसे शाला के दो पक्ष होते हैं वैसे ही वर्ष के दो पक्ष हैं।[65] वैदिक काल में यह धारणा विकसित हो चुकी थी कि पृथ्वी गोल है और सूर्य कभी अस्त नहीं होता बल्कि जब एक ओर दिन होता है तो दूसरी ओर रात होती है।[66] ज्योतिष के क्षेत्र में एक बड़ी भूल, जो जैन ज्योतिष में बाद तक बनी रह गयी थी, यह अवश्य थी कि चन्द्रमा का स्थान सूर्य से सम्भवतः ऊपर माना गया था[67], पर तत्कालीन गणित तथा अन्य साधनों को देखते यह भूल भी एक वैज्ञानिक आधार पर टिकी दिखायी देगी—यदि चन्द्रमा सूर्य की अपेक्षा अधिक निकट है तो उसमें अधिक दाहकता होनी चाहिए, जो कि नहीं है; अतः उसकी दूरी सूर्य से अधिक हुई। यदि इस विश्वदृष्टि और ज्योतिष के ज्ञान की तुलना पौराणिक

काल से करें, जिसमें गणना-पक्ष का विकास तो पृथक होता है पर धरती को किन्हीं मिथकों के आवरण में ज्यों-का-त्यों समेटकर न जाने किन-किन की पीठ और कन्धे पर रख दिया जाता है और जानें कौन-कौन-से दिग्गज इसका सन्तुलन बनाये रखते हैं, जिसके कारण भारतीय भू-ज्ञान परम्परा के प्रति यदा-कदा सन्देह प्रकट किये जाते हैं, तो यहाँ भी एक उन्नत अवस्था से गिरावट का प्रमाण मिलेगा : ऋग्वैदिक कालीन गोल पृथ्वी यहाँ आकर चपटी हो जाती है, ऋग्वैदिक कालीन निराधार पृथ्वी यहाँ आकर कछुए की पीठ और वराह के थूथन से लेकर शेषनाग के फनों तक पर सवार हो जाती है और बात तब भी नहीं बनती तो दिगपाल आ जाते हैं। निश्चय ही इस काल में विकास विशृंखल हो गया है, विभिन्न अनुशासनों के बीच सम्बन्ध कमजोर पड़ गया है, यद्यपि अलग-अलग विकास ज़ारी हैं। कारण, हड़प्पा के नगरों जैसे प्रधान और संरक्षक केन्द्र नहीं रह गये हैं, जिनमें पारस्परिक आदान-प्रदान अधिक प्रखरता से हो सके। पृथ्वी को यहाँ सर्प के फन पर स्थित मानने के पीछे भी एक वैज्ञानिक तकनीकी शब्दावली की तार्किक परिणति देखी जा सकती है। वैदिक विद्याओं में एक विद्या का नाम सर्पविद्या है; यह धरती सार्पराज्ञी है[68]; अतः सर्प-विद्या के अन्तर्गत सम्भवतः जीव-विज्ञान की या कहें चर जगत की शिक्षा आती थी, पर इस सार्पराज्ञी को आगे सर्प के फन पर बैठाना पौराणिकों के मिज़ाज के अनुकूल ही था। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि वैदिक ज्योतिर्विदों ने यह भाँप लिया था कि पृथिवी स्वयं गोलाकार है, जो अपने समय को देखते हुए एक आश्चर्यजनक उपलब्धि है।

इस तरह हम देखते हैं कि ज्योतिष के क्षेत्र में अपने समय को देखते हुए वैदिक प्रगति पराकाष्ठा पर थी। यह सोचना ग़लत होगा कि चक्र बनाने वालों ने ही इन सूक्ष्म गणनाओं और संकल्पनाओं का भी विकास कर लिया, पर इस तकनीक के विकास के बिना यह प्रगति असम्भव थी। किसी आविष्कार के हो जाने के बाद उसको एक कुशल मिस्त्री भी उपयुक्त साधन आदि पा जाने पर बना या सुधार सकता है, पर आविष्कार से पहले छोटा-से-छोटा नवप्रवर्तन एक बौद्धिक आयास और चिन्तन की माँग करता है। जो राष्ट्र आविष्कार करता है वहाँ आविष्कृत वस्तु ही नहीं, उसका सैद्धान्तिक पक्ष भी जीवित रहता है और वह चिन्तन और ज्ञान की परम्परा का अंग बन कर अन्य उद्भावनाओं की—जो उन पिछड़े समाजों के लिए जिन्हें सिर्फ़ उस वस्तु की आवश्यकता होती है, संकल्पना की नहीं, किंचित् अतर्क्य और बेकार-से लगते हैं, अतः आविष्कृत वस्तु को ग्रहण करके ही वे सन्तुष्ट हो जाते हैं—सृष्टि करा है जिनके उन्नत ज्ञान पुनः नयी उपलब्धियों का कारण बनते हैं।[69]

गणित

वैदिक काल तक द्विगुण क्रम; द्वादश क्रम, दाशमिक क्रम आदि के विषय में

हम पीछे चर्चा कर आये हैं। दाशमिक क्रम का सार-तत्व है शून्य की परिकल्पना। यह माना जाता है कि शून्य का आविष्कार वैदिक काल के बाद कभी हुआ। पर हम इस बात का भी संकेत कर आये हैं कि यह आविष्कार वैदिक काल तक पूरा हो चुका लगता है। उपनिषद-काल तक तो यह निश्चित रूप से आविष्कृत हो चुका था। उपनिषद का यह श्लोक कि पूर्ण से पूर्ण को निकाल लें तो भी पूर्ण ही बचता है, शून्य के अभाव में समझा ही नहीं जा सकता। शून्य में से ही शून्य को निकालने पर शून्य शेष रहता है। पूर्णता की यह परिकल्पना चक्र की कल्पना की देन है। वैदिक काल में हम शून्य के अस्तित्व को मानने के दो आधार पाते हैं—एक तो ज्योतिष का अपेक्षाकृत उन्नत विकास, जिसमें गणना का बहुत महत्व है; पर इससे अधिक रोचक है एक ही अंक की दहाई के साथ उसकी इकाई का युगपत प्रयोग और इसकी ऋग्वेद में बार-बार आवृत्ति—एकादश, द्वाविंशत, त्रयस्त्रिशत, चतुःचत्वारिंशत, पंचपंचाशत, षड्षष्ठि, सप्तसप्तति, अष्टासीतिं, नवतिंनव—का इनकी दहाइयों, विशेषकर विंशत, त्रिंशत, चत्वारिंशत, पंचाशत, षष्ठि, सप्तति, असीति, नवति की तुलना में बहुत अधिक प्रयोग। यह संख्याओं का मिथुन या युग्म बनाने के वैदिक मोह का सूचक तो है, पर दाशमिक क्रम के बिना संख्याओं का यह युग्म असाध्य था।

चिकित्सा

चिकित्सा-शास्त्र में भी अपने युग को देखते हुए असाधारण प्रगति की पुष्टि देखने में आती है। भिषग का एक स्वतन्त्र पेशा विकसित हो चुका था।[70] और एक स्थल पर तो रुद्र के लिए भिषक्-तम[71] अर्थात् महाभिषग का उल्लेख देखने में आता है। रुद्र भेषजों के देवता हैं और अश्विनीकुमारों को देवताओं के चिकित्सक के रूप में कल्पित किया गया है। ऋग्वेद में शरीर के विभिन्न अंगों का उल्लेख आता है और यह विवरण क्रमशः अधिक विस्तृत होता चला जाता है। इस विषय में टिप्पणी करते हुए मैकडनेल और कीथ लिखते हैं :

"ऋग्वेद में एक ऐसा सूक्त है जिसमें एक भिषग अपने पौधों और उनकी उपशामक शक्तियों की प्रशस्ति करता है। इसके अतिरिक्त अश्विनों द्वारा आश्चर्यजनक उपचार के सन्दर्भ भी मिलते हैं : लँगड़ों[72] और नेत्रहीनों का उपचार[73], च्यवन और पुरन्धि[74] को पुनः युवक बना देना, विश्पला[75] को एक लौह-पाद प्रदान करना, जो कृत्य उस समय और भी आश्चर्यजनक प्रतीत होगा जब हम, जैसा कि पिशल ने विचार व्यक्त किया है, यह मान लें कि विश्पला एक अश्वी थी।"[76]

इन उपचारों को यथा-तथ्य ग्रहण करना जरूरी नहीं है और इस पर कुछ और खोज ज़रूरी है, पर चिकित्सा का स्तर सराहनीय था, इस विषय में सन्देह नहीं।

शरीर विज्ञान के विषय में विशेषतः अथर्ववेद में जो विवरण आये हैं और जिनका कुछ अधिक विशद उल्लेख ब्राह्मणों आदि में आया है, उनसे "ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर की आन्तरिक रचना की ओर वैदिक भारतीयों का ध्यान बहुत पहले आकर्षित हुआ था।"[77] वैदिक इंडेक्स के लेखकों ने पार्ष्णि—एड़ियों, मांस, गुल्फ—टखने की हड्डी, अँगुलि, ख—छिद्र, उच्छलक प्रतिष्ठा—पैर के टखनों के मध्यभाग, जानु-सन्धि या घुटनों के जोड़, चतुष्टय—घुटनों के ऊपर चौकोर, सरलता से मुड़ने वाला—शिथिर, कबन्ध—धड़, ऊरु, श्रोणी, कुसन्धि, उरस्—छाती की हड्डियाँ, ग्रीवा, स्तन, कफोड, पृष्टीः—रीढ़ की हड्डियाँ, अंसौ—हँसलियाँ, शीर्ष भाग के सात छिद्रों—सप्त खानि शीर्षाणि, कान, नासिका, नासारन्ध्र, आँख, मुख, हनु—जबड़ा, जिह्वा, मस्तिष्क, ललाट, मुख की हड्डियाँ या ककाटिका, कपाल, चित्या हन्वोः—जबड़ों का ढाँचा, मज्जा, यकृत, क्लोम—फेफड़ा, मस्तना—गुर्दा, पित्त, आन्त्र, गुदा, प्लीहा, नाभि, वनिष्ठु, योनि, प्लाशि—भौं, आसन, पायु, पक्ष्म, करुकर—अनुप्रस्थ प्रवर्ध, जत्रु—वक्ष की सोलह हड्डियों, उरस्—मेरुदण्ड, पर्शु—पसलियों, कुलाप, अनूक अर्थात् दोनों पाश्वों की छब्बीस पसलियों, उदर भाग के 20 अनुप्रस्थ प्रवर्धों और वक्ष के 32 अनुप्रस्थ प्रवर्धों के साथ बीच की हड्डियों आदि के उल्लेखों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है[78] और उनके मतानुसार "यह पद्धति बाद की चरक और सुश्रुत की पद्धतियों के साथ अत्यन्त समानता व्यक्त करती है।"[79] वैदिक साहित्य में शल्य-चिकित्सा आदि के जो उल्लेख मिलते हैं, उन्हें देखकर प्रायः यह विचार प्रकट किया गया है कि चूँकि वैदिक जन अपने यज्ञों में पशु-वलि आदि देते थे, अतः उन्हें शरीर-रचना के विषय में भी जानकारी मिलनी शुरू हो गयी। कहें, चिकित्सा को पशु-वलि से जोड़ा जाता है और इस विषय में कोई विवाद भी नहीं दिखायी देता। पर हमें ऐसी कोई जाति दिखायी नहीं देती जो शिकार न करती रही हो और मांस न खाती रही हो। फिर वैदिक वलि के साथ ही यह ज्ञान क्यों जुड़ा होना चाहिए? और फिर ये विवरण पशुओं की शरीर-रचना के हैं या मनुष्यों के? वास्तविकता यह है कि शल्यक्रिया के प्रति परवर्ती शुद्धिवादी दृष्टिकोण ने जो भावना पैदा की वह इसके विकास में बाधक रही और इस दृष्टि से वैदिक काल की स्थिति अपने युग को देखते हुए पौराणिक काल से कहीं उन्नत दिखायी देती है। शल्यक्रिया का ठीक स्तर क्या था, इसका निश्चय करना कठिन अवश्य है, पर इसके विकास के बिना मनुष्य के शरीर की आन्तरिक रचना के विषय में अपेक्षाकृत विशद जानकारी का प्रश्न नहीं उठता। पशु-वलि से शल्य-चिकित्सा के विकास को जोड़ना भी आदिमता की धारणा की देन है और इसमें इस बात का ध्यान भी नहीं रखा गया है कि चिकित्सा के दावे और शरीर-रचना के बिवरण दोनों में पर्याप्त संगति दिखायी देती है और वलि तथा चिकित्सा के लक्ष्य एक ही नहीं होते, न ही पहले मामले में उस सावधानी

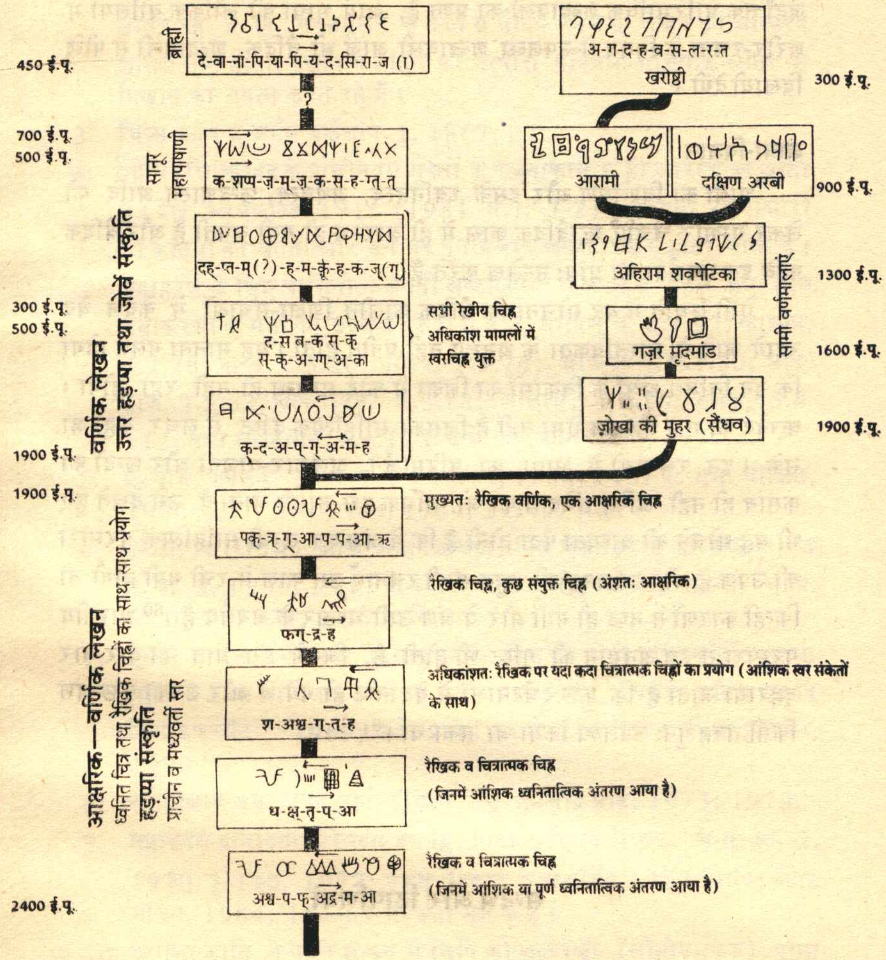

डा. एस. आर. राव द्वारा प्रस्तावित हड़प्पा-लिपि से ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों तक का वंशवृक्ष।

और बारीक विश्लेषण की आवश्यकता होती है जो दूसरे मामले में अपेक्षित है। जहाँ तक पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न है, आर्य भाषा की लौकिक बोलियों में शरीर-रचना के विषय में उपलब्ध शब्दावली आज भी वैदिक शब्दावली से पीछे दिखायी देगी।

भाषा-विज्ञान

भाषा का विश्लेषण और इसके ध्वनितत्व, अर्थतत्व, छन्दशास्त्र आदि को लेकर गम्भीर चर्चाएँ ऋग्वैदिक काल में ही आरम्भ हो गयी लगती हैं और वैदिक कवि इत सतर्कता का प्रायः उल्लेख करते हैं।

ऐसी स्थिति में यह सोचना कि वैदिक कालीन शिक्षा-संथाओं में केवल वेद रटाये जाते थे, वास्तविकता के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। यह मानना ग़लत होगा कि इन विविध क्षेत्रों के विकासों का शिक्षा से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा होगा। ऋग्वेद का एक भी अंश ऐसा नहीं है जिसको साहित्यिक दृष्टि से लचर कहा जा सके। इन रचनाओं में भाषा का परिमार्जन, अलंकार-योजना और छन्दों का कसाव ही नहीं, अपितु संवेदना का जो मार्मिक पक्ष सामने आता है, उसे देखते हुए भी यह सोचने की बाध्यता पैदा होती है कि ये अंश एक लम्बी साहित्यिक परम्परा की उपज हैं और इस तरह की बहुत सारी रचनाएँ उस काल में रची गयी होंगी जो किन्हीं कारणों से नष्ट हो गयीं और ये अंश उसी भण्डार के अवशेष हैं।[80] भारतीय परम्परा से इस अनुमान की पुष्टि भी होती है, जिसमें इस बात को बार-बार दुहराया जाता है कि कुछ दुर्घटनाओं में वेद नष्ट हो गये थे और उनका कुछ अंश किसी तरह पुनः उपलब्ध किया जा सका था।[81]

सन्दर्भ और टिपणियां

1. विल्सन, ऋग्वेद संहिता (अंग्रेजी अनुवाद), 2. भूमिका; गोल्डस्टकर, पाणिनि हिज़ प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, 1965 सं., 17-18; ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, 1918; मुखर्जी, ऐंश्येंट इंडियन एजुकेशन, 1960; राजबली पांडे, अशोक के अभिलेख, सं. 2022; शंकरानन्द, दि ऋग्वैदिक कल्चर ऑफ़ दि प्री-हिस्टॉरिक इंडस, 1943-44; आदि।
2. मैक्समूलर, ए हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येंट संस्कृत लिटरेचर सो फ़ॉर इट इलस्ट्रेट्स दि प्रिमिटिव रिलिजन ऑफ़ दि ब्राह्मणाज़, 1856; मैक्समूलर के परवर्ती

सभी 'बर्बरताप्रेमी' विद्वान उन्हीं की उक्तियों को मन्त्र की तरह दुहराते रहे हैं, पर अनेक दूसरे शालीन विद्वान, जिनमें बूलर का भी नाम आता है, यह मानते रहे हैं कि मैक्समूलर के तर्कों से वैदिक काल में लेखन का अस्तित्व असिद्ध नहीं होता, यद्यपि वे ब्राह्मी की उत्पत्ति पश्चिम एशियाई स्रोतों से दिखाने का प्रयत्न करते रहे हैं।

3. चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1, 1867, 27.
4. यह प्रवृत्ति ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों के रचनाकाल से ही आरम्भ हो जाती है। देखें, ब्लूमफील्ड, 1916 (1981 सं.), 1-21. पूर्ववर्ती रचनाकारों की कृतियों की चेतना और उन पर पुनर्विचार क्रमशः प्रखर होता जाता है। उदाहरण के लिए पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी में अपने से पहले हुए जिन वैयाकरणों के मतों का उल्लेख किया है वे है, आपिशलि, 6.1.92; काश्यप, 1.2.25; गार्ग्य, 8.3.20; गालव, 7.1.74; चाक्रवर्मण, 6.1.30; भारद्वाज, 7.2.63; शाकटायन, 8.3.18; शाकल्य, 1.1.16; सेनक, 5.4.112; तथा स्फोटायन, 6.1.123. देखें, कपिलदेव द्विवेदी, 1951,4.
5. ए. घोष, 1964, 15; एम. के धवलीकर, 1984, 243; के. एम. दीक्षित, 1984, 267, सौन्दरराजन, 1984, 211-17 आदि।
6. हेरास, दि रिलिजन ऑफ़ मोहनजोदड़ो पीपुल एकार्डिग टु इंस्क्रिप्शन्स, ज यू. बां. 5, 1936, 1-29; दि स्टोरी ऑफ़ टू मोहनजोदड़ो साहन्स, ज. ब. हिं. यू. 2, 1937, 1-36 आदि।
7. ऐस्को पार्पोला तथा अन्य, डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि प्रोटो इंडियन इंस्क्रिप्शन्स ऑफ़ दि इंडस सिविलाइजेशन ,ए फर्स्ट एनाउंसमेंट, 1969; प्रॉग्रेस इन दि डिसाइफरमेंट···'1969; फर्दर प्राग्रेस इन दि इंडस स्क्रिप्ट डिसाइफरमेंट, 1970.
8. क्नोरोजोव तथा अन्य, प्रोटो इंडिका, अनु. हेमचन्द्र पांडे, 1973; 1979.
9. महादेवन द्रविडियन पैरेलल्स इन दि प्राटो इंडियन स्क्रिप्ट, ज त स्ट, 2, 1970, 1-120; 1977; इंडस स्क्रिप्ट के कंकॉर्डेंस 1983, आदि; फेयर सर्विस, 1984, 154-61 भी इसी मत के हैं।
10. पार्पोला आदि ने पहले ज्ञापन में लिपि को शब्दरेखी (लोगोग्राफिक) माना था पर दूसरे ज्ञापन में इसे एक भूल बताते हुए शब्दाक्षरी (लोगोसिलैबिक) माना। डिरिंजर इसे चित्रलेखी (पिक्टोग्राफिक) मानते हैं।
11. इन अध्ययनों और दावों की आलोचना के लिए देखें, डा. लाल, "सम आब्जर्वेशन्स ऑन हड़प्पन स्क्रिप्ट', इंकंवथाक, 1970, 189-202; टी. बरो, द्रविडियन ऐंड डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, ऐंटीक्विटी, 43, 172, दिसम्बर 1969, 274-78, क्लाउजन व चाडविक, 'दि इंडस स्क्रिप्ट डिसाइफर्ड ? ऐंटीक्विटी, 43, 171 सितं. 1969, आदि।

12. हंटर, दि स्क्रिप्ट ऑफ़ हड़प्पा ऐंड मोहनजोदड़ो ऐंड इट्स कनेक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स, 1934, 44-45.
13. वही, 49.
14. 'दि स्क्रिप्ट ऑफ़ दि इंडस वैली सीलस' इंहि क्वा. 7 पूरक व 8, 1931; 32, क्रमशः 1-52 व 1-32, 1935, 1935 बी आदि।
'दि डान ऑफ़ इंडियन राइटिंग', 13 अक्टूबर 1935, 20 व 81 आदि।
15. शंकरानन्द दि इंड्स पीपुल स्पीक, 1955; दि इंडस सीलस स्पीक ? प्रो. इंडस का 23। 1960-61; 1962 दि डिक्शनरी ऑफ इंडियन हायरोग्लाइफ्स 1963 1665 आदि।
16. 'सोल्यूशन ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, दि हिंदुस्तान टाइम्स वीकली, 30 मार्च, 1969, 156.
17. एस. आर. राव, 'दि डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, 235.
18. सुधांशु कुमार राय, इंडस स्क्रिप्ट : ऐन अपील टु दि ओरियंटलिस्ट्स, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ इजिप्टॉलॉजी, मेमोरैंडम नं. 1, 1963; मेमोरैंडम नं. 2, 1965; इंडस स्क्रिप्ट : 1965 बी; मेथड ऑफ़ स्टडी, 1966; इंडस स्क्रिप्ट, शक्ति, 3, 5, 1966, 20-22, आदि।
19. दि अल्फाबेट, 1968 सं., 51.
20. अहमद हसन दानी, इंडियन पैलियोग्राफी, 1963, 8-9 व 24.
21. पूर्व 262.
22. अहमद हसन दानी, 1963, 23-28.
23. बूलर, इंडियन पैलियोग्राफो, 1958 सं
24. एस. आर. राव, दि डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, 311-12.
25. लैंगडन, मोहनजोदड़ो एंड इंडस सिविलाइजेशन, सं. मार्शल, 1931, II, 423, 55
26. सिडनी स्मिथ, वही, 1931, II, 415-22.
27. डी. सी. सरकार इंस्क्रिप्शन्स ऑफ़ अशोक, 1957.
28. राजबली पांडे, इंडियन पैलियोग्राफी, 1952, अध्याय एक।
29. गौरी शंकर हीराचंद ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, 1905.
30. एस. आर. राव, ऊपर, 1982, चित्र 35.
31. एस. आर. राव 1982, 4.
32. अर्नेस्ट मैकाय, अर्ली इंडस सिविलाइजेशन, 1948, देखें बैशम, पूर्व, 1963, 20.
33. 'इंटरप्रेटेशन आफ़ सर्टेन प्रोटो इंडियन फ़िगर्स', प्रोटो इंडिका, 1970, 1973.

34. पार्पोला, 1969, 21.
35. इरावदम महादेवन, 'कल्ट आब्जेक्ट्स ऑन यूनीकार्न सील्स : ए सैक्रेड फिल्टर?' 1983,
36. वी. एस. पाठक, 1985, 9.
37. पूर्व, 22.
38. वही 71-72.
39. शतब्रा. का विभाजन काण्ड, प्रपाठक और ब्राह्मण में और ऐब्रा. का अध्याय और खण्ड में किया गया है।
40. श्येनी शलली भवति लोहः क्षुरः सा या श्येनी शलली सा त्रय्यै विद्यायै रुपम्। शतब्रा. 2.6.4.5
41. लोह क्षुर का अर्थ ताँबे का क्षुरा है, 'लोहित इव हि अग्निः तस्मात् लोहः क्षुरः, वही।
42. देखें, शतब्रा., 6.5.3, 3-4, सैबुईसी. 41, 239.
अथ उखां करोति। इमान् तत् लोकान् करोति अथ विश्वज्योतिषः करोति एता देवता, अग्निं वायुं आदित्यं एता हि एव देवता विश्वं ज्योतिः, ता एतस्या एव मृदः करोति एभ्यः तत् लोकेभ्यः एतान् देवान् निर्मिमीते यजमानः करोति, त्र्य लिखिता भवन्ति...महिषी हि वाक् त्र्यालिखिता भवति...।
43. विश्वम्भर शरण पाठक, 1985.
44. यज्ञमुखे वै यज्ञं रक्षांसि जिघांसन्ति यत् परिलिखति रक्षसां अपहत्यै तिसृभिः परिलिखति, त्रय इमे लोका, एभ्यः एव लोकेभ्यः रक्षसां अपहन्ति 'परि वाजपतिः कविः'...इति गायत्र्या परिलिखति ब्रह्म वै गायत्री ब्रह्मणा एव एनं परिगृह्णाति, 'परि त्वा अग्ने पुरं वयं' इति अनुष्टुभा, वाग्वा अनुष्टुप सर्वाणि छन्दांसि, परिभूः वाचो एव सर्वाणि छन्दांसि परिगृहति 'त्वं अग्ने द्युभिः' इति त्रिष्टुभा, वीर्यं वै त्रिष्टुब वीर्येण एव एनं परिगृहति, अनुष्टुभा मध्यतः परिलिखति...कासं. 19.3.7. यहाँ क्रमशः ऋ. 4.15.3; 10.87.22; 2.1.1 के हवाले आये हैं जो उक्त छन्दों में है। यह इस भ्रम को दूर करने के लिए पर्याप्त है कि वेद लिखे नहीं जाते थे।
45. या सरस्वती वेश भगिनी तस्या नः रास्व तया ते भक्तिवानः भूयास्म यज्ञस्य त्वा प्रमया अभि इमया उन्मया प्रतिमया परिगृह्णामि...। कासं. 5.4.25
46. स्तुता यस्मात् कोशात् उत् अभराम वेदं तस्मिन् अन्तः अव दध्म एनम्। अथर्व. 19.72.1
47. द्वे स्रुती अशृणवं पितृणां अहं देवानां उत मर्त्यानाम्। ताभ्यां इदं विश्वं एजत्

सं एति यत् अन्तरा पितरं मातरं च ।। ऋ. 10.88.15.

48. इन प्राचीन गाथाओं को गा कर सुनाते हुए लोगों का मनोरंजन करने का एक अलग पेशा ही विकसित हो चुका लगता है। गाथिन् या गाथाकार और गायक ऐसे ही लोग थे। विश्वामित्र के पिता का भी पेशा यही था। देखें, ऋ. 1.7.1; 167.6; 190.1; 3.54.9; 58.6; 8.32.1; 98.9; 9.99.4, आदि। यह उनके लिए प्रयुक्त कुशिक (कुशीलव-लोक गायक) से भी यह प्रकट होता है।

49. उदाहरणार्थ, शुनः शेप, ऋ. 1.24.12; 13; 5.2.7; दधीचि, 1.84.13; 119.9; 10.48.2, आदि; नहुष, 1.122.8; 10; 11; 5.12.6; 6.26 7, आदि।

50. The Rgveda in rather the final expression of its own type of composition, presupposing at all points a long period of antecedent activity…I have yet to find any hymns in the collection which shows positive singns of comming from the arche typet period, that is to say from thc period when hymns of this sort were first composed. The authors we know are traditional rather than historieal. Their names are eehoes from an olden semi mythic time. ब्लूमफील्ड, 1916 (1981 सं.), 21.

51. ब्लूमफ़ील्ड, 1916, 5, 19 आदि। But the most repetitions of stanzas, distichs, and padas in the Rguveda are, as we might say litenary not historical. पृ. 19.

52. हर्ज़फील्ड, ज़ोरास्टर ऐंड हिज़ वर्ल्ड, 1947, 1, 307.

53. नि., 1.11

54. ससर्परीः अमतिं बाधमाना बृहत् मिमाय जमदग्नि-दत्ता।
आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवः देवेषु अमृतं अजुर्यम् ।।
ससर्परीः अभरत् तूयं एभ्यः अधि श्रवः पांच-जन्यासु कृष्टिषु।
सा पक्ष्या नव्यं आयुः दधाना यां मे पलस्ति-जमदग्नयः ददुः ।। ऋ. 3.53.15-16

55. शौनक ने इसके पीछे एक अन्तर्कथा का हवाला दिया है जिसके अनुसार वसिष्ट के पुत्र शक्ति से सुदास के महायज्ञ में शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने के बाद विश्वामित्र ने इस वाक् का ज्ञान करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की थी :
...सुदासश्च महायज्ञे शक्तिना गाथिसूनवे। निगृहीतं बलाच्चेतः सोऽवसीदत् विचेतनः। तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम्।।सू यंक्षयात् इह आहत्य ददुः ते जमदग्नयः। कुशिकानां ततः सा वाक् अमतिं तां अपाहनत् ।।

बृह. 4.112.14

56. परि तृन्धि पणीनां आरया हृदया कवे। अध ईं अस्मभ्यं रन्धय ।। वि पूषन् आरया तुद पणेः इच्छ ह्लदि प्रियम्।...आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे।...यां पूषन् ब्रह्मचोदनीं आरा बिभर्षि आघृणे। तया समस्य हृदयं आ रिख किकिरा कृणु। ऋ. 6.53.5-8.

57. गोल्डश्टकर ने, पूर्व. 68, याज्ञवल्क्य, 3.191 का हवाला देते हुए यह स्पष्ट किया था कि पढ़ने के लिए प्राचीन काल में जिन शब्दों का प्रयोग होता रहा है उनमें से एक रहा है दर्शन या देखना। उक्त श्लोक में वेद के द्रष्टव्य, मन्तव्य और श्रोतव्य होने की बात कही गयी है। ऋ. 10.71.2 में लक्ष्मीः निहिता अधि वाचि या लक्षणों या प्रतीक चिह्नों में निहित वाणी का, ऋ. 10 71.4 में ऐसे लोगों का जो देखते हुए वाणी को देख नहीं सकते, सुनते हुए सुन नहीं सकते और इनके विपरीत ऐसे लोगों का जिनके सम्मुख वाणी अपने को पत्नी की तरह अनावृत कर देती है, का, ऋ. 10.71.7 में अक्षण्वन्त और कर्णवन्त या पढ़ने में और सुन कर अर्थ समझने में समर्थ लोगों का उल्लेख है।

58. बृहस्पति ने विविध वस्तुओं को नाम देते हुए जिस प्रथम वाणी को प्रेरित किया था उसमें जो श्रेष्ठ और दोष रहित है वह इन गूढ़ चिह्नों में निहित है, "...यत् एषां श्रेष्ठं यत् अरिप्रं आसीत् प्रेणा तत् ऐषां निहितं गुहा आविः।" ऋ. 10.71.1. इसी तरह मेधावी जन ऋत् के पद की रक्षा प्राचीन या श्रेष्ठ देवों के नामों को गुहा में रख कर करते हैं, ऋतस्य पदं कवयः नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि।" ऋ. 10.5.2, आदि।

59. देवाः कपोत इषितः यत् इच्छन् दूतः निर्ऋत्याः इदं आजगाम। तस्मै अर्चाम कृणवाम निः कृतिं शं नः अस्तु द्विपदे शंचतुष्पदे ।। ऋ. 10.165.1, देखें 10. 165. 2-5 भी। इनमें पहले और चौथे मन्त्र में तो उसे स्पष्टतः दूत कहा भी गया है।

60. नि. 3.15.

61. आर. एस. शर्मा, 1982.

62. हड़प्पा की मुहरों का निर्वचन करने के प्रयत्न में लगे सोवियत विद्वानों में से एक बी. या. वोल्चोक लिखते हैं, कि हड़प्पा लिपि में अनेक चिह्न छः अरों वाले चक्र यूनीकार्न के शरीर पर (10:91; 10:130; 10:140) पाये जाते हैं जिनसे प्रकट होता है कि यूनीकार्न को सूर्यदेव के साथ दिखाया गया है। वह अन्य अनेकानेक मुहरों का हवाला देते हुए वैदिक उल्लेखों से इनकी अकाट्य पुष्टि वर्ष, दिवस और ऋतुओं तथा महीनों के मामले में पाते हैं। देखें, 'इंटरप्रेटेशन ऑफ़ सर्टेन प्रोटो इंडियन फिगर्स,' प्रोटो इंडिका, 1970, 1.0;2.2, तथा तालिका 1 व 2.

63. ऋ. 1.25.8
64. विषुवान् दिवा कीर्त्यं । यथा शलायै पक्षसी । एवं संवत्सरस्य पक्षसी । ऐब्रा. 1.2.3; विषुवन्तं मध्ये संवत्सरस्य एतेन वै देवाः ।। ऐब्रा. 18.18; दीक्षित, भारतीय ज्योतिष, 1957, 71.
65. स वा एष न कदाचन अस्तमेति न उदेति तं यः स्तमेति इति मन्यन्ते अह्न एव तत् अन्तं इति अथ आत्मानं विपर्यस्यते रात्रि एव अवस्तात कुरुते अहः परस्तात् अथ ।। ऐब्रा. 14.6.
66. आदित्यः असि दिवि श्रितः । चन्द्रमसः प्रतिष्ठा ।...चन्द्रमा आदित्ये श्रितः । नक्षत्राणां प्रतिष्ठा ।...नक्षत्राणि चंद्रमसि श्रितानि । संवत्सरस्य प्रतिष्ठा । तैसं. दीक्षित द्वारा उद्धृत, पूर्व., 25.
67. इयं वै पृथिवी सर्पराज्ञी तत् अनया एव एतत् सर्वं आप्नुवन्ति...शतब्रा. 4.5. 11.17.
68. ऋ. 1.24.9; 6.50.7; 8.112.2; 10.97.6
69. ऋ. 2.33.4
70. ऋ. 1.112.8; 10.39.3
71. ऋ. 1.116.17
72. ऋ. 10.39.4
73. ऋ. 1.116.13
74. ऋ. 1.116.15
75. वैदिक इंडेक्स, 2, 116.
76. वही.
77. वही, 399-404.
78. वही, 400.
79. ऋग्वेद के काव्यात्मक अंशों में से कुछ को इन कविताओं के साहित्यिक सौन्दर्य को समझने के लिए यहाँ प्रस्तुत करना उचित होगा : जिस प्रकार श्वेत बलाकाओं का दल पंक्ति बाँध कर आवाज़ करता हुआ चलता है, उसी तरह कवियों द्वारा उठायी गयी ध्वजाओं या 'स्तुतियों' के पीछे पंक्ति बनाकर देवता चल रहे हैं ।

    हंसाः इव श्रेणिशः यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरतः नः आगुः ।
    उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्तात् देवाः देवानं अपि यन्ति पाथः ।। 3.8.9

    अरणियों के भीतर अग्नि उसी तरह सुरक्षित पड़े हुए हैं जैसे मा के गर्भ में शिशुः

    अरण्योः निहितः जातवेदाः गर्भः इव सुधितः गर्भिणीषु । ऋ. 3.29.2

    पर्वतीय भाग से निकल कर उल्लास से भरी हुई व्यास और शतलज नदियाँ एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा करती तीव्र वेग से कुछ इस तरह भागी चली जा

रही हैं जैसे बछड़े को चाटती हुई कोई गाय भाग रही हो।
प्र पर्वतानां उशती उपस्थात् अश्वे इव विसिते हासमाने।
गावा इव शुभ्र मातरा रिहाणे विपाट् शुतुद्री पयसा जवेते ।। ऋ. 3.33.1.
जैसे घर की मालकिन उठकर घर के सदस्यों को पुचकार कर जगाये वैसे ही उषा तड़के उठ कर थक कर सोये हुए राहगीरों को पाँवों पर खड़ा करती है, पक्षियों को उठाती है, काम पर जाने वालों को काम पर जाने के लिए प्रेरित करती है, भिखारियों को फेरी पर जाने के लिए प्रेरित करती है। पक्षी पंख झाड़कर उड़ चलते हैं। यह कहीं ठहरती नहीं और इसके उठने पर कोई शिथिल नही रह पाता।
आ घ योषा इव सूनरी उषा: याति प्रभुंजती।
जरयन्ती वृजनं पद्वत् ईयते उत्पातयति पक्षिणः ।।
वि या सृजति समनं व्यर्थिनः पदं न वेति ओदती।
वय: नकि: ते पप्तिवांस: आसते व्युष्टौ वाजिनीवति ।। ऋ. 1.48.5.6
ये अंश सामान्य स्तुतियों के हैं। साहित्यिक और दार्शनिक महत्वाकांक्षा से लिखे हुए अंश; यथा सूक्त 1.164 भी काफी रोचक हैं।

80. गीता 4.1-3; रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, 6.5; श्रीमद्भागवत, 1.3.17.

अध्याय ग्यारह

धर्म और विश्वास

हड़प्पा सभ्यता को वैदिक सभ्यता से भिन्न सिद्ध करने के लिए जो प्रमुख तर्क दिये जा रहे हैं उनमें से एक धर्म और विश्वास की भिन्नता पर आधारित रहा है। यह बात बार-बार दुहरायी जाती रही है कि वैदिक समाज पितृ-प्रधान था, और उसके देवता मुख्यत: पुरुष थे, जब कि हड़प्पा सभ्यता मातृ-प्रधान थी और इसमें मातृ-देवियों का प्राधान्य था।[1] हड़प्पावासी लिंगपूजक थे, जब कि ऋग्वेद में इसकी भर्त्सना की गयी है [2], हड़प्पा सभ्यता का एक प्रधान देवता रुद्र था जब कि वैदिक परम्परा में इसके प्रति भय और उपेक्षा का भाव दिखायी देता है[3]; हड़प्पावासी साँपों, पशुओं तथा वृक्षों की पूजा करते थे जब कि वैदिक परम्परा में इनको बाद में अपनाया गया[4]; और अन्तत:, वैदिक देवताओं की तुष्टि के लिए यज्ञों का अनुष्ठान करते थे, जब कि हड़प्पा में मूर्तिपूजा का प्रचलन था।[5]

उक्त मान्यताएँ आर्य आक्रमण की निराधार कल्पना की देन हैं और उसी तरह एक अन्ध-विश्वास का रूप ले चुकी हैं। ये भाववादी अँटकलों, एकपक्षीय आँकड़ों और सतही व्याख्याओं पर टिकी हुई हैं। इनके खोखलेपन को समझने के लिए धर्म और विश्वास की अपनी प्रकृति को समझना और फिर इनमें से प्रत्येक पहलू की गहराई में उतर कर जाँच करना ज़रूरी है।

2

धर्म और विश्वास की प्रकृति

धर्म और विश्वास हवा में पैदा नहीं होते। उनका एक ठोस भौतिक आधार होता है। पर भौतिक यथार्थ से इनका सम्बन्ध बिम्ब-प्रतिबिम्ब का न होकर तिर्यक होता है। दूसरा अन्तर यह होता है कि भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आने के बाद धर्म और विश्वास में तदनुरूप परिवर्तन नहीं होता। एक बार

मान्यता पा लेने के बाद इसमें अतिजीविता की एक ऐसी प्रवृत्ति आ जाती है जो न केवल स्वतः बदलने से इनकार करती है, अपितु अपनी शक्ति के अनुसार भौतिक परिवर्तनों को भी रोक रखने की या उनमें बाधा पहुँचाने की कोशिश करती है। उसके पीछे दो बातों का हाथ होता है। इनमें से एक तो यह है कि उनका बहुलांश तर्क और विचार पर आधारित नहीं होता, अतः एक बार हमारी अन्तश्चेतना का अंग बन जाने के बाद यह अविचारित रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होता है। दूसरा यह कि संस्थाबद्ध हो जाने के बाद इससे एक वर्ग का अपना हित, अस्तित्व और प्रभाव जुड़ जाता है और यह वर्ग अपने प्रभाव का प्रयोग अपने हित और अस्तित्व की रक्षा, और इसलिए, उन पूर्व-रूपों को अविकल बनाये रखने के लिए करता है।

इसके बावजूद परिवर्तन होते हैं और ये धर्म और विश्वास के स्तर पर दो रूपों में व्यक्त होते हैं। परिवर्तन की ओर अग्रसर होने वाला और इससे सबसे अधिक लाभान्वित होने वाला वर्ग धर्म और विश्वास के स्तर पर भी नये परिवर्तनों को प्रश्रय देता और अपनी ओर से इसको यथासम्भव मान्य बनाने का प्रयत्न करता है। नये परिवर्तनों से न तो पूरा समाज समान रूप से लाभान्वित होता है, न ही नये धर्म और विश्वास सभी वर्गों में समान रूप से स्वागत पाते हैं। अपेक्षाकृत पिछड़े जीवन-स्तर से जुड़े हुए लोग धर्म और विश्वास के मामले में भी पिछड़े स्तर पर बने रह जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो, धर्म और विश्वास का एक वर्गीय आधार होता है और इसकी उपेक्षा करके हम न तो किसी समाज में प्रचलित विभिन्न मतों और मान्यताओं को समझ सकते हैं और न ही इनके अन्तःसम्बन्धों को उजागर कर सकते हैं।

दूसरी ओर, नये धर्म और विश्वास को उत्साह से अपनाने वाला वर्ग भी अपने पुराने विश्वासों से पूरी तरह मुक्ति नहीं पा लेता। यदि वह बहुत आग्रहशील हुआ और पुराने विश्वासों को एक सिरे से वर्ज्य ठहराने की ज़िद पर आ गया तो भी अपने परिवेश के धर्मों और विश्वासों के दबाव से वह पूरी तरह मुक्त नहीं रह पाता और आरम्भिक कठोरता के शिथिल पड़ते ही इसके द्वारा परित्यक्त और वर्जित विश्वास भी चोर दरवाजे से इसमें प्रवेश पा जाते हैं। पर सामान्यतः आम जनता के लिए अपने पुराने विश्वासों से, जिनके साथ उसकी गहरी आस्था जुड़ी होती है, पूरी तरह मुक्त हो पाना कठिन होता है और इसलिए नये विश्वासों को अपनाने के साथ ही वह पुराने विश्वासों का नये रूप में समायोजन करता है। इस तरह एक ही समाज के धर्म और विश्वास में युग-युगान्तर से चले आ रहे अनेक घटकों का गुंफन हो जाता है जिनमें से अनेक तो घोर अन्तर्विरोधी होते हैं।

धर्म और विश्वास की यह दूसरी प्रवृत्ति इसका अध्ययन विकासवादी रूप में करने की माँग करती है और साथ ही इस बात की माँग कि इसमें छिपे

अन्तर्विरोधों के वर्गीय आधार की, और आविर्भाव के विभिन्न चरणों की, शिनाख्त करते हुए इनको सुलझाने का प्रयत्न किया जाये। ऐसा न करके इनको दो जातियों या दो विरोधी स्रोतों की देन मान कर एक सतही समाधान जुटा लेना यान्त्रिक समझ को प्रकट करता है।

धर्म और विश्वास की एक विशेषता यह भी है कि इसके जो तत्व अपेक्षाकृत अधिक तर्कहीन और पुरातन होते हैं उनमें अतिजीविता की शक्ति उसी अनुपात में अधिक होती है। नये विश्वासों और मान्यताओं में अपेक्षाकृत कम अतिजीविता होती है। पुरातन तत्वों की पहचान का एक उपाय यह देखना है कि इनमें भय और असुरक्षा का भाव कितना अधिक प्रधान है। दूसरे शब्दों में, वे देवता अधिक पुराने हैं जिनकी तुष्टि न होने पर वे उपद्रव खड़ा कर सकते हैं बनिस्बत उन देवताओं के जो कृपा करने पर लाभ तो दे सकते हैं, पर जिनकी पूजा न की जाये तो वे किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं करते। इस दृष्टि से प्रेतों और भूतों में विश्वास, मातृ-देवियों आदि में विश्वास की अपेक्षा अधिक पुराना सिद्ध होगा, और मातृ-देवियों और रुद्र आदि में विश्वास अन्य देवताओं की तुलना में अधिक पुराना। जादू-टोने में विश्वास यज्ञ आदि की तुलना में अधिक पुराना है, और ईश्वर के अवतारों आदि की तुलना में यज्ञ आदि।

अपने प्रस्तुत अध्ययन में हम ऊपर की इन प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए हड़प्पा सभ्यता के देवताओं और विश्वासों को समझने का प्रयत्न करेंगे।

3

मातृ-दवियाँ

यह सच है कि हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से मातृ देवियों के अस्तित्व की पुष्टि होती है, पर न तो यह सच है कि इसका वैदिक समाज के अपने धर्म और विश्वास से विरोध है, न ही यह कि ये ही हड़प्पा सभ्यता की—इसके उन्नत वर्ग की—प्रधान उपान्य शक्तियाँ थीं, और न ही यह कि हड़प्पा सभ्यता मातृ-प्रधान थी। वस्तुतः मातृ-प्रधान और पितृ-प्रधान शब्द बहुत व्यापक शब्द हैं और प्रत्येक समाज में मातृ-प्रधानता और पितृ-प्रधानता के आनुपातिक भेद भी होते हैं और इन शब्दों का प्रयोग करते समय हम प्रायः इन अनुपात-भेदों को भूल जाया करते हैं। मातृ-प्रधान समाजों का औचित्य विकास के एक स्तर से आगे बढ़ने पर मिट जाता है और इसलिए विकास के निश्चित चरणों से भी समाज की पितृ-प्रधानता और मातृ-प्रधानता का गहरा सम्बन्ध होता है। प्राधान्य का निश्चय इस बात से भी होता है कि किसी समाज या समुदाय में पहले विवाह-संस्था का क्या रूप रहा

है ? यदि इसके अनुसार लड़की अपने पिता के घर से वर के घर में दान या लूट या किसी अन्य रीति से आती रही है तो उस समुदाय का पितृ-प्रधान होना अनिवार्य था। कारण, ऐसी स्थिति में सम्पत्ति के हस्तान्तरण का पिता-पुत्र का क्रम होगा और समाज के सभी नियम और कानून पुरुषवर्ग को प्रधानता देते हुए निर्मित होंगे। इससे विपरीत स्थिति में समुदाय मातृ-प्रधान होगा और यही स्थिति इसके नियमों और आचारों की होगी। प्राय: प्राधान्य का निश्चय करने के लिए उत्पादक कार्यों में स्त्री और पुरुष की भागीदारी का प्रश्न भी उठाया जाता है, पर यह एक विशेष अर्थ में ही सही है। उत्पादन में प्रत्यक्ष भाग लेने वाले उत्पाद के स्वामी ही हों, यह अनिवार्य नहीं। इसके विपरीत हम पाते हैं कि उत्पादन के स्रोतों पर अधिकार जमाने के बाद इसके स्वामित्व का दावा करने वाले स्वतः दूसरों से ही काम कराते रहे हैं और स्वयं इन उत्पादों को हड़पने के लिए अपेक्षित तन्त्र का विकास करके अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाये रहे हैं। अत: केवल काम नहीं, अपितु सम्पत्ति और उत्पाद पर अधिकार और जहाँ तक काम का सवाल है, काम के क्षेत्र और प्रकृति के चुनाव की स्वतन्त्रता को सामने रख कर ही प्राधान्य का निश्चय करना निरापद होगा, अन्यथा हम पायेंगे कि प्रभुवर्ग की स्त्रियों, दासों और पुत्र आदि आश्रितों को उनकी अपेक्षा हमेशा अधिक काम करना पड़ता रहा है।

हड़प्पा सभ्यता की मातृ-देवियों की अनगढ़ आकृतियों की तुलना यदि हम इसके अवशेषों में प्राप्त अन्य प्रतिकृतियों से, जिनमें मुहरों पर अंकित प्रतिमाएँ भी हैं, करें तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि इनका निर्माण उन्हीं सधे हाथों से नहीं हुआ है जिनके द्वारा शेष आकृतियों का। इसका अर्थ ? ज़ाहिर है कि ये हड़प्पा के शहरी प्रभुवर्ग की देवियाँ नहीं हैं। इनका सम्बन्ध उनके दासों, सेवकों, स्त्रियों आदि से है। इनकी लोकप्रियता नगरों की अपेक्षा गाँवों में अधिक दिखायी देती है। अब यदि हम आज तक नागर और ग्राम्य देवों-देवियों के अन्तर पर ध्यान दें तो पायेंगे कि इसमें हड़प्पा काल से आज तक कोई अन्तर नहीं दिखायी देता।

गाँवों में आज भी सबसे लोकप्रिय देवता काली या दुर्गा और शिव हैं। कोई ऐसा गाँव हो ही नहीं सकता जिसकी अपनी काली और अपने ग्राम-देवता—या शिव-डीह या ब्रह्म बाबा—न हों। मुण्डन, विवाह आदि सभी आयोजनों में इन देवताओं के स्थल पर जाना और आपदाओं के निवारण के लिए इनको तुष्ट करने के लिए मनौतियाँ मनाना और चढ़ाना भारत के उस समूचे क्षेत्र में एक अनिवार्य-सी चीज़ है जिसे आर्य प्रभाव से प्रभावित माना जाता है। इसके विपरीत, नगरों में इन देवताओं के स्थान अपेक्षाकृत बहुत कम मिलेंगे और जो हैं भी वे बहुत प्राचीन नहीं। वास्तव में ये सम्बन्धित ग्राम-क्षेत्रों के नगर की सीमा में आ जाने के परिणाम हैं। दूसरी ओर, विष्णु और, इनके अवतारों के मन्दिर गाँवों में शायद ही कहीं मिलें,

पर नगरों में इनका प्राधान्य दिखायी देता है।

इस अन्तर के तीन प्रधान कारण माने जा सकते हैं : ग्रामीण अंचलों में प्राचीनतम देवताओं और विश्वासों का बना रहना; उनकी अर्थ-व्यवस्था की अपनी ज़रूरतें और उनकी आर्थिक स्थिति। दूसरे शब्दों में कहें तो, ग्राम-देवताओं में काली दुर्गा और शिव की प्रधानता का एक कारण यह भी है कि ये प्राचीनतम देवाताओं में से दो हैं। शैव और शाक्त मतों में भी परस्पर गहरे साम्यों का एक कारण इनका बहुत प्राचीन काल से एक ही समाज में प्रचलन रहा है। इनकी प्राचीनता का सही अनुमान कर पाना कठिन है, पर शिव के कपाली और काली के मुंडमाला-धारिणी रूप से इस बात का सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका प्रचलन वन्य जीवन के उस काल में भी था जब नरभक्षण वर्जित नहीं था। यही दुर्गा—दुर्गम प्रदेशों या जंगलों और पर्वतों में विचरण करने वाली देवी, अरण्यानी[6] या अरण्य की देवी से भी प्रकट होता है। ग्राम-सीमा से बाहर किसी वृक्ष के नीचे काली आदि की वेदी का होना भी उस वन्य जीवन से इसके सम्बन्ध का अवशेष है। ग्राम्य देवता के रूप में इसकी प्रतिष्ठा का दूसरा कारण रहा है उर्वरता से और विशेषतः कृषि और पशुधन की वृद्धि से इसका सम्बन्ध जिस पर हम आगे विचार करेंगे। और अन्तिम कारण रहा है इसकी तुष्टि के लिए न तो किसी लम्बे तामझाम की ज़रूरत होती है, न ही मन्दिर और पुजारी आदि का चक्कर, जो वैदिक यज्ञों में या विष्णु के अवतारों आदि से सम्बन्धित मन्दिरों आदि के मामले में देखा जाता है, और जो गाँवों में बसने वालों के लिए आर्थिक दृष्टि से असाध्य था।

हड़प्पा के अवशेषों पर नज़र डालने पर हम पाते हैं कि इसके नगरों में मातृ-देवियों का उतना प्राधान्य नहीं था जितना सामान्यतः मान लिया गया है। कारण, सभी मृण्मूर्तियों को देवी की मूर्ति मान लेना निरापद नहीं है। इनमें में अधिकांश तो अनगढ़ हाथों से बनाये गये बच्चों के खिलौने प्रतीत होते हैं। ऐसी मूर्तियों की संख्या बहुत कम है, जिन्हें सही अर्थ में मातृ-देवियों का द्योतक माना जा सकता है, और इनकी जो छवि उभर कर आती है वह है इनकी उर्वरशीलता या जननशीलता। हम इन्हें किसी अन्य भूमिका में नहीं पाते। उर्वरता के इस पहलू पर हम पृथक् रूप से विचार करेंगे पर यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इसका गर्भिणी महिला से अधिक उपयुक्त प्रतीक ही न हो सकता था। इससे समाज की मातृ-प्रधानता नहीं प्रकट होती।

मातृ-प्रधान समाज एक निश्चित स्तर के विकास से आगे नहीं बढ़ सकता। कारण, प्रजनन और शिशु-पालन के नैसर्गिक अवरोधों के कारण स्त्रियों की गति-विधियाँ एक निश्चित सीमा में बँध कर रहने को बाध्य हैं। अतः जब कभी मातृ-प्रधान समुदायों का सवाल आता है हमारे सामने अपेक्षाकृत अविकसित कबीलों

का ही उदाहरण पेश किया जाता है। विकसित सभ्यताएँ, चाहे वे नयी दुनिया की रही हों या पुरानी दुनिया की, निरपवाद रूप में पितृ-प्रधान दिखायी देती हैं। हड़प्पा सभ्यता के विकास के स्तर को देखते हुए और इस तथ्य को सामने रखते हुए कि इसका एक प्रमुख आधार विदेश-व्यापार था और इसके चलते इसके लोगों का सम्पर्क मध्येशिया से लेकर पश्चिमी एशिया के देशों से स्थल और जल-मार्ग के द्वारा था, इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि यह समाज मातृ-प्रधान रहा हो सकता है, या कहें, इन यात्राओं पर स्त्रियाँ जाती रही हो सकती हैं। अतः हड़प्पा सभ्यता के मातृ-प्रधान होने का खण्डन सैद्धांतिक आधार पर ही हो जाता है।

हड़प्पा के अवशेषों पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि इसका देव-समाज मातृ-देवियों तक सीमित नहीं था। जो लोग मातृ-देवियों पर अपेक्षा से कुछ अधिक बल देते हैं वे भी कम-से-कम यह तो स्वीकार करते ही हैं कि इसका एक प्रधान देवता पशुपति रुद्र था। रथचालन, शिकार आदि के सन्दर्भ में भी केवल पुरुषों को ही मूर्त किया गया है। इसके विपरीत हड़प्पा की प्रसिद्ध नर्तकी इस बात की सूचना देती है कि इस समाज में स्त्री पुरुष के मनोरंजन का साधन थी। मिट्टी का एक खण्डित मुखौटा जो स्पष्टतः नारी का है, इसकी कर्मठता को नहीं अपितु इसकी कमनीयता और रूपाशक्ति को ही प्रकट करता है। पर एक पुरुष की खण्डित प्रतिमा जो हड़प्पा के उल्लेखनीय अवशेषों में आती है, इस समाज में पुरुष के अधिकार और प्रभुत्व को प्रकट करती है।

इसके साथ ही यह मात्र आकस्मिक बात नहीं है कि हड़प्पा की मुहरों पर अंकित सभी पशु पुरुष हैं और मुहरों पर मादा आकृतियों को स्थान नहीं दिया गया है। वृषभ, वराह, हाथी आदि जिन पशुओं को प्रमुखता से चित्रित किया गया है, उन्हीं से वैदिक देवताओं की बार-बार तुलना की गयी है। जैसे पशुपति की प्रतिकृति मानी जाने वाली उत्कीर्ण प्रतिमा के विचित्र रूप और परिवेश को ध्यान में रखते हुए यह नहीं माना जा सकता कि यह किसी मनुष्य का शैलीबद्ध प्रस्तुतीकरण है उसी प्रकार अनेक सिरों वाले, विचित्र रूपाकार वाले विशिष्ट अंकनों से युक्त और अनूठी मुद्राओं वाली पशु-आकृतियों को देखते हुए जिनके सामने कुछ खाद्य पदार्थ विशेष आदर और सम्मान के साथ सजाये गये हैं, यह मानने की बाध्यता उत्पन्न होती है कि ये देवताओं के प्रतीक हैं[7] और इनके वैचित्र्य की व्याख्या ऋग्वेद से ही सम्भव दिखायी देती है। इस पहलू के सामने आने पर हम ऋग्वैदिक देवसमाज और हड़प्पा के देवसमाज में असाधारण सादृश्य पाते हैं।

डॉ. बासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं, "अनेक मुद्राओं पर चित्रित एकशृंग पशु की पहचान वृषशृंग से की जा सकती है।" वह ऋग्वेद के मन्त्र 8.17.13 का हवाला देते हैं और लिखते हैं, "इस मन्त्र में इन्द्र के नाती किसी कुण्डपाय्य कूंडे में

खाने-पीने वाले, वृषभ का उल्लेख है, जिसमें ऋषि अपना मन लगाना चाहता है । कुण्डपाय्य शृंगवृष को व्यक्ति विशेष का नाम मान लिया गया है, किन्तु स्पष्ट ही वह इस प्रकार के पशु का भी सूचक है जिसका सम्बन्ध विशेषतः इन्द्र से था । इसे ही आगे चल कर हम रुद्र के वृषभ में पाते हैं, क्योंकि रुद्र को इन्द्र का ही रूप माना गया है । पशु के सामने एक विचित्र स्तम्भ या ध्वजचिह्न है । सभी मुद्राओं पर इस ध्वज के तीन भाग हैं—(1) एक गोल सलामीदार यष्ठिभाग या गावदुम मझलेट; (2) लाट के ऊपर रखा हुआ कटोरा जिसके बाहरी भाग में कमल के बीजकोश की तरह दाने हैं या जो खाँडेदार आकृति का है, या जो चौकोर या गोल वेदिका की आकृति का है । यह कटोरा वह कुण्ड जान पड़ता है जिसमें से शृंगवृष को खाने-पीने वाला कहा गया है । सम्भवतः वह इन्द्र का सोमभाग था और उसकी पहचान सोमकुण्ड या सोमकद्रुक, या सोमचमस से की जा सकती है...।"[8]

डॉ. अग्रवाल अपने तर्क को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं, "स्तूप के मस्तक पर हर्मिका के बीचोबीच एक क्षत्रमयी यष्टि देखी जाती है । यहीं देवों का निवास माना जाता था । ज्ञात होता है कि सिन्धु घाटी के इन स्तम्भों पर वह भाग देव-सदन या विश्वदेवों का स्थान माना जाता था ।" वह ऋग्वेद के 'यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः सं पिवते यमः ।'[9] का हवाला देते हुए बड़े सारगर्भित रूप में अपनी मान्यता की पुष्टि करते हैं । उनके अनुमान से सैन्धव सभ्यता के मुद्रा-स्तम्भ रुद्र-ध्वज के रूप में कल्पित किये गये थे । वह सिन्धु घाटी से प्राप्त मातृदेवी की मृण्मूर्तियों को महीमाता या अम्बिका की मानते हैं, जिनको रुद्र की बहन कहा गया है ।[10]

वह लिखते हैं, "वेदिका के कोणात्मक चित्रण से नितान्त स्पष्ट है कि यह स्तूप-गत हर्मिका जैसी ही थी । कुछ मुद्राओं पर वेदिका के खुले भाग से अग्नि की ज्वाला या धुँआ उठता हुआ दिखाया गया है ।" मोहनजोदड़ो आदि से और इससे भी पूर्ववर्ती कुल्ली से प्राप्त शृगान्तर से युक्त एक महावृषभ को जिसे तीन रस्सियों से बँधा दिखाया गया है, वह ऋग्वेद के "त्रिपादबद्धो वृषभः महादेवः..."[11] में प्रतिबिम्बित पाते हैं ।[12]

डॉ. अग्रवाल की मान्यता में कुछ संशोधन की आवश्यकता हो सकती है, पर इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ये पशु-आकृतियाँ मुख्यतः उन्हीं देवों की प्रतिकृतियाँ हैं जिनको हम ऋग्वेद में पाते हैं और ऋग्वेद की सहायता के बिना इनकी व्याख्या सम्भव नहीं है । इसका एक अन्य उदाहरण मोहनजोदड़ो से प्राप्त तीन शीर्षों वाला वह विचित्र पशु है जिसका एक सिर वृषभ का है जो झुका हुआ है, दूसरा हिरन का जो मध्य में है और तीसरा बकरे का जो सबसे ऊपर और पीछे की ओर मुड़ा हुआ है । इसे अग्नि के तीन रूपों का द्योतक माना जा सकता है ।

इस तरह समग्र चित्र को सामने रखने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हड़प्पा सभ्यता की एक मात्र देवता मातृदेवी ही नहीं हैं, इस देवी के भी अनेक रूप हैं, और यह इस समाज के पुरुष-प्रधान देवसमाज को देखते हुए सबसे प्रधान नहीं मानी जा सकती। इसके बावजूद ग्रामीण अंचलों में इसका प्रभाव सबसे अधिक रहा लगता है जहाँ उर्वरता की देवी का अपेक्षाकृत अधिक औचित्य था। नागर समाज ने अपने लिए भिन्न देवताओं को प्रधान देवों के रूप में चुन रखा था जिनके अंकन में विशेष सावधानी और सूझबूझ का परिचय दिया गया है और जिनके लिए प्रयुक्त उपादान—पत्थर—भी अपनी कहानी कहता है और इस तरह हड़प्पा सभ्यता का समाज मातृ-प्रधान न सिद्ध हो कर पितृ-प्रधान सिद्ध होता है और इन सभी मामलों में वैदिक समाज से इसका अभिन्न साम्य दिखायी देता है।

4
उर्वरता की उपासना

जिसे सामान्यतः लिंग-पूजा कहा जाता है उसके लिए अधिक उपयुक्त शब्द उर्वरता की उपासना है। इसके लिए जो प्रतीक आज देखने में आता है उसके पीछे एक लम्बे चिन्तन और उसी के अनुरूप जटिल और विकसितदृष्टि का हाथ है। जब हम इसे लिंग-पूजा कहते हैं तो इसको किंचित भोंड़े रूप में पेश करते हैं और फिर इसकी तर्कसंगति को पकड़ने के प्रयत्न में एक लम्बी छलाँग लगाते हैं। चट्टोपाध्याय लिखते हैं, "आदिम विश्व-दृष्टि का सबसे प्रधान लक्षण देहवाद प्रतीत होता है", अर्थात् यह दृष्टिकोण कि "मानव काया विश्व का सूक्ष्म रूप है, और इसके साथ जुड़ा है" एक सृष्टि-दर्शन कि विश्व की उत्पत्ति "पुरुष और नारी के संयोग से हुई।"[13] यह सच है कि भारतीय चिन्तन अपने क्रमिक विकास में उस बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ 'जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में' दिखायी देता है, पर इसे आदिम विश्व-दृष्टि मानना ठीक नहीं लगता। यह कुछ वैसा ही है जैसे अणु को ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म रूप मानने की या आज परमाणु को सौर-मण्डल का सूक्ष्म रूप मानने की कल्पना को आदिम सूझ मान लेना। वस्तुतः विश्व-दृष्टि जैसी सर्वग्राही और अमूर्त अवधारणा की कल्पना आदिम समाज के साथ कुछ अधिक सावधानी के साथ ही की जा सकती है। सूर्य, चन्द्रमा, तारों आदि को देख लेना, उनके सम्बन्ध में कहानियाँ गढ़ लेना या कल्पनाएँ कर लेना अलग बात है और इन सबको और सृष्टि के शेष तत्वों को एक व्यवस्थित और तर्कसंगत दृष्टिकोण में समाहित कर लेना बिलकुल दूसरी ही बात। यह ज्ञान और तकनीक के विकास के क्रम में एक निश्चित चरण के बाद, और कुछ विशिष्ट अनुभवों के सन्दर्भ में ही,

सम्भव है और जब हम विश्वदृष्टि की बात करते हैं तो हमेशा इस बात की खोज जारी रहनी चाहिए कि इसके विभिन्न घटकों के पीछे मानव क्रिया-व्यापार के कौन-से पहलू हैं और इनसे अर्जित कौन-सा ज्ञान यहाँ काम कर रहा है।

वास्तबिकता यह नहीं है कि मनुष्य ने यह सोचा कि विश्व की उत्पत्ति पुरुष और नारी के संयोग से हुई है और इसे एक विश्व-दृष्टि का रूप दे दिया, अपितु यह कि उत्पादन के क्रम में उसने जिस सृष्टि-व्यापार को देखा उसको मूर्त करने के लिए उसे सबसे उपयुक्त प्रतीक प्रजनन-व्यापार ही लगा और इसी के माध्यम से उसने इसे मूर्त किया।

प्रकृति को एक माता के रूप में कल्पित करना आहार-संग्रह के दौर में भी सम्भव था। धरती और इस पर उगने वाली बनस्पतियाँ मनुष्य का पोषण कर रही थीं और इन्हें माता के रूप में कल्पित करना सर्वथा स्वाभाविक था और जैसा कि हम अगले खण्ड में देखेंगे उसने ऐसा किया भी। परन्तु इस काल तक प्रकृति के सूक्ष्म व्यापार का ज्ञान होना उसके लिए कुछ कठिन था और इसलिए पुरुष और नारी के संयोग की बात सम्भवतः उनके मस्तिष्क में नहीं आ सकती थी। पर कृषि का आरम्भ होने पर, धान्यों की उत्पत्ति और विकास के लिए उसे जल के महत्त्व का, वृष्टि के महत्त्व का ज्ञान होना ही था। अतः बादल उसे पर्जन्य या जनन करने वाली सत्ता प्रतीत हुए। बादलों से बरसने वाला जल उनमें कहाँ से आता है, इसका स्पष्ट ज्ञान उसे नहीं हुआ था। उसने सोचा, धरती का जल आकाश या द्युलोक में चला जाता है और फिर वही बरसता है। अतः उसने आकाश या द्यौ को पिता के रूप में और धरती को माता के रूप में कल्पित किया और इस चरण पर आकर प्रजनन की क्रिया और उर्वरता के बीच उसे एक सादृश्य दिखायी दिया। जिस तरह पुरुष नारी-गर्भ में रेतःसेक करता है और इसके परिणामस्वरूप सन्तान उत्पन्न होती है, नर-पशु मादा में रेतःसेक करता है और पशुओं के बच्चे पैदा होते हैं, उसी तरह द्यौ पिता माँ-धरती में रेतःसेक करता है और वनस्पतियाँ और धान्य पैदा होते हैं। यह धारणा उसके मन में इस तरह समा गयी कि उसे सर्वत्र इसी का सादृश्य दिखायी देने लगा और इसका मूर्तन उसने नर-नारी के युग्म में, पुरुष और प्रकृति के साहचर्य में किया और यह अवधारणा ही आगे चल कर सांख्य दर्शन के सृष्टि-विकास के सिद्धान्त में परिणत हुई। यह मानना सही नहीं लगता कि सांख्य दर्शन पूर्णतः भौतिकवादी दर्शन रहा है और इस पर बाद में पुरुष को आरोपित कर दिया गया है[14]; कारण, विकास के स्तर को देखते हुए पुरुष और प्रकृति के साहचर्य की या इन दोनों तत्त्वों के संसर्ग की मान्यता अधिक बुद्धिग्राह्य थी। इसके बावजूद यदि समस्त भौतिक विकास प्रकृति के अपने ही अन्तर्निहित द्रव्यों के विक्षोभ और संघटन से होता है तो इसमें किसी तरह की कठिनाई नहीं थी। कारण, प्रजनन में भी

रेत:सेक करने के बाद पुरुष अपने कार्य-भार से मुक्त हो जाता है और सन्तान की समस्त रचना माँ के गर्भ में और उसी के रक्त-मांस से होती है।

जो भी हो, ऋग्वेद में हम धरती को माँ के रूप में और आकाश को पिता के रूप में ही कल्पित नहीं पाते हैं, अपितु धरती गो है [15] ओर आकाश वृषभ[16]; धरती अदिति है [17] और सूर्य जिसे भी वृष्टिकारक माना गया है, आदित्य है।[18] ऋग्वेद में कई स्थलों पर धरती को उत्तान पड़ी स्त्री के रूप में कल्पित किया गया है जो जल के कल्पित स्रोत आकाश या अग्नि से गर्भ धारण करती दिखायी गयी है।[19] उसे ही सम्भवत: इन्द्राणी, वरुणानी, आदि रूपों में भी कल्पित किया गया हो सकता है[20], क्योंकि अग्नि को इन्द्र और वरुण के रूप में अनेक बार याद किया गया है[21] और सूर्य, इन्द्र, अग्नि आदि को ही बर्षा करने वाला देवता बताया जाता है।[22]

माता और पुत्र की यह कल्पना या स्त्री और पुरुष के संसर्ग से नयी चीज़ की उत्पत्ति की कल्पना आकाश और धरती तक ही नहीं रह जाती। खेत जोतने से बनने वाली हराई योनि है और किसान इसमें बीज बोता है[23]; अग्नि-मन्थन की अरणियाँ भी नर और मादा का रूप ले लेती हैं और अरणियों के गर्भ से अग्नि को जन्म लेते दिखाया जाता है।[24] यज्ञ स्वयं योनि है।[25] यज्ञ-वेदी योषा है।[26] जल स्वयं योषा है क्योंकि वृषाग्नि के मिथुन से प्रजनन बढ़ता है [27], उत्तरवेदी योनि है[28], औषधियाँ देवताओं की पत्नियाँ हैं[29], मूज योनि है[30], परिमंडल योनि है[31], उखा योषा है और जैसे योषा में रेत:सेक किया जाता है उसी तरह उखा में दूध रखा जाता है[32], पुष्कर-पर्ण योनि है[33], काला मृगचर्म सुकृत की योनि है[34], मन पुरुष है और वाणी योनि[35], वेणु अग्नि की योनि है[36], अग्नि यज्ञ की योनि है[37], उलूखल योनि है और मूसल शिश्न।[38] गर्भ और योनि शब्दों का ऋग्वेद में क्रमश: 96 और 122 बार प्रयोग हुआ है और इनका सामान्य अर्थ है 'धारण करने वाला' और 'उत्पत्ति का स्थान या कारण'। इन शब्दों का जितनी उदारता से प्रयोग हुआ है उससे यह तो ज़ाहिर है कि इनके पीछे प्रजनन क्रिया के लैंगिक पक्ष का हाथ रहा है, पर अपनी व्याप्ति में ये एक लिंग-निरपेक्ष रूप ले लेते हैं। जिस तत्व को एक सन्दर्भ में पुरुष-रूप में कल्पित किया जाता है उसी से जब किसी अन्य चीज़ की उत्पत्ति होती दिखायी देती है तो वह स्वयं उसकी योनि बन जाता है, जैसा कि अग्नि और जल के मामले में देखा जा सकता है। आरम्भिक सरलीकरण यह था कि प्रत्येक नये उत्पादन या सृजन के पीछे एक नारी-तत्व और और एक पुरुष-तत्व होता है, पर उत्पादन के सभी क्षेत्रों पर यह लागू नहीं हो पाता, अत: इसके पीछे कम-से-कम दो तत्वों या एक युग्म या मिथुन का हाथ माना जाने लगता है और यह ज़रूरी नहीं रह जाता कि इनमें से एक स्त्री और दूसरा पुरुष ही हो। निष्कर्ष यहाँ आकर रुक जाता है कि कोई भी चीज़ एकल रूप में

असमर्थ है, असहाय है। अतः कुछ भी करने के लिए एक की अपेक्षा दो का होना अधिक जरूरी है। ऐसी स्थिति में जहाँ तक सम्भव होता है, प्रतिलैंगिक मिथुन का तालमेल बैठाया जाता है; कारण, मिथुन ही प्रजनन है।[39] पर अन्यथा भी युग्म बनाने की यथासाध्य कोशिश दिखायी देती है। यह झक ही वैदिक देवशास्त्र में विविध देवों के युग्म बनाने की ओर प्रवृत्त दिखायी देती है, और हम एक ओर तो इन्द्र, वरुण, अग्नि, रुद्र, सविता, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवताओं के साथ इनकी पत्नियों की कल्पना होते पाते हैं और इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, रुद्राणी, सावित्री, वैष्णवी या लक्ष्मी, ब्रह्माणी या सरस्वती की प्रतिष्ठा पाते हैं और दूसरी ओर अश्विनीकुमारों, इन्द्राग्नि, इन्द्र-सोम, इन्द्र-वरुण, उषा-रात्रि, मित्र-वरुण, रुद्र-सोम, आदि के युग्मों की कल्पना पाते हैं[40] और कुछ मामलों में जहाँ किसी उत्पादन में जुटे हुए बहुत अधिक लोगों का सवाल आता है हम गणों की कल्पना होते पाते हैं। जब देवों के युग्म को हम बोगाज़कुई आदि के अभिलेखों में लक्ष्य करते हैं और इनके पीछे काम करने वाले तर्क को नहीं पकड़ पाते तो सतही ताल-मेल बैठाते हैं।

वस्तुतः प्रजापति या जगत का मूल कारण सभी चर-अचर वस्तुओं की उत्पत्ति का प्रेरक और स्रोत होने के कारण स्वयं ही रेत और योनि दोनों होने को बाध्य था।[41] वह सही अर्थ में अर्धनारीश्वर था। इस प्रजापति या सृष्टि के बीज और योनि के लिए कहा जा सकता है कि इसमें निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों विद्यमान थे, अतः न तो इसका इससे भिन्न कोई पिता था न माता, यह स्वयंभू था। पर इस अवधारणा और कल्पना का विकास किन भौतिक और तकनीकी परिस्थितियों में हुआ, इस पर हम सोम के सन्दर्भ में विचार करेंगे।

यहाँ हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि जिसे लिंग-पूजा कहा जाता है वह उत्पादन और सर्जन की, सृष्टि के कारणभूत तत्वों की लाक्षणिक पूजा है जिसके लिए लैंगिक सादृश्य सबसे अनुकूल प्रतीत हुए। इसके लिए जो प्रतीक आज प्रच-लित है उसका विकास कब और कैसे हुआ, इस पर भी हम सोम के सन्दर्भ में ही विचार करेंगे। मुख्य प्रश्न यह है कि इसका अस्तित्व उस परम्परा में अति प्राचीन काल से दिखायी देता है जिसके विकास के एक निश्चित चरण पर हम इसे ऋग्वेद में और इससे आगे लिपिबद्ध पाते हैं। इसके बावजूद ऐसा क्यों मान लिया गया कि 'लिंग-पूजा' या उर्वरता की पूजा अवैदिक है? इसके पीछे एक कारण तो यह माना जा सकता है कि ऋग्वेद में जिन लोगों की कटु आलोचना की गयी है उनको दो स्थलों पर 'शिश्नदेव' कहा गया है[42], जिसका अर्थ यह लिया गया कि वे शिश्न-पूजक थे और यदि वैदिक जनों के विरोधी शिश्नपूजक थे तो निश्चय ही तथाकथित लिंग-पूजा वैदिक परम्परा में उस परम्परा से अपनायी गयी होगी जिसकी यहाँ आलोचना की गयी है, और दूसरा कारण यह था कि 'लिंग-पूजा' का

सम्बन्ध शैव और शाक्त मतों से बना रहा है और रुद्र की भयावहता को देखते हुए इसे और मातृ-देवियों को भी अवैदिक देवता मान लिया गया।

'शिश्नदेव' का अर्थ सायण ने 'अब्रह्मचारी' किया है, जिसे सरल शब्दों में कामुक कहा जा सकता है। परन्तु वैदिक समाज में न तो परवर्ती कालों जैसी काम-वर्जना पायी जाती है, न वेदों में ब्रह्मचर्या का वह अर्थ जो बाद में प्रचलित हुआ। इसके बावजूद छात्रों को ब्रह्मचारी कहा जाता था[43] और छात्र-जीवन में उन्हें संयत जीवन बिताने की बात सर्वथा तर्कसंगत लगती है। जननांगों के प्रति या यौन आचरण के विषय में वेदों में जुगुप्सा या वर्जना का कोई भाव नहीं है, अत: शिश्नदेव का केवल एक ही अर्थ संगत लगता है और वह है ऐसा जन-समुदाय जो कबीलाई मुक्त सहवास से ऊपर नहीं उठ पाया है। यौन आचरण के विषय में एक निश्चित आचार-संहिता का विकास कर लेने के बाद वैदिक समाज के उच्च वर्ग को जंगली कबीलों की यह रीति निन्दनीय लगती रही होगी। इसे रामायण और महाभारत आदि में भी इसी भाव से प्रस्तुत किया गया है।[44]

5
रुद्र-शिव

रुद्र को अनार्य देवता सिद्ध करने के पीछे जो सबसे प्रधान कारण दिया जाता रहा है वह निम्न प्रकार है, "पशुपति या रुद्र की स्थिति वैदिक धर्म में कुछ अजीब-सी है। याजिकीय कृतियों में दूसरे सभी देवताओं को यज्ञ के स्थान पर आने को कहा जाता है, पर रुद्र को और उनके अनुगामियों (रुद्रियाः) को चले जाने को कहा जाता है। रुद्र का नाम तक वर्जित था। ऐतरेय ब्राह्मण में रुद्र का उल्लेख 'यह देवता या वह देवता जिसके नाम में भूत या पशु शब्द आते हैं' के रूप में आता है। ऋ. (2.33.1) में आने वाला रुद्र का नाम ऐतरेय ब्राह्मणः (13.9.10) में जान-बूझ कर 'रुद्रय' के रूप में ग़लत ढंग से लिया जाता है, और ऐसा भी लगता है कि 'अभि—', हमारी ओर, से आरम्भ होने वाले एक मन्त्र को जान-बूझ कर बदल दिया गया है कि कहीं इससे रुद्र को आने का बहाना न मिल जाये (ऐब्रा. 13.10.45)।

"यदि इन्द्र, वरुण और अन्य देवताओं की ही तरह रुद्र भी वैदिकों के ही देवता थे तो उनके प्रति यह उपेक्षा क्यों? ऐसा क्यों है कि रुद्र के लिए चढ़ावा वर्जित स्थलों पर डाल दिया जाता है, जब कि अन्य देवताओं का भाग यज्ञ में डाला जाता है? प्राचीन याजिकीय ग्रन्थों में अनेक विलक्षण तत्व हैं जिनसे प्रकट होता है कि वह वैदिक आर्यों के लिए एक पराये देवता थे।"[46]

रुद्र को अनार्य देवता सिद्ध करने के लिए दिये गये ये तर्क कुछ एकपक्षीय हैं और इनमें से कुछ को सन्दर्भ से काट कर रखा गया है। उदाहरण के लिए, उनके कल्याणकारी रूप की उपेक्षा कर दी गयी है।[47] रुद्र से इस बात के अनुरोध को कि वह अपने हथियारों की नोक को दूसरी ओर रखें, सम्भवतः उनको यज्ञ से दूर रहने का सूचक मान लिया गया है।[48] ऐतरेय ब्राह्मण में प्रयुक्त 'रुद्रिय' को जो काफी पहले से चली आ रही पाठगत असावधानी के कारण या वैदिक प्रयोगों की बहुरूपता—छान्दसं बहुलम्—के कारण है, सायण ने रुद्र की कठोरता को कम करने के लिए सायास अपनाया गया प्रयोग मान लिया था[49] और इसको ही इसे अनार्य सिद्ध करने का एक बहुत संगत कारण मान लिया गया है। वह देवता जिसके नाम के साथ भूत अथवा पशु शब्द जुड़ा है, जैसा प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण में जिस प्रसंग में आया है वह तो रुद्र की अतिप्राचीनता और वैदिक परम्परा के रक्षक देवता होने की पुष्टि करता है[50], इसकी अतिरिक्त उत्साह के कारण उपेक्षा कर दी गयी है और इस बात का ध्यान नहीं रखा गया है कि इस तरह के सांकेतिक प्रयोगों से देवताओं को सूचित करने की एक लम्बी परम्परा रही है।[51] यूनान में पाये जाने वाले रुद्र के प्रतिरूप को भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि इसे भी यूनानी आर्यों ने स्थानीय जनों से लिया होगा।[52] पर इन सबके बावजूद रुद्र का देवत्व अन्य सभी देवताओं से अधिक विचित्र है जो किसी को उलझन में डालने के लिए काफ़ी है; इस वैचित्र्य को रुद्र के देवत्व के विकास को सामने रखते हुए ही समझा जा सकता है।

रुद्र को अनार्य सिद्ध करने की मुहिम हड़प्पा सभ्यता में इसकी प्रतिष्ठा के बाद तेज़ हुई, पर इसका कुछ कारण इसका वैचित्र्य और कुछ रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में वैदिक व्याख्याकारों की उलझन रही है, यद्यपि यह उलझन केवल रुद्र शब्द के साथ ही नहीं अपितु सैकड़ों दूसरे शब्दों के साथ भी पायी जाती है। परम्परागत व्याख्याकार इसका अर्थ 'रुलाने वाला या द्रवित करने वाला' करते रहे हैं।[53] डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का ख़याल है कि रुद्र शब्द शिव शब्द का तर्जुमा है और शिव शब्द द्रविड़ का है जिसका अर्थ लाल है, अतः इसे लाल देवता कहा गया। इसी तरह वह शम्भु शब्द को भी द्रविड़ से सीधे लिया हुआ मानते हैं, जिसका मूल अर्थ भी लाल या ताम्र ही रहा है।[54] पर शिव शब्द का ऋग्वेद में केवल कल्याण के अर्थ में प्रयोग हुआ है। ठीक यही बात 'शं' के विषय में भी लागू होती है जिससे शम्भु शब्द बना है। रुद्र के लिए रूढ़ अर्थ में इनका प्रयोग बहुत बाद में आरम्भ होता है। इसके बावजूद इस बात की सम्भावना मानी जा सकती है कि रुद्र शब्द का मूल अर्थ लाल रंग वाला रहा हो, पर इसका कारण इसका अग्नि से अभेद, न कि अनार्य देवता होना प्रतीत होता है। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

हड़प्पा की जिस विशेष आकृति को रुद्र शिव का प्रतीक माना गया है उसे गुहा एक शिकारी का अंकन मानते हैं।[55] एस. आर. राव इसे अग्नि का प्रत्यंकन मानते हैं।[56] कुछ लोग इसे ध्यानस्थ योगी का चित्रण मानते हैं।[57] पर ये सभी लक्षण रुद्र के अपने देवत्व के अभिन्न अंग हैं। इस पर पौराणिकता की एक नयी पर्त चढ़ा दी गयी है। इस पर हम कुछ बाद में विचार करेंगे।

रुद्र के देवत्व को न रुद्र और शिव या किसी अन्य पर्याय की व्युत्पत्ति के आधार पर समझा जा सकता है, न ही इसे आर्य या अनार्य समाज का देवता करार दे कर। यह उन गणों का देवता है जिनमें से ही कुछ ने आगे बढ़ कर उस सभ्यता का निर्माण किया था जिसे हड़प्पा सभ्यता कहा जाता है और उस साहित्य की सर्जना की थी जिसे वैदिक साहित्य माना जाता है और इसके देवत्व को विकासपरक ढंग से ही समझा जा सकता है।

प्राचीनतम देवता

रुद्र उन कुछ थोड़े-से देवताओं में से एक हैं जिन्हें वैदिक समाज का प्राचीनतम देवता माना जा सकता है। किसी देवता की प्राचीनता के जिन लक्षणों की बात हम कर आये हैं उन्हें एक बार पुनः दुहराना जरूरी है। यह हैं उसके कल्याणकारी रूप के साथ ही उसका भयावह पक्ष; उसका अन्तर्विरोधी चरित्र जो विकास के क्रम में एक पर एक नयी परत चढ़ते चले जाने के कारण पैदा होता है, और इससे उत्पन्न जटिलता। भयावह देवताओं में रुद्र, धरती माता या अम्बिका, अग्नि और वरुण आते हैं। वरुण के देवत्व में जटिलता और अन्तर्विरोधों का अपेक्षाकृत अभाव है, क्योंकि अन्य देवताओं की तुलना में इसकी अतिजीविता कम रही है। इसके बावजूद यजुर्वेद तक हम इन सबसे इस बात का अनुरोध किये जाते पाते हैं कि वे 'हमें हिंसित न करे।[58] इनमें रुद्र और मातृदेवी अकाल और महामारी ला कर और अग्नि असावधानी में अग्निकाण्ड फैला कर भारी अनर्थ कर सकते थे। वरुण आहार-संग्रह के चरण में और बाद में भी 'टैबू' या निषेध और वर्जना के देवता यही काम प्रशासकीय कारणों से कर सकते थे और छोटी-से-छोटी असावधानी या प्रमाद के लिए घोर दण्ड दे सकते थे। इनके भयानक रूप को देखकर ही यह मान लेना कि ये विजातीय देवता रहे हो सकते हैं, ठीक नहीं है।

स्वयं वैदिक परम्परा के अनुसार भी रुद्र देवताओं में ज्येष्ठतम और श्रेष्ठतम हैं।[59] इस मामले में उनकी स्थिति अग्नि जैसी है जिन्हें भी देवताओं में प्रथम बताया जाता है और अग्नि शब्द की व्याख्या भी इस तरह की जाती है मानो यह अग्र का ही रूप-विकार हो।[60] दुर्गा को भी परवर्ती साहित्य में आर्या भगवती के रूप में ही याद किया जाता है।[61]

इस प्राचीनता के कारण, विभिन्न कालों में होने वाले परिवर्तनों के कारण जमती हुई पर्तों के कारण, इन तीनों देवताओं का व्यक्तित्व अन्तर्विरोधों का पुंज बन गया है। इन अन्तर्विरोधों का कारण कुछ सीमा तक इनके साथ जुड़ी संकल्पनाएँ भी हैं। अग्नि के देवत्व के विषय में हम कुछ चर्चा पीछे कर आये हैं और यथाप्रसंग उनके कुछ ऐसे पक्षों का विवेचन हम यहाँ भी करेंगे जिनका सम्बन्ध रुद्र से है। मातृदेवी और रुद्र के देवत्व में तो इतनी समानान्तरता है कि शिव के किसी भी पर्याय का लिंग परिवर्तन कर दें तो वह दुर्गा या मातृदेवियों का पर्याय बन जाता है और उनके किसी भी लक्षण को इनके भीतर पाया जा सकता है।[62]

रुद्र के देवत्व में पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों की स्थिति यह है कि वह अकेले देवता हैं जिन्हें उपवीती कहा गया है[63] और इसके बावजूद वह अकेले देवता हैं जो व्रात्य हैं।[64] एक ओर तो इसका सम्बन्ध प्रभावशाली वर्ग के विभिन्न पदों—मन्त्री[65], क्षेत्रपति[66], वणिक[67], क्षत्रिय[68], सेनानी[69], संग्रहीता[70], अधिवक्ता[71], सभापति[72] आदि से है तो दूसरी ओर इसके अर्थतन्त्र की सेवा करने वाले रथकारों, इषुकारों, कलालों, कर्मारों, तक्षकों, स्थपतियों, आदि से[73]; तीसरी ओर निषादों, पुंजिष्ठों, व्याधों आदि पिछड़े जनों से[74] और चौथी ओर इसका सम्बन्ध उन्नत वैदिक वर्ग को आतंकित करने वाले अपराध-कर्मियों—स्तेनों, तस्करों, आततायियों, निशाचरों आदि से।[75] यजुर्वेद के अध्याय 16 में उसका और उसके गणों का जो दायरा है उससे भूमि से ले कर आकाश तक का चर-अचर, सद-असद, कोई भी प्राणी, तत्व या गुण छूटा नहीं रहता। इन प्रखर अन्तर्विरोधों का कारण? इसका एक कारण तो इसकी प्राचीनता है और दूसरा है इसकी सर्वव्यापकता, जिसकी परिधि से कुछ भी बाहर नहीं रह जाता। अतः इन दोनों दृष्टियों से इसके इस अन्तर्विरोधी चरित्र को समझना जरूरी है।

रुद्र का उद्भव

रुद्र पाषाण-युगीन देवता है। आज भी रुद्र या शिव के नाम पर जलधाराओं के साथ बहकर आये हुए चिकने हुए पत्थर (वटिकाश्म) रखे जाते हैं जिन्हें, शिव कहा जाता है। इन पत्थरों का उपयोग पाषाण-काल का मनुष्य अपने हथियार बनाने के लिए करता था। प्रकारान्तर से कहें तो, इसकी पूजा शस्त्र-पूजा के रूप में या इसके उपादान के रूप में आरम्भ हुई जो पहले पूजा न हो कर इसके प्रति गहरा सम्मान-भाव या इसे कुछ यत्न के साथ जुटाने और सँभाल कर रखने तक सीमित रही होगी। ये पत्थर जिन धाराओं के साथ बह कर आते थे, वे इसकी बहनें थीं जिसकी सूचना अम्बिका (अम्बु-अम्बिका) में मिलती है।[76] स्तरीय चट्टानों से निकले इन शर्करों या पत्थर-खण्डों में से वे पत्थर उस रेखा पर अधिक आसानी से टूट सकते

थे जहाँ पर इनमें निशान बना होता है और इस तरह अलग हुए खण्डों में सहज ही तेज़ धार बन जाती थी, अतः सम्भवतः इन्हें अधिक उपयुक्त माना जाता था। यही निशान आगे चल कर शिव के उपवीत के रूप में कल्पित हुआ और यही कारण है उपवीती शिव (या वटिकाश्म) को ही पूजा के लिए ख़ास तौर से रखा जाता है। इन पत्थरों के रंग के अनुसार ही रुद्र के रंग की बात जुड़ गयी। अतः वह श्वेत रंग के या श्वितीची[77], ब्रभु[78], नीललोहित[79], लोहित[80] आदि हैं। यदि पाषाण-कालीन हथियारों पर दृष्टिपात करें तो रुद्र के रंगों को पहचानना कठिन न होगा। दो स्तरों के बीच पड़ने वाले निशान को 'उपवीत' तो उपवीत का चलन होने पर कहा जाना ही था। पहले इसे सम्भवतः कण्ठ या जोड़ ही कहा जाता था। जहाँ भेदक निशान नीला हुआ वहाँ इसका नाम नीलकण्ठ पड़ गया और श्वेत हुआ तो श्वेत-कण्ठ[81], नीलग्रीव[82], और शितकण्ठ[83] और एक ही साथ लाल, ब्रभु, नीललोहित और श्वेत रंगों वाले व्यक्ति या देवता का वह वैचित्र्य उस पाषाण काल में ही क़ायम हो गया था जिसे लेकर बाद में कहानियाँ गढ़ ली गयीं। इसका सहस्राक्ष[84] नाम सम्भव है बाद में पड़ा हो, पर यदि यह भी उन पाषाणी हथियारों के कारण उसी काल में पड़ गया हो जिनको पैना बनाने के क्रम में इनमें अनेकानेक कटाव बन जाते थे तो कोई आश्चर्य नहीं।

वैदिक साहित्य में रुद्र को बार-बार अग्नि से अभिन्न माना गया है। रुद्र के विकास-सूत्र को न समझने के कारण यह तथ्य इस द्रविड़ देवता पर वैदिक देवता का आरोपण जैसा प्रतीत होता रहा है। पर इसका रहस्य भी पत्थरों के औज़ार बनाने के भीतर ही छिपा है। औज़ार गढ़ते समय आग की चिनगारियों को निकलते देख कर मनुष्य को यह सोच कर विस्मय अवश्य हुआ होगा कि वही आग जो जब-तब जंगलों में, और विशेषतः बाँस के वनों में रगड़ से, उत्पन्न हो जाती है वह इन पत्थरों के भीतर भी विद्यमान है। ज़रूरी नहीं कि इस समय तक मनुष्य ने आग का उपयोग सीख ही लिया हो, यह भी ज़रूरी नहीं कि इस नये तत्व की ओर उसका ध्यान भी पहली ही बार में चला गया हो। अधिक सम्भव है कि हज़ारों वर्षों तक वह इस दिशा में उदासीन ही रहा हो और आग पर नियन्त्रण पाने के बाद, स्वयं आग पैदा करने में समर्थ हो जाने के बाद ही उसने इसे लक्ष्य किया हो, पर पत्थर में जहाँ भी ठोकर मारो वहाँ से चिनगारियों का फूटना उसे इस बात का यक़ीन दिलाने के लिए काफ़ी था कि काठ की ही तरह पत्थर भी अग्निमय है, या कहें, यह रुद्र भी अग्नि का ही एक रूप है। कौंधती हुई बिजलियों में, कहें जल से भरे बादलों में या प्रकारान्तर से जल में, सूर्य में, सर्वत्र अग्नि की विद्यमानता ने किसी चरण पर उसको यह सोचने पर मजबूर किया कि अग्नि एक ऐसा तत्व है जो सर्वत्र विद्यमान है और उसे सृष्टि मात्र में क्रियाशील और गूढ़ रूप में विद्यमान एक शक्ति का या ब्रह्म—ब्र/भ्र— जलना, प्रकाशित होना, जिससे अग्नि का नाम

ब्रह्म पड़ा और जिसके कारण रुद्र का अग्नि से अभेद हो जाता है—का आभास हुआ और इस अभिन्नता के कारण रुद्र अग्नि की ही तरह सर्वव्यापी मान लिये जाते हैं। इस अभेद की अभिव्यक्ति अग्नि और रुद्र के अनेकानेक पर्यायों में पायी जाने वाली समानता में तो दिखायी ही देती है[85], इसकी सबसे मुखर अभिव्यक्ति अथर्ववेद के व्रात्य-सूक्तों में हुई है जिसे लेकर विद्वान खासी उलझन का सामना करते रहे हैं।[86] ऋग्वेद में और अन्य वैदिक कृतियों में तो यह बार-बार दुहराया ही जाता है कि अग्नि ही रुद्र भी है।[87]

रुद्र के व्यक्तित्व में अग्नि और वरुण का, और सम्भव है इन्द्र का भी, हाथ ऐतरेय ब्राह्मण की उस कथा में भी देखा जा सकता है, जिसको न समझ पाने के कारण कीथ ने इसे एक अटपटे तर्क में बदल दिया था, और अन्य अनेक विद्वान मूल पाठ के भाव को न समझ कर इसे दुहराते रहे हैं, यद्यपि यहाँ स्पष्टतः इनका नाम नहीं लिया गया है। इस कथा के अनुसार देवताओं में जो घोरतम या सबसे भयानक थे उनके तत्वों को या भूतों को एकीभूत करने से रुद्र की उत्पत्ति हुई थी और इसीलिए उसका नाम भूतवान पड़ा था। ऋश्य मृग का रूप धारण करके अपनी दुहिता के साथ संसर्ग करने वाले प्रजापति पर वाण से प्रहार करने को कहा गया और फिर रुद्र के ऐसा करने पर उसे इच्छित वर दिया गया, जो था पशुओं पर उसका आधिपत्य और इस तरह वह 'पशुमान' हो गया।[88] इस रूपकीय कथा को, जो कल्पना-प्रसूत है, दर-किनार कर दें तो इसके मूल में दो तत्व रह जाते हैं, पहला यह कि रुद्र के उद्भव में ही इसमें अग्नि आदि के अन्तर्निहित होने का तथ्य, और वाण से प्रहार करने की क्षमता के कारण इसका पशुपति होना।

पाषाणी संस्कृति के आहार-संग्रही और आखेटजीवी मनुष्य ने शिलाखण्डों में इसकी प्रतिष्ठा मानने और इन्हें औज़ार या साधन मानने से कुछ अधिक महत्व देने और पूजने के अतिरिक्त इसे अपनी छवि में ढाला। उसी की तरह वह मृगया-जीवी — मृगयु[89], व्याध[90], विव्याध[91], शिकार के पीछे ऊँची आवाज में आक्रंदन करते हुए दौड़ने वाला[92], आततायी या हथियार उठाये रहने वाला[93], निचेरव[94], धावक[95], कुलुंच[96] या फल-फूल नोच कर खाने वाला, विचिन्वनकारी[97] या (गूलर महुआ, पीपल आदि के) फलों को चुनने वाला, दरिद्र[98] या सम्पत्तिहीन, अवसन[99] या दिगंबर या अधिक-से-अधिक कृत्तिवास[100] या चमड़े से शरीर को (सम्भवतः रक्षा-कवच के रूप में) ढकने वाला, बिना घर-द्वार के जंगल में विचरने वाला, अरण्यपति[101], वनस्पति[102], वृक्षपति[103] या कहें जंगली पेड़ों पर चढ़ कर अपने आहार के लिए फल आदि तोड़ने वाला, गह्वरेष्ठ[104], गिरिष्ठ[105], गिरिशन्त[106], या गुफाओं आदि में रातें काटने वाला, पर्णसद[107] या पत्ते और फूस आदि बिछा कर गुज़र करने वाला, सफ़ाई आदि के प्रति उदासीन या जघन्य[108], विरूप[109], जटा बढ़ाये हुए कपर्दी है।[110] ठिकाने का अभाव इस हद तक कि वह अपने हथियार

भी, जो उसकी एकमात्र सम्पत्ति थी, किसी पेड़ पर-- कोतड़ आदि में—छिपा कर रखता था।[111] ज़ाहिर है कि उसकी रूप रचना में आम मृगया-जीवी मनुष्य को नहीं, अपितु उसके नेता या सरदार को ही आदर्श बनाया गया है। हर मामले में उसका स्वामित्व-भाव—वनस्पति, सत्वपति, गणपति[112], सेनानी[113] आदि इसको प्रकट करता है। बह व्रातपति या क़बीले का सरदार है, और उसकी सेना किसी राजा की सेना नहीं जिसे ख़बर करने और जुटाने में देर लगे, अपितु वह आशुसेन है।[114] एक आवाज़ हुई कि पूरा क़बीला उठ कर लड़ने को तैयार। यह समाज, कम-से-कम यदि अन्य क़बीलों का मामला हो, जिनकी इससे शत्रुता हो तो उनका नरसंहार ही नहीं, नरभक्षण करने से भी परहेज़ नहीं करता था। शिव का कपाली, मसानी रूप और शैवों की गुह्य साधनाओं में प्रचलित शवसाधना इसी का अवशेष है। ऋग्वेद में तो उसे पुरुषघ्न कहा ही गया है। वैदिक कवि उससे अपनी खैर मनाता है। वह अपनी क्रुद्ध दृष्टि उस पर न डाले, अपने हथियारों की दिशा उसकी ओर न करके उलटी ओर रखे[115], इधर तभी दृष्टि फेरे जब उसने अपने हथियार ढीले कर लिये हों[116], यह वीर-विनाशक या नरसंहारक—क्षयद्वीर[117] उसके माता-पिता, लड़कों-बच्चों, पालतू पशुओं को न मारे और किसी तरह प्रसन्न रहे।[118]

इसकी संहारशीलता, उग्रता[119] और भीमता[120], दूर से प्रहार करने की इसकी शक्ति[121], के समानान्तर ही इसकी दूसरी विशेषता है अपना आयुध स्वयं बनाने की इसकी दक्षता, जो इसे स्वायुध[122] बनाती है। यह कुशल शिल्पी है, तक्षण-कार्य में चतुर और इसलिए बाद के विभिन्न शिल्पियों का देवता बना रहता है।[123] आदिम अवस्था में मुक्त सहवास के कारण और उसमें प्रचलित क़बीलाई नाच-गानों के कारण वह ज्ञान और कला का देवता बाद के कालों में तो बना ही रहता है, इसके साथ साधना के अंग के रूप में मैथुन आदि भी जुड़े रहते हैं।

अब उक्त विवरण को सामने रखते हुए कोई उन विचित्रताओं को समझना चाहे तो आसानी से समझ सकता है जो रुद्र या शिव के देवत्व से जुड़ी हुई हैं। यदि कोई यह मानता है कि यह हड़प्पा सभ्यता को प्रतिबिम्बित करने वाला और उसी चरण का देवता है तो उसे हड़प्पा सभ्यता को नकारते हुए यह भी कहना चाहिए कि हड़प्पा 'सभ्यता' आहार-अन्वेषण और आखेट के चरण से आगे नहीं बढ़ी थी, जो आत्मघाती होगा। रुद्र के प्रतीक के रूप में किंशिल[124] या नदियों से बहा कर लायी शर्करा या बटिकाश्म का प्रयोग आज तक क्यों प्रचलित है? क्योंकि यह पाषाणी संस्कृति के आयुधों का मूल उपादान है। रुद्र से इतना भय क्यों बना रहता है? क्योंकि यह उस काल का देवता है जब नरभक्षण और नरवलि का प्रचलन था। इसकी और काली आदि की प्रतिष्ठा सामान्यत: बस्ती के बाहर क्यों की जाती रही है और इसके लिए पीपल या नीम के वृक्ष की छाया का क्यों ध्यान रखा

जाता था ? क्योंकि इन आरण्यक देवताओं के लिए वृक्ष वन के प्रतीक हैं। इसका चढ़ावा चौराहों पर क्यों चढ़ाया जाता रहा है ? क्योंकि निरन्तर घूमते और भागते हुए इस देवता के लिए चौराहे से अधिक उपयुक्त स्थान दूसरा नहीं हो सकता था, जहाँ चारों दिशाओं में से कहीं से आते हुए उसे यह चढ़ावा हासिल हो सकता था। इसको मलिन, जुगुप्सु, जटिल, आदि क्यों दिखाया जाता रहा है और इसके साधकों में स्वच्छता आदि के प्रति सायास उपेक्षा क्यों पायी जाती रही है ? क्योंकि यह जिस चरण का देवता है उसमें मनुष्य अपनी जीवन-पद्धति के कारण इन बातों का ध्यान नहीं रखता था। आगे चलकर इसका सम्बन्ध श्मशान-साधना से क्यों पड़ गया ? क्योंकि इसके आविर्भाव के चरण में नरभक्षण निषिद्ध नहीं था और सम्भव है, गौरव का भी विषय रहा हो। यह नटराज क्यों बन गया, कुमारियाँ इसका व्रत अच्छा पति पाने के लिए क्यों करती है[125], इसकी साधना के साथ मुक्ताचार क्यों जुड़ा हुआ है ? क्योंकि वह समाज वर्जना-मुक्त था, स्त्री-पुरुष अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद मुक्त क़बीलाई नृत्य करते और निर्बन्ध आचरण करते थे। आदि, आदि।

मूलतः आदिम क़बीलों से सम्बन्धित होने के कारण ही शिव का सम्बन्ध भूतों-पिशाचों के गणों के साथ भी जुड़ा लगता है जिसकी एक जीती-जागती तसवीर तुलसीदास ने शिव की बारात के सिलसिले में खींची है जो कुपोषित क़बीलाई जमात का ही अतिरंजित चित्र है। आदिम समाज में प्रचलित कृत्या या जादू-टोने का भी कुछ असर तान्त्रिक साधनाओं में देखा जा सकता है और यह भी इनके प्रति श्रद्धा-मिश्रित भय और आतंक का कारण रहा है। भूतनाथ की संज्ञा के पीछे भी यही कारण रहा लगता है, जिसकी एक काल्पनिक व्याख्या ऐतरेय ब्राह्मण की कथा में दी गयी है।

बाद के कालों में रुद्र के चरित्र में बहुत मामूली अन्तर ही आ पाता है। पर इसके बावजूद यह परिवर्तनों से पूरी तरह अछूते नहीं रहते। उन्हें पशुपति की संज्ञा वस्तुतः पशुचारण काल में ही दी गयी होगी। अब वह पालतू पशुओं का नहीं, अपितु जंगली पशुओं का ही शिकार करते है[126] और हिंस्र वन्य पशुओं का शिकार करके उनसे पालतू पशुओं की रक्षा करने के कारण ही उन्हें पशुपति कहा गया होगा। इसी काल में सम्भवतः वन्य पशुओं को आतंकित करके भगाने के लिए दुन्दुभ आदि का आविष्कार हुआ था और इनका सम्बन्ध भी शिव से जुड़ गया था।[127] रात के समय वन्य पशुओं के प्रति सावधान करने के लिए कुत्तों का विशेष महत्व था और इनका नामकरण (स्वान) इनके भौंकने की विशेषता को ध्यान में रखते हुए किया जाना और शिव का सम्बन्ध कुत्तों से जोड़ा जाना भी इसी काल की देन है।[128] उनके कुत्ते का नाम भैरव या 'भयकारक आवाज पैदा करने वाला' और उसका काला ंग इस विषय में हमारी कुछ सहायता कर सकता है। इसी

चरण में शिव का एक नाम दण्डी—पशुओं को नियन्त्रित करने के लिए डण्डा जरूरी था—पड़ जाता है।

कृषिकाल में यह वृष-वाहन बन जाते हैं। इनका कुछ सम्बन्ध बैलगाड़ियों से भी जुड़ जाता है। कृषि को क्षति पहुँचाने वाला चूहा इनका शिकार बन जाता है[129] जो आगे चलकर गणपति—जो शिव का ही एक अन्य पर्याय है, पर जिसका एक अलग देवत्व कल्पित हो जाता है, का वाहन बन जाता है। पर मूलतः यह चूहे का ही अतिरंजित चित्र है जिसका उदर विशाल है, कारण यह अनाज को भारी क्षति पहुँचाता है और इसकी गर्दन शिव स्वयं काट देते हैं और अब इसको एक नया गजानन रूप मिलता है। गणेश या गणपति के प्रति भी आरम्भ में भय और उपेक्षा का भाव दिखायी देता है जो विद्वानों को कुछ उलझन में डालता है।[130] कृषि क्रान्ति के ही दौरान पहली बार आर्य और दास, भूसम्पदा पर अधिकार रख कर दूसरों से काम कराते हुए भी उसका प्रतिलाभ स्वयं अर्जित करने वालों और उनके अनुचरों या सेवकों और सहायकों का भेद क़ायम होता है और इन सेवकों और सहायकों को तथा विभिन्न शिल्पियों को रुद्र के पुत्रों के रूप में कल्पित किया जाता है। इनमें प्रमुख हैं मरुद्गण[131], पर सामान्य रूप से इसमें उन सभी को शामिल किया जाता है जिनको गणबद्ध कहा जाता है, यथा वसुगण, आदित्यगण, ऋभुगण, आदि। रुद्र से इनके सम्बन्ध का कारण है भूस्वामियों की तुलना में इनकी पिछड़ी आर्थिक स्थिति और शिल्प आदि से इनका लगाव और इसके बाद के सभी कालों में रुद्र मुख्य रूप से पिछड़े वर्गों या श्रमिक और शिल्पी वर्ग के ही देवता बने रहते हैं और साथ ही बने रहते हैं उन सभी गणों के देवता जो इस नये बदलाव से अछूते रहते हैं। मरुद्गण आदि कृषि-कर्मी होते हुए भी विश्वदेवों में इसलिए गिने जाते हैं कि इनका सम्बन्ध देवसमाज से किंचित तनावपूर्ण होते हुए भी प्रत्यक्ष विरोध का नहीं है।

सभ्यता के उन्नत चरण में रुद्र का और रुद्र के उपासकों का महत्व बना रहता है और उनको सम्मान के साथ, यद्यपि भय-मिश्रित सम्मान के साथ, याद किया जाता है; कारण, इनके श्रम और कौशल पर ही इस समाज का वैभव आधारित है। इस बढ़ते हुए वैभव के साथ लुटेरों, चोरों, रहज़नों, आदि की भी संख्या बढ़ती है और इन आपराधिक कार्यों में मुख्य रूप से इस सभ्यता के शत्रु और साहसी जंगली क़बीलों के नेताओं का हाथ रहता है, अतः इन इन सबको भी रुद्र के साथ सम्बन्धित कर दिया जाता है।[132] इसके बावजूद न तो सभी समाज-विरोधी तत्व केवल जंगली रहे हो सकते हैं, न थे। जो भी हो, इन सब को रुद्र का प्रतिरूप मानने का कारण इनके बीच रुद्र की अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रियता रही लगती है; कारण, नये देव-समाज की तुलना में वे अपने प्राचीन देवता से चिपके हुए थे जो एक ऐसे समाज की देन था जिसमें नैतिक वर्जनाओं का भी अभाव था

और इसलिए यह उनके साहसिक और आपराधिक कार्यों को औचित्य प्रदान करता था।

कृषि के आविर्भाव से आगे के कालों में क्रमशः स्थायी बस्ती बसने के बाद यह ग्राम की रक्षा के देवता बन जाते हैं। कभी अनागारिक रहने वाले शिव शिल्पियों से सम्बन्ध के कारण वास्तु के देवता या वास्तोष्पति बन जाते हैं और इनको गेही के रूप में भी कल्पित कर लिया जाता है।[133] इसी दौर में वह विभु, सृष्टिकर्ता, और विश्वकर्मा[134] आदि के रूपों में मान्य होते हुए त्रिदेवों में एक पृथक् देवता ब्रह्मा का रूप लेते हैं पर ब्रह्मा और विष्णु दोनों के विकास में अग्नि की भूमिका सर्वाधिक प्रधान रहती है और यदि अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में कोई भेद ही नहीं है, सबके पीछे एक ही शक्ति—अग्नि—कल्पित है, तो इसमें किसी तरह की उलझन का सवाल भी नहीं था। हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक काल तक त्रिदेवों की कल्पना रूपाकार ले चुकी दिखायी देती है यद्यपि इनका व्यक्तित्व उस तरह निखर नहीं पाया है जैसा कि बाद में दिखायी देता है। इनमें सबसे प्रधान भूमिका अग्नि की और सोम की रहती है। पर यह विश्वास कि परम देव एक ही है और विद्वान लोग उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं[135], उत्पादन और श्रम के दौरान अर्जित अनुभवों की सारबद्ध अभिव्यक्ति है, न कि ऊपर से आरोपित मान्यता।

रुद्र के चरित्र-निर्धारण में आदिम पाषाण-कर्मियों, उनके तक्षणकार्य के दौरान अर्जित अनुभव-सार और उनकी अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अतिरिक्त एक अन्य तत्व का भी बहुत अधिक हाथ है और वह है सोम, जिस पर अलग से विचार करना जरूरी है।

6

सोम

सोम का प्रचलन भारत और ईरान दोनों में रहा है और इसलिए लम्बे समय तक इस बात की अटकलें लगायी जाती रहीं कि सोम की उत्पत्ति का स्थान क्या था और इसका प्रचलन कहाँ आरम्भ हुआ था[136] कारण, अन्य बातों के अलावा 'आर्य' प्रव्रजन और इसके स्वरूप का निर्णय करने में भी यह कुछ महत्व रखता है, क्योंकि इसका सम्बन्ध आर्य जनों से माना गया है।

सोम के सम्बन्ध में दो बातें बहुत महत्वपूर्ण हैं : एक तो इसे रुद्र के साथ कुछ इस अनन्य भाव से जोड़ा गया है कि अन्ततोगत्वा यह शिव के सिर पर विराजमान

हो जाता है, चन्द्रमा से सोम का अभेद स्थापित हो जाने के बाद। दोनों की दिशा उत्तर है। दोनों का उत्पत्ति-स्थान पर्वत है। दोनों के इस निकट सम्बन्ध के कारण ही एक के चरित्र का दूसरे पर आरोपण होता है, जैसे दोनों तिग्मायुध बन जाते हैं, सोम और रुद्र दोनों वनस्पतियों के राजा हो जाते हैं, रुद्र अपने जलाषभेषज के कारण जो वस्तुत: सोम ही है, महाचिकित्सक या भिषक्तम हो जाते हैं, आदि। इन दोनों की निकटता भी इस बात का यक़ीन दिलाने के लिए कुछ सार्थकता रखती थी कि सोम की ही तरह रुद्र भी अवैदिक देवता नहीं हो सकता और इन दोनों का आविर्भाव एक ही परिस्थिति में हुआ है

महादेवन अपने एक अध्ययन में, जो कई दृष्टियों से बहुत रोचक है, इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हड़प्पा सभ्यता में सोम का प्रचलन था। उनकी मान्यता है कि हड़प्पा के भाण्डों में से कुछ का सम्बन्ध सोम के आसवन से है और हड़प्पा की लिपि के कतिपय चिह्न उक्त भाण्डों की ही तरह ऋग्वेद में सोम के विषय में आये विवरणों की सटीक पुष्टि करते हैं।[137] जब हम इस बात पर ग़ौर करते हैं कि महादेवन उन विद्वानों में आते हैं जो हड़प्पा सभ्यता को अनार्य सभ्यता मानते हैं, और उक्त निबन्ध में भी इस मान्यता का औचित्य खींच-तान कर सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, तो यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि पुरातात्विक अवशेष भी बद्ध-मूल धारणाओं के निराकरण के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

महादेवन के निबन्ध से जो बात स्पष्ट हो कर आती है वह यह कि सोम ने हड़प्पा सभ्यता के दौरान या सम्भवत: इससे कुछ पहले से ही एक आध्यात्मिक अर्थ पा लिया था और इसका अनुष्ठानों और यज्ञविधानों में लाक्षणिक रूप में उपयोग होने लगा था। यदि वैदिक सोमयागों और अनुष्ठानों के पात्र, सोम के साथ जुड़े आशय आदि सभी की पुष्टि हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से होती है और यदि हड़प्पा की मुहरों पर अंकित एकशृंग वृषभ का अर्थ सोम है, तो इससे हम बिना किसी उलझन के दो निष्कर्ष निकाल सकते हैं : पहला यह कि हड़प्पा सभ्यता में यज्ञ-विधान बहुत व्यापक रूप में प्रचलित था और इस मामले में यह रुद्र शिव की पूजा से कई गुना अधिक व्यापक था, और दूसरा यह कि हड़प्पा की मुहरों पर अंकित वृषभ आदि की अन्य प्रतिकृतियाँ भी वैदिक देवों की ही लाक्षणिक अभिव्यक्तियाँ हैं। इस तरह धर्म, विश्वास, दर्शन और मृद्भाण्डों की दृष्टि से हड़प्पा सभ्यता निरपवाद रूप से वैदिक सभ्यता सिद्ध होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि एकशृंग वृषभ के ऊपर चित्रित चिह्न, उसके सामने रखे पात्रों और आधारों के साथ एक लाक्षणिकता जुड़ी हुई है, पर यह केवल यहीं तक सीमित नहीं है। मार्शल ने बहुत पहले इस बात की ओर संकेत किया था कि रुद्र शिव के सिर पर सींग-नुमा बने चिह्न का भी एक पवित्र लाक्षणिक अर्थ है। यह किसी पशु का सींग नहीं है। यही भिन्न अनुपातों में आराधकों के सिर पर तथा

अन्य प्रतिकृतियों के सिर पर भी पाया जाता है जिनको रुद्र शिव नहीं माना जा सकता।[138] डॉ. अग्रवाल ने, जैसा कि हम पीछे देख आये हैं, एकशृंग वृषभ के सम्मुख रखे पात्रों को सोम से सम्बन्धित माना था, यद्यपि उतने युक्तिपूर्ण ढंग से नहीं जितने युक्तिपूर्ण ढंग से महादेवन ने।

सोम-लता की पहचान में विद्वानों को प्रायः उलझन महसूस होती रही है। इसका एक कारण यह है कि पर्वत से इसके सम्बन्ध को शब्दशः ग्रहण करने के कारण इसे एक वन्य पौधा मान लिया गया और फिर इसी दृष्टि से अटकल लगाये जाते रहे जिन्हें बढ़ाने में बाद के कालों में प्रचलित भ्रमों ने भी मदद की। हमने अन्यत्र इस पहलू पर विचार करते हुए यह सुझाया है कि सोम गन्ना था।[139] यहाँ केवल इस बात की ओर ध्यान दिलाना ही काफ़ी है कि ऋग्वैदिक विवरणों के अनुसार सोम की खेती की जाती थी[140], कि इस पौधे में फल नहीं लगता था, अतः किसान इसके डंठल को ही काट कर इसे लगाते या इसकी बोआई करते थे।[141] यदि इसके साथ इस बात पर भी ध्यान दें कि इसे सीधे दाँत से भी चूसा जाता था[142], कि इसका रस इसके डंठल के भीतर भरा रहता था और यह सर्वाधिक मीठा होता था[143] और इसमें रस इतना प्रचुर होता था कि दबाने पर इससे रस की धार फूट निकलती थी[144], और इक्षु आदि को भी लता कहा जाता था[145], और सोम-लता में भी गन्ने की तरह पोरियाँ और गाँठें हुआ करती थीं[146], तो यह समझना कठिन नहीं रह जायेगा कि सोम-लता इक्षु-लता या गन्ना ही थी। इसके साथ ही यह उल्लेख करना भी ज़रूरी है कि जहाँ वैदिक परम्परा के अनुसार सोम पहले स्वर्ग में था और वहाँ से धरती पर लाया गया था, वहाँ दक्षिण भारत की संगम परम्परा के अनुसार गन्ना वहाँ स्वर्ग से लाया गया था।

पाषाणी काल में कुछ मनस्वी व्यक्तियों को किशिल से फूटने वाली जिस चिनगारी का दर्शन हुआ था और आग का आविष्कार होने के बाद जिसकी व्याप्ति धरती से ले कर आकाश तक की हर वस्तु में दिखायी देने लगी थी उसने इस बात का तो अहसास कराया था कि समस्त सृष्टि के भीतर एक सत्ता गूढ़ रूप में विद्यमान है जिसका उद्घाटन विभिन्न रूपों में होता रहता है और इससे इस विचार को बल मिला था कि सृष्टि का कोई एक ही मूल कारण है, पर एक ही तत्व से इस नाना रूप जगत की रचना कैसे हुई हो सकती है, यह समझ में नहीं आ रहा था। गन्ने के रस से गुड़ पकाते समय किसी चरण में इस रहस्य का एक समाधान सामने आया, अर्थात् आरम्भ में समस्त सृष्टि जलमय थी। यह जल सामान्य जल न हो कर सार-गर्भित या हिरण्य-गर्भित और तेज, गर्भित था और इसी में समस्त ब्रह्मांड अव्यक्त रूप में विद्मान था।[147] इसे एक चेतना-सम्पन्न आदि-जल या सोम के रूप में कल्पित किया गया। गुड़ पकाते समय भरे हुए कड़ाह का रस खौलने पर भाप (जल और वायु दोनों की सर्जना का आभास देने के लिए पर्याप्त) ऊपर उठती है

और क्रमश: गुड़ फेन का रूप लेता है और फिर और तपाने पर गाढ़ा हो जाता है, जैसे गीली मिट्टी। कुछ और तपाने पर यह सूखी मिट्टी की तरह कठोर हो जाता है और इसे असावधानीवश कुछ और गर्म किया जाये, जो आरम्भिक चरण में प्रयोग करते समय जान-बूझकर भी किया गया होगा, तो सूख कर यह चट्टान की तरह सख्त हो जाता है। कड़ाहा क्रमश: ऊपर खाली (शून्य या आकाश) हो जाता है। इस तरह इस आदि सोमवत सार-गर्भित और तेज-गर्भित तत्व से ही धरती, आकाश, वायु और तेज या अग्नि आदि सभी तत्वों का सृजन सम्भव था। इस कल्पना ने सोम को सृष्टि का बीज कारण बना दिया और इसी से इन्द्र, अग्नि, आदि सभी तत्वों की उत्पत्ति मानी जाने लगी।[149] प्रजापति द्रोणकलश (गुड़ पकाने का कड़ाहा) है, यह मान्यता इसी सूझ की देन है।[150]

सोम अब मात्र गन्ना नहीं रह गया और इसको समस्त जलों का प्रतिरूप, समस्त जगत का राजा मान लिया जाता है।[151] इसका मूल निवास जल की तरह द्युलोक मान लिया जाता है[152] और इसको चन्द्रमा से अभिन्न मान लिया जाता है।[153] अपनी ऊँचाई और रस की मधुरता के लिए यह ओषधियों का राजा तो पहले से था ही[154], इसके सादृश्य पर चन्द्रमा भी औषधियों का राजा बन जाता है। इस तरह यह एक ऐसी विराटता ग्रहण कर लेता है जो कुछ मामलों में अग्नि का भी अतिक्रमण कर जाती है और साथ ही इसमें अग्नि के कुछ गुण, जैसे ज्ञान, भास्वरता आदि आ जाते हैं।[155]

जल मात्र से इसकी अभिन्नता इसे समस्त जल-स्रोतों से जोड़ देती है।[156] जिन किंशिलों को शिव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था उनको नदियाँ अपनी धाराओं के साथ बहा कर लाती थीं और इनका उद्गम भी उत्तर का वही पहाड़ था, जिससे ये पत्थर निकल कर आते थे, अत: जहाँ तक इस धरती का प्रश्न है, रुद्र और सोम दोनों का निवास उत्तर का हिमालय पर्वत हो जाता है[157], हिमालय की चोटियों पर जमी बर्फ की तरह रुद्र या शिव के भी शिखर पर सोम को चन्द्रमा के रूप में प्रतिष्ठित मान लिया जाता है। सोम या गन्ने का रंग ब्रभ्रु[158] या भूरा, लाल[159] आदि तो होता ही है, इसकी पत्तियाँ हरी होती हैं और इसकी कुछ नस्लों का रंग भी कुछ हरियाली लिये होता है। पहले दोनों रंगों का साम्य तो किंशिलों में भी पाया जाता है, पर रोचक बात यह है कि उसका पर्याय हरि[160] शिव और अन्य दैवी अवतारों का सबसे लोकप्रिय पर्याय बन जाता है। गन्ने के छिलके के ऊपर कार्बन की एक काली-सी परत जम जाती है और सम्भवत: इसके प्रति आदर-भाव ने ही शैवों को सर्वप्रथम अपने शरीर पर विभूति लपेटने को प्रेरित किया, यद्यपि इसके दूसरे कारण भी सुझाये जा सकते हैं। गन्ने के मोटा होने के साथ-साथ इसकी पत्तियाँ सूख कर अपने आप उतरती जाती हैं और चमकता हुआ डण्ठल खुलता जाता है, मानो कोई साँप अपनी केंचुल उतार रहा हो।[161] साँप से गन्ने के इस

साम्य ने ही सम्भवत: शिव के शरीर पर लिपटे साँपों का रूप लिया हो। इस तरह हम देखते हैं कि रुद्र—शिव और सोम के बीच अनेक व्याजों से गहरा सम्बन्ध कायम किया गया है। सोम की तुलना प्राय: वृषभ से की गयी है और उसे नन्दी कहा गया है, यही नन्दी शिव का वाहन बन जाता है और प्राय: इसकी स्वतन्त्र रूप में पूजा की जाती है। इस अभिन्न सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए यह सोचना ग़लत नहीं लगता कि सोम का रस निकालने के लिए प्रयुक्त यन्त्र का भी सम्बन्ध शिव से जुड़ गया हो और जिस प्रतीक को शिवलिंग माना जाता है वह सोम-यन्त्र का ही लघु रूप हो।

सोम-रस निकालने की ठीक विधि क्या थी, इस विषय में विद्वान बहुत उलझन में दिखाई देते हैं।[162] जहाँ सोम का ही निश्चय न हो पा रहा हो वहाँ रस निकालने की विधि और इसके लिए प्रयुक्त यन्त्र या युक्तियों के विषय में अनिश्चय होना स्वाभाविक ही है। पर सोम की पहचान गन्ने के रूप में कर लेने के बाद इसके लिए प्रयुक्त विधि और यन्त्रों को समझने में कुछ सुविधा हो जाती है। पहली बात यह है कि सोम का रस पेर कर निकाला जाता था, न कि कूट और छान कर। इसके लिए बार-बार हिन्वन् का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ भाष्यकारों ने प्रेरण अर्थात् पेरना किया है।[163] सोम का रस निकालने से पहले इसके छोटे-छोटे टुकड़े कर लिये जाते थे, जिनके लिए अंशु[164] शब्द का प्रयोग हुआ है। जब तब इन टुकड़ों को और भी छोटी गेड़ियों में काटा जाता था और इनके लिए ही उपांशु शब्द का प्रयोग हुआ लगता है। अंशु को सूर्य-रश्मियों का द्योतक मान लेने और बहुत पहले ही सोम का सम्बन्ध द्युलोक से जुड़ जाने के कारण, अंशु और उपांशु दोनों शब्दों का अर्थ करने में व्याख्याकारों को उलझन होती रही है[165] काठक संहिता (27.2.9) में उपांशु को शृंग की उपमा दी गयी है—शृंगं उपांशु...यत् शृंगं धयति यत् एतौ पूर्वार्ध यज्ञस्य क्रियेते—जिससे लगता है, गन्ने के ऊपरी सिरे को जिसमें रस बहुत अधिक मीठा नहीं होता, उपांशु कहते रहे हैं। जो भी हो, ब्राह्मणों आदि में विभिन्न उपखण्डों में सोम को कर्मकाण्डीय तकाज़ों से काटने के उल्लेख मिलते हैं जिनको एगलिंग ने बार-बार दबाने या कुचलने के अर्थ में ग्रहण किया है जो ठीक नहीं लगता।[166] मैकडनेल और कीथ ने अंशु को अंकुर माना है[167] और एगलिंग इसका अनुवाद स्प्रिग या फुनगी करते हैं[168], पर ये दोनों वास्तविकता से दूर हैं। सोम की फुनगी को या अंकुर को दबाने का कहीं उल्लेख नहीं आता। इसका तना ही रस का स्रोत था। वैदिक इंडेक्स के अनुसार, "इसके अंकुर को अंशु जब कि समस्त पौधे को 'अंधस्' कहा गया है, जो कि इसके रस का भी द्योतक है। पर्व इसका तना है। इसके अंकुर की उपाधि के रूप में 'क्षिप' (उँगली—का प्रयोग किया गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि अंकुर का आकार उँगली

जैसा ही रहा होगा। 'वक्षणा' और 'वाण' से भी अंकुर का ही आशय प्रतीत होता है।[169] वास्तविकता यह है कि सोम या गन्ने को पेरने के लिए पहले इसके टुकड़े किये जाते थे और इन टुकड़ों की लम्बाई के कारण इनको क्षिप, वक्षणा, वाण आदि कहा गया है और कभी-कभी इनको ऊध या स्तन कहा गया है और सोम रस के इन टुकड़ों से निकलने की तुलना दुहते समय निकलने वाले रस या दूध से की गयी है।[170]

रस निकालने के लिए लकड़ी की ओखली और ग्रावन या मुसल का और पत्थर के बड़े आकार के खरल (दृषद्) का और ग्रावन (उपल) का प्रचलन था। अधिषवण फलक सम्भवतः वह पटरा या ठीहा था जिस पर गन्ने को रख कर काटा जाता था या, कहें, पोरियाँ बनायी जाती थीं। सोम रस निकालने के लिए प्रयुक्त उलूखल अनाज कूटने की ओखली जैसी न होकर तेल पेरने के देशी कोल्हू जैसी थी। यह गूलर की लकड़ी की बनायी जाती थी। ग्रावन के लिए सम्भवतः पलाश की लकड़ी अधिक उपयुक्त मानी जाती थी।[171] ग्रावन का नीचे का सिरा कुछ मोटा होता था जिसके कारण इसे पृथुबुध्न भी कहा गया है, और यह ओखली के गर्त में ऊर्ध्वाधर खड़ा रहता था। इसके ऊपरी सिरे पर एक टोपाकार लकड़ी का डंडा लगा होता था जिसका ऊपरी सिरा बकुल या कुबड़ी की मूठ की तरह होता था जिसमें बना टोप या कलछी के आकार वाला हिस्सा ग्रावन के ऊपरी नोक को दबाता था और इसका नीचे का डंडा एक पटरे से आकर जुड़ता था। इस पटरे का वही सिरा ओखली के मध्यभाग को आधा घेर कर रखता था। इसका कटाव जाहिर है, अर्ध-वृत्ताकार होने के कारण यह ओखली के मध्य में बने खाँच या दबे हुए घेरे पर जुड़ जाता था। ऊपर से आये डंडे से ही जुड़ी रस्सियाँ पटरे के दूसरे सिरे को ऊपर की ओर तानती हुई इसे ज़मीन के समानान्तर उठाये रखती थीं। इस पटरे को ही सम्भवतः उपसद कहा जाता था और सम्भवतः इस पर कोई आदमी बैठ जाता था या भार रख दिया जाता था जिसके दबाव से ग्रावन ओखली के गर्त पर दबाव डालता था और जब यह पटरा रस्सियों के सहारे खींचा जाता था तो इस तरह ओखली के चारों ओर परिक्रमा करता था और ग्रावन इस तरह कुछ तिरछा होकर सोम की गिल्लियों को ओखली के पार्श्वभाग के साथ दबाता था और रस बाहर आता था। कहें, पूरी प्रक्रिया तेल पेरने के समान थी।[172] ओखली या धिषणा के गर्भ से एक तिरछी नाली रस के बाहर निकलने के लिए बनी रहती थी। इस नाली के रास्ते ऋजीष या सोम के खोइये को रोकने के लिए सम्भवतः एक छलनी लगी रहती थी जिसे बहिःपवित्र कहते थे। अब यह रस सोम कलश या पात्र में आकर गिरता था जिसके ऊपर भी एक छलनी रहती थी। यह छलनी सम्भवतः मिट्टी का एक पात्र था जिसमें बहुत से छेद बने होते थे और इसके भीतर रस को पूरी तरह शुद्ध करने के लिए भेड़ के बाल रखे होते थे। इस

तरह पूरी तरह शुद्ध होकर पवित्र के छेदों से निकलने के कारण सोम को सहस्रधार कहा गया है। निकलता हुआ रस धार के साथ नीचे आता था और कलश में गिरते हुए इससे आवाज़ पैदा होती थी। सोम रस निकालने के यन्त्र, जिसे कोल्हू कहना अधिक उपयुक्त होगा, से इसके कटि भाग से रगड़ खाकर चलते हुए पटरे से और भीतर घूमते ग्रावन से भी चरमराहट की आवाज़ होती थी जिसे ही सम्भवत: राक्षसी प्रभाव को दूर करने वाला माना गया है। धिषणा या नीचे के फलक में छेद बने होने के कारण इसे तृदिल अर्थात् छिद्रित और ऊपर के ग्रावन में ऐसा कोई छेद न होने के कारण इसे अतृदिल कहा गया है, जिसे कुछ विद्वान सोमसवन के पटरों में बना छेद मानते हैं और इसका प्रयोजन यह बताते हैं कि इनसे दोनों पटरों को बाँधा जाता था, पर फिर मुसीबत में पड़ जाते हैं कि आख़िर दूसरे पटरे में छेद हुए बिना ये बँधते कैसे रहे होंगे।[173] सम्भवत: सोम रस निकलने के लिए बनी नाली से सोम रस निकलने का साम्य इन्द्र के अपनी माँ के गर्भ से तिरछा हो कर निकलने से दिया गया है,[174] पर महादेवन इसे शतपवित्र के छेदों से तिरछी होकर निकलने वाली बूँद मान लेते हैं, जो ठीक नहीं लगता। कहीं-कहीं धिषणा का प्रयोग द्विवचन में हुआ है और धिषणा या यहाँ नीचे की ओखली और प्रवर्ग्य या ऊपर के कुबड़ीनुमा डंडे के गर्त के लिए यह प्रयोग हुआ है[175], जिसमें से एक को धरती और दूसरे को आकाश का द्योतक माना गया है[176] और सोमदंड या ग्रावन को जो प्रतीक रूप में चषाल या यज्ञयूप के रूप में स्थापित किया जाता था, दिवस्कम्भ या आकाश को सहारा देने वाला खम्भा बताया गया है।[177] ब्राह्मणों के विवरणों में जब यूप से यज्ञ के रस को निकाल कर देवताओं के स्वर्ग चले जाने के हवाले आते हैं तो उसकी प्रेरणा इस सोमदण्ड से ही मिली लगती है।[178] इसी तरह जब यज्ञ में प्राय: यज्ञ के सिर आदि की बात की जाती है तो आशय प्रवर्ग्य या ऊपर के बकुलाकार दाब से रहता है।[179] यज्ञ का सिर काटने का प्रतीकात्मक अर्थ है प्रवर्ग्य को ग्रावन से अलग करना। सोम यन्त्र के चारों ओर की परिक्रमा के कारण यूप या ग्रावन के वृत्ताकार घूमने के कारण ही शायद एक स्थान पर इसे रघुवर्त्म या छोटे घेरे में घूमने वाला कहा गया है।[180] इसके बावजूद न तो ओखली अपने स्थान से हटती है, न ही ग्रावन का निचला पृथुबुध्न सिरा, जिसके कारण इन दोनों को स्थिर बताया गया है।[181] सोम यन्त्र के चारों ओर परिक्रमा से ही देवताओं और इनके मन्दिरों की परिक्रमा या प्रदक्षिणा का चलन आरम्भ हुआ लगता है। उपसद आदि को भी कर्मकाण्ड के तकाज़ों से आगे काफ़ी भिन्न अर्थ दे दिया गया लगता है।

पहली पेराई में निकलने वाले सोम को ही शुक्र[182] सोम या शुचि[183] सोम या कहें, शुद्ध सोम रस कहते थे। यह अग्नि का भाग था—गुड़ आदि पकाने के लिए सबसे उपयुक्त यही था। रस निकलना कम हो जाने के बाद इसमें पानी के छींटे

दिये जाते थे और इस क्रिया को आप्यायन[184] कहा जाता था और इसके बाद निकले रस को अप्तुर[185] या जल मिश्रित सोम। यही दूसरा सवन था जिसे इन्द्र का भाग माना गया है। और छींटे देने का यह काम अन्त तक पूरा रस निकलने तक जारी रहता था। तीसरे सवन तक आकर मिठास लगभग ख़त्म-सी हो जाती थी।[186] वैदिक कालीन सेवक वर्ग को अपने हिस्से में यही रस मिलता था।[187]

इस जटिल तरीके के अलावा पत्थर के यन्त्र से सोम रस निकालने का एक अन्य तरीका भी था जिसमें दृषद् या नीचे का पत्थर और उपल या ग्रावन दोनों का आकार छोटा होता था और ग्रावन को हाथ से घुमाया जाता था। छोटे पैमाने पर रस निकालनेका यह सुगम तरीका था और इसे हस्तच्युत या अन्जसुत सोम कहा गया है।[188]इस यन्त्र की बनावट ठीक वही थी जो शिव प्रतीक की है जिसे शिवलिंग कहा जाता है। यह वस्तुतः ग्रावन की पूजा है। इसमें रस निकलने की नाली एक ओरको आगे को निकली होती थी जैसा कि सोमनाथ या शिवलिंग के साथ देखने में आता है। लगता है नशे के शौकीन लोग गन्ने के साथ भाँग की पत्ती या धतूरे का फल भी इसमें डाल देते थे[189] जिससे निकला हुआ रस बहुत मादक और कभी-कभी विषाक्त तक हो जाता था और इससे वमन[190], विषूची[191], आदि उपद्रवों की सम्भावना पैदा हो जाती। सोम हिंसा न करें, विषूची और यक्ष्मा आदि से मुक्त रखें यह अनुरोध सम्भवतः इस कारण ही किया गया है। इन्द्र को सम्भवतः ऐसा ही विषाक्त रस विश्वरूपा के वध के बाद बदले की भावना से पिलाया गया था।[192]

सोम रस निकालने के लिए पत्थर का यह उपकरण—दृषद् और उपल—अधिक उपयोगी पाया गया और लोहे के बेलनों वाले कोल्हू के आरम्भ से पहले यही गन्ने का रस निकालने के लिए प्रयोग में आता था, जिसके दृषद् या अधोभाग को आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ गाँवों में उपेक्षित पड़ा देखा जा सकताहै।[193] इस यन्त्र की बनावट शिव प्रतीक से इतनी मिलती-जुलती है कि यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि यह मुख्यतः सोम पूजा से सम्बन्धित था जो रुद्र के साथ सोम के अभिन्न सम्बन्ध के कारण इसको सोमनाथ या शिव के रूप में पूजा जाने लगा। शिव को गन्ने कीपोरियाँ, भाँग, धतूरा आदि चढ़ाने के पीछे भी सोम का ही हाथ दिखायी देता है।

6

हड़प्पा सभ्यता में शिव और सोम

हड़प्पा सभ्यता में सोम और शिव दोनों का प्रचलन था और सोम का महत्त्व

शिव की तुलना में कुछ अधिक दिखायी देता है, पर उक्त काल में भी दोनों के बीच निकट सम्बन्ध था। जैसा कि हम कह आये हैं, मार्शल ने सिन्ध घाटी में प्रचलित धर्म पर विचार करते हुए रुद्र शिव के विषय में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि इनके माथे पर लगा सींग किसी पवित्र प्रतीक का द्योतक है और यही अनेक दूसरे सन्दर्भों में भी मिलता है, अतः इसका अनिवार्य सम्बन्ध शिव से ही नहीं है।[194] यह एक महत्त्वपूर्ण संकेत है और यदि इसका सम्बन्ध अनिवार्यतः शिव से नहीं है और यह सींग के रूप में दिखाये जाने के बावजूद सींग से भिन्न कोई चीज़ है, तो वह चीज़ कौन-सी है जिसे यह व्यक्त करता है? यह वस्तुतः सोम या गन्ने का पौधा है जिसे गाँठों के साथ, पर एक युग्म के रूप में कुछ शैलीबद्ध रूप में प्रकट किया गया है जिससे यह सींग होने का भी भ्रम पैदा करता है और यही सोम आगे चलकर रुद्र को चन्द्रभाल या इंदुशेखर बनाता है। शिव के सिर पर द्वितीया का चाँद ही क्यों दिखाया जाता है, इसका कारण भी यह साम्य ही है। पूर्णचन्द्र अपने मूल संकेत, सोम या गन्ने को प्रकट नहीं कर सकता। यह सोम ही, जैसा कि मार्शल ने सुझाया है, कुछ आराधकों के सिर पर भी विराजमान दिखाया गया है। एक मामले में व्याघ्र के सिर पर इस भृंग को सोम का ही प्रतिरूप माना जा सकता है, क्योंकि सोम की तुलना सिंह से भी की गयी है और व्याघ्र का आदर-सूचक नाम भी पहले सिंह था।

परन्तु सोम का सबसे ओजस्वी रूप एकशृंग वृषभ है जिसके सींग को भी सोमलता के रूप में ही दिखाया गया है और जिसके आगे के खाद्य-पदार्थ और इसके प्रस्तुतीकरण की विधि का सोम से गहरा सम्बन्ध है, यद्यपि इस विषय में सन्देह है कि यह सोम छानने के दो पवित्रों का सूचक है। जो भी हो, चूंकि सोमयन्त्र से बाहर को निकलते रस या बहिः पवमान सोम को यन्त्र के साथ लगी किसी युक्ति से जिसे बहिःपवित्र कहा गया है, साफ़ करने और पुनः इसे दशापवित्र या शतछिद्र छलनी से जो कलश के ऊपर होती थी साफ़ करने का उल्लेख पाया जाता है और इसलिए महादेवन का यह सुझाव संगत लगना है कि सोम रस को छानने के दो चरण थे, पर इसको जिस तरह प्रतीकांकित किया गया है उसका अपने मूल से दूर का ही सम्बन्ध हो सकता है।

रुद्र की उपासना का एक रूप उन पत्थरों में पाया जा सकता है जो शिव के रूप में आज तक पूजे जाते हैं, पर जिन्हें कलाकारों ने इस सभ्यता के अनुरूप ही गढ़ कर सुघड़ बनाया है और जो एक साथ किशिल या वटिकाश्म के रूप में आदि शिव को और ग्रावन के रूप में सोम यन्त्र के एक प्रधान अंग को प्रकट करता है। इस ग्रावन की तुलना शिश्न से करने के कारण ही इसे यदा-कदा शिश्न रूप में भी गढ़ा गया है।

रुद्र की मान्य प्रतिकृति के कुछ पहलू वैदिक परम्परा के सहारे ही समझे जा सकते हैं। यथा, शिव के वक्ष का वर्म जिसके कारण यजु. 16. 35 आदि में उन्हें वर्मी, कवची आदि कहा गया है। उनके तीन मुख जो एतरेय ब्राह्मण की उस कथा की याद दिलाते हैं जिसके अनुसार रुद्र के व्यक्तित्व का निर्माण कुछ अन्य देवों के मन्यु या क्रोध को, उनके भूततत्वों को लेकर किया गया था और जिसके कारण उन्हें भूतनाथ की संज्ञा मिली। उनके पशुपति होने के विषय में जो स्पष्टीकरण ऐतरेय ब्राह्मण की उक्त कथा में है उसको और प्रजापति के उषा के साथ हिरन बन कर सहवास करने और इनका वध रुद्र द्वारा किये जाने की कथा एक रूपकीय आख्यान है इसमें संदेह नहीं, पर ऐसा लगता है कि इस कथा का प्रचलन हड़प्पा काल में भी था। अन्यथा हिरनों के एक जोड़े को ही रुद्र के आसनपीठ के नीचे दिखाये जाने का तर्क समझ में नहीं आता। इसी तरह मरुद्गणों को, जो रुद्र के पुत्र हैं, खादिहस्त[196] बताया गया है जो रुद्र के हाथ के आभूषणों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से सार्थकता रखता है।

7

यज्ञ और पूजा

जब तक कालीबंगां और लोथल आदि से यज्ञ-कुण्डों का उद्घाटन नहीं हुआ था तब तक इस तर्क का कोई अर्थ था कि वैदिक आर्य यज्ञ करते थे और हड़प्पा सभ्यता में यज्ञ प्रचलित नहीं था और उनकी उपासना की पद्धति पूजा की थी जिसे आर्यों ने शताब्दियों बाद ग्रहण किया। पर इन यज्ञ-कुण्डों के उद्घाटन के बाद और इनसे वैदिक यज्ञ-पद्धति और यज्ञ के उपकरणों की पुष्टि होने के बाद[197] तो इस विषय में किसी तरह की आशंका होनी ही नहीं चाहिए।

फिर भी केवल तर्क के लिए ही हम इस बात पर विचार कर सकते हैं कि क्या वैदिक समाज में प्राचीन काल से ही पूजा का, और विशेष रूप से वृक्षों और पशुओं आदि की पूजा का, चलन था या नहीं ?

कर्मकाण्डीय यज्ञ के प्रचलन से पहले देवताओं की आराधना की एक ही विधि थी और वह थी पूजा। यदि हम इस बात की परिभाषा करने चलें कि पूजा क्या है तो हमें कुछ कठिनाई होगी। पर मोटे तौर हर यह कहा जा सकता है कि देवता के प्रति नमन, ध्यान, गंध, फूल और फल आदि से देवता की तुष्टि और इस तुष्टि के फलस्वरूप इच्छित फल की प्राप्ति या कामना की सिद्धि—भले यह कामना भौतिक लाभ की हो या मानसिक शांति की या पारलौकिक सुख की—और देवता की प्रतिमा या देवस्थान की प्रदक्षिणा आदि में से कुछ या सभी तत्वों को पूजा के

अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है। एक शब्द में कहें तो, पूजा आराध्य देव के सम्मुख समर्पण, उसका गुणगान और इसके द्वारा इच्छित फल की सिद्धि है।

वैदिक साहित्य याजिकीय विधान और कर्मकाण्ड का साहित्य है और यह अपने समय में प्रचलित अन्य उपासना पद्धतियों और रीतियों पर प्रासंगिक रूप में ही प्रकाश डालता है। इसने पूजा के तत्वों को अपने भीतर आत्मसात कर रखा है। आराध्य के प्रति नमस्कार[198], उसका ध्यान[199], उसका गुण-कथन या प्रशस्ति[200], उसकी तृप्ति के लिए अर्घ्य, पाद्य और भोज्य पदार्थों का अर्पण[201], इसके भी अंभूत हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो, वैदिक यज्ञ-विधान में भी देवता को सभी मानवीय गुणों, रूपों-आकारों, इच्छाओं और शक्तियों से उसी तरह युक्त माना गया है जैसे मूर्ति-पूजा में माना जाता है, और इसलिए यह सोचना ग़लत नहीं होगा कि देवताओं का मानवीकरण और यदा-कदा मनुष्यों का देवीकरण, जैसा कि पितरों और प्राचीन ऋषियों के मामले में देखने में आता है, करने वाले इनकी प्रतिमाएँ भी गढ़ते रहे होंगे। प्रतिमा रूप की कल्पना और प्रतिष्ठा से भिन्न क्या है? और इस तरह की कल्पना और प्रतिष्ठा के संकेत वैदिक विधानों में प्रायः पाये जाते हैं।[202] जहाँ देवताओं को बुलाया जा रहा है और उन्हें अपने स्थान पर बैठने को कहा जाता है वहाँ निश्चय ही उनकी आकृति, प्रतीक रूप में ही सही, गढ़कर उसे विहित स्थान पर रखा अवश्य जाता रहा होगा।

अतः यह कहना ग़लत नहीं होगा कि मूर्तिपूजा और यज्ञ-विधान में तात्विक असंगति नहीं है और आगे के कालों में इनका अलगाव उस विशाखन की देन है जिसमें भौतिक यज्ञ को मानसिक यज्ञ और योगसाधना में बदल कर यज्ञ के समानान्तर एक नये सम्प्रदाय को जन्म देता है और मूर्तिपूजा अलग होकर यज्ञ को अनुसंगी बनाकर चलती है।

प्रकारान्तर से कहें तो, अपने क्रमिक विकास में पूजा और ध्यान व्यक्तिगत आराधना के अंग बन जाते हैं और यज्ञ सार्वजनिक अवसरों और विशेष पर्वों के लिए सुरक्षित रह जाता है। यह स्थिति वैदिक काल में भी थी। यज्ञ रोज़ नहीं किये जाते थे, जब कि पूजा सम्भवतः धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों और पुरोहितों आदि के लिए नियमित-सी चीज़ थी। इसकी पुष्टि भी ऋग्वेद से ही होती है, जिसमें ऋषियों के सन्दर्भ में स्तुति और मनुष्यों— सामान्य गृहस्थों — के सन्दर्भ में यज्ञ का उल्लेख आया है।[203] इसके अतिरिक्त एक स्थल पर दस गो (दस सेर अनाज) पर इन्द्र (इन्द्र की प्रतिमा) बेचने का भी एक हवाला आया है।[204]

अतः यह सोचना युक्तिसंगत नहीं लगता कि वैदिक काल में मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। जैसा कि हम शिव और काली के स्थानों के विषय में चर्चा करते हुए देख आये हैं, मन्दिरों का निर्माण बहुत बाद में आरम्भ हुआ। इनसे पहले पेड़ों के नीचे ही देवी या देवता की वेदी बनाकर उस देवी या देवता का निवास कल्पित

लिया जाता था और इनकी भी पूजा नियमित रूप से न होकर विशेष अवसरों पर ही होती थी, जैसे फ़सल की कटाई या नये अन्न का ग्रहण (नवान्न) या किसी हारी-बीमारी के आने पर। सम्भवत: विवाह आदि के अवसर पर भी इन स्थानों की परिक्रमा आदि कर ली जाती थी जो आज भी की जाती है। इन्हीं वेदियों पर सम्भवत: देवी की प्रतिमा या उनका वाहन भी स्थापित कर दिया जाता था। कृषि-क्रान्ति के साथ नये देवताओं का उद्भव होने के साथ प्राचीन यज्ञ-विधान ने, जो सम्भवत: देवस्थान पर वलि-पशु को काटने और देवता को भोग अर्पित करने के बाद स्वत: खाने तक सीमित था, एक आडम्बरपूर्ण रूप ले लिया और इनमें प्रधान हवि कृषि-उत्पाद और दूध-घी आदि हो गये, यद्यपि पुराने चलन के अनुसार पशुओं की वलि भी चलती रही। अन्तर यह भी था कि पहले वलि-पशु आखेट में पकड़ा हुआ पशु होता था जिसे पकड़ने में देवकृपा का भी हाथ माना जाता था, पर अब पशुचारण काल से ही पालतू पशु हो गया था, जिसकी वृद्धि में देवता की कृपा को सहायक माना जाता था।

अब यदि हम उन वृक्षों पर दृष्टि डालें जिनकी पूजा होती रही है या जिन्हें असाधारण महत्व दिया जाता रहा है और इनके महत्व के पीछे छिपे कारणों पर विचार करें तो हमें पुन: इस बात के अकाट्य प्रमाण प्राप्त होते हैं कि हड़प्पा सभ्यता ही वैदिक सभ्यता है। हड़प्पा सभ्यता के भाण्डों पर जिन वृक्षों की पत्तियों के चिह्न हैं उनमें प्रमुख हैं पीपल, गूलर और पलाश। इन्हीं का महत्व वैदिक परम्परा में भी है, पर जहाँ हड़प्पा के अवशेष मूक हैं, वैदिक परम्परा में इनके महत्व की व्याख्या भी है। पीपल और शमी की लकड़ी को रगड़ कर आग पैदा की जाती थी और इनके अभाव में यही काम खदिर आदि से लिया जाता था। गूलर, पीपल और पलाश की लकड़ी के विविध उपकरण और पात्र बनाये जाते थे, जैसे ओखली, मुसल, कठौत, कलछी या दर्बी आदि। सोम-रस निकालने के यन्त्र में प्रयुक्त होने के कारण तो अश्वत्थ और पलाश को सोम का ही पर्याय मान लिया गया था; कारण, ये सोम-रस या सोम-लता के न सही, सोमयन्त्र के पर्याय तो थे ही। इस सूत्र की ओर ध्यान न देने पर इस बात को लेकर प्राय: उलझन होती है कि सोमलता जैसे पौधे का भला पीपल और पलाश से क्या सम्बन्ध हो सकता है। पलाश जिसका ग्रावन बनता था और जिसे ओखली की तुलना में अधिक सम्मान से याद किया जाता रहा है, सोमदण्ड होने के कारण संन्यासियों के लिए सबसे उपयुक्त माना जाने लगता है। इसकी लकड़ी के पीढ़े पर बैठना तो ब्रह्मपीठ पर बैठने जैसा हुआ। इसकी लकड़ी से पात्र बनाना तो उतना सरल नहीं था, पर इसकी पत्तियों को पात्र या पत्तल बनाने के लिए सबसे उययुक्त माना जाता रहा है। इस तरह हम पाते हैं कि सोम के प्रति वैदिकों की एकाग्र निष्ठा ने ही उन वृक्षों को भी अतिरिक्त सम्मान देने और इन्हें पूज्य बनाने में मदद की जिनके

कारण यह कहा जाता रहा है कि हड़प्पा सभ्यता में वृक्ष-पूजा का प्रचलन था और वैदिकों ने इसे उन्हीं से अपनाया।

सर्प की पूजा और सर्प को शिव के शरीर पर लपेटने के विषय में हम सोम के सन्दर्भ में विचार कर आये हैं। अन्य विभिन्न पशु किसी-न-किसी रूप में उन देवताओं के ही वाहन या उनके प्रतिरूप हैं—छाग अग्नि और पूषा का वाहन, भेष वरुण का, हिरनी मरुद्गणों की, गधा अश्विनों का, घोड़ा, व हाथी इन्द्र के, वृषभ रुद्र का वाहन।[205] रुद्र, अग्नि, सोम, ब्रह्मणस्पति आदि वृषभ के समान हैं। आकाश स्वतः वृषभ है, धरती गाय; और सोम तो नन्दी बैल है ही।

वैदिक काल में गाय की पूजा की बात निराधार है। आर्थिक कारणों से और एक लम्बे आन्दोलन के बाद गो और गो-प्रजाति का वध और गोमांस-भक्षण पर प्रतिबन्ध लगाया गया था और इसके बावजूद यह ब्राह्मण-काल तक जारी रहा था, इसे अन्य विद्वान भी मानते हैं।[206]

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. आर. पी. चन्द, इंडो-आर्यन रेसेज़, 1916, 148-49; मार्शल, मोहन-जोदड़ों ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन, 1931, 1, 49 और जागे; एर्नफल्स, मदर राइट इन इंडिया, 1941, 79-80; सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, "कंट्रीब्यूशन फ्रॉम डिफ़रेंट लैंग्वेज ग्रुप्स", दि कल्चरल हैरिटेज ऑफ़ इंडिया, 1958, 1, 81, आदि।
2. बैशम, दि वंडर दैट वाज़ इंडिया, 1963, 24
3. कीथ, दि रिलिजन ऐंड फ़िलासफ़ी ऑफ़ दि वेद्ज ऐंड उपनिषद्ज़, हाओसी 31, 145; बैशम, उप, 23; बटकृष्ण घोष, ओरिजिन ऑफ़ दि इंडो-आर्यन्स, दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ इंडिया, 1958, 1, 139, आदि।
4. चाटुर्ज्या, 1958, 81; भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, 1954, 3; मार्शल उप. 110
5. चाटुर्ज्या, 1958, 35-36; मार्शल, 1931, 1, 111, आदि।
6. ऋ. 10.146
7. मार्शल भी इसी की पुष्टि करते हैं। देखें, मार्शल, पूर्व, 1931, 1, 53-55
8. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, 1966, 34

9. ऋ. 10.135.1
10. वासुदेवशरण अग्रवाल, ऊपर, 1966, 48
11. ऋ. 4.58.3
12. वासुदेवशरण अग्रवाल, ऊपर, 1966, 44
13. देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय, लोकायत, 1965, भूमिका, 17
14. तु. करें, वही, 372 और आगे।
15. गौरिति पृथिव्या नमाधेयम्। नि. 2.5
16. वृष: वर्षिता अपाम्। नि 4.8; वृषभ: प्रजां वर्षतीति वा अति बृहति रेत इति वा। तद् वृषकर्मणा। वर्षणाद् वृषभ:···। नि. 9.22
17. नि. 1.1. इयं पृथिवी: वा अदिति: मही। शतब्रा. 6.5.1, 1-10; देखें, शातब्रा. 1.1.4 5; 5.3.1.4; 7.4.2.7; 7 तैब्रा. 1.7.6.7; कौब्रा. 7.6. आदि भी।
18. आदित्य: आदत्ते रसान...नि. 2.13; यदस्य दिवि तृतीयं तत् असौ आदित्य:। नि. 7.28; पर्जन्य आदित्य:। गोउपू. 4.3, आदि।
19. द्यौ: मे पिता जनिता नाभि: अत्र बन्धु: मे माता पृथिवी मही इयम्।
उत्तानयो: चम्वो: योनि: अन्त: अत्र पिता दुहितु: गर्भं अधात्॥
ऋ. 1.164.33
उत्तानायां अजनयन् सुसूतं भुवद् अग्नि: पुरुऽ पेशासु गर्भम्। ऋ. 2.10.3, आदि।
20. ऋ. 5.46.8; 7.34.22, आदि में इनकी मान्य देवियों के रूप में प्रतिष्ठा स्पष्ट है।
21. ऋ. 2.1.3-4
22. अग्नि को तो प्राय: अपां गर्भ कहा गया है, ऋ. 1.70.2; 2.35.13; 3.1.12, आदि। इन्द्र के वर्षा के देवता होने के विषय में कोई सन्देह नहीं है। और सूर्य के उस रूप को ही इन्द्र की संज्ञा दी गयी है जो अपनी रश्मियों से जल को सोख कर और ऊपर खींच कर वर्षा करता है, 'रसान् रश्मिभि: आदाय वायुना-अयं गत: सह। वर्षति एप च यत् लोके तेन इन्द्र इति स स्मृत:।' बृहद्देवता, 1.68
23. युनक्तु सीरा वि युगं तनुध्वं कृते योनौ वपत इह बीजम्। ऋ. 10.101.3
24. ऋ. 5.9.3; 10.61.20; 184.3; शतब्रा. 9.5.1.15 के अनुसार अग्नि-मन्थन के लिए ऊपर की अरणी अश्वत्थ की और नीचे की शमी की होनी चाहिए। शमी गर्भ है। शतब्रा. 2.1.4.5
25. ऋ. 1.144.4
26. योषा वै वेदि: वृषा वेद:। शतब्रा. 1.9.2.29.1; 24

27. यौषा वाऽआप:। बृषाग्नि: मिथुनेन एव एनं प्रजननेन समर्धयति अद्भि: वा इदं सर्वं आप्तम्। शतब्रा. 2.1.1.4
28. योनि: वै उत्तरवेदि:...शतब्रा. 7.3.1.28
29. औषधय: देवानां पत्न्य:। शतब्रा. 6.5.4.4
30. शतब्रा. 6.6.2.15; 6.6.1.23
31. शतब्रा. 7.1.1.37
32. शतब्रा. 7.1.1.41; 44; 6.2.2.27
33. शतब्रा. 6.4.3.6
34. शतब्रा. 6.4.2.6
35. शतब्रा. 6.3.1.27
36. शतब्रा. 6.3.1.32
37. शतब्रा. 1.5.2.11; 14; बृह. उप. 6.2.13
38. शतब्रा. 7.5.1.38
39. शतब्रा. 2.3.1.23; ऋ. 10.10.9, आदि। अत: स्त्री और पुरुष केवल सन्तान के लिए ही मैथुन नहीं करते, अपितु यज्ञ का लाभ उठाने के लिए भी मिथुन रूप में (एक साथ गाँठ जोड़ कर या, कहें, प्रतीकात्मक रूप में युगनद्ध होकर)बैठते हैं। ऋ. 1.83.3; 131.3; 144.4; 159.4; 173.2, आदि में इस द्वन्द्व या मैथुन को जिस व्यापक पैमाने पर कल्पित किया गया है उसका एक आयाम दिक् के स्तर पर द्यावा-पृथिवी का युग्म या मिथुन है और दूसरा काल के स्तर पर रात और दिन का (ऋ. 1.164.11), जिसका सबसे रोचक और मनमौजी विवरण यम-यमी संवाद है।
40. ऐन्द्राग्नेन यजति अमावस्यायां ते द्वे देवते, द्वे वै मिथुनं, मिथुनं एव एतत् प्रजननं क्रियते। मित्रावरुणौ द्वे देवते द्वे वै मिथुनं, मिथुनं एव एतत् प्रजननं क्रियते...अग्नी सोमीयेण यजते...मित्रो वरुणे रेत: सिंचति तत् एतेन रेतसा प्रजायते...। शतब्रा. 2.4.4.9-11, 19, आदि।
41. प्रजननं प्रजापति:। शतब्रा. 5.1.3.10; 12, आदि। यह प्रजापति जिससे पहले इसकी उत्पत्ति का लैंगिक कारण नहीं था, जब सर्वप्रथम आकाश की या उषा की सृष्टि करता है तो अब प्रजा-विस्तार के लिए इसके साथ ही मैथुन करता है जो लौकिक अर्थ में अपनी ही सृष्टि या दुहिता के साथ मैथुन हुआ, 'प्रजापति: ह वै स्वां दुहितरं अभिदध्यौ। दिवं वा उषसं वा मिथुनि एनया स्यां इति तां सम्बभूव।' शतब्रा. 1.7.4.1 वैदिक साहित्य में वस्तुत: जिस भी चीज़ से प्रजनन या किसी चीज़ का उत्पादन होता दिखायी देता है, उसे प्रजापति की संज्ञा मिलती चली जाती है, जैसे वनस्पतियाँ, ऋतुएँ, अनस्, यजमान, यज्ञ, आदि।

42. ऋ. 7.21.5; 10.99.3
43. ऋ. 7.10.3.5 में 'शिक्षमाण' प्रयोग ही आया है, ब्रह्मचारी नहीं।
44. महा. 12.16.15; रामा. अयो. 67.10, आदि में अराजक अवस्था के चित्रण की प्रेरणा सम्भवतः इन कबीलों से ही मिली है। ऋग्वैदिक शिश्नदेव का परवर्ती पर्याय 'शिश्नोदर परायण' है। देखें, मो. वि 1076 भी।
45. घोष, 1958, 139, में सन्दर्भ ग़लत दिये गये हैं जो छापे की भूल के कारण लगते हैं, यथा ऋ. 2.33.1 के स्थान पर 2.3.1 का हवाला है जिसमें रुद्र का नाम तक नहीं आता। इसी तरह अन्य सन्दर्भ भी। इन्हें सुधार कर पेश किया गया है।
46. कीथ, दि रिलिजन ऐंड फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ दि वेद्स ऐंड उपनिषद्स, हार्वर्ड ओरिऐंटल सीरीज़, 31, 145; घोष, 1958, 139
47. रुद्र चिकित्सक हैं, यज्ञ के रक्षक हैं, मनुष्यों और पशुओं को व्याधियों से बचाने वाले हैं।
48. यथा यजु. 16.53 आदि में। यदि ऋग्वेद की उक्त ऋचा को अनिष्टकर माना जाता तो इसका पाठान्तर करने के स्थान पर इसे छोड़ कर कोई अन्य ऋचा ली गयी होती।
49. इस तरह के अनेक शिथिल प्रयोग वैदिक साहित्य में मिलते हैं, जैसे यजु. 6. 21 में गच्छ के स्थान पर बार-बार गछ प्रयोग आया है, इनके साथ किसी आशय को जोड़ना उचित नहीं लगता। क्या तैब्रा. 3.7.6.1 में 'सुवर्गे लोके' को इस रूप में समझाया जा सकता है कि वैदिकों को स्वर्ग से डर लगता था, अतः इसका रूप बदल दिया गया है?
50. उक्त प्रसंग सृष्टि के बाद प्रजापति के अपनी ही सृष्टि—अपनी दुहिता – पर कामासक्त हो जाने से और उसके साथ मैथुन करने की रूपकीय कथा से सम्बन्धित है, जिस पर पौराणिकता की नयी पर्त चढ़ा दी गयी है। इस पर हम कुछ बाद में विचार करेंगे।
51. मंगलाचरणों और स्वस्तिवादन के श्लोकों में तो इसने एक झक का ही रूप ले लिया था, जिसे विवाहादि के अवसर पर पढ़े जाने वाले श्लोकों में कहीं भी सुना जा सकता है। देवताओं के कुछ नाम गुह्य हैं जिनका प्रयोग सावधानी से किया जाता है, यथा इन्द्र का नाम 'अर्जुन'। शतब्रा. 5.4.3.7
52. कीथ, ग्रीक रिलिजन, द्वि. सं., 88, बी. के. घोष द्वारा, पूर्व. 139, पर उद्धृत।
53. रोतीति सतः रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा यदरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति काठकम्। यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति हारिद्रविकम्। नि. 10.6

54. चाटुर्ज्या, दि ओरिजिन ऐंड डवलपमेंट ऑफ़ दि बंगाली लैंग्वेज, 1926, 45-46
55. जे. पी. गुहा, सील्स ऐंड स्टैच्युएट्स ऑफ़ कुल्ली, झोब, मोहनजोदड़ो ऐंड हड़प्पा, 1967, 29
56. एस. आर. राव. 1982, 306
57. टी. जी. अरवामुदन्, "सम सर्वाइवल्स ऑफ़ दि हड़प्पा कल्चर" न्यू इंडिया ऐंटीक्वेरी, 4, 1941-42, 294-326; मार्शल, 1931, 1, 53-55
58. पृथ्वी—पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्। यजु. 1.25
पृथिवी मातः मा मा हिंसीः मा उ अहं त्वाम्। यजु. 10.23
वरुण—वि मत् श्रथाय रशनां इव आग ऋध्याम ते वरुण खां ऋतस्य।
मा तन्तुःछेदि वयतः धियं मे मा मात्रा शार्टापसः पुर ऋतोः॥
ऋ. 2.28.5
अग्नि—इमं मा हिंसीः एकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। यज. 13.48; इमं मा हिंसीः द्विपादं पशुं... । यजु. 13.46; अत्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। यजु. 13.49; 50, आदि और तुलना करें :
रुद्र—मा नः महान्तं उत मा नः अर्भकं मा नः उक्षन्तं उत मा नः उक्षितम्।
मा नः वधीः पितरं मा उत मातरं मा नः प्रिया तन्वः रुद्र रीरिषः॥
ऋ. 1.114.7, आदि।
59. रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम्; कौआ. 25.13
नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमो अग्र्याय च प्रथमाय च। यजु. 16.30
60. अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः। ऐब्रा. 1.28; अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः। शतब्रा. 3.9.1.6; अग्निः कस्मात् अणीः भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते...। नि. 7.14
61. जिन भी तत्वों को—पृथ्वी, औषधियाँ, जलधाराएँ, ऊषा, रात्रि, आदि—मातृ-देवी के रूप में कल्पित किया गया था उनका अस्तित्व अनादि काल से बना रहा है।
62. वह आद्या, त्रिनेत्रा, शूलधारिणी, शाम्भवी, घोरा, कराली, चण्डी, माहेश्वरी, ऐशानी, नीलग्रीवा, गुह्येश्वरी, कपालिनी, आदि है।
63. यजु. 16.17
64. यजु. 16.25
65. यजु. 16.19
66. यजु. 16.18

67. यजु. 16.19
68. यजु. 16.26
69. वही।
70. वही।
71. यजु. 16.5
72. यजु. 16.24
73. नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलोलेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो। यजु. 16.27
नमो इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो। यजु. 16.46
74. नमो निषादेभ्यः पुंजिष्ठेभ्यश्च वो नमो...। यजु 16.27
परमे वृक्षे आयुधं निधायि कृतिं वसान आचर पिनाकं बिभ्रद् आ गहि। यजु. 16.51
नमः सहमानाय विव्याधिने। यजु. 16.20
75. नमो वंचते परिवंचते स्तायूनां पतये नमो नमो निषंगिणे इषुधिपते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो गुष्णतां पतये नमो नमो असिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः। यजु. 16.21
76. एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व...। यजु. 3.57; अम्बिका शरद् वा अस्य रुद्रस्य अम्बिका स्वसा। तैब्रा. 1.6; अम्बिका वै नामास्य स्वसा। शतब्रा. 2.6.2.9
77. ऋ. 2.33.8
78. वही।
79. यजु. 16.47
80. यजु. 16.6; 7; 52, आदि।
81. यजु. 16.57
82. यजु. 16.7; 8; 28; 58, आदि।
83. शित का अर्थ भी तालमेल बैठाने के लिए 'नील' किया जाता रहा ताकि 'नीलग्रीव' और 'शितकंठ' में विरोध न दिखायी दे, पर शिव के रंग—बभ्रु, श्वेत, लोहित; नील लोहित आदि की विसंगति का क्या समाधान है?
84. नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च...। यजु. 16.29
85. शतब्रा. के अनुसार अग्नि के नव नाम ठीक वही हैं जो रुद्र के, यथा—रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, ईशान, महादेव और कुमार। शतब्रा 6.1.3 18; इनके अतिरिक्त अग्नि आदि से प्रार्थना की जाती है कि वे 'शं' या कल्याण करें, जिससे शंकर नाम निकला है। उन्हें शिव और जब-तब अन्य देवों को शिवतम होने को कहा जाता है। ऋ. 1.31.1; 4.11.6; 5.1.8;

6.15.9 तथा 1.53.11; 10.9.2, आदि। रुद्र के चण्ड रूप धारण करने पर उनके तीसरे नेत्र से फूटने वाली ज्वाला से तो प्रलय ही आ जाता है।

86. तत् एकं अभवत्, तत् ललामं अभवत्, तत् महत् अभवत्, तत् ज्येष्ठं अभवत्, तत् ब्रह्मा अभवत्, तत् तपो अभवत्, तत् सत्यं अभवत्, तेन प्राजायत। सः अवर्धत, स महान अभवत्, स महादेवः अभवत्, स देवानां ईशां परि ऐत, स ईशानः अभवत्। स एकव्रात्यः अभवत्, स धनुः आदत्त, तत् एव इन्द्र धनुः। नीलं अस्य उदरं लोहितं पृष्ठम्। अथर्व. 15.2.1-7; तस्या ग्रीष्मः च वसन्तः च द्वौ पादौ आस्तां, शरत् च वर्षाः च द्वौ।...वेद आस्तरणं, ब्रह्म उपबर्हणम् साम आसाद उद्गीयः अपश्रयः। तां आसन्दीं व्रात्यः आरोहत्। तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्, संकल्पाः प्रहाय्या विश्वानि भूतानि उपसदः। अथर्व-15.3.4-10; स ध्रुवां दिशं अनु व्यचलत्। तं भूमिः च अग्निः च ओषधयः च वनस्पतः च वानस्पत्याः च वीरुधाः च अनु व्यचलन्।...स ऊर्ध्वां दिशं अनु व्यचलत। तं ऋतं च सत्यं च सूर्यः च चन्द्रः च नक्षत्राणि च अनु व्यचलन्। ...स उत्तमां दिशं अनु व्यचलत्। तं ऋचः च सामानि च यजूंषि च अनु व्यचलन्। तं इतिहास च पुराणः च गाथाः च नाराशंसीः च अनुव्यचलन्। अथर्व. 15.6.1-2; 4-5; 7-8; 11, आदि।

87. ऋ. 2.1.6; अग्निर्वै रुद्रो। शतब्रा. 6.1.3.10, आदि। अग्नि का लाल रंग उन्हें यदि रुद्र या रुधिर वर्ण या अरुण बनाता है तो इसकी कान्ति रुद्र को त्विषी, विल्मी, कल्मलीकी आदि। वस्तुतः एक अर्थ में रुद्र अग्नि का विनाशक रूप है। औज़ार गढ़ते समय पत्थर के टूटने और चिनगारी के प्रकट होने और लकड़ी से अग्नि के प्रकट होने और लकड़ी को नष्ट करने, जो कुछ भी मिले उसे जलाने के कारण उनका यह रूप विकसित हुआ जो 'मन्यु' या क्रोध का, उग्रता का मूर्त रूप है।

88. ऐब्रा. 13.9.10
89. यजु. 16.27
90. यजु. 16.18
91. यजु. 16.20
92. यजु. 16.19
93. यजु. 16.18; 22
94. यजु. 16.20
95. यजु. 16.20; 23
96. यजु. 16.22
97. यजु. 26.46
98. यजु. 16.47

99. यजु. 16.31
100. यजु. 16.51
101. यजु. 16.20
102. यजु. 16. 18
103. यजु. 16.19
104. यजु. 16.44
105. यजु. 16.2; 3; 4; 22; 27, आदि ।
106. वही ।
107. यजु. 16. 46
108. यजु. 16.32
109. यजु. 16.25
110. यजु. 16. 10; 29; 43, आदि ।
111. परमे वृक्षे आयुधं निधायि...। यजु. 16.51
112. यजु. 16.25; सभापति या गण पंचायत का प्रधान । यजु. 16.24; व्रातपति । यजु. 16.2
113. यजु. 16.26
114. यजु. 16.34
115. यजु. 16.12; 13; 53
116. यजु. 16.9; 14
117. यजु. 16.48; ऋ. 1. 114.1; 10
118. ऋ. 1.114.7;
यजु. 16.15; 16
119. यजु. 16.40
120. यजु. 16.40
121. यजु. 16.40
122. यजु. 16.36
123. यजु. 16.27; 46
124. नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च, नमः किंशिलाय च क्षयणाय च, नमः कपर्दिने च पलस्तये च, नमः इरिण्याय च प्रपथ्याय च । यजु. 16.43; इस मन्त्र में प्रयुक्त किंशिल शब्द प्रवाह के साथ आये पत्थरों का सूचक है और यह पैबल के लिए सबसे उपयुक्त शब्द है । इसी तरह 'ता नः शिवाः शर्कराः सन्तु सर्वा' तैत्रा, 1.21 में शर्करा या प्रस्तर-खण्ड, किंशिल, की पूजा का भाव है ।
125. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पतिवेदनम् । यजु. 3.60

126. शतब्रा. 12.7.3.20
127. यजु. 16.35
128. यजु. 16.27;28
129. यजु. 3.57
130. देबी प्रसाद चट्टोपाध्याय, 1959, 130 और आगे।
131. कीनाशः आसन् मरुतः सुदानवः। तैब्रा. 2.4.8.7
132. नमो वंचते परिवंचते स्तायूनां पतये, नमो...तस्कराणां पतये, नमो···नमः सृकायिभ्यो, जिघांसद्भ्यो, मुष्णतां पतये नमो, नमो असिमद्भ्य नक्तंचरद्भ्यां ...। यजु. 16.21
133. यजु. 16.39; 44
134. यह विकास इकहरा नहीं है। शिलाकर्मी जो शिल्पियों का प्राचीनतम रूप था और जिसके नाम पर ही शिल्प शब्द पड़ा है, और इसलिए बाद के सभी शिल्पियों का जनक अग्नि, जो गलाने, पकाने, रूपान्तरित करने की अपनी भूमिका के कारण महत्व रखता था, इन दोनों का सम्पृक्त रूप ही आरम्भिक विश्वकर्मा है जो कभी कुम्हार और कभी कर्मार या लोहार और कभी तक्षक या बढ़ई के रूप में, यान्त्रिक रूप में ही सृष्टि का निर्माण करता है।
135. ऋ. 1.164.46; 2.1.2-13, आदि।
136. देखें हिल्लेब्रांट, बैदिक माइथॉलॉजी, अनु. श्री रामुल राजेश्वर शर्मा, 1980, 1, 120 और आगे।
137. इरावदम महादेवन, 'कल्ट ऑब्जेक्ट्स ऑन यूनीकॉर्न सील्स : ए सैक्रेड फ़िल्टर?' सितम्बर, 1983 में तोक्यो में आयोजित इंटरनेशनल कांग्रेस ऑफ़ ह्यूमन साइंसेज़ इन एशिया ऐंड नॉर्थ अफ्रीका के 31वें सम्मेलन के अवसर पर पढ़ा गया निबन्ध।
138. पर जॉन मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन 1931, 1, 53-55; एक मामले में तो यह एक शेर के सिर पर भी दिखाया गया है।
139. भगवान सिंह, 'आइडेंटिफ़िकेशन ऑफ़ सोम', पुरातत्व, 1980-81, 154-56
140. तव व्रते सोम तिष्ठन्तु कृष्टयः। ऋ. 9.86.37
141. वपन्ते बीजं इब धान्याकृतः पृन्चन्ति सोमं न मिनन्ति बप्सतः। ऋ. 10.94.13
142. ऋ. 8.91.1 व 2 के अनुसार अपाला राह चलते सोम तोड़ लेती है और उसे इन्द्र के नाम से दाँत से चूसती है।
143. ऋ. 9.1.1, आदि।
144. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। ऋ. 9.1.1
145. देखें, मोनियर विलियम्स, संइंडि, इक्षुलता।

146 ऋ. 9.73.3; इन गाँठों को ही पर्बन् या पोर कहा गया है जिसे वैदिक इंडेक्स के लेखक पूरे सोम का द्योतक मान बैठे हैं। देखें आगे।

147. हिरण्यगर्भः समवर्तत् अग्र भूतस्य जातः पतिः एक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यां उत इमाम्...ऋ. 10.121.1-7

148. शतपथ ब्राह्मण (6.1.3) में इसका बहुत रोचक विवरण दिया गया है, अन्तर केवल यह है कि इसमें आदि जल से पूर्व ही प्रजापति की कल्पना ला दी गयी है जिसके श्रम और तप से जल स्वयं उत्पन्न होता है और फिर जल फेन का, फिर मृदा या कीचड़ का और फिर पृथ्वी या सिकता का और फिर शर्करा या कंकड-पत्थर का रूप लेता है और इस प्रकार समग्र सृष्टि की रचना होती है।

149. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवः जनिता पृथिव्याः।
जनिता अग्नेः जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनिता उत विष्णोः। ऋ. 9.96.5

150. शतब्रा. 4.3.1.6; तैसं. 3.2.1.3; मैसं. 4.8.8

151. ऋ. 9.7.5; 10.3; 86,28; शतब्रा. 5.1.5.26;तैब्रा. 2.5.7.3, आदि।

152. ऋ. 9.86.28; शतब्रा, 3.6.2.2, आदि। देखें, हिल्लेब्रांट, वैदिक माइथॉलॉजी, 1, 191, भी।

153. कौब्रा. 16.5; तैब्रा. 1.4.10.7; शतब्रा. 10.4.2.1; 12.1.1.2, आदि।

154. ऋ. 9.11.3; तैब्रा. 3.11.4.1; गोउ. 1.17, आदि। चन्द्रमा और सोम के सभी पर्याय अभिन्न हैं।

155. चन्द्रमा अन्न, प्राण, ब्रह्मा, विधाता आदि बन जाता है, देखें :
अन्नं उ चन्द्रमा, जैउ. 13.4; चन्दमा वै प्राणः, जैउ. 4.22.11; चन्द्रमा वै ब्रह्मा, शतब्रा. 12.1.1.2, आदि। अग्नि की तरह ही वह देवानां ब्रह्मा, ऋ. 9.96.6, जनिता मतीनाम्, ऋ. 9.96.5, अर्ष या चमकीला, भ्राजमान, द्युतिमान आदि हो जाता है, ऋ. 9.2.2; 3.9; 5.10; 31, 2, आदि, जो चन्द्रमा से अभेद के कारण है।

156. ऋ. 9.86.8; कौब्रा. 13.7; शतब्रा. 7.3.1.3, आदि।

157. गिरिषु हि सोमः। शतब्रा, 3.3.4.7; ऋ. 9. 46.1, आदि।

158. बभ्रवे नु स्वतवसे अरुणाय दिविस्पृशे। सोमाय गाथमर्चत। ऋ. 9.11.4

159. वही।

160. ऋ. 9.3.3; 9, आदि।

161. अहिः न जुर्णा अति सर्पति त्वचम्...ऋ. 9. 86.44

162. देखें, मैकडनेल व कीथ, अनु. रामकुमार राय, 1962, 2, 528; हिल्लेब्रांट 1980, 1, 265 और आगे; महादेवन, 1983

162. ऋ. 1.23.17; 84.11; 114.4; 3.46.5; 9.1.8; 8.4; 26.5; 6;30.5; 32.2; 38.2; 39.6; 50.3; 65.1; 8; 67.9, आदि।

163. "अंश विभाजने" चु. उ.; सोमांशो अंशुः इति उच्यते। निरुक्त वृत्ति, 2.5

165. अनिरुक्तं वा उपांशुः। शतब्रा. 1.3.5.10; उपांशु की ही तरह अंशु के विषय में इसे "अशूङ् व्याप्तौ" से व्युत्पन्न करने के कारण अनिश्चय दिखायी देता है।

166. स वा अष्टौ कृत्वा अभिषुणोति...अथ एकादश कृत्वा...अथ द्वादश... शतब्रा. 4.1.1.8—12

167. पूर्व., 525

168. सैबुईसी., 25, 248

169. पूर्व, 525

170. ऋ. 9.93.3; 107 5

171. उलूखल और मुसल वानस्पत्य या लकड़ी के बने—शतब्रा. 1.1.4.7; उलूखल गूलर की लकड़ी की—शतब्रा. 7.5.1.14-15; 22; मुसल पलाश या पीपल की लकड़ी का—शतब्रा. 5.2.1.17; उलूखन का आखर या गर्त एक बालिश्त गहरा—शतब्रा. 7.5.1.14

172. सोम के इस यन्त्र का बहुत सांकेतिक-सा विवरण ऋ. 1.28 में मिलता है, जिसमें ग्रावन को पृथुबुध्न या नीचे की ओर मोटा कहा गया है। धिषणा के मध्य भाग से जुड़े पटरे को दो जाँघों के सदृश बताया गया है। रस्सियों से बँधे होने के कारण ग्रावन को लगाम आदि से कसे घोड़े जैसा बताया गया है, जिसे इस स्थल पर मथ्ना कहा गया है। इस यन्त्र को समझने के लिए कोल्हू की बनावट पर ध्यान देना जरूरी था, पर ऐसा न करने के कारण इसे दही बिलौने की मथानी समझ लिया गया, जो किसी लता से रस निकालने की दृष्टि से बेतुका है। देखें, हिल्लेब्रांट, पूर्व, 274, जिसमें उन्होंने विल्सन, कून और ग्रियर्सन आदि का हवाला दिया है।

173. ऋ. 10.94.11; हिल्लेब्रांट, 1980, 271

174. यह अर्थ सन्दिग्ध है, इसमें मात्र मार्ग से गुजरने का ज़िक्र है, जो दर्रों की यात्रा भी हो सकती है।

175. पूर्व., 20

176. हिल्लेब्रांट, 1980, 283

177. ऋ. 9.74.2; 86.46
178. शतब्रा. 1.6.2.1. आदि।
179. शतब्रा. 3.3.4.1, आदि। इस काल तक आकर अर्थ बदला गया लगता है, पर मूल भाव की छाया बनी हुई है।
180. ऋ. 10.94.12; हिल्लेब्रांट, 1980, 172
181. ऋ.9.81.2
182. ऋ. 1.137.1; 3.32; 8.2.10, आदि।
183. ऋ. 1.5.5; 30.2, आदि।
184. ऋ. 1.91.18; 10.18.2; डॉ० वैट ने इसका आशय न समझ पाने के कारण यह अनुमान लगाया था कि सोम की सूखी लता को कूट कर पानी में भिगोया जाता था और फिर इसे कूट कर रस निकाला जाता था। देखें सैबुईसी. 26, 26 वाँ। पर किसी सूखी लता को भिगोकर उससे रस निकल भी सकता है या नहीं, यह विचारणीय है।
185. ऋ. 9.61. 13; 63.21. आदि।
186. शतब्रा. 4.3.5.17
187. वही। देखें, वैदिक इंडेक्स, 2, 530 भी।
188. ऋ. 9.11.5; हिल्लेब्रांट 1980, 271 ; 10.94.13
189. उपो सु जातं अप्तुरं गोभिः भंगं परिष्कृतम्। ऋ. 9.61.13; भंगेन हतः असौ फट्। वासं. 7.3; श्रौतकोश, 2, 255
190. तैसं. 2.3.2; शतब्रा. 5.5.4.9; 12.7.1.11
191. मैसं. 3.11.7; शतब्रा. 12.7.3.2. वैदिक इंडेक्स, 2,351
192. शतब्रा. 1.6.3.1-7
193. डॉ. महादेव साहा से प्राप्त मौखिक सूचना के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी तक इस प्रकार के यन्त्र मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश, से बनवा कर लोग सैकड़ों मील दूर ले जाते थे। इनकी ढुलाई के लिए एक अन्धविश्वास का सहारा लिया गया या जिसके अनुसार ग्राम की सीमा में उस यन्त्र का रहना अशुभ माना जाता था, अतः इसके किसी ग्राम-सीमा में पहुँचने के बाद पूरे गाँव के लोग जुट कर इसे अगले गाँव की सीमा तक धक्का देकर पहुँचा देते थे और यह क्रम तब तक चलता रहता था जब तक यन्त्र अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँच जाता था।
194. मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइजेशन, 1931, 1, 53-55
195. सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम। नि. 3.18
196. ऋ. 5.58.2

197. एस. आर. राव, दि डिसाइफ़रमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, फलक 33ए-33सी.

198. नमन शब्द विविध रूपों में ऋग्वेद में 250 बार प्रयोग में आया है।

199. 'मनसा यजाति', ऋ. 1.77.2; 'आजा नः इन्द्र मनसा पुरस्तुत', ऋ. 1.102.3; 'घृतप्रुषा मनसा हव्यं उन्दन्', ऋ. 2.3.2; सुम्नायता मनसा तत् त्वं ईमहे', ऋ. 2.32.2; 'सप्त होत्राणि मनसा वृणाना', ऋ. 3.4.5; 'तं धीरासः कवयः उन्नयन्ति सु आध्यः मनसा देवयन्तः', ऋ. 3.8.4, आदि।

200. समूचा ऋग्वेद ही स्त्रोत्रपरक साहित्य है, जिसके कुछ विशेष अंशों को ही यज्ञ के समय काम में लाया जाता था और इन अंशों को ही यजुर्वेद में स्थान दिया गया है। यह धारणा कि वैदिक आर्य केवल यज्ञ ही करते थे, यह मानने के समान है कि ऋग्वेद नहीं अपितु यजुर्वेद ही उनका प्रधान वेद है, जो ग़लत होगा।

201. यज्ञ का लक्ष्य ही है देवताओं में आहार का वितरण और इस प्रकार उनकी तुष्टि, ताकि अपनी तुष्टि हो जाने पर वे मनुष्यों या आराधकों को भी तुष्ट करें। इसकी बहुत सटीक अभिव्यक्ति गीता 3.11 में हुई है, पर ऋग्वेद में इसे लगभग सर्वत्र देख सकते हैं।

202. ऋग्वेद में प्रतिमा(ऋ. 10.130.3)और प्रतिमान (ऋ. 1.32.7; 2.12.9) आदि के उल्लेख आते हैं। काठक संहिता में, जिसका कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्ध होने के कारण यज्ञ से सम्बन्ध बिलकुल स्पष्ट है, मूर्ति का भाव पूजा के सारे विधानों के साथ यज्ञक्रम में देखा जा सकता है, "स्वाहा सरस्वत्यै वेशभगिन्यै स्वाहा। या सस्वती वेशभगिनी तस्याः ते भक्तिवानः भूयास्म, यज्ञस्य त्वा प्रमया अभिमया उन्मया प्रतिमया परिगृह्णामि।" कासं; 5.22-23

वैदिक काल में मूर्तिपूजा की पुष्टि भारतेतर स्रोतों से भी होती है। उदाहरण के लिए, अफ़ग़ानिस्तान के काफ़िर जन जो अरबी में मूर्तिपूजक के पर्याय बन चुके हैं और जिनके नाम पर ही 'कुफ़्र'—मूर्तिपूजा शब्द बना है, हाल तक इन्द्र और सोम की तथा पितरों की सादृश्यपरक और प्रतीकात्मक मूर्तियाँ बनाते रहे हैं और सम्भव है आज भी बनाते हों। देखें, मोहम्मद अली मोतमेदी, 1957, 7 और आगे। इसी तरह यूनानी परम्परा से भी इसकी पुष्टि होती है, जिसमें देवताओं की प्रतिमाएँ पेड़ों पर या पेड़ों के नीचे रखी जाती थीं। देखें, श्रेडर, 1972 सं. 277; जैसा कि शिव—डीह या ग्राम देवता तथा काली या ग्राम-देवी के प्रसंग में भारत में तथा इन्द्र और सोम आदि के सन्दर्भ में अफ़ग़ानिस्तान तथा अन्य देवताओं के प्रसंग में यूनान में दिखायी देता है, हम यह कह सकते हैं कि वैदिक काल में मूर्तिपूजा तो थी, पर मन्दिर नहीं थे। इन मूर्तियों को वृक्षों पर या इनके नीचे

प्रतिष्ठित किया जाता था। हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त उन प्रतिमाओं से भी यही व्यक्त होता है, जिन्हें मातृदेवी की प्रतिमा माना गया है। इनका रूप, आकार, उपादान सभी इस बात के प्रमाण हैं कि इन्हें मन्दिरों में स्थापित नहीं किया जाता था।

203. ऋषीणां च स्तुतीः उप यज्ञं च मानुषाणाम्। ऋ. 1.84.2

204. देखें, अल्तेकर, 1958, 228

205. देखें नि. 1.15 भा।

206. देखें, ए. एल. बशम, 1963.55; डा. डा. कोसम्बी, 1946, 37-38

भगवान सिंह

जन्म : गगहा (गोरखपुर), 1 जुलाई 1931

शिक्षा : एम० ए० (हिन्दी)
भारत की प्रमुख भाषाओं और लिपियों का परिचयात्मक ज्ञान

प्रकाशित कृतियाँ—

उपन्यास :
काले-उजले टीले, महाभिषग्

कविता-संग्रह :
अपने समानांतर

शोध :
आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता

निबन्ध :
स्थान नामों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन
ओरिजनल रामायण : ह्वाट इट रियली वाज़
आइडेंटिफ़िकेशन ऑफ़ सोम
ऋग्वेद में पुर; ऋतम्भरा